एमएईसी–106
(MAEC – 106)

लोक अर्थशास्त्र
(Public Economics)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
तीनपानी बाई पास रोड, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी – 263139
फोन नं. 05946 – 261122, 261123
टॉल फ्री नं. 18001804025
फैक्स नं. 05946–264232, ई–मेल info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम समिति

प्रो0 गिरिजा प्रसाद पाण्डे,
निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

प्रो0 एम0 के0 धडोलिया,
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा, राजस्थान

प्रो0 एस0 पी0 तिवारी,
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
डॉ0 आर0 एम0 एल0 अवध विश्वविद्यालय,
फैजाबाद उ0 प्र0

प्रो0 मधुबाला,
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
इंदिरा गॉधी मुक्त विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

प्रो0 आर0 सी0 मिश्र
निदेशक वाणिज्य एवं प्रबन्ध विद्याशाखा,
विशेष आमंत्रित सदस्य
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ0 अमितेन्द्र सिंह
अर्थशास्त्र विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

पाठ्यक्रम संयोजन एवं संपादन

डॉ0 अमितेन्द्र सिंह
अर्थशास्त्र विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखन

इकाई लेखक	इकाई संख्या
डॉ. अमितेन्द्र सिंह असिस्टेन्ट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	**1**
प्रो. एस. पी. तिवारी प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद, उ.प्र.	**2, 21**
डॉ. मंजुला उपाध्याय असिस्टेन्ट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, ए.पी. सेन महाविद्यालय, लखनऊ, उ. प्र.	**3,4, 22,23,24**
डॉ. साहब सिंह एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग पी.सी. बागला पी.जी. कालेज, हाथरस, उ. प्र.	**5,6,7**
डॉ. अनामिका चौधरी असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, वाई.डी.पी.जी. कॉलेज, लखीमपुर खीरी, उ.प्र.	**8**
डॉ. ए. के. तोमर एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग डी.एस. कालेज, अलीगढ़ उ. प्र .	**9,10,11,12**
डॉ. इन्दु वैष्णेय एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, डी.एस. कालेज, अलीगढ़ उ. प्र .	**13,14,15**
डॉ. सी. पी. त्रिपाठी एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग एम.एम.एम. पी.जी. कालेज भाटापार, देवरिया, उ. प्र .	**16,17,18, 25,26**
डॉ. मृगेश पाण्डे पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, डी.एस. कालेज, अलीगढ़, उ.प्र.	**19 ,20**

संस्करणः 2017

आई.एस.बी.एन.: 978-93-84813-34-5

प्रतिलिप्याधिकार (कॉपीराइट): @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशकः कुल सचिव, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल – 263139

email: studies@uou.ac.in

मुद्रकः

इस सामग्री के किसी भी अंश को उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी चक्रमुद्रण द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

लोक अर्थशास्त्र
(Public Economics)

एमएईसी – 106
(MAEC – 106)

विषय–सूची

खण्ड– 1. परिचय (Introduction)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 1. अर्थव्यवस्था में राज्य की आर्थिक क्रियाओं का विश्लेषण (Analysis of State's Economic Activities in Economy)	1–14
इकाई– 2. लोक वित्त का क्षेत्र, प्रकृति और महत्व (Scope, Nature and Importance of Public Finance)	15–40
इकाई– 3. लोक वित्त की अवधारणाएं और बाजार असफलता (Concepts of Public Finance and Market Failure)	41–67
इकाई– 4. निजी वस्तु, लोक वस्तु और मेरिट वस्तु एवं सिद्धान्त (Private Goods, Public Goods and Merit goods and Theories)	68–88
खण्ड– 2. लोक व्यय (Public Expenditure)	**पृष्ठ संख्या**
इकाई– 5. लोक व्ययः उद्देश्य, आवंटन वितरण और स्थिरीकरण (Public Expenditure: Objectives, Allocation, Distribution and Stabilization)	89–100
इकाई– 6. लोक व्यय के नियम– वैगनर एवं वाइजमैन–पीकॉक (Canons of Public Expenditure- Wagner and Wiseman-Peacock)	101–113
इकाई– 7. लोक व्यय का प्रभाव– उत्पादन, वृद्धि, वितरण और स्थिरीकरण (Effects of Public Expenditure- Producation, Growth, Distribution and Stabilization)	114–124
इकाई– 8. कार्यात्मक वित्त (Functional Finance)	125–135
खण्ड– 3. लोक राजस्व एवं बजटिंग (Public Revenue and Budgeting)	**पृष्ठ संख्या**
इकाई– 9. करारोपण के सिद्धान्त एवं वर्गीकरण (Canons and Classification of Taxation)	136–148
इकाई– 10. करारोपण का प्रभाव, उत्पादन, वृद्धि, वितरण और संसाधनों के आंबटन पर (Effects of Taxation on Production, Growth, Distribution and Allocation of Resources)	149–160
इकाई– 11. करापात एवं कर विवर्तन (Incidence and Shifting of a Tax)	161–172
इकाई– 12. परम्परागत, निष्पादन और शुन्य आधार बजटिंग (Traditional, Performance and Zero Base Budgeting)	173–185

खण्ड– 4. लोक उद्यम (Public Enterprises)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 13. लोक उद्यमों के प्रकार, महत्व एवं उपयोगिता (Types, Importance and Use of Public Enterprises)	186–197
इकाई– 14. लोक उद्यमों की कीमत नीति, प्रबन्धित कीमतें एवं आधिक्य सृजन (Public Policy of Public Enterprises, Restricted and Excess Buoyancy)	198–209
इकाई– 15. लोक उद्यमों का कल्याणकारी प्रभाव एवं चुनौतियाँ (Welfare effects and Challenges of Public Enterprises)	210–221

खण्ड– 5. लोक ऋण (Public Debt)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 16. लोक ऋण का अर्थशास्त्र एवं प्रकार (Economics of Public Debts and Types)	222–243
इकाई– 17. लोक ऋण के प्रभाव एवं भार (Effects and Burden of Public Debts)	244–268
इकाई– 18. लोक ऋण भुगतान की विधियाँ एवं प्रबन्धन (Methods and Management for Redemption of Public Debts)	269–290

खण्ड– 6. संघीय वित्त (Federal Finance)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 19. संघीय वित्त के सिद्धान्त और समस्याऐं (Theory and Problems of Federal Finance)	291–298
इकाई– 20. संघीय वित्त का विभाजन एवं कार्यकरण (Allocation and Functioning of Federal Finance)	299–307
इकाई– 21. वित्त आयोग संरचना एवं कार्यकरण (Structure and Functioning of Finance Commission)	308–318
इकाई– 22. 13वें वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें (Major Recommendation of 13th Finance Commission)	319–329

खण्ड– 7. भारतीय कर प्रणाली (Indian Tax System)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 23. भारत में कर आधार (प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर एवं गैर–कर आय) (Tax Basis in India (Direct and Indirect and Non-Tax Income))	330–348
इकाई– 24. राज्य और स्थानीय निकाय की आय के स्त्रोत (Sources of Income of State and Local Bodies)	349–361
इकाई– 25. संघीय बजट का विश्लेषण एवं सुधार (Analysis and Improvement of Federal Budget)	362–385
इकाई– 26. घाटे की वित्त व्यवस्था एवं घाटे का मौद्रीकरण और राजकोषीय क्षेत्र सुधार (Deficit Finance and Monetization of Deficit and Fiscal Sector Reforms)	386–405

इकाई 1 अर्थव्यवस्था में राज्य की आर्थिक क्रियाओं का विश्लेषण

इकाई संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 आधुनिक राज्यों की आर्थिक क्रियाए

1.4 राज्य के आर्थिक क्रियाओं के वृद्धि के कारण

1.5 राज्य की आर्थिक क्रियाओं की सीमा

1.6 आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 अभ्यास प्रश्न

1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.11 सहायक उपयोगी पाठय सामग्री

1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

यह लोक व्यय खण्ड की पहली इकाई है प्राचीन काल से ही व्यवस्था को सामान्य बनाए रखने के लिए लोगो के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में राज्य द्वारा किसी न किसी रूप में हस्तक्षेप किया जाता रहा है। प्राचीन एकतंत्रीय शासन व्यवस्था में राज्य का काय'ेक्षेत्र सीमित था और उसका कार्य केवल वाह्मा आक्रमण से देश की सुरक्षा करना तथा आंतरिक शांति व्यवस्था को बनाए रखना था। इस तरह राज्य का कार्यक्षेत्र न्याय, पुलिस तथा सेना तक ही समित रहता था। परन्तु 19वीं शताब्दी के पश्चात इस दिशा में एक नया मोड़ आया। सार्वजनिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक समझाा जाने लगा। परम्परावादी व्यवस्था जो व्यक्तिवाद पर आधारित और स्वतंत्र अर्थव्यवस्था की समर्थक थी, को कुछ प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों जैसे– **वैगनर, फैड्रिकलिस्ट, कार्लमार्क्स, प्रो0 लास्की, जी0वी0से तथा जे0एम0 कीन्स** ने अनुपयुक्त बताते हुए सरकारी हस्तक्षेप एवं सरकारी व्यय की वकालत की। आर्थिक विकास के अध्यन में रूचि रखने वाले चिंतकों की धारणा है कि तीसरी दुनिया के गरीब राष्ट्र त तक अपने आर्थिक स्तर को ऊँचा नहीं उठा सकते जब तक इन राष्ट्रो की सरकारें आर्थिक विकास में सक्रिय भूमिका न निभाएँ। यदि अर्धविकसित राष्ट्रो के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक प्रणाली की स्वतंत्र क्रियाशीलता को स्वीकार कर लिया गया होता तो एशिया के अधिकाशं देश आज भी भोजन, वसत्र एवं रोजगार के लिए परेशान न रहते। इस संदर्भ में लिस्ट लिखते है कि ''अनुभव इस सत्य को उजागर करता है कि हवाएँ बीजों को उड़ाकर दूर–दूर ले जाती है और उन बीजों के कारण ही बंजर भूमि पर सघन वन उग आए है। परनतु इस रूपांतरण हेतु हवाओं की प्रतीक्षा करना क्या बुद्धिमानी की बात होगी।?''

इसके अतिरिक्त अर्धविकसित देशो के साथ प्रतिस्पर्धा करने में अनेकानेक कठिनाईयों का समाना करना पड़ता है। ऐसी दशा मे सरकार के सहयोग के बिना इन देशों के में सुधार आना कठिन होगा। इसके साि ही सम्पूर्ण देश के प्रत्येक क्षेत्र का विकास करना सरकार का दायित्व होता है। सरकार यह देखती है कि देश का कौन सा हिस्सा अभी विकास की दृष्टि से पिछड़ा है और किस प्रकार इस क्षेत्र के पिछड़ेपन को दूर किया जाए। राज्य इस बात की भी व्यवस्था करता है कि देश का तीव्र गति से विकास करने के लिए संसाधनों का संग्रह तथा आवंटन किस प्रकार किया जाए। इसके साथ ही अर्थव्यवस्था को कुछ गिने–चुने व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होने से बचाने तथा उपभोक्ताओं एवं उत्पादकों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप उचित समझा जाने लगा। इस संदर्भ में आर्थर लुइस का कथन है कि, ''कोई देश अपनी बुद्धिमान सरकार के सक्रिय सहयोग के बिना आर्थिक विकास नहीं कर सकता।'' स्पष्टता आर्थिक जीवन में राज्य का सीिन महत्वपूर्ण हो चुका है।

इस तरह राज्य हस्तक्षेप जो पहले अत्यंत सीमित था, उसमें धीरे–धीरे विस्तार होने लगा। समाजवादी विचारधारा लोकतंत्रीय शासन प्रणाली और कल्याणकारी राज्यों की सीिपना से राज्य के कार्यक्षेत्र में और भी वृद्धि हुई। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में तीव्र आर्थिक विकास की इच्छा और

आर्थिक नियोजन की व्यापकता ने सरकारी हस्तक्षेप को प्रगतिशील सरकार की आवश्यक निशानी बना दिया। आज स्थिति यह है कि राज्य मानव जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश कर चुका है और उसके कार्यों का दायरा बढ़ता जा रहा है। अब लगभग सभी प्रकार के राजनीतिक, अर्थिक तथा सामाजिक कार्य राज्य द्वारा ही किए जाते है। आज समाज भी उससे बहुत से ऐसे कार्यों की आशा करने लगा है। पहले कोई सोचता भी नही था जैसे–सामजिक सुरक्षा, मुल्य नियंत्रण तथा धन का समाज वितरण आदि। स्पष्टतया राज्य का कार्य राजनैतिक सुरक्षा एवं शांति व्यवस्था मात्र तक ही सीमित नहीं है बल्कि समाज में संतुलन व्यवसथा उत्पन्न करना तथा प्रत्येक नागरिक के हित में कार्य करना भी है। आज मानव जीवन के सम्पूर्ण कार्यकलापों पर राज्य का आधिपत्य है। सत्य हो यह है कि अब राज्य ''गर्भ से शमशान भूमि तक मनुष्य की देखभाल करता है।'' प्रो0 लास्की के अनुसार राज्य, ''समाज के महराब की आधारशिला है जो उन हजारों मानव जीवनों के रूप और प्रकृति को साँचे में ढालता है जिनके भाग्य की सुरक्षा का दायित्व उस पर है।'' इस तरह वर्तमान युग की जनतंत्रीय शासन प्रणाली में सरकार के कार्यकलापों में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी है। कल्याणकारी राज्यों की सीापना के बाद आर्थिक नियोजन एवं नियोजित आर्थिक विकास के प्रयासों से राज्यों के क्रियाकलापों में पर्याप्त बदलाव आ गया है।

1.2 उददेश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगें

- देश के अर्थव्यवस्था में राज्य की आर्थिक क्रियाओ का पता लगाना।
- राज्य के आर्थिक क्रियाओं के वृद्धि के कारणो की जानकारी प्राप्त करना।
- राज्य को किस सीमा तक आर्थिक क्रियाओं में भाग लेना चाहिए, इस बात की जानकारी प्राप्त करना।
- आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका का पता लगाना।
- अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में तेजी लाने के लिए सरकार के उत्तरदायित्व का पता लगाना।

1.3 आधुनिक राज्यों की आर्थिक क्रियाएँ
(ECONOMIC ACTIVITIES OF MODERN STATES)

लोक वित्त के क्रमिक विकास का अध्ययन करने से इस तथ्य की जानकारी प्रापत होती है कि देश काल एवं पारिस्थितियों में अउए परिवर्तन के साथ–साथ अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप में भी परिवर्तन आता गया। प्राचीन काल में जहाँ राज्य का कार्य बाह्मा आक्रमणों से देश की सुरक्षा करना तथा आंतरिक शान्ति को बनाए रखना मात्र था वहीं आज प्रजातात्रिक शासन–व्यवस्था में नागरिकों के जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त क्रियाकलापों एवं आर्थिक क्रियाओं में सरकार का स्पष्ट हस्तक्षेप दिखाई पड़ता है। जनहितकारी कार्यों में लाभ का अभाव होने से निजी साहसी इस क्षेत्र के विकास में आगे नही आते, अतः सरकार इन क्षेत्रों में हस्क्षेप कर सरकारी क्षेत्र विस्तार करती है।

आर्थिक अस्थिरता,एकाधिकर, प्राकृतिका सम्पदा का अपव्यय, दुर्लभ एवं बहुमूल्य खनिजों का अकुशल प्रबंध, विदेशों को मेधा का पलयान,तस्करी, बेरोजगारी, व्यापार एवं भुगतान असंतुलन, अशिक्षा, मुद्रा–प्रसार एवं संकुचन आदि अनेक प्रकार की आर्थिक बुराइयों को रोकने हेतु राजय की प्रतिनिधि सरकार ही उपयुक्त समझी जाती है। इन समस्याओं के समाधान हेतु सरकारी हस्ताक्षेप का अधिकार क्षेत्र बढ़ाया ही जा रहा है। डॉ0 उी0 ब्राइट सिंह के अनुसार,'' प्रगतिशील अर्थव्यवस्थाअें में सरकारी हस्तक्षेप पूँजीवादी संकट के निदान के रूप में पनपा है, परनतु अल्पविकसित देशों में राज्य ने अपनी आर्थिक शक्ति प्रचलित पिछड़ेपन के कारण ही बढ़ाई है।'' इस तरह, वर्तमान समय में राज्य एक नहीं अपितु अनेक कार्यों का प्रतिपादन करता है।

राज्य के कार्यों को निम्नलिखित तीन भागों में बॉटा जा सकता है।

1. रक्षात्मक कार्य **(Protective Functions)**
2. व्यापार–वाणिज्य सम्बन्धी कार्य **(Commercial Function)**
3. राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी कार्य **(Nation Building Functions)**

1. **रक्षात्मक कार्य (Protective Functions):-** राज्य का यह प्राचीनतम एवं परम्परागत कार्य है। वाह्मा आक्रमण से देश की सुरक्षा करना तथा आंतरिक शान्ति स्थापित करना राज्य की प्रमुख कार्य होता है। राज्य यह कार्य आदि काल से ही करता आ रहा है। राष्ट्रों के उद्‌भव एवं विकास के साथ–साथ आंतरिक शान्ति एवं वाह्मा आक्रमण से सुरक्षा सम्बंधी कार्यों का भार राज्यों के ऊपर बढ़ता ही जा रहा है। वर्तमान समय में तो राष्ट्र अपने मित्र राष्ट्रों की सुरक्षा पर भी प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप से व्यय करते है। युद्ध में काम अपने वाले अस्त्र–श्स्त्रों का निर्माण करना, युद्ध कला की गोपनीयता बनाए रखना तथा शत्रु देशों की युद्धकला एवं सुरक्षा सम्बन्धी जानकारी हेतु गुप्तचरों की व्यवस्था करना भी सरकारों का ही कार्य होता है। आज सरकारे यु0 की नवीन तकनीाकें को विकसित करने, नवीन युद्धकला तथा नवीन हथियारों के अविष्कार पर भारी मात्रा में व्यय कर रही है। इस तरह रक्षा उपकारणों एवं तकनीको के उत्पादनों एवं आविष्कार पर व्यय करना आधुनिक सरकारों का एक प्रमुख कार्य है।
2. **व्यापार–वाणिज्य सम्बन्धी कार्य (Commercial Function):-** देश में व्याप्त आर्थिक असमानता को दूर करने, वितरण व्यवस्था को न्यायोचित बनाने तथा कल्याणकारी राज्य की सीापना के उद्‌देश्य से आधुनिक राज्यों ने व्यापार एवं वाणिज्य सम्बन्धी कार्यों को अपने हाथ में ले लिया है। आंतरिक एवं अंतराष्ट्रीय व्यापार एवं प्राकृतिक संसाधनों के विदोहन पर नियंत्रण तथा जनहित में राष्ट्रीय महत्व के उद्योग–धन्धों का नियमन एवं संचालन करना आधुनिक सरकारों का प्रमुख कार्य है। समाजवादी देशों में तो वाणिज्य एवं व्यापार सम्बन्धी समस्त कार्य सरकारों द्वारा ही किए जाते है। पूँजीवादी देशो में भी सुरक्षा एवं राष्ट्रीय महत्व के उद्योग–धन्धों का संचालन सरकार द्वारा ही किया जाता है।
3. **राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी कार्य (Nation Building Functions):-** प्राचीन काल के शासकों से लेकर वर्तमान समय तक की सरकारें राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी कार्यों हेतु प्रतिबद्ध रही है। प्राचीन काल में

एक राज्य से दुसरे राज्य पर आक्रमण करने हेतु सेनाओं के आने–जाने के लिए अथवा अन्य राज्यों के साथ व्यापार सीापित करने के लिए शासकों द्वारा सड़को का निर्माण किया जाता था। इसके साथ ही सड़कों के किनारे छायादार वृक्षों, धर्मशालाओं, सरायों, मंदिरों, स्कूलों तथा मठों का निर्माण भी शासकों द्वारा किया जाता था। भारत में अशोक महान द्वारा जनहित में किए गए अनेकों कार्य इसके उदाहरण है। इसी तरह शेरशाह सूरी ने आवागमन की सुविधा हेतु कलकत्ता से पेशावर तक सड़क का निर्माण कराया जिसे आज ग्रैण्ड ट्रंक रोड के नाम से जाना जाता है। आज राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी इन कार्यक्रमें पर सरकारो विशेष ध्यान दे रहीं है। यथा–यातायात एवं दूरसंचार,मानव संसाधन विकास कार्यक्रम, पर्यावरण सुधार, कृषि एवं विज्ञान कीप्रगति से सम्बन्धित शोध कार्यक्रम तथा सामरिक महत्व के साज–समानों का उत्पादन एवं विकास कार्यक्रम आदि। आर्थिक विकास हेतु आधारभूत उद्योगों की सीापना, सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं का निर्माण एवं उत्पादन तथा अन्य जनकल्याणकारी कार्य भी आज सरकारों द्वारा किया जाता है। देश की जनता को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना कल्याणकारी राज्य के कार्यों में सबसे प्रमुख है।

आज राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी कार्यों का सही–सही अनुमान लगाना कठिन है। इस सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त है कि इस मद से देश हित एवं जन हित में आने वाले लगभग सभी कार्यों को सम्मिलित कर लिया गया है।

1.4 राज्य की आर्थिक क्रियाओं की वृद्धि के कारण
(FACTORS RESPONSIBLE FOR INCREASING STATE'S ECONOMIC)

वर्तमान समय में देश के आर्थिक क्रियाकलापों में सरकार की भूमिका निरंतर बढ़ती जा रही है। जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित है।

1- **आर्थिक विकास में प्रत्यक्ष सहभागिता (Direct Participation in Economic):-** आज प्रत्येक राष्ट्र तीव्रगति से आर्थिक विकास हेतु प्रतिबद्ध है जिसके लिए अतिरिक्त साधनों की व्यवस्था करना तथा उपलब्ध संसाधनों का अनुकूलम उपयोग करना आवश्यक होता है। विकासशील देशों के समक्ष पूँजी की कमी तथ साहसी वर्ग के अभाव की समस्या होती है। अतः ऐसे देशों में सरकारें पूँजी निर्माण कार्य, आधारभूत उद्योगों की सीापना तथा सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं के निर्माण के कार्य को अपने हाथों में ले लेती है। ऐसे दशों में पूँजीगत परियोजनाओं में जहा निजी निवेश उत्साहित नही होता, वहाँ सरकार स्वयं निवेश करना प्रारंभ कर देती है। इसके अतिरिक्त कुछ उद्योग एवं योजनाएँ ऐसी होती है। जिनका संचालन सरकार के संरक्षण में ही उपयुक्त समझाा जाता है यथा–सामरिक महत्व के उद्योग एवं विदेशी विनिमय नियंत्रण आदि।

2- **जनहित से सम्बन्धित कार्य (Works related to Public Welfare):-** आज समस्त राष्ट्रो में जनकल्याणकारी सरकारें कार्यरत है जिनका प्रमुख उद्देश्य देश की जनता के सामान्य कल्याण मे वृद्धि करना है। इसके लिए सरकारे जनहित की सामूहित योजनाएँ चलाती है। जैस–सामाजिक बीमा, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात एवं संचार सेवाएँ आदि। इसके अतिरिक्त

आर्थिक शोषण से मुक्ति हेतु भी सरकारें जागरूक रहती है तथा यह व्यवस्था करती है कि जनता को उसकी आवश्यकता की वस्तुएं सहजता से सुलभ हो सकें।

3- **गरीबी एवं बेरोजगारी उन्मूलन कार्यक्रम (Eradication of Poverty and Unemployment Programme):-** विश्व की समस्त सरकारे विशेषकर विकासशील देशों की सरकारे गरीबी उन्मूलन एवं बेरोजगारी की समाप्ति हेतु सतत् प्रयासरत है जिसके लिए सरकारे तरह–तरह की योजनाएँ चलाती है जिन पर भारी मात्रा में धन व्यय करने की आवश्यकता पड़ती है। बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने में निजी क्षेत्र का योगदान निराशाजनक रहा है, अतः सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के निर्माण कार्यों में वृद्धि करके लोगो को रोजगार उपलब्ध कराने का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त गरीबों के हित में अनेक विकास कार्यक्रम चलाती है तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से उनहे सस्ती दर पर अथवा निःशुल्क आवश्यक वस्तुओं को उपलब्ध करती है।

4- **संतुलित आर्थिक विकास का कार्य (Work for Balanced Economic Development):-** संसार के अधिकाश देशों विशेषकर अल्पविकसित देशों में संतुलित आर्थिक विकास नही हो पाया है। इन देशों में कुछ क्षेत्रों में विकास हो चुका रहता है जबकि कुछ क्षेत्र विकास से अछूते रहते है, अतः इन देशों में सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन स्तर में समानता लाने के लिए देश के अविकसित भागों का विकास करना अत्यंत आवश्यक होता है ताकि समाजिक समानता तथा संतुलन बना रहे। निजी उद्यमी उनही क्षेत्रों में धन विनियोजित करते है जिससे उनहे लाभ प्राप्त होता है। इससे क्षेत्र विशेष में उपलब्ध मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों का समुचित विदोहन नहीं हो पाता। अतः सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के माध्यम से सरकार वहाँ विकास का बीड़ा उठाती है जिसके लिए भारी मात्रा में सरकारी व्यय की आवश्यकता पड़ती है।

5- **आर्थिक विषमता को कम करना तथा पूँजी की संचय करना (Removal of Economic Desparity and Capital Formation):-** विकासशील देशों में आर्थिक विषमता व्याप्त रहती है तथा पूँजी निर्माण की दर नीची होती है। इन देशों में निर्धनता का दुश्क्र देखने में आता है। प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण घरेलू बचतें कम होती है। आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक होता है। इसी तरह पूँजी की कमी को दूर करने के लिए भी सरकार तरह–तरह का प्रयास करती है। इससे आर्थिक क्रियाओं में सरकार की सहभागिता बराबर बढ़ती जा रही है।

6- **नियमन एवं नियंत्रण (Regulation and Control):-** सरकार देश के आर्थिक जीवन को नियमित एवं नियंत्रित भी करती है। सराकर उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों के हितों की रक्षा करने के लिए एकाधिकारियों की क्रियाओं, मूल्य स्तर में हाने वाले उतार–चढ़ाओ, मुद्रा–स्फीति, मुद्रा–संकुचन तथा व्यापार चक्र पर नियंत्रण प्राप्त करने का प्रयास करती है। इसके साथ ही सरकार हानिकारक एवं नशीली वस्तुओं के उत्पादन एवं विक्रय पर नियंत्रण लगाती है तथा वस्तुओं की पूर्ति एवं उनकी गुणवत्ता को बनाए रखने हेतु कानून बनाती है तथा उस कानून

को तोड़ने वाले को दण्ड भी देती है। सरकार श्रमिकों के हितो की सुरक्षा के लिए श्रमिकों एवं मालिकों के सम्बन्धों को नियमित करती है। राष्ट्र हित में देश में उपलब्ध तथा आयातित संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग हो तथा तस्करी की प्रवृत्ति हतोत्साहित हो, सरकारी इस बात की भी व्यवस्था करती है। इस तरह देश की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सरकार इस तरह का प्रयास करती है। कि देश में आर्थिक व्यवस्था बनी रहे। इस व्यवस्था को असफल बनाने का प्रयास करने वाले व्यक्ति अथवा संस्था को दण्डित किया जाता है।

7- **राष्ट्र के आर्थिक ढाँचे की रक्षा करना (Maintenance of the Economic Framework of the Nation):-** राज्य देश के आर्थिक जीवन के स्वरूपा एवं स्वभव को निर्धारित करता है। राज्य देश की पारिस्थितियों को ध्यान में रखकर यह निश्चित करता है कि देश के आर्थिक जीवन का ढाँचा कैसा हो तथा उसको किस प्रकार स्थायी बनाए रखा जाए। राज्य आर्थिक ढाँचे को सुरक्षित रखने के लिए कानून बनाता है तथा कार्यरूप में परिणत करता है।

8- **आर्थिक स्थिरता (Economic Stability):-** देश में आर्थिक स्थायित्व को बनाए रखना भी सरकार का दायित्व होता है। सरकार मूल्यों में स्थिरता तथा उत्पादन एवं रोजगार के स्तरों को ऊँचा तथा स्थायी बनाए रखने का कार्य भी करती है। जिसके लिए वह सार्वजनिक व्यय, कराधान तथा सार्वजनिक ऋण आदि का सहारा लेती है।

9- **जनोपयोगी सेवाएँ (Public Utility Services):-** मानवीय आवश्यकताओं में वृद्धि होने के साथ–साथ आज उत्पादन एवं वितरण की प्रणालियाँ भी बहुत जटिल हो गयी है अतः यह आवश्यक हो गया है कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति में राज्य पर्याप्त सहायता करें। इसे दृष्टिगत रखते हुए राज्य ने बहुत सी जनोपयोगी सेवाओं का नियंत्रण अपने हाथ मे ले लिया है। जैसे– यातायात एवं संचार, पानी एवं बिजली की व्यवस्था आदि।

10- **जोखिम का अल्पीकरण (Minimization of Risks):-** सरकार विभिन्न प्रकार के जोखिमों के दुष्परिणामों से समाज को बचाने का प्रयास करती है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप आज आर्थिक जीवन बहुत ही अनिश्चित हो गया है। औद्योगिकरण में वृद्धि के परिणामस्वरूप दुर्घटना, बीमारी, बेरोजगारी तथा व्यापार चक्रों के दुष्परिणामों सामने आने लगे है। समा6ज5 को इन समस्याओं के बचाने का कार्य भी सरकार का है।

11- **आर्थिक सहायता (Economic Assistance):-** व्यक्तियों को उनकी आर्थिक क्रियाओं के संचालन हेतु सरकार आर्थिक सहायता प्रदान करती है। सरकार कृषको को समय–समय पर ऋण उपलब्ध कराती है। उपदान **(Subsidy)** देती है, करों में छूट देती है तथा तकनीकी सहायता उपलब्ध कराती है। उद्यागों को संरक्षण प्रदान करती है। उचित मूल्य पर वस्तुओं की बिक्री हेतु बाजारों का नियमन करती है। तथा भण्डारण की व्यवस्था करती है। सरकार व्यक्तियों को व्यवसाय, मूल्य तथा विपणन सम्बन्धी सूचनाएँ उपलब्ध कराकर आर्थिक जीवन की अनिश्चित एवं बाधाओं को दूर करती है।

12- मानव संसाधन विकास कार्यक्रम (Human Resource Development Programme):- देश में आर्थिक विकास को गतिशील बनाने के लिए सरकार द्वारा मानव संसाधन विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। स्वस्थ्य एवं सुशिक्षित श्रम के बिना देश के वांछित प्रगति संभव नहीं होती। साधनों के अभाव में व्यक्ति स्वयं की शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास एवं पौष्टिक भोजन की समुचति व्यवस्था नहीं कर पाता। अतः यह कार्य सरकार को करना पड़ता है।

13- युद्ध एवं अतंर्राष्ट्रीय मामले (War and International Affairs):- देश की सुरक्षा करना तथा अंतराष्ट्रीय सम्बन्धों को सौहाद्रपूर्ण बनाए रखना भी सरकार का दायित्व होता है। देश की सुरक्षा के लिए वर्तमान सरकारों को अधिक साधन जुटाने होते है। आधुनिक युद्ध अत्याधिक महँगे होते है तथा सम्पूर्ण देश के आर्थिक जीवन एवं आर्थिक स्थिरता को छिन्न–भिन्न कर देते है। सरकार को युद्ध हथियारों के उत्पादन एवं यद्ध तकनीकों एवं उपकरणों के आयात तथा सैनिकों की व्यवस्था पर भारी मात्रा में धन की आवश्यकता पड़ती है। युद्ध होने पर उससे होने वाली हानि की भरपाई करनी होती है। अतः वर्तमान सरकारें मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने तथा आपसी आर्थिक सहयोग एवं व्यापार को बढ़ावा देने के लिए कूटनीतिक प्रयास करती है। इसके लिए एक देश, दूसरे देश में दूतावास खोलता है तथा उसमें कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। एक देश से दूसरे देश में शिष्टमण्डल आते–जाते रहते है, नागरिकों की शिक्षा एवं संस्कृति का आदान–प्रदान होता रहता है। इससे सरकार के आर्थिक कार्यों में पर्याप्त वृद्धि हो गयी है।

14- आर्थिक नियोजन (Economic Planning):- वर्तमान समय में आर्थिक नियोजन राष्ट्रों की आर्थिक नीति का प्रमुख अंग बन गया है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सरकार को भारी मात्रा में धन व्यय करना पड़ता है। जिसकी पूर्ति हेतु सरकार कर लगाती है, ऋण लेती है तथा घाटे का बजट बनाती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक नियोजन भले ही कुछ कम महत्वपूर्ण हो परन्तु समाजवादी एवं अल्पविकसित देशों में आर्थिक नियोजन अत्यधिक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण होता है।

इस तरह स्पष्ट है कि देश के आर्थिक जीवन में सरकार की सहभागिता तथा हस्तक्षेप दिन प्रतिदिन निरंतर बढ़ता जा रहा है। यदि यही प्रवृति विद्यमान रही तो वह दिन दूर नही जब मनुष्य हर कार्य के लिए राज्य पर निर्भर हो जाएगा।

1.5 राज्य की आर्थिक क्रियाओं की सीमा
(LIMITATION OF STATE'S ECONOMIC ACTIVITIES)

इसमें संदेह नही कि आर्थिक विकास को गति प्रदान करने तथा सामाजिक कल्याण में वृद्धि हेतु देश की आर्थिक क्रियाओं में सरकार की सहभागिता उचित एवं वांछनीय है। परन्तु राज्य को किस सीमा तक आर्थिक क्रियाकलापों में भाग लेना चाहिए इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ प्रचलित है–

1. **पूर्ण सरकारी हस्तक्षेप (Complete State intervention):-** इस विचारधारा के समर्थकों का मत है कि विकास सभी कार्यों को सरकार द्वारा अपने नियंत्रण में रखना चाहिए। यदि न कार्यों

को निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया जायेगा तो अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना संभव नहीं हो सकेगा। समाजवादी विचारधारा से प्रभावित इन विचारकों को मत है कि समस्त संसाधनों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण सीापित करते हुए सरकार को साहसी की भूमिका निभानी चाहिए और सार्वजनिक उपक्रमों की सीापना करनी चाहिए। सरकार द्वारा आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया अपानाते हुए देश का तेजी से विकास किया जाना चाहिए। विाकस का कार्य निजी क्षेत्र पर छोडकर प्रतीक्षा करने से देश को तेजी से आर्थिक विकास नही किया जा सकेगा।

2. **क्रमिक हस्तक्षेप की भूमिका (Concept of Gradual Interference):-** इस विचारधारा के समर्थकों का कथन है कि सरकार को आर्थिक क्षेत्र में एकाएक प्रभावी ढंग से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए बल्कि क्रमशः धीरे–धीरे तथा जहाँ आवश्यकता हो, वहीं हस्तक्षेप करना चाहिए। कभी–कभी आवश्यकता से अधिक सरकारी हस्तक्षेप अर्थव्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। सरकार को देश की परिस्थितियों के अनुरूप ही आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करना चाहिए।

परन्तु अल्पविकसित देशों में जहाँ व्याप्त रहती है तथा पूँजी निर्माण की गति धीमी और पूंजीगत वस्तुओं को नितांत कमी रहती है, वहाँ आर्थिक विकास को प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप के बगैर तेज नही किया जा सकता है। समाजावादी समाज की सीापना के उद्देश्य से भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रणाली को अपनाया गया है जहाँ निजी क्षेत्र के साथ–साथ सार्वजनिक क्षेत्र में भी उद्योगो की सीापना की गयी है। सरकार की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से ही निजी क्षेत्र फलता–फूलता है। इसलिए सरकार भी निजी उद्यमियों के सक्रय सहयोग के बिना अधिक समय तक सफल नहीं हो सकती। निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र दोनो की अपनी–अपनी कमियाँ तथा सीमाएँ है फिर भी देश के आर्थिक विकास में दोनो की भूमिका महत्वपूर्ण है। अतः सरकारी हस्तक्षेप को मध्यमार्गी होना चाहिए।

1.6 आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका
(ROLE OF GOVERNMENT IN ECONOMIC DEVELOPMENT)

आर्थिक विकास हेतु किए जाने वाले सरकारी उपायों की निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(क) प्रत्यक्ष उपाय **(Direct measures)**

(ख) परोक्ष उपाय **(Indirect Measures)**

(क) प्रत्यक्ष उपाय **(Direct measures):-** प्रत्यक्ष उपायों के अन्तर्गत निम्न बातों को सम्मिलित किया जाता है–

1. **औद्योगीकरण में प्रत्यक्ष भागीदारी (Direct Participation in Industrialistation):-** देश में औद्योगिक एकाधिकार को नियंत्रित करने हेतु सामाजिक न्याय की दृष्टि से उपभोक्ताओं एवं श्रमिकों के हितो की रक्षा करने के लिए तथा निजी निवेश की कमी को पूरा

करने के लिए सरकार स्वयं औद्योगिकरण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भाग लेकर सार्वजनिक उद्योगों की सीापना करती है।

2. **उत्पत्ति के साधनों को गतिशील बनाना (Mobilize the Factors of Production):-** अल्पविकसित देश में उत्पादन से साधन गतिहीन अवस्था में सुप्त पड़े रहते हैं जिससे उनके विकास की गति बहुत धीमी रहती है। अतः सरकार साधनों की गतिशीलता तथा उनके उचित उपयोग हेतु प्रयास करती है। अल्पविकसित देशो में कृषि की प्रधानता, तकनीकी ज्ञान की कमी, पूँजी का अभाव तथा कुशल साहसियों की कमी रहती है। जिससे इन देशों के विकास की प्रक्रिया स्वस्फूर्त नहीं होती है। सरकार साहसियो को प्रोत्साहित कर उन्हे आर्थिक संरक्षण प्रदान कर नवीन प्राकृतिक साधनों की खोज कर तकनीकी शिक्षा तथा कुशल श्रमिकों की व्यवस्था कर पूँजी निर्माण की प्रक्रिया को बढ़ावा देकर आर्थिक विकास के कार्यों को आगे बढ़ा सकती है।

3. **संस्थागत तथा संगठनात्मक परिवर्तन लाना (Brininging our Institutional and Organisational Changes):-** आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गति प्रदान करने में संस्थागत एवं संगठनात्मक परिवर्तन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। राज्य द्वारा भूमि सुधार, उत्तराधिकार तथा भूस्वामित्व के नियमों में सुधार करके संस्थागत परिवर्तन किए जा सकते है। इन सुधारों के माध्यम से सरकार कृषकों की दशा में सुधार ला सकती है। इसके अतिरिक्त एकाधिकार पर नियंत्रण करके उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों के हितों की रक्षा की जा सकती है। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को चलाकर सहकारी समितियो की सीापना तथा इसी तरह के अन्य कार्यक्रमों द्वारा अल्पविकसित देशों में सुधार लाया जा सकता है। सरकार श्रम सम्बन्धी कानूनों को पारित करके औद्योगिक विवाद समाप्त करने का प्रयास करती है ताकि सेवायेजकों तथा श्रमिकों के बीच परस्पर सद्भावना बनी रहे। इस तरह, विभिन्न नियमों में सुधार करके पुरानी व परम्परागत प्रवृत्तियों को समाप्त कर सरकार द्वारा विकास की गति को तीव्र किया जा सकता है।

4. **आर्थिक अवसंरचना एवं सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करना (Provision of Economic Infrastructure and Social Service)-** सराकर द्वारा विभिन्न समाजिक एवं आर्थिक योजनाओं का संचालन कर आर्थिक विकास के मार्ग को प्रशस्त किया जाता है। इन सेवाओं के अंतर्गत मुख्य रूप से शिक्षा, स्वास्थ्य एवं आवास तथा अन्य कल्याणकारी कार्यक्रमों को सम्मिलित किया जाता है। जिनका आर्थिक विकास के कार्यक्रमों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। आर्थक विकास को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले आर्थिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत आधारभूत उद्योगों की स्थापना आदि को सम्मिलित किया जाता है। सरकार आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के लिए यातायात, परिवहन एवं संचार, शक्ति, सिंचाई, खाद, सीमेन्ट तथा स्टील आदि आधारभूत उद्योगों की सथापना करती है। इस तरह सरकार बड़े

पैमाने पर पूँजी निवेश करके सामाजिक एवं आर्थिक सेवाओं का विस्तार कर आर्थिक विकास में तेजी ला सकती है।

(ख) परोक्ष उपाय (Indirect Measures):- सरकार आर्थिक विकास की प्रक्रिया में निम्न परोक्ष उपाय को सहारा ले सकती है।

1. **राजकोषीय नीति (Fiscal Policy):-** आर्थिक विकास की प्रक्रिया में राजकोषीय नीति निम्नवत सहायक हो सकती है–
   - सरकार द्वारा इस तरह की कर प्रणाली लागू की जानी चाहिए ताकि सरकार की आय में तो वृद्धि हो परन्तु उत्पादन पर विपरीत प्रभाव न पड़ें।
   - सरकार द्वारा सार्वजनिक व्यय को उत्पादक क्षेत्रों में लगाया जाना चाहिए तथा सार्वजनिक ऋण से प्राप्त धनराशि को ऐसे निर्माण कार्यों में व्यय किया जाना चाहिए जिसमें उत्पादन शीघ्रता से प्राप्त किया जा सकता हो तथा ऋणों का विनयोग उन वस्तुओं के उत्पादन में किया जाना चाहिए जो वस्तुएँ विदेशों से आयात की जाती हों अथवा जिनकी माँग विदेशों में हों।
   - आर्थिक विकास हेतु धन जुटाने के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था का सीमित एवं नियंत्रित प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके अनियंत्रित प्रयोग से मुद्रास्फीति एवं अन्य आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ सकता है।
   - करो में छूट एवं उपदान आदि के माध्यम से सरकार उद्यमियों को नए उद्योगों को स्थापित करने हेतु प्रोत्साहित कर सकती है।

     इस तरह राजकोषीय नीति के माध्यम से सरकार राष्ट्रीय आय, उत्पादन एवं रोजगार पर वांछित प्रभाव डालने तथा अवांछित प्रभावों को रोकने का प्रयास करती है।
2. **मौद्रिक नीति (Monetary Policy):-** मौद्रिक नीति के अन्तर्गत किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति अर्थात आर्थिक विकास हेतु मौद्रिक प्राधिकरण चलन में मुद्रा तथा सीख की मात्रा का नियमन करती है। अन्य शब्दों में मौद्रिक नीति के अन्तर्गत मुद्रा संकुचन तथा मुद्रास्फीति के प्रभाव को कम करने, विदेशी विनिमय को देश के पक्ष में करने हेतु आवश्यकतानुसार साख का सृजन एवं नियमन किया जाता है। मंदी के प्रभावों को कम करने तथा रोजगार एवं आर्थिक विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए लचीली मौद्रिक नीति अपनाई जाती है। साख नियमन के उपकरण दो प्रकार के होते है– **(i)-** परिणामत्मक साख नियंत्रण– इसके अनतर्गत बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाएँ तथा निधि अनुपात में परिवर्तन सम्मिलित रहे है। **(ii)-** चयनात्मक साख नियंत्रण– इसके अंतर्गत नैतिक दबाव, साख की राशनिंग, मार्जिन आवश्यकताओं में परिवर्तन, उपभोक्ता साख का नियमन तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही आदि आते है। ये उपकरण साख को वांछित दिशा में ले जाकर आर्थिक विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक होते है।

3. **मूल्य नीति (Price Policy):–** विकासशील देशो में आर्थिक विकास की प्रक्रिया में विभिन्न परियोजनाओं पर भारी मात्रा में व्यय किया जाता है। इससे रोजगार एवं आय में वृद्धि से लोगो की क्रयशक्ति एवं माँग में वृद्धि हो जाती है। इन देशों में तेजी से हो रही जनसंख्या वृद्धि से भी वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग में वृद्धि हो जाती है। इससे इन वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों में पर्यापत वृद्धि हो जाती है जिससे उपभोक्ताओं एवं उत्पादको को भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कुछ सीमा तक स्फीति आर्थिक विकास को गति प्रदान करने में सहायक हो सकती है परन्तु नियमित रूप से तेजी से बढ़ती जाने वाली स्फीति आर्थिक विकास की प्रक्रिया को छिन–भिन्न कर देती है। अतः सरकार बढ़ते मूल्यों पर नियंत्रण करने के लिए तरह–तरह के उपाय करती है। तथा मौद्रिक एवं वित्तीय नीति का सहारा लेती है। इस तरह सरकार उचित मूल्य नीति अपनाकर उपभोक्ताओं एवं उत्पादकों को राहत प्रदान करती है।
4. **कार्यात्मक वित्त प्रबंधन (Functional Finance Management):–** वर्तमान समय में कार्यात्मक वित्त प्रबंधक की प्रणाली को अपनाकर आर्थिक विकास को प्रभावित किया जाता है। इसके अंतर्गत करारोपण, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण का उपयोग करते हुए औचित्यपूर्ण ढंग से बजट का निर्माण किया जाता है। कार्यात्मक वित्त की सहायता से आर्थिक उतार–चढ़ाओं, कीमत स्तर, उत्पादन, आय एवं रोजगार के स्तर में आने वाली गिरावट को दूर किया जा सकता है तथा आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।
5. **तटकर नीति (Tarift Policy):–** घरेलू उद्योग धंधों का संरक्षण प्रदान करने तथा देश में रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने के लिए तटकर नीति के अन्तर्गत आयात को हतोत्साहित तथा निर्यात को प्रोत्साहित किया जाता है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार की नीति में परिवर्तन करके स्वदेश का आर्थिक विकास किया जा सकता है।

1.7 सांराश

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि **अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास में तेजी लाने के लिए सरकार को निम्नलिखित कार्यों को करना आवश्यक समझा जाता है।**

1. आधारभूत संरचना का निर्माण
2. उद्योागों का विकास
3. विदेशी पूँजी को आकृष्ट करना,
4. कृषि के विकास के लिए सहायता उपलब्ध कराना,
5. भूमि व्यवस्था में सुधार करना।
6. मनव संसाधन विकास (स्वास्थ्य, शिक्षा, तकनीकी प्रशिक्षण) हेतु प्रयास करना,
7. विकास की दृष्टि से हानिकारक सामजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने का प्रयास।

8. सरकारी सेवाओं को सशक्त बनाना।

9. राजनीतिक स्थिरता के लिए अनुकूल स्थिति का निर्माण करनां।

उपरोक्त सभी कार्यों के संचालन हेतु भारी पूँजी की आवश्यकता होती है तथा इनके निर्माण में काफी लम्बा समय भी लगता है। इनके निर्माण कार्य के पूरा होने पर इनसे जो लाभ मिलता है, वह पूँजी निवेश की तुलना में बहुत कम होता है। अथवा लाभ नहीं भी मिल सकता है। अतः इनक कार्यों को करने हेतु निजी क्षेत्र कोई रूचि नहीं लेता। इसलिए विकास के इनक कार्यक्रमों के संचालन में सरकार की सक्रिय भूमिका आवश्यक समझी जाती है।

1.8 शब्दावली

कार्यात्मक वित्त — राजकोषीय उपकरणों सन्तुलन।

चयनात्मक साख विधि – साथ में गुणात्मक नियन्त्रण करना।

अहस्तक्षेप की नीति – सरकार हस्तक्षेप नहीं।

मुद्रा स्फीति – कीमत में वृद्धि ।

मुद्रा संकुचन – मुद्रा की मात्रा में कमी।

1.9 अभ्यास प्रश्न

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. मौद्रिक नीति किसे कहते हैं ?
2. राजकोषीय नीति क्या है ?
3. तटकर नीति को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से कौन परिमाणात्मक साख नियन्त्रण की विधि नही है।

   (क) रेपोदर (ख) बैंक दर

   (ग) साख का अनुभाजन (घ) वैधानिक तरलतानुपात

उत्तर– (ग) साख का अनुभाजन

2. निम्न में से कौन आधारभूत संरचना के अन्तर्गत नही आता है ?

   (क) बिजली (ख) बैंक

   (ग) सड़क (घ) जल

उत्तर– (ख) बैंक

सत्य/असत्य

1. कीन्स के अनुसार सरकार का आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप नही होना चाहिए।
2. आयात को नियंत्रित करने के लिए तटकर लगाया जाता है।
3. बैंक आर्थिक विकास का संस्थागत स्रोत है।

उत्तर– (1.) असत्य (2.) सत्य (3.) सत्य

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आर0ए0मसग्रेव, पब्लिक फिनान्स इन ए डेमोक्रेटिक सोसाइटी वाल्यूम–II
- आर0 ए0 मसग्रेव, द थियरी ऑफ पब्लिक फिनान्स, मैग्राहिल 1984।
- जे0 सी0 पन्त राजस्व, लक्ष्मी नरायण अग्रवाल पब्लिकेशन 1979।
- अमरेश बागेची ,रीडिंग इन पब्लिक फिनान्स, आक्सफोर्ड 1980।
- ए0 प्रेमचन्द्र गवर्नमेन्ट बजटिंग एण्ड एक्सपेन्डीचर कन्ट्रोल, IMF 1983।
- एस0 के0 सिंह लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2008
- Peet, "Speeches"; quoted in Mc Gregor, Public Aspects of Finance, p. 71
- H. Parnell, "On Financial Reform"; quoted by G. Findaly shirrras in the science of Public Financle, p. 31

1.11 सहायक पाठ्य सामग्री

- भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
- पंत, जे0सी0 (2005), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
- वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997), ***राजस्व*** (Public Finance), साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, हास्पीटल रोड, आगरा।
- डॉ. जे.पी. मिश्र : लोक वित्त एवं रोजगार सिद्धान्त विजडम बुक्स, वाराणसी

1.12 निबन्धात्मक प्रश्न

- 'आधुनिक राज्यों के आर्थिक क्रियाओं की विवेचना कीजिए।
- राज्य के आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि के कारणो को स्पष्ट कीजिए।
- समझाइए कि लोक वित्त किस तरह आर्थिक विकास एवं मूल्य स्थिरता में सहायता प्रदान करता है?
- आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

इकाई 2 लोकवित्त का क्षेत्र, प्रकृति एवं महत्व
(DEFINITION, SCOPE, NATURE AND IMROR TANCE OF PUBLIC FINANCE)

इकाई संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 लोकवित्त का अर्थ

2.4 लोकवित्त की परिभाषाएँ

2.5 लोक वित्त की विषय–वस्तु एवं क्षेत्र

2.6 लोकवित की प्रकृति

2.7 लोकवित्त का महत्व

2.8 लोकवित्त एवं निजी वित में अन्तर

2.9 लोकवित्त तथा विकासशील देश

2.10 लोक वित का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध

2.11 अधिकतम सामाजिक लाभ या कल्याण का सिद्धान्त

2.12 सारांश

2.13 शब्दावली

2.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.15 सहायक उपयोगी पाठय सामग्री

2.16 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

यह लोक व्यय खण्ड की दूसरी इकाई है जो लोकवित्त का क्षेत्र, प्रकृति एवं महत्व पर आधारित की गयी हैं। इससे पूर्व की प्रथम इकाई में राज्यों की आर्थिक क्रियाए को स्पष्ट किया गया है जो राज्यों की आर्थिक क्रियाए में वृद्धि के कारण ,आर्थिक क्रियाओं की सीमा तथा आर्थिक विकास में सरकार की भूमिकाके विभिन्न पक्षों को समायोजित करती है। आप इस इकाई में दर्शाये गये उददेश्यों को भंली भांति समझ गये होंगे।

प्रस्तुत इकाई में लोकवित्त का अर्थ ,परिभाषाएँ एवं लोक वित्त की विषय–वस्तु एवं क्षेत्र , प्रकृति और महत्व को बताया गया है।साथ ही लोकवित्त एवं निजी वित्त में अन्तर को समझाया गया है।अन्त में लोक वित के अधिकतम सामाजिक लाभ या कल्याण का सिद्धान्त को व्यक्त किया गया है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे–

- लोकवित्त का अर्थ एवं परिभाषाएँ को समझ सकेगें ।
- लोक वित्त की विषय–वस्तु एवं क्षेत्र , प्रकृति और महत्व को बता सकेगें।
- लोकवित्त एवं निजी वित्त में अन्तर को समझ सकेगें ।
- लोक वित का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध को बता सकेगें।
- लोक वित के अधिकतम सामाजिक लाभ या कल्याण का सिद्धान्त को समझ सकेगें ।

2.3 लोकवित्त का अर्थ

लोकवित्त अथवा राजस्व अर्थशास्त्र की वह शाखा है जो सरकार के आय–व्यय का अध्ययन करती है। राजस्व को लोकवित्त के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया जाता है। राजस्व, संस्कृत भाषा का शब्द है जो दो अक्षरों–'राजन + स्व' से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है।– 'राजा का धन'। राजनैतिक दृष्टि से राजा को समाज एवं क्षेत्र विशेष को प्रतिनिधित्व करने वाला मुखिया माना जाता है। इस तरह सरल शब्दों में राजस्व का अर्थ 'राजा के धन' या राजनैतिक दृष्टिकोण से 'मुखिया के धन' से होता है जिसके अनतर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि राजा धन को कहाँ से तथा किस प्रकार प्राप्त करता है तथा उस धन को किस प्रकार व्यय करता है।

अंग्रेजी में व्यक्त किया गया **'Public Finance'** भी दो शब्दों **Public** और **Finance** से मिलकर बना है। जिसका अर्थ है 'जनता का वित्त' अथावा 'सार्वजनिक वित्त'। परन्तु हम लोक वित्त अथवा राजस्व के अतर्गत जनता के वित्त का अध्ययन नहीं करते बल्कि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संख्या 'राज्य' अथवा सरकार की वित्तीय व्यवस्थाओं का अध्ययन करते है।

लोक वित्त को विभिन्न देशो की भाषाओं में विभिन्न नामों से पुकारा जाता है यथा, जर्मनी में इसे **'Finanzwissenschaft'** है जिसका अर्थ है वित्त का विज्ञान, फ्रांस में इसके लिए **'Science des finances'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। तथा इटली में इसे ने नाम से जाना जाता है। इन शब्दों को सार्वजनिक आय एवं व्यय के प्रबंध के रूप में प्रयोग किया जाता है।

2.4 लोक वित्त की परिभाषाएँ

विभिन्न अथशास्त्रियों ने लोकवित्त को भिन्न–भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है।

डॉ0 डाल्टन (Dalton) के अनुसार, ''लोकवित्त उन विषयों में से एक है जो अर्थशास्त्र एवं राजनीति शास्त्र की सीमा रेखा पर स्थित है। इसका सम्बन्ध लोकसत्ताओं के आय–व्यय तथा उनके पारस्परिक समायोजन और समन्वय से है।

प्रो0सी0एफ0 बैस्टेल (Bastable) के अनुसार, ''लोकवित्त राज्य की लोकसत्ताओं के आय–व्यय, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, वित्तीय प्रशासन एवं नियंत्रण का अध्ययन करता है।''

प्रो0फिण्डले शिराज (Findlay shirras) के अनुसार, ''लोकवित्त के अंतर्गत लोक सत्ताओं के कोषो में वृद्धि एवं व्यय से संबधित सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है।''

उपयुक्त परिभाषाओं को अधिक विस्तृत इसलिए कहा जाता है क्योकि लोकसत्ताओं और उनकी सभी प्रकार की आय एवं व्यय को चाहे वह मौद्रिक हो अथवा अमौद्रिक, सबको लोकवित्त के अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया है।

दोषः– इन परिभाषाओं के कुछ प्रमुख दोष इस प्रकार है–

1. उपर्युक्त परिभाषाओं में प्रयुक्त शब्द लोक सत्ताओं पर कुछ अर्थशास्त्रियों ने आपत्ति प्रकट की है। उनका कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि सभी लोक सत्ताएँ राज्य की वैधानिक अंग हों। लोक सत्ताओं के अंतर्गत यदि सार्वजनिक कम्पनियाँ तथा शिक्षण संस्थाएँ आदि भी सम्मिलित कर ली जाती है तो लोक वित्त का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत हो जाएगा। वास्तविकता यह है कि लोक वित्त में हम केवल राज्य की वित्तीय क्रियाओं का अध्ययन करते है।
2. इन परिभाषाओं में लोक सत्ताओं की सभी प्रकार की आय–मौद्रिक और अमौद्रिक को सम्मिलित कर लिया गया है जबकि विषय के क्षेत्र को निश्चितता प्रदान करने के लिए लोकवित्त के अंतर्गत केवल मुद्रा एवं साख सम्बंधी आय को ही सम्मिलित किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त दोषों के बाद भी यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि विभिन्न मौद्रिक एवं आमौद्रिक साधनों के बीच भेद करना सरल नहीं है। राज्य अपने कार्य संचालन के लिए सभी तरह के साधनों का प्रयोग करता है। इस तरह, मुद्रा के महत्व मे वृद्धि के साथ लोक वित्त का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया है। ऐसी स्थिति में इस तरह की आपत्ति अनुपयुक्त है और उक्त परिभाषाएँ औचित्यपूर्ण है।

लुट्ज (Lutz) के अनुसार, '' लोकवित्त उन साधनों की व्यवस्था, सुरक्षा तथा वितरण का अध्ययन करता है जिनकी सार्वजनिक अथवा सरकारी कार्यों को चलाने के लिए आवश्यकता पड़ती है''

कार्ल प्लेहन (Plehan) के अनुसार, '' लोकवित्त वह विज्ञान है जो राजनितिज्ञों की उन क्रियाओं का अध्ययन करता है जिनके द्वारा वे राज्य के कर्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक भौतिक साधनों को प्राप्त करते है तथा उन साधनों का प्रयोग करते है।''

आर्मिटेज स्मिथ (Armitage Smith) के अनुसार, ''राजकीय व्यय तथा राजकीय आय की प्रकृति एवं सिद्धान्तों की व्याख्या को लोक वित्त कहा जाता है।''

श्रीमती उर्सुला के.हिक्स (U.K. Hicks) के अनुसार, ''लोक वित्त का मुख्य विषय उन विधियों का निरीक्षण एवं मूल्यांकन करना है जिनके द्वारा सरकारी संस्थाएँ आवश्यकताओं की सामूहिक संतुष्टि करने का निरक्षण करती है और अपने उद्येश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक कोष प्राप्त करती है।''

प्रो0 मसग्रेव (Musgrave) के अनुसार, ''वे जटिल समस्याएँ जो सरकार की आय–व्यय प्रक्रिया के इर्द–गिर्द केन्द्रित रहती है, उन्हें परम्परागत दृष्टि से लोक वित्त कहा जा सकता है।''

प्रो0 डी0 मार्को (D.Marco) के अनुसार, ''लोक वित्त राज्य की उन उत्पादक क्रियाओं का अध्ययन करता है जिनका उद्येश्य सामूहिक आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।''

निष्कर्ष उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन से इस निषकर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि लोक वित्त मूल रूप से सरकारों के आय–व्यय से सम्बन्धित है तथा सरकारों का अर्थ केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सत्ताओं से है। वर्तमान समय में लोक वित्त का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है, अतः अब इसके अंतर्गत सरकारी आय–व्यय के अतिरिक्त वित्तीय प्रशासन, लेखा निरीक्षण एवं वित्तीय नियंत्रण आदि कार्यों को भी सम्मिलित किया जात है।

2.5 लोक वित्त की विषय–वस्तु एवं क्षेत्र

लोक वित्त की विषय–वस्तु की जानकारी के लिए यह याद रखना होगा कि लोक वित्त के विभिन्न पहलुओं की विवेचना का इतिहास काफी पुरा है। एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक ***'Wealth of Nations'*** **(1776)** के खण्ड **5 (Book V)** में लोक वित्त के विभिन्न अंगों का विश्लेषण किया है। इस खण्ड में तीन अध्याय है जो क्रमशः सरकार के व्यय, सरकार के राजस्व तथा लोक ऋण की विवेचना करते है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोक वित्त को क्षेत्र तीन विषय–वस्तु तक सीमित है, यथा लोक व्यय, लोक राजस्व तथा लोक ऋण **(Public Expenditure, Public Revenue and Public Debt)**

रिकार्डो की पुस्तक का नाम था ***'The Principles of Political Economy and Taxation'*** **(1819),** जिसमें दस अध्याय करारोपण की विभिन्न समस्योओं पर लिखे गये। लोक व्यय पर कोई पृथक् अध्याय नहीं है। लोक ऋण की विस्तृत विवेचना उनके पृथक् प्रकाशन ***Essay on the Funding System*** में मिलती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि रिकार्डों ने केवल कर तथा लोक ऋण को ही लोक वित्त के अध्ययन की प्रमुख विषय–वस्तु माना।

जे0एस0 मिल ने भी अपनी पुस्तक ***The Principles of Political Economy*** जो 1848 में प्रकाशित हुई, में लोक वित्त के विभिन्न अंगों की पर्याप्त विवेचना की, लेकिन इस पुस्तक में भी करों के विभिन्न पक्षा के विश्लेषण पर विशेष ध्यान दिया गया तथा राष्ट्रीय ऋण **(National Debt)** की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला गया। जहां एडम स्मिथ ने लोक व्यय के विवेचन का प्रथम पंक्ति में रखा वहा रिकार्डों तथा मिल ने करारोपण एवं लोक ऋण को अधिक महत्व दिया।

उन्नीसवीं सदी के अन्त की ओर एक अत्यधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। इसके पूर्व अर्थशास्त्रियों ने अपनी महान् कृतियो में लोक वित्त को एक छोटा–सा स्थान प्रदान किया था अब लोक वित्त पर पृथव् पुस्तकं लिखी जानी लगी। इस प्रवृत्ति की श्रीगणेश 1892 में सी0एफ0 बैस्टेबल **(C.F.Bastable)** की पुस्तक ***Public Finance*** से हुआ। इसी श्रृखंला में डाल्टन ***(Hugh Dalton)*** की पुस्तक ***Public Finance*** सर्वप्रथम 1922 में प्रकाशित हुई जिसे आधिक ख्याति मिली। इस पुस्तक में डाल्टन ने लिखा के लोक वित्त की विषय–वस्तु है सरकार की आय तथा व्यय तथा एक का दूसरे के साथ समायोजन।

डाल्टन ने उपयुक्त विषय–वस्तु की विवेचना में लोक वित्त के क्षेत्र को विस्तृत किया। उन्होने रिकार्डों तथा मिल की तरह विशेष करों के प्रभाव के विश्लेषण के साथ ही कर के सामान्य सिद्धान्तों की भी व्याख्या की। साथ ही, एडम स्मिथ की परम्परा को अपनाते हुए उन्होने लोक

व्यय का भी विस्तृत अध्ययन किया। वस्तुतः कर, लोक व्यय तथा लोक ऋण का पृथक्–पृथक् अध्ययन नही करके, उनके आपसी सम्बन्धों पर विचार किया जाने लगा। इसलिए एलेन तथा ब्राउनली ***(Allen and Brownlee)*** ने कहा कि लोक वित्त तेजी से लोक अर्थव्यवस्था का अध्ययन बनता जा रहा है।

लोक वित्त की विषय–वस्तु में आगे चलकर जो विभिन्नता आयी उसकी जानकारी पीगू की पुस्तक ***A Study of Public Finance*** से मिल सकती है जिसका प्रथम संस्करण 1928 में प्रकाशित हुआ तथा तृतीय संस्करण 1947 में। दोनो ही संस्करणों में कर के सिद्धान्तों के साथ–साथ विशेष करों के गुण एवं दोषों की विवेचना की गयी है। प्रथम संस्करण के बाकी भाग में युद्ध वित्त की समस्याओं का जिक्र है। इसके विपरीत तृतीय संस्करण में 'लोक–वित्त एवं रोजगार' शीर्षक के अन्तर्गत उन राजकोषीय उपायों का पूर्ण विवेचना शामिल किया गया है जिनका द्वारा समग्र आय को प्रभावित किया जा सकता है। लोक वित्त को आधुनिक समय में इसी रूप में ढाला गया है। युद्धोत्तर काल में एक समय तो ऐसा लग रहा था कि अल्पकालीन स्थिरीकरण राजकोषित नीति **(Short-term Stabilsation Fiscal Policy)** ही लोक वित्त का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग वन जायेगी। किन्तु, ऐसा नही हुआ। 1959 में आर0ए0 मसग्रेव **(Richard A. Mugrave)** की महत्वपूर्ण पुस्तक ***The Theory of Public Finance*** प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की भुमिका में मसग्रेव ने लिखा कि रिकार्डो से लेकर केन्स तक शायद ही किसी ने अर्थव्यवस्था की क्रिया पर बजट नीति के प्रभाव पर लिखा। इस विषय को 1930 के दशक के बहुत अधिक प्रेरणा मिली जब राजकोषीय नीति की नयी अवधारणा आर्थिक यान्त्रिकी **(Economic Mechanism)** के हदय में प्रवेश कर गयी अर्थात् प्रमुख विषय बनी गयी। इससे लोक वित्त के प्रति हमारे दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इसका पणिाम यह हुआ कि मैक्रो आर्थिक सिद्धान्त के अन्तर्गत बजट नीति की भूमिका का विश्लेषण होने लगा।

मसग्रेव कहते है कि लोक वित्त को इस प्रकार मैक्रो आर्थिक सिद्धान्त में शामिल करना एक–पक्षीय विकास था। कारण यह है कि इससे लोक वित्त का मैक्रो सिद्धान्त (से, अल्पकालीन स्थिरीकरण सम्बन्धी राजकाषीय नीति) की ओर ही विशेष ध्यान गया और इसी साधनों के आवंटन पर प्रभाव के अध्ययन की फलतः बट नीति के आय के वितरण तथा निजी क्षेत्र में साधनों के आवंटन पर प्रभाव के अध्ययन की अवहेलना की गयी। इस कमी को मसग्रेव ने दूर किया तथा बताया कि लोक वित्त का क्षेत्र तीन प्रमुख राजकोषीय कार्य, यथा, आवंटन कार्य **(Allocation function)** वितरण कार्य **(Distribution fuctio)** तथा स्थिरीकरण कार्य **(Stabilisation function)** तक फैला हुआ है। उन्होने लोक वित्त की पारस्परिक विषय–वस्तु (जैसे, करारोपण, लोक व्यय तथा लोक ऋण) का विश्लेषण आवंटन, वितरण तथा स्थिरीकरण के दृष्टिकोण से करके लोक वित्त के क्षेत्र को काफी विस्तृत कर दिया। आवंटन कार्य के अन्तर्गत लोक व्यय तथा करों की रचना इस प्रकार की जाती है ताकि साधनों को निजी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से हटराकर सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाया जा सके। वितरण कार्य के अनुसार कर तथा लोक व्यय की रचना इस प्रकार की जाती है। कि साधनों को एक व्यक्ति के उपयोग से हटाकरण दूसरे व्यक्ति के उपयोग में (जैसे, अमीरो से हटाकरण निर्धनों के उपयोग में) लगाया जा सकें। स्थिरीकरण कार्य के अन्तर्गत कर एवं लोक व्यय की रचना पूर्ण रोजगार तथा कीमत स्थायित्व के दृष्टिकोण से की जाती है। इसका सम्बन्ध अल्पकालीन स्थिीरीकरण की समस्या से तो है ही, साथ ही इसमें दीर्घकालीन आर्थिक

विकास के सम्बन्ध की भी विवेचना की जाती है। दूसरे शब्दों में, इस कार्य के अन्तर्गत लोक वित्त के समष्टि पहलू **(Macro aspect)** पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

1960 के दशक के पिछले भाग तथा 1970 के दशक में मैक्रो आर्थिक नीति के महत्व में ह्रास हुआ। इसके कई कारण थे, यथा, इस नीति को लागू करने में व्यावहारिक कठिनाइया, आर्थिक विचारों के क्षेत्र में मुद्रावादी प्रति–क्रान्ति **(monetarist counter-revolution)** तथा लोक वित्त के पारम्परिक क्षेत्र में अन्य विषयों का उदय तथा उनकी फिर से खोज। इस नये विषयों में एक लोक व्यय है। लोक व्यय खुद नया विषय नही है, किन्तु इस विषय को नये रूप से देखा जाता है जिससे इसके क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई है। पहले लोक व्यय के अन्तर्गत इसमें वृद्धि के कारण, इसके प्रभाव, वर्गीकरण, आदि का ही विश्लेषण किया जाता था। आज लोक व्यय के अन्तर्गत जिन मुद्यों पर विशेष ध्यान दिया जाता है, वे हैं सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों के सापेक्ष आकार, वे परिस्थितियों जहा बाजार यन्त्र टूट जाता है, सार्वजनिक क्षेत्र के आकार के निर्धारण में राजनीतिक समाधान का महत्व, आदि। दूसरा नया विषय है बहुस्तरीय वित्त **(Multi-level Finance)** जहां राजकोषीय संघ **(Fiscal Federalism)** की समस्याओं अर्थात् केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारों की वित्त की समस्याओं की विवेचना की जाती है। राज्य द्वारा निजी क्षेत्र को दी जाने वाली सब्सिडी **(subsidy)** अर्थात अर्थिक सहायता की प्रकृति तथा परिणामों की भी गहराई से खोज की जाने लगी है। लागत–लाभ विश्लेषण **(Cost-enefit analysis)** भी लोक वित्त का एक आकर्षक विषय बन गया है।

इस तरह लोक वित्त अर्थशास्त्र का वह भाग है जो किसी देश की वित्त व्यावस्था तथा उससे स्मबन्धित प्रशासनिक एवं अन्य समस्याओं का अध्ययन करता है और अंततः उसका उद्येश्य स्थिरता के साथ आर्थिक विकास की गति को बनाये रखना होता है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर लोक वित्त के अध्ययन क्रम को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. सार्वजनिक व्यय **(Public Expenditure)**
2. सार्वजनिक आय **(Public Revenue)**
3. सार्वजनिक ऋण **(Public Debt)**
4. वित्तीय प्रशासन **(Financial Administration)**
5. राजकोषीय या वित्तीय–नीति **(Fiscal Policy)**

1. **सार्वजनिक (या लोक) व्यय (Public Expenditure):-** लोक वित्त के इस अंग के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि सार्वजनिक व्यय किन–किन मदों पर करना आवश्यक है? व्यय का स्वरूप तथा परिमाण क्या हो? व्यय करते समय किन–किन नियमों एवं सिद्धान्तों का पालन किया जाए? इन व्ययों का राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है ता इससे संबंधित कठिनाईयाँ क्या है? तथा उन्हे किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

   राज कीय अथवा सार्वजनिक व्यय का महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। जन कल्याण के सभी का सार्वजनिक व्यय पर ही निर्भर करते है। सार्वजनिक व्यय की मदों तथा उन पर व्यय की जाने वाली धनराशि जिसके आधार पर उस देश की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक नीतियों तथा स्थितियों की समीक्षा की जा सकती है।

2. **सार्वजनिक (या लोक) आय (Public Revenue):-** इस अंग के अंतर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि सरकार अपनी आय किन–किन स्त्रोतों से प्राप्त करती है। इसमें आय के

विभिन्न स्त्रोतों का विश्लेषण वर्गीकरण, साधनों की गतिशीलता तथा उनके सापेक्षिक महत्व एवं सिद्धान्त का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त आय के इन स्त्रोतों का देश के उपभोग, उत्पादन वितरण, बचत तथा विनियोग पर क्या प्रभाव पड़ा है, का भी अध्ययन किया जाता है।

3. **सार्वजनिक ऋण (Public Debt):-** इस अंग के अंतर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि सरकारी ऋण क्यों और किस उद्येश्य हेतु लिए जाते है। राज्य किन सिद्धान्तों के आधार पर ऋण प्राप्त करता है? तथा इन ऋणों का भुगतान किस प्रकार किया जाता है। ऋणों के क्या प्रभाव पड़ते है? सार्वजनिक ऋणों से सम्बन्धित विभिन्न समस्याएँ क्या है? अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋणों का सापेक्षित महत्व क्या है? इत्यादि।
4. **वित्तीय प्रशासन (Financial Admisistration):-** इस विभाग के अंतर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि सरकार वित्तीय क्रियाओं का प्रबंध किस प्रकार करती है? इसके अन्तर्गत विशेष रूप से यह अध्ययन किया जाता है। कि बजट किस प्रकार बनाया जाता है, बजट बनाने के क्या उद्देश्य होते है, घाटे के बजट तथा आधिक्य के बजट का क्या महत्व है, इसके अतिरिक्त लेखों का अंकेक्षण करना भी इसके अतर्गत आता है।

   वित्तीय प्रशासन लोक वित्त का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विभाग है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् इसका महत्व काफी बढ़ गया है। प्रो0 बैस्टेबल लोक वित्त के इस भाग के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि 'लोकवित्त' की कोई पुस्तक तब तक पूर्ण नही कही जा सकती जब तक कि वह वित्तीय प्रशासन और बजट की समस्याओं का अध्ययन नही करती।
5. **राजकोषीय या वित्तीय नीति (Fiscal Policy):-** लोक वित्त के एक भाग के रूप में राजकोषीय अथवा वित्तीय नीति के महत्व को आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। स्थिरता के साथ आर्थिक विकास, को गति प्रदान करने के लिए आज वित्तीय नीति का सहारा लिया जाता है। वित्तीय नीति के द्वारा देश में उत्पादन क्रियाओं को नियमित करके, राष्ट्रीय आय के वितरण को न्यायपूर्ण बनाकर तथा कीमतों में स्थिरता लेकर आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

   इस तरह, नियोजित आर्थिक विकास हेतु राजकोषीय नीति का प्रयोग एवं अध्ययन लोक वित्त की विषय वस्तु का एक प्रमुख अंग है।

अभ्यास प्रश्न–1

लघु उत्तरी प्रश्न–

1. लोकवित्त किसे कहते हैं।
2. सार्वजनिक व्यय को स्पष्ट कीजिए।
3. सार्वजनिक आय किसे कहते हैं।
4. वित्तीय प्रशासन किसे कहते हैं ?

वस्तु निष्ठ प्रश्न–

1. निम्न में से लोक वित्त किसका अध्ययन नही करता–

   (क) मूल्य नीति (ख) सार्वजनिक ऋण

(ग) बजट (घ) सार्वजनिक आय

उत्तर– (क) मूल्य नीति।

2. ''वेल्थ ऑफ नेशन'' किसकी पुस्तक है ?

क) कीन्स (ख) एडम स्मिथ

(ग) रिकार्डो (घ) जे.बी. से

उत्तर– (ख) एडम स्मिथ

3. निम्न में से कौन राजकोषीय नीति का उद्देश्य नही है?

क) विनिमय नियन्त्रण (ख) आर्थिक विकास

(ग) रोजगार में वृद्धि (घ) कीमत स्थिरता

उत्तर– (क) विनियम नियन्त्रण।

सत्य / असत्य–

1. वित्तीय प्रशासन का उद्देश्य सरकार के आय तथा व्यय को नियन्त्रित करना है।
2. लोक वित्त का अर्थ सरकार के आय तथा व्यय का विश्लेषण करना है।

उत्तर– 1. सत्य एवं 2. सत्य

2.6 लोकवित्त की प्रकृति (NATURE OF PUBLIC FINANCE)

लोक वित्त की प्रकृति के विवेचन हेतु यह जानने का प्रयास किया जाता है कि लोक वित्त विज्ञान है। अथवा **कला** ?

विज्ञान ज्ञान का वह शास्त्र है जिसमें किसी विषय का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन निरीक्षण, प्रयोग एवं विश्लेषण पर आधारित होता है। इस तरह के अध्ययन के आधार पर जो नियम बनाए जाते है या निष्कर्ष निकाले जाता है, उनका स्वभाव वैज्ञानिक होता है। इस आधार पर लोक वित्त को विज्ञान कहना अनुचित नहीं होगा। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि लोक वित्त एक स्वतंत्र विज्ञान नही है बल्कि एक आश्रित विज्ञान है क्योंकि इसका अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है और यह उन पर आश्रित है।

विज्ञान भी दो प्रकार के होते है– प्राकृतिक विज्ञान **(Positive Science)** तथा आदर्श विज्ञान **(Normative Science)** प्राकृतिक विज्ञान में हम वास्तविक एवं वस्तु स्थिति का अध्ययन करते है। वह क्या है? का उत्तर देता है परन्तु क्या होना चाहिए? से इसका सम्बन्ध नहीं है। वास्तविक विज्ञान उस दीप स्तंभ की तरह है जो जहाज को रोशनी दिखाता है और इंगित करता है कि यहाँ चट्टान है परन्तु यह नहीं बताया कि जहाज हमारा ध्यान आकर्षित करता है। इस तरह, आदर्श विज्ञान ज्ञान का वह पुंज होत है जिसका सम्बन्ध आदर्शों को स्थापित करना होता है। इस दृष्टि से दोनो विज्ञानों में 'वस्तु स्थिति' तथा 'आर्दश' का अंतर है।

लोक वित्त के अंतर्गत तथ्यों का अध्ययन दोनो दृष्टिकोणो से किया जाता है।

कला ज्ञान का व्यावहारिक स्वरूप है। किसी बात का ज्ञान तो विज्ञान है और उस ज्ञान को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए जब नियम बनाए जाते है तो उसे कला कहते है। इस तरह किसी काग्र को रोकने के लिए व्यावहारिक नियमों को बताना ही कला है। इस दृष्टि से लोकवित्त कला भी है। यह कला का रूप उस समय धारण कर लेता है जब किसी देश की सरकार विविध स्त्रोतो से प्राप्त अपनी आय को इस प्रकार व्यय करने का निश्चय करती है ताकि सामाजिक कल्याण अधिकतम हो सके। सामाजिक कल्याण में वृद्धि के लिए सरकार का यह भी दायित्व हो जाता है कि राजकोषीय नीति का इस तरह प्रयोग करें ताकि समाज में धन एवं आय के वितरण की विषमता को समाप्त किया जा सके।

इस तरह निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि लोक वित्त विज्ञान तथा कला दोनों है। जब हम सार्वजनिक आय एवं व्यय के सिद्धान्तों एवं नियमों का अध्ययन करते है तो यह लोक वित्त का वैज्ञानिक पहलू होता है और जब इन सिद्धान्तों एवं नीतियों का प्रयोग सरकार की वित्तीय समस्याओं को हल करने में किया जाता है तो वही लोक वित्त का कलात्मक पहलू हो जाता है।

2.7लोक वित्त का महत्व (IMPORTANCE OF PUBLIC FINANCE)

प्राचीन काल में राज्य के कार्य सीमित थे, अतः लोक वित्त का महत्व भी उसी के अनुरूप कम था। लोक वित्त का महत्व राज्यों की आर्थिक क्रियाओं से सम्बद्ध होता है। प्रारम्भ में सरकार के कार्य केवल वाह्मा आक्रमण से सुरक्षा तथा न्याय तक ही सीमित थे, फलस्वरूप सरकार का कोष भी सीमित ही रखा जाता था। क्लासिकल अर्थशास्त्री भी अहस्तक्षेप नीति के समर्थक **(Laissez-faire)** थे और चाहते थे कि आर्थिक क्रियाओं के स्वतः संचालन में सरकार को किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए इस तरह के सरकार के अल्प योगदान पर विश्वास करते थे। युग बदला, परिस्थितियाँ बदली, राज्य के कार्यों एवं उनके योगदान में परिवर्तन हुए तथा राज्य के अहस्तक्षेप नीति के भयंकर दोष सामने आने लगे। इग्लैंड के **राबर्ट ओवन**, फ्रांस के **सिसमांडी** तथा जर्मनी के फ्रेडरिक लिस्ट ने इस नीति की कटु आलोचना करते हुए राज्य को आगे आने का आह्मान किया। अहस्तक्षेप नीति पर सबसे प्रभावपूर्ण एवं कारगर प्रहार **कार्ल मार्क्स, लास्की**, **वेब्स** तथा **जे0 एम0 कीन्स** ने किया। वास्तविकता तो यह है कि राज्य के क्षेत्र एवं महत्व का विकास 19वीं शताब्दी के अंत से ही प्रराम्भ हो चुका था जिसका श्रेय जर्मन अर्थशास्त्री **वैगनर (Wagner)** को है उन्होने **'राज्य की बढ़ती हुई क्रियाओं का नियम'** प्रतिपादित किया था। राज्य के कार्यों में वृद्धि के साथ ही साथ लोक वित्त का क्षेत्र एवं महत्व भी बढ़ता जा रहा है। अब राज्य केवल देश्ज्ञ की रक्षा एवं नागरिकों की सुरक्षा ही नहीं करता वरन् कल्याणकारी राज्य के रूप में वह देश के लोगों की बीमारी, गरीबी, अशिक्षा को दूर करने के साथ–साथ नागरिको के जीवन के प्रत्येक पहलू पर अपना नियंत्रण रखता है स्थिति यह है कि आज राज्य मानव के समस्त आर्थिक क्षेत्रों–उत्पादन,उपयोग, विनिमय तथा वितरण में प्रेवश कर चुका है। **कीन्स** के **'सामान्य सिद्धान्त'** के प्रकाशन के बाद देश की आर्थिक क्रियाओं में राज्य के हस्तक्षेप और लोक वित्त के महत्व में क्रांतिकारी परिर्वतन आया। कीन्स ने प्रतिपादित किया कि देश में आर्थिक स्थिरता तथा रोजगार में वृद्धि राज्य के हस्तक्षेप द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सरकार राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतिक का सहारा लेकर अर्थव्यवस्था को वांछित दिशा में ले जा सकती है। आज विकसित देश आर्थिक स्थायित्व के लिए तथा विकासशील देश स्थिरता के साथ तीव्र आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। परिणामस्वरूप इन देशों में राज्य एवं लोकवित्त का महत्व अपेक्षाकृत बढ़ता जा रहा है। सरकार अपनी राजकोषीय नीति के द्वारा स्थिरता के साथ विकास तथा राष्ट्रीय आय के न्यायोचित वितरण आदि उद्येश्यों को

सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकती है। राज्य आज आर्थिक विकास को बढ़ावा देने, बाहय–आक्रमण से सुरक्षा तथा आंतरिक शान्ति बनाए रखने, सामाजिक सुरक्षा तथा जनकल्याणकारी कार्यों के कार्यान्वयन करने, सामाजिक बुराइयों को दूर करने, शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान कर विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए, आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए, दुर्लभ साधनों के सर्वोत्तम ढंग से आवंटन के लिए, राष्ट्रीय उपक्रमों का विकास करने तथा बेरोजगारी दूर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ये महत्वपूर्ण कार्य सरकार राजकोषीय नीति के द्वारा सुगमतापूर्वक कर सकती है। कोई भी राज्य कुशलतापूर्वक अपने उक्त कार्यों का सम्पादन तब तक नहीं कर सकती जब तक कि उसके पास सुसंगठित लोकवित्त नहीं होगा। इस तरह, राज्य के कार्यों एवं महत्व में वृद्धि होने से लोकवित्त के महत्व में अधिक वृद्धि हो चुकी है।

लोकवित्त की सीमाएँः– लोक वित्त से सम्बन्धित नीतियाँ राष्ट्रीया आय, उत्पादन एवं रोजगार पर वांछित प्रभाव डालने एवं अवांछित प्रभावों को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और इस तरह देश के आर्थिक जीवन को प्रभावित करने में भारी योगदान प्रदान करती है। देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के बावजूद लोक वित्त की नीतियों की अपने कुछ सीमाएँ भी है यथा– (i) कर प्रणाली में मनचाहा परिवर्तन करना सुगम नहीं होता। सामान्यतया लोग नए करों का विरोध करते है। (पप) कभी–कभी सरकारी व्यय में वृद्धि से निजी निवेश में गिरावट आने लगती है। सार्वजनिक क्षेत्र के विकास से निजी क्षेत्र का संकुचन होने लगता है। (iii) सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम तभी सफल हो सकते है जब उन्हे उचित समय पर क्रियान्वित किया जाए परन्तु इस उचित समय अर्थात् मंदी का पुर्वानुमान लगाना कठिन होता है। (iv) सार्वजनिक निर्माण कार्यों को तुरंत लागू करना सदैव संभव नहीं हो पाता। सरकारी मशीनरी अपने ढंग से कार्य करती है, अतः निर्माण कार्यों को प्रारम्भ करने में कुछ न कुछ देरी तो हो ही जाती है।

इस तरह अकेली लोकवित्तीय नीति अर्थव्यवस्था को स्थिरता के साथ विकास के पथ पर तेजी से ले जाने में पूर्णतया समर्थ नहीं है। अतः सरकार मंदी एवं बेरोजगारी का प्रभावपूर्ण ढंग से सामना करने तथा स्थिरता के तीव्र आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राजकोषीय नीति के साथ–साथ मौद्रिक नीति का भी सहारा लेती है। समन्वित मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति के क्रियान्वयन से ही अर्थव्यवस्था में वाछित लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते है।

2.8 लोक–वित्त एवं निजी–वित्त में भेद (DISTINCTION BETWEEN PUBLIC AND PRIVATE FINANCE)

लोक वित्त तथा निजी वित्त में सामान्यतया ऊपरी तौर पर कोई विशेष भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती क्योकि दोनो का उद्येश्य आय तथा व्ययय के बीज सामंजस्य अथवा संतुलन स्थापित करना होता है। दोनो की समस्याएँ एक सी है तथा दोनो का उददेश्य अपनी आय तथा व्यय से अधिकतम् सतोष प्राप्त करना होता है। निजी व्यय इसलिए होता है ताकि 'अधिकतम संतुष्टि' की प्राप्ति हो सके और सार्वजनिक व्यय इसलिए किया जाता है ताकि उससे 'अधिकतम् सामाजिक लाभ' उपलब्ध हो सके। इसलिए अतिरिक्त देश की आर्थक स्थिति में किसी भी प्रमुख परिवर्तन का प्रभाव व्यक्ति तथा सरकार दोनो की वित्तीय स्थिति पर पड़ता है। फिर भी लोक

वित्त तथा निजी वित्त की प्रकृति, उद्देश्य, सिद्धान्त व्यवस्था तथा प्रशासन आदि में आधारभूत एवं मौलिक भेद हैं जिनकी क्रमबद्ध विवेचना निम्न है।

1. **आय तथा व्यय के समायोजन में भेद (Difference In the Adjustment of Income And Expenditure)** सामान्यतया व्यक्ति अपनी आय के अनुसार व्यय करता है। वह पहले आय को देखता है फिर उसी अनुसार अपने व्यय को निर्धारित करता है। इसके विपरीत, सरकार पहले अपना व्यय निशिचित कर लेती है फिर उस व्यय के अनुसार आय के साधन जुटाने की व्यवस्था करती है।
   परन्तु दोनो की वित्त व्यवस्थाएँ अनेके व्यावहारिक कठिनाईयों के कारण सदैव ही उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार नहीं चल पाती है। कभी–कभी व्यक्ति को कुछ विशेष अवसरों पर अपनी आय के अधिक व्यय करना पड़ता है। जैसे–विवाह, त्यौहारों एवं अन्य सामाजिकक उत्सवों के अवसर पर व्यक्ति का व्यय बढ़ जाने पर वह अतिरिक्त कार्य करके, आराम का त्याग कर, कठिन परिश्रम करके अपनी आय को बढ़ाने के लिए प्रयास करता है। इसी तरह कभी–कभी सरकारें भी अपनी आय के अनुसार ही व्यय को समायोजित करती है। इसके अतिरिक्त सदैव यह आवश्यक नही है कि सरकार अपने व्यय के अनुरूप आय को प्राप्त करने में सफल ही हो जाए। कभी–कभी सरकार को अपनी खर्चों में कटौती भी करनी पड़ती है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रो0 फिण्डले शिराज कहते है कि निजी वित्त तथा लोक वित्त में अंतर केवल मात्रा का है प्रकृति का नहीं।
2. **उददेश्यों में भिन्नता (Difference In Aims)** (क) व्यक्ति सदैव अपने हित की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है जबकि सरकार के कार्यों का उद्देश्य सामाजिक कल्याण को अधिकतम् करना होता है। इस सम्बन्ध में डी0 मार्को का कथन है कि ''निजी–वित्त व्यवस्था में व्यक्तियों की, उनकी इच्छाओं की पूर्ति करने सम्बन्धी क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाता है जबकि लोक–वित्त में सकरार की उत्पादन क्रियाओं का जो सामूहित इच्छाओं की पूर्ति के लिए की जाती है, का अध्ययन किया जाता है।''
   (ख) व्यक्ति व्यय करते समय प्रायः सम–सीमांत उपयोगिता नियम को पालन करने का प्यास करता है ताकि वह अपनी निश्चित आय से अधिकतम् संतुष्टि प्राप्त कर सकें। परन्तु सरकार के लि ऐसा पाना संभव नहीं हो पाता क्योकि सरकार को अधिकांशतः अपना व्यय राजनीतिक आधार पर करना पड़ता है भले ही उससे मिलने वाली उपयोगिता कितनी ही कम क्यों न हो। इस तरह, सरकार के सामाने व्यय के चुनाव की स्वंत्रंता बहुत सीमित होती है। जबकि व्यक्ति अपना व्यय अपनी इच्छा एवं अभिरूचि के अनुरूप निशिचित कर सकता है।
   (ग) सामान्यता व्यक्ति अपने वर्तमान एवं तत्कालीन आवश्यकताओं को संतुष्ट करने का प्रयास करता है और उसी के अनुरूप व्यय करता है जबकि सरकार वर्तमान एवं भविष्य के हितों को ध्यान में रखकर अपने व्यय को निर्धारित करती है। डाल्टन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि राज्य ने केवल वर्तमान के लिए बल्कि भावी पीढ़ियों के लिए भी एक प्रन्यासी (Trustee) होता है, राज्य अमर है जबकि व्यक्ति मरणशील है। इसलिए व्यक्ति प्रायः शीघ्र लाभ प्राप्त करने को उत्सुक रहता है।
3. **आय के साधनों में लोच–सम्बन्धी अन्तर (Difference In the Sources Of Income and Its Elasticity)** सरकार की आय तथा उसके प्राप्त करने के साधन निजी आय

एवं उसके साधनों की अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण होते हैं। सरकार अपनी आय को पुराने करों की दर में वृद्धि करके, नए कर लगाकर, नोट छापकर, आंतरिक एवं वाह्मा ऋण प्राप्त करके तथा लाभ कमाने वाले उद्योगों का राष्ट्रीकरण करके बढ़ सकती है। कोई व्यक्ति उपरोक्त साधनों का प्रयोग नहीं कर सकता।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्धानों का मत है कि सरकार अपनी आय को सीमा से अधिक नहीं बढ़ा सकती। वह एक सीमा के बाद मनमाने ढंग से कर को नहीं बढ़ा सकती, नोट को नहीं छाप सकती तथा बाह्म ऋण भी नहीं प्राप्त कर सकती। सरकारी वित्त व्यवस्था केवल युद्ध या आपातकालीन परिस्थितियों मे अधिक लोचपूर्ण बनायी जा सकती है। जैसे–जैसे सरकार की आय बढ़ती है। वैसे–वैसे व्यक्तियों की व्यक्तिगत आय कम होती जाती है। इस सम्बन्ध में श्रीमती हिक्स का विचार है कि सरकार अपनी आय बढ़ानें के बजाय उस अनुपात को बदल सकती है। जिसमें देश की सम्पूर्ण आय सरकार तथा नागरिकों के बीच बंटी रहती है।

4. **बजट की प्रकृति में अंतर (Difference in the Nture of Budget)** एक व्यक्ति के बजट का अतिरेक होना उस व्यक्ति की कुशलता एवं दूरदर्शिता का प्रमाण समझा जाता है कि जबकि सरकार के बजट में अतिरेक का होना वित्त मंत्री की अकुशलता को प्रदर्शित करता है। सरकार के अतिरेक बजट का अर्थ है–'उच्च स्तरीय कराधान तथा निम्न स्तरीय व्यय। ये स्थितियाँ एक जन हितकारी सरकार के लिए उचित नहीं समझी जाती है। जहाँ अधिक कर देना देश की जनता के लिए कष्टकारी होता है वही सरकार द्वारा सार्वजनिक हित के कार्यक्रमों पर कम व्यय करना असंतोष पैदा करता है। सार्वजनिक वित्त में बजट का संतुलित होना ही उचित समझा जाता है। कभी–कभी घाटे का बजट भी उपयुक्त होता है। इस सम्बन्ध में फिन्ढले शिराज का कथन है,'' यदि किसी सरकार का बजट अतिरेक बतलाता है तो इससे देश के वित्त मंत्री की अकुशलता का परिचय मिलता है। सरकारी बजट का संतुलित होना ही उचित समझा जाता है और कभी–कभी घाटे का बजट बनाना भी युक्तिपरक होता है।''
5. **गोपनीयता का अंतर (Difference in Secrecy)** प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय तथा व्यय सम्बन्धी बातों का विवरण अन्य लोगो पर प्रकट नहीं करना चाहता और उसे गुप्त रखने का प्रयास करता है। इसके विपरीत सरकारी बजट में पूर्णरूपेण पारदर्शिता रहती है। सरकार अपने बजट को समाचार पदो एवं अन्य प्रचार माध्यमों के द्वारा प्रसारित करती है ताकि जनता उसके बारे में भली भॉति जान सके तथा टीका–टीप्पणी कर सके।
6. **अवधि में अंतर (Difference in the Period of Time)** सरकार एक निशिचित अवधि, सामान्यता एक वर्ष की अवधि के लिए आय–व्यय का बजट तैयार कती है परन्तु व्यक्तिगत अर्थ प्रबंधन में कोई व्यक्ति अथवा परिवार ऐसी किसी निश्चित अवधि के लिए अपने आय–व्यय का लेखा तैयार नहीं करता। सरकार की योजनाएँ अत्यधिक विस्तृत होती है जबकि व्यक्ति की योजनाएँ बहुत लघु स्तर की होती है।
7. **राज्य का अपेक्षाकृत अधिक प्रभुत्व (State is More Powerful)** राज्य का प्रभुत्व व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होता है अर्थात् राज्य अधिक शक्तिशाली होता है। यद्यपि व्यक्ति और राज्य के स्त्रोत कुछ अंश तक एक जैसे है, यथा– दोनों ही अपनी आय प्राप्त कर सकते है। दोनो ही दूसरों से दान ले सकते है और दोनो ही ऋण ले सकते है, फिर भी राज्य शक्तिशाली होने के कारण व्यक्तियों की सम्पत्ति कर अपना अधिकार

जमा कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उसको हड़प भी सकता है। परनतु, एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति को हड़प् नहीं सकता है।

इसके अतिरिक्त सरकार का नागरिकों पर प्रभुत्व होने के कारण वह अपने नागरिकों को ऋण देने के लिए विवश कर सकती है, जबकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ऋण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

8. **विचारपूर्ण व्यय (Diliberation in Expenditure)** व्यक्तिगत व्यय प्रायः आदतों, रीति–रिवाजों तथा उस सामाजिक वर्ग की आर्थिक एवं व्यावसायिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है जिसका िकवह सदस्य होता है। इसके विपरीत, सार्वजनिक व्यय का आकार व स्वरूप सरकार द्वारा पूर्ण निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सोच–समझ कर बनाई गयी नीतियों पर निर्भर करता है।

इस प्रकार लोक वित्त एवं निजी व्यवस्था में अनेक अंतर पाए जाते हैं परनतु कुछ विद्धानों का मत है कि दोनो में कोई मौलिक अंतर नही है। इन दोनो में मात्र अंश का ही अंतर है। यदि अंतर है तो मात्र इता कि एक का सम्बन्ध केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय निकायों के आय–व्यय से है तो दूसरे का सम्बन्ध निजी व्यक्यिों तथा परिवारों के आय–व्यय से है।

2.9 लोकवित्त तथा विकासशील देश
(PUBLIC FINANCE AND DEVELOPING COUNTRIES)

लोक वित्त का विकासशील देशों में महत्वपूर्ण स्थान होता है। विकासशील देशों में सरकार राजकोषीय नीति के माध्यम से स्थिरता के साथ आर्थिक विकास तथा आय वितरण्या की असमानता को कम करने के उद्येश्यों की प्राप्ति में सहजता से सफल हो सकती है। वाल्टर हेलर (Walter Heller) की धारणा है कि विकासशील देशों में कर तथा बजट नीति के आर्थिक उद्येश्य निवेश को प्रोत्साहित करना, मुल्य स्थायित्व तथा धन एवं आय की असमानता को कम करना आदि है। उनका कथन है कि, ''निजी उद्योगों पर आधिारित विकासित देशों में राजकोषीय नीति के उद्येश्य–साधनों का अनुकूलतम् आवंटन, आर्थिक विकास, स्थायित्व तथा आय का सर्वोत्तम वितरण आदि है जो अल्पविकिसित देशों के उद्येश्य से बहुत भिन्न नही है। यद्यपि विकसित तथा विकासशील देशों के राजकोषीय नीति के उद्येश्यों में बहुत हद तक समानता है फिर भी विकसित एवं विकासशील देशों में लोकवित्त के कार्य क्षेत्र भिन्न–भिन्न है। विकासशील देशों की आर्थिक परिस्थितयाँ, वैधानिक तथा राजनीतिक वातारण तथा कर प्रशासन की क्षमता विकसित देशों के भिन्न होती है।, अतः एक ही तरह के उद्येश्य की प्राप्ति के लिए भी भिन्न नीतियों की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त इन देशों की प्राथमिकताएँ भी भिन्न–भिन्न होती हैं यथा–अमेरिका जैसे विकसित देश की प्राथमिकता अर्थिक विकास के उच्च स्तर को बनाए रखना हो सकता है, जबकि भारत जैसे विकासशील देश के लिए स्थिरता के साथ विकास करना तथा पूँजी निर्माण को बढ़ावा देना महत्वपूर्ण होगा।

विकासशील देशों में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने में राज्य को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है। अतः इन देशों में लोक वित्त का महत्व अधिक होता है ऐसे राज्यों में जहाँ जनतंत्रीय प्रणाली कार्यरत है, वहा भौतिक नियंत्रण को अच्छा नहीं माना जाता है। अतः ऐसे राज्यों में मौद्रिक एवं राजकोषिय नितियों के माध्यम से परोक्ष नियंत्रण का सहारा लेकर वांछित उद्येश्यों की पूर्ति का प्रयास किया जाता है। भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इंगित किया गया है कि ''नियोजन की प्रजांतत्रीय पद्धति में साधनों के प्रत्यक्ष अधिग्रहण से बचा जाता है तथा मुख्य रूप से कीमत यंत्र के माध्यम से ही कार्य किया जाता है।'' अल्पविकसित देशों में लोकवित्त के

महत्व को स्पष्ट करते हुए राजा चेलैया ने लिखा है कि, ''एक प्रजातंत्रीय देश में राजकोषीय नीति सर्वाधिक शक्तिशाली तथा सबसे कम अवांछनीय नियंत्रण यंत्र है कि जिसका उपयोग सरकार अर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए कर सकती है।''

पूंजी निर्माण अल्पविकसित देशों की प्रमुख समस्या है जिसके समधान हेतु इन देशों को राजकोषीय नीति का सहारा लेना पड़ता है। उचित कर नीति के माध्यम से बचतों में वृद्धि तथा विनियोग को प्रोत्साहित किया जात सकता है। नर्क्स के अनुसार, ''अल्पविकसित देशों में पूंजी निर्माण की समस्यो का सामना करने में लोक वित्त की भूमिका महत्वपूर्ण है।''

अल्पविकसित देशों में लोकवित्त के महत्व को स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि इन देशो में आर्थिक विकास को गति प्रदान करने, आर्थिक विषमता को कम करने, उद्योगो का संरक्षण एवं सहायता देने, सामाजिक सुरक्षा एवं जनकल्याण को बढ़ावा देने, देश की आंतरिक एवं बाह्म सुरक्षा बनाए रखने, दुलर्भ साधनों का सर्वोत्तम ढंग से आंवटन करने, आधारभूत उद्योगों की स्थापना करने, सामाजिक एवं आर्थिक पूँजी का निर्माण करने, बाजारों का विस्तार करने तथा गरीबी एवं बेरोजगारी को दूर करने में सरकार राजकोषीय नीति को एक कारगर अस्त्र के रूप में प्रयोग कर सकती है।

2.10 लोक–वित्त का अन्य सामजिक विज्ञानों से सम्बन्ध
(RELATION OF PUBLIC FINANCE WITH OTHER SOCIAL SCIENCE)

लोक वित्त एक सामाजिक विज्ञान है जिसमें मानव एवं समाज के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि इस बात की जानकारी प्राप्त की जाए कि लोक वित्त का उन सामाजिक विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है जो मुनष्य एवं समाज के व्यवहार के भिन्न–भिन्न पहलुओं का भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन करते है। यहाँ हम निम्न सामाजिक विज्ञानों के साथ लोक वित्त के सम्बन्धों की चर्चा करेंगे।

1. लोकवित्त एवं अर्थशास्त्र (Public Finance and Economics) लोक वित्त, अर्थशास्त्र का ही एक पूरक अंग है, अतः इससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। लोकवित्त के अध्ययन के बिना अर्थशास्त्र का अध्ययन अधूरा है। लोकवित्त तथा अर्थशास्त्र दोनों का ज्ञान होना आवश्यक है। यथा–लोकवित्त के सिद्धान्तों को समझने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान होना आवश्यक है। अर्थशास्त्र के मूल नियमों को जाने बिना ही हम लोक वित्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए (i) किसी वस्तु पर नया कर लगाने से पूर्व वितमंत्री को उस वस्तु की मांग की लोच को ध्यान में रखना पड़ता है। (ii) सार्वजनिक आय को विभिन्न मदों पर किस प्रकार व्यय किया जाए ताकि सामाजिक लोभ अधिकतम हो, इसके लिए सरकार को अर्थशास्त्र के 'सम–सीमांत उपयोगिता नियम' का सहारा लेना पड़ता है। (iii) सार्वजनिक ऋण और विशेष कर ऋण के भुगतान की विधियों का अध्ययन करने के लिए मुद्रा, साख एवं बैकिंग विधि का समुचित ज्ञान होना आवश्यक होता है।

इस तरह, लोक–वित्त का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्तों को जानना परम आवश्यक है। वैस्टेबल के अनुसार, ''लोक वित्त के विद्यार्थी को अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना बहुत अवश्यक होता है।'' इस सम्बन्ध में एडमस का कथन है कि, ''लोक वित्त की ठोस नीति के निर्धारण हेतु राजनैतिक अर्थव्यवस्था का ज्ञान होना आवश्यक है।

2. लोकवित्त एवं राजनीति शास्त्र (Public Finance and Political Science) लोक वित्त तथा राजनीतिशास्त्र दोनो ही मानव व्यवहार का अध्ययन करते है। लोक वित्त किसी देश की राजनैतिक परिस्थितियों के अनुरूप ही कार्य करता है। डाल्टन के अनुसार, ''लोक वित्त

अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र की सीमा पर स्थित है।'' इस तरह, अर्थशास्त्र की ही तरह, लोक वित्त का राजनीतिशास्त्र से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

किसी देश की आर्थिक नीति एवं लोक वित्त की व्यवस्था इस बात पर आधारित होती है कि उस देश का राजनैतिक ढाँचा कैसा है तथा उस देश की राजनैतिक आकोंक्षाएँ क्या है? देश की सरकार जिस 'वाद' (पूंजीवाद समाजवाद अथवा साम्यवाद) पर विश्वास करती है, उसी के अनुरूप ही देश की आर्थिक क्रियाएँ संचालित होती है। एक पूँजीवादी देश की आर्थिक नीति निश्चित रूप से एक सामाजवादी देश की आर्थिक नीति से भिन्न होगीं सरकार कोई नया कर लगाने से पूर्व उसके आर्थिक परिणामों के साथ–साथ देश की राजनैतिक परिस्थितियों का भी ध्यान रखती है। सरकार की आय, व्यय एवं विनीय क्रियाएँ देश के राजनैतिक वातावरण से ही प्रभावित होती है। सरकार लोक कल्याणकारी कार्यों पर ही अपनी आय का अधिकांश भाग व्यय करती है, जो देश के राजनैतिक कलेवर पर निर्भर करता है। एक समाजवादी सरकार देश में धन के वितरण की असमानता को कम करने के लिए धनिकों पर अधिक कर लगाकर प्राप्त आय को गरीबीं के हित में खर्च करने का प्रयास करती है। इस तरह, राजनीतिक शास्त्र के नियमों के आधार पर ही लोकवित्त के नियमों का निर्माण किया जाता है। तथा व्यावहार में लोकवित्त, देश में व्याप्त राजनैतिक ढॉचें के अनुरूप कार्य करता है। स्पष्टयता, लोकवित्त एवं राजनीतिशास्त्र परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है।

3. लोक वित्त एवं इतिहास (Public Finance and History) लोकवित्त का इतिहास से भी सम्बन्ध होता है। इतिहास के अध्ययन से हमें अतीत की घटनाओं एवं प्रभावों की जानकारी प्राप्त होती है। जिसके आधार परभवी योजनाएँ तैयार की जाती है। विभिन्न देशों के इतिहास का अध्ययन करने से हमें इस तथ्य की जानाकरी प्राप्त होती है। कि उनके द्वारा समय विशेष में अपनाए गए लोकवित्त के विभिनन सिद्धान्त किस तरह सफल अथवा असफल सिद्ध हुए। यह ज्ञान लोक वित्त की वर्तमान एवं भावी नीति को प्रभावित करेगा। यदि पूर्व की घटनाए लाभप्रद रही होती है। तो उनका अनुसरण किया जाता है अन्यथा उनकी पुनरावृत्ति नहीं की जाती है। इस तरह, लोकवित्त की कोई नीति बिना अतीत की घटनाओं को जाने नहीं बनाई जा सकती है। इतिहास हमें तथ्य, आँकड़े तथा उदाहरण प्रदान करता है। जो लोकवित्त की नीतियों एवं कार्यकलापों के निर्धारण में बहुत ही सहायक होते है।

4. लोक वित्त एवं सांख्यिकी (Public Finance and Statistics) लोकवित्त एवं सांख्यिकी में परस्पर प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सांख्यिकी में आकड़ों के आधार पर अनुमान एवं निष्कर्ष निकाले जाते है तथा उनका सापेक्षिक अध्ययन किया जाता है। लोकवित्त सही और वैज्ञानिक आधार पर एकत्र किये गये आंकड़ों के सहारे चलता है।

सरकार प्राप्त आय को किन–किन मदों पर कितना–कितना व्यय करती है, कुल व्यय में किसी विशिष्ट मद का क्या अनुपात अथवा सापेक्षिक महत्व है तथा विगत वर्षों की तुलना में विभिन्न मदों पर अधिक अथवा कम व्यय किया जा रहा है, इसकी जानकारी आंकड़ों के सहायता से सहजता से प्राप्त की जा सकती है।

इसी तरह, आंकड़ों की सहाता से यह ज्ञात किया जात सकात है कि सरकार को किन–किन मदों से कितनी आय प्राप्त होती है। विगत वर्षों में इन मदों से कितनी आय प्राप्त हुई थी तथा आय प्राप्ति की दृष्टि से कौन–कौन सी मदें अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। इसी तरह, आंकड़ों के माध्यम से करों के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। करों से राज्य को कितनी आय प्राप्त होती है, प्रत्येक नागरिक को औसतन कितना कर अदा करना पड़ा है। कर का पंजी

निर्माण पर क्या प्रभाव पडत्र रहा है, करदाता क्षमता कितनी है, राष्ट्रीय आय में करों का क्या योगदान है, करो का वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है, आदि बातों का ज्ञान आंकड़ो द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

बजट का निर्माण करने में भी आंकड़े महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। बजट चालू वर्ष में होने वाली आय एवं व्यय के अनुमानित आंकड़ों का एक विवरण होता है। इसमें आय एवं व्यय के जो अनुमान लगाए जाते है, वे सांख्यिकीय सिद्धान्तों पर आधारित होते है।

इसी तरह, प्रत्येक सरकार अपनी वित्तीय नीति के निर्धारण से पूर्व सार्वजनिक आय–व्यय सम्बन्धी आंकड़ो की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करती है।

5. लोक वित्त एवं समाजषास्त्र (Public Finance and Sociology) लोक वित्त का समाजशास्त्र से भी गहरा सम्बन्ध है। कर लगतो समय सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि इसका समाज के निर्धन वर्ग पर विपरीत प्रभाव न पड़े। इसके अतिरिक्त, देश में कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए सरकार आर्थिक दृष्टि से निर्धन वर्गों के लिए सहायता की व्यवस्था करती है।

2.11 अधिकतम सामाजिक लाभ या कल्याण का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Adavntage)

आजकल इस बात को विशेष महत्व दिया जाने लगा है कि राजस्व का उचि सिद्धान्त क्या होना चाहिए। राजस्व के अन्तर्गत सकरार आय व व्यय सम्बन्धी दो मुख्य कार्यो को करती है, इसलिए राजस्व का जो भी सिद्धान्त होगा वह यह बतायेगा कि सरकार की कितनी आय प्राप्त करनी चाहिए तथा किनती व्यय रकना चाहिए। यहा यह कहा जा सकता है कि राजस्व का न्यायोचित सिद्धान्त वह होगा जिनकी अनुसार राजकीय आय व व्यय से अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके। डाल्टन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए इसको अधिकतम सामाजिक लाभ का नियम कहा है। उसके अनुसार, **''यह नियम राजस्व के मूल में विद्यमान रहता है तथा राजस्व की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जिसमें राजकीय आय–व्यय सम्बन्धी कार्यों के फलस्वरूप अधिकतम लाभ होता है।**

अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धानत का आधार सम–सीमान्त उपयोगिता नियम का तथा सम–सीमान्त उत्पादनशीलता नियम है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए अपनी आय को विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार खर्च करता है कि उसे प्रत्येक खर्च से लगभग समान सीमान्त उपयोगिता मिलती रहे; तथा वह उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का उपयोग इस प्रकार करता है कि उसे प्रत्येक साधन से अधिकतम उत्पत्ति मिले, ताकि कुल उत्पत्ति अधीकतम हो सके। इसी प्रकार, सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के लिए राज्य को भी विभिन्न मदों पर इस प्रकार व्यय करना चाहिए कि प्रत्येक व्यय से समान सीमान्त उपयोगिता मिले, और प्रत्येक साधन से इस प्रकार आय प्राप्त करनी चाहिए कि कुल आय अधिकतम हो जाये।

सिद्धान्त की व्याख्या– इस सिद्धान्त की महत्वपूर्ण व्याख्या डाल्टन के द्वारा की गयी है। उनके अनुसार **''राजस्व के मूल में एक बुनियादी सिद्धान्त होना चाहिए। इसे हम अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त कह कसते है। राजस्व की समस्त क्रियाएँ एक प्रकार से समाज के एक वर्ग से दूसरे वर्ग में क्रय–षक्ति का हस्तान्तरण है। इस क्रस–षक्ति के हस्तान्तरण का मुख्य उद्येष्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना है।''** सिद्धान्त की स्पष्ट रूप से व्याख्या करते हुए डाल्टन ने लिखा है कि **''राजकीय व्यय प्रत्येक दिषा में उस सीमा तक बढ़ता रहना चाहिए जब**

तक कि इस व्यय से उत्पन्न होने वाला सन्तोष राज्य द्वारा लगाये गये करों से उत्पन्न होने वाले असन्तोष के बराबर न हो जाए। यह सीमा ही राजकीय आय और व्यय में वृद्धि करने की आर्दष सीमा हो सकती है।''

अधिकतम सामाजिक लाभ उसी दशा में प्राप्त हो सकता है, जबकि सार्वजनिक आय (करारोपण) से होने वाला सामाजिक असन्तोष सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सन्तोष के बराबर न हो जाय। **दूसरे शब्दों में जब तक सामाजिक त्याग सामाजिक सन्तोष के बराबर न हो जाये**। सरकार के द्वारा सार्वजनिक कार्यों की पूर्ति के लिए समय–समय पर लगाये जाते है। करों के लगाने से लोगो का त्योग बढ़ने लगता है, उनकी क्रयश्क्ती में कमी आने लगती है, और उनके रहन–सहन के स्तर में भी कमी आ जाती है। कुल मिलाकर हम इसे **'सीमान्त सामजिक त्याग (Marginal Social Sacrifice)** कह सकते है। सरकार आय प्राप्त करने के बाद इस आय को उन विभिन्न प्राकर की योजनाओं में व्यय करती है, जिनसे समाज के लोगो को सुख–सुविधाएँ प्राप्त होती है। इस प्राकर सार्वजनिक व्यय से प्राप्त होने वाली सामाजिक सुख–सुविधा को हम **'सीमान्त सामाजिक सन्तुष्टि (Margianl Social Satisfaction)** कह सकते है। अतः राज्य को सार्वजनिक व्यय उसी सीमा तक बढ़ाने चाहिए जहाँ पर व्ययों से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता करारोपण के सीमान्त त्याग के बराबर न हो जाय। अधिकतम सामाजिक लाभी को तालिका 2.1 से स्पष्ट किया जा सकता है।

कर व व्यय की राशि की इकाई	कर की प्रत्येक इकाई से होने वाला सामाजिक त्याग	सार्वजनिक व्यय की प्रत्येक इकाई से होने वाली साकमाजिक उपयोगिता
1	50	95
2	55	85
3	60	75
4	65	65
5	70	55
6	75	45
7	80	35

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि ज्यो–ज्यो समाज में कर भार बढ़ता है त्यों–त्यों सामजिक त्याग में वृद्धि होती है, क्योकि लोग पुराने कर भारों को तो थोड़े समय बाद भूल जाते है, परन्तु प्रत्येक नया कर सीमान्त त्याग में वृद्धि कर देता है। जहाँ तक सार्वजनिक व्यय का प्रश्न है, व्ययों के बढ़ जाने से बार–बार समान सुविधाएँ उपलब्ध होती रहे तो उन सुविधाओं का समाज के लिए विशेष महत्व नही रह जाता है। उपयोगिता हास नियम की प्रवृत्ति के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। तालिका के अनुसार अधिकतम सामाजिक लाभ चौथी इकाईं पर है। अतः चौार्थी इकाई के बाद सरकार को कर नहीं लगाने चाहिए; क्योकि ज्योंही इससे आगे कर लगाये जायेंगे, त्योंही सामाजिक त्याग 65 से बढ़कर 70 तक पहुँ जाता है। और सामाजिक लाभ 65 से घटरक 55 रह जाता है। इस प्रकार चौथी इकाई पर लाभ और त्याग आपस में बराबर होते है। यहॉ इस बात को भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि करारोपण की प्रथम, द्वितीय और तृतीय इकाई के त्यो से व्यय की गयी राशि से मिलने वाला लाभ अधिक है। अतः

करारोपण उस बिन्दु तक किया जाय जहाँ पर त्योग और सन्तोष दोनो बराबर होते है। इस व्याख्या को रेखाचित्र 2.1 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

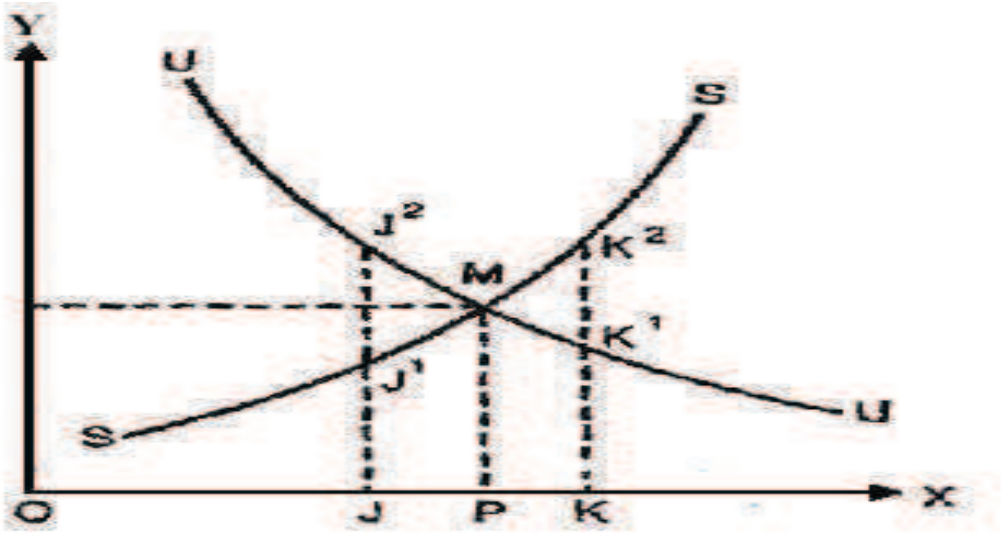

रेखाचित्र 2.1 में *OX*-अक्ष पर सार्वजनिक आय व व्यय को तथा *OY*-अक्ष पर सामाजिक सीमान्त त्योग व सीमान्त उपयोगिता को प्रदर्शित किया गया है। *SS* रेखा त्याग को व *UU* रेखा सन्तुष्टि को व्यक्त करती है। ज्यों–ज्यो की दर में वृद्धि की जाती है। त्यों–त्यों *SS* रेखा बायें से दायीं ओर ऊपर को उठती है। इसका अभिप्राय यह है कि ज्यों–ज्यों कर–भार बढ़ता है, त्यों–त्यों सामाजिक त्याग में वृद्धि होती है। इसके विपरीत, ज्यों–ज्यों सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की जाती है त्यो–त्यों *UU* रेखा बायें से दायीं ओर गिरते हुए क्रम में होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि व्यय में पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि भी सामाजिक सन्तोष को बढ़ाने की अपेक्षा घटाती है। यहाँ सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम क्रियाशील हो जाता है। *SS* वक्र *UU* वक्र को बिन्दु पर काटता है। स्पष्ट है कि बिन्दु *M* पर अधिकतम सामाजिक सन्तुष्टि प्राप्त हो रही है। बिन्दु *M* पर सार्वजनिक आय व सार्वजनिक व्यय का सन्तुलन हो चुका है। रेखाचित्र के अनुसार किसी भी सरकार को *OP* मात्रा में आय प्राप्त करनी होगी और उतना ही *OP* मात्रा में व्यय भी करना होगा। सरकार को आय प्राप्त करने व व्यय करने की क्रिया बिन्दु *O* से बिन्दु *P* तक करनी चाहिए। यदि सरकार बिन्दु *P* से ओ आय व व्यय की क्रिया लागू करती है। तो यह असन्तुलित व्यवस्था होगी, क्योंकि बिन्दु *P* से ओ मिलने वाली उपयोगिता त्याग की अपेक्षा कम है।

चित्र के अनुसार यदि सकरार *K* बिन्दु तक कर लगाये और उतनी ही राशि को व्यय करे तो समाज का सीमान्त त्याग K, K^2 है, जबकि इस व्यय से प्राप्त होने वाली सामाजिक उपयोगिता K, K^1 है, और यहॉ पर K^1, K^2 के बराबर समाज को त्याग अधिक करना पड़ेगा। अतः यह सिद्ध हो गया कि सरकार को *OP* से आगे अपना क्षेत्र नहीं बढ़ाना चाहिए। इसके विपरीत यदि सरकार *OJ* बिन्दु तक ही अपने आय–व्यय को सीमित रखे तो यह स्थिति भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि सरकार *OJ* मात्रा में कर लगाकर जो राशि सार्वजनिक हित में खर्च कर रही है उससे सामाजिक सीमान्त त्याग J, J^1 है, जबकि इस खर्च से सामाजिक सन्तुष्टि J, J^2 है। स्पष्ट है कि सामाजिक सन्तुष्टि सामाजिक त्योग से अधिक है। यहॉ समाज की सकल सन्तुष्टि J^1, J^2 के बराबर है। इससे स्पष्ट होता है कि लोगो में अभी भी त्याग करने की क्षमता है। इसलिए

सरकार धीरे–धीरे यह क्रम बढ़ा कर बिन्दु *P* तक लाना चाहिए, तभी अधिकतम सामाजिक सन्तुष्टि प्राप्त हो सकेगी।

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त केवल इस बात की ही व्याख्या नही करता है कि सरकार को किस सीमा तक आय व व्यय का संचालन करना चाहिए, अपितु वह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि–

(i) राजकीय व्यय को विभाजन विभिन्न मदों पर किस प्रकार हो– अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुसार सार्वजनिक व्यय को विभिन्न मदो में इस प्रकार विभाजित करना चाहिए कि प्रत्येक मद पर जो राशि व्यय की जा रही है, उससे मिलने वाला सीमान्त सामाजिक सन्तोष लभगभ बराबर हो; अतः यहा पर समसीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार आचरण करना है। ऐसा करने से समाज को अधिकतम लाभ मिलेगा। माना कोई राष्ट्र विकसित हो अथवा विकासशील, उसकी अपनी–अपनी समस्याएँ हो है और प्रत्येक समस्या से उसे समान उपयोगिता भी नहीं मिल सकती है। माना किसी राष्ट्र के सम्मुख तीन समस्याएँ होती है और प्रत्येक समस्या से उसे समान उपयोगिता भी नहीं मिल सकती है। माना किसी राष्ट्र के सम्मुख तीन समस्याएँ युद्ध, शिक्षा व स्वास्थ्य की है। अब यदि वहाँ की सरकार अकेले युद्ध के संचालन पर अधिक खर्च करे तो इससे समाज का अधिकतम कल्याण नहीं होगा। अतः सरकार तभी अधिकतम सन्तोष प्रदान कर सकती है, जबकि वह सब समस्याओं पर लगभग बराबर व्यय करें। इस बात को हम रेखाचित्र 2.2 से स्पष्ट कर सकते है।

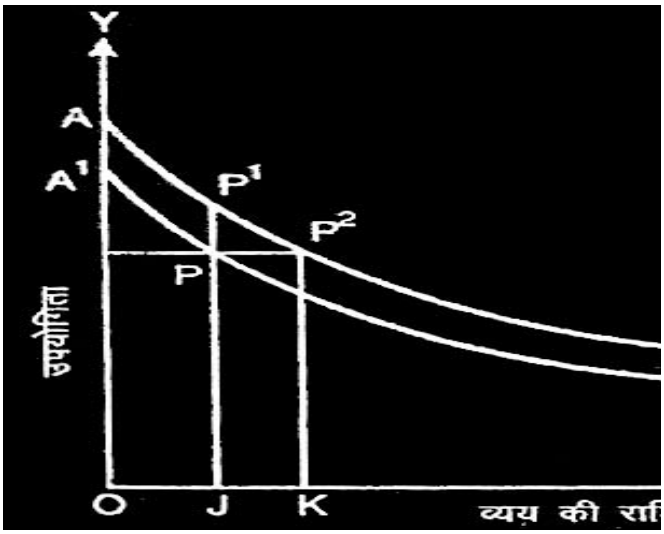

चित्र में *AB* तथा $A^1 B^2$ उस समय की उपयोगिता वक्र–रेखाएँ है जब राज्य AA^1 मदो पर परव्यय करता है। यदि राज्य *OJ* राशि A^1 मद पर तथा *OK* राशि *A*मद पर व्यय करता है। तो इस स्थिति में उपयोगिता A^1 मद से *OJPA* तथा *A* मद से OKP^2A प्राप्त होगी। दोनो ही मदों से सम्पूर्ण उपयोगिता अधिकतम होगी; क्योंकि दोनो मदों की सीमान्त उपयोगिता $(JP=KP^2)$ आपस में बराबर है। यदि मदों पर खर्च करने का तरीका उपर्युक्त से भिन्न अपनाया गया तो यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है।

(ii)राजकीय आय के स्त्रोतो का निर्माणः–अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त इस बात की भी व्याख्या करता है कि आय के विभिन्न स्त्रोतो में करों का निर्धारणकिस प्रकार किया जाय कि सामाजिक त्याग न्यूनतम हो। माना, किसी मद में करो के लगने से सीमान्त त्याग दूसरे मद की

अपेक्षा अधिक होता है, तो सरकार का यह कर्तव्य है कि वह पहली मद से कर–भार हटा कर दूसरी मद में समायोजित कर दें। इस प्रकार से समाजिक त्याग में अवश्य कमी आयेगी। यहाँ यह भी यिका जा सकता है कि धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर कर–भार कम कर देने से सामाजिक त्याग में बहुत कमी आयेगी।

उदाहरण के लिए A , B, C, तथा D व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति अलग–अलग है। यदि इन व्यक्तियों पर एक रूपया कर लगाया गया तो विभिन्न व्यक्तियों का त्योग अलग–अलग होगा। त्याग की तुलनात्मक स्थिति का तालिका 2.2 में स्पष्ट किया गया है।

द्रव्य की इकाइयाँ कर की मात्रा (रु0में)	व्यक्तियों का सीमान्त त्याग			
	A	**B**	**C**	**D**
1 रू0 कर देने पर	5	6	8	[10]
2 रू0 कर देने पर	6	7	[10]	11
3 रू0 कर देने पर	7	[10]	12	13
4 रू0 कर देने पर	[10]	15	13	14
5 रू0 कर देने पर	12	16	17	20

मान लीजिए सरकार को 10 रूपये कर से वसूल करने है, तो उसे A व्यक्ति से 4 रू B से 3 रू, C से 2 रू0 तथा D से 1रू0 वसूल करना चाहिए, क्योकि ऐसी दशा में सब का सीमान्त त्याग 10 इकाई के बराबर है।

संक्षेप में, करारोपण लोगों की देय–क्षमता के अनुसार किया जाना चाहिए।

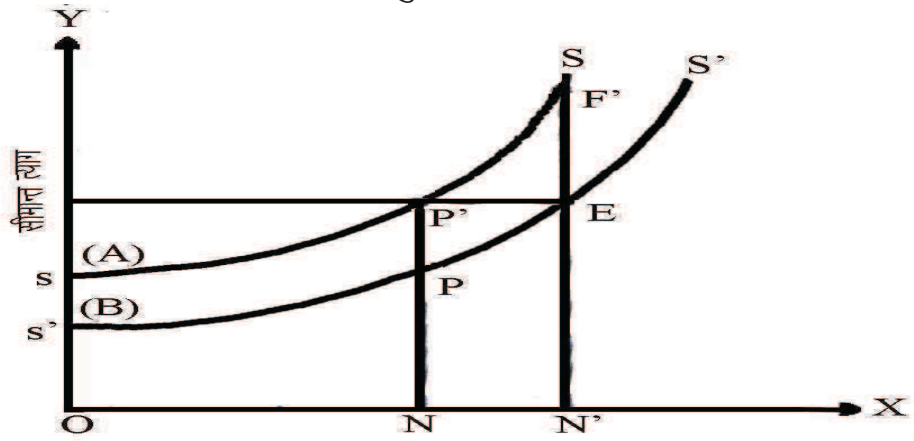

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण (Diagrammatic Representation):- उपर्युक्त व्याख्या को रेखाचित्र 2.3 से स्पष्ट किया जा सकता है। माना सरकार द्वारा A तथा B वस्तुओं पर कम लगाया जाता है। कर लगने से A वस्तु के सीमान्त त्याग की रेखा को SS से तथा B वस्तु के सीमान्त त्याग की रेखा को S'S' से दर्शाया गया है। जब A वस्तु से ON और B वस्तु ON मात्रा में कर वसूल किया जाता है, तो दोनो दशाओं में सीमान्त त्याग NP=N'E' है। यह स्थिति अधिकतम सामाजिक लाभ की है। यदि A वस्तु से ON की अपेक्षा ON मात्रा में कर वसूल किया गया तो A वस्तु का सीमान्त त्याग B वस्तु के सीमान्त त्याग N'E से बढ़कर N'E' हो जायेगा, अतः ऐसी स्थिति में

अधिकतम सामाजिक लाभ नहीं हो सकता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि अधिकतम समाजिक लाभ प्राप्त करने के लिए तीन बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

(i)सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता कर–भ्लार के त्याग के बराबर होनी चाहिए।

(ii)विभिन्न साधनों पर लगाये गय करों के भार से उत्पन्न सीमान्त त्याग बराबर हाना चाहिए।

(iii)विभिनन उपयोगों पर सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता बराबर नही होनी चाहिए।

प्रो0 मसग्रेव ने भी डाल्टन व पीगू के अधिकतम सामाजिक कल्याण के विचार के ही आधार पर अधिकतम सामजिक लाभ सिद्धान्त पर अपने विचार प्रकट किये है, जैसा कि हम जानते है डॉ0 डाल्टन (Dalton) ने कहा है, सरकारी आय तथा व्यय से सामूहित फल के रूप में समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त होना चाहिए इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को अर्थ–प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिए जिससे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। प्रो0पीगू (Pigou) ने इस नियम को अधिकतम सामूहित कल्याण का नियम (Law of Maximum Aggregattc Walfare) कहा है। उनके अनुसार – **जहाँ तक राजनीतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध है, अधिकतम सामूहित कल्याण प्रत्येक स्थान पर हो यही राज्य का सही उद्येष्य होना चाहिए।**

प्रो0 मसग्रेव के अनुसार– (i) राज्य द्वारा साधनो के विभिन्न जन–उपयोग में वितरित किया जाना चाहिए। (ii) राजकीय व्यय को उसी बिन्दु तक किया जाना चाहिए, जिस पर कि अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाला सीमान्त सामाजिक लाभ उस सामाजिक सीमान्त त्याग के बराबर हो, जो कर के रूप में द्रव्य की अन्तिम इकाई देने में किया जाता है, इस विचार को रेखाचित्र 2.4 से स्पष्ट किया गया है।

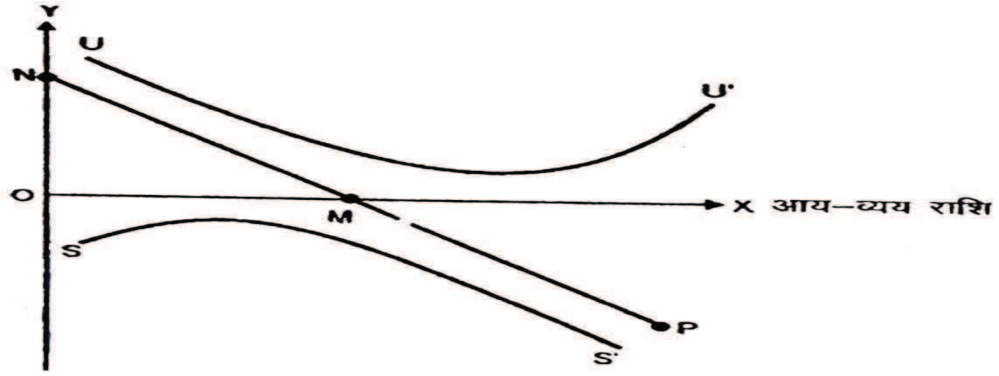

चित्र में सार्वजनिक व्यय को *UU* से तथा करो से होने वाले त्याग को *SS* रेखा से दिखाया गया है। दोनो ही दशाओं में उपयोगिता को घटती दर से दिखाया गया है। NP रेखा SS में से UU को हटाने से प्राप्त होती है जो शुद्ध बचत को बताती है, प्रो0 मसग्रेव के अनुसार बजट का अनुकूलतम आकार OM पर तय होता है। यहाँ सीमान्त शुद्ध लाभ शून्य हो जाता है। अतः करारोपण के रूप में न्यूनतम त्याग का विचार सार्वजनिक व्यय के रूप में अधिकतम लाभ के विचार से मेल खाता है, व्यवहार में त्याग व उपयोगिता को मापनपा कठिन है, परन्तु इसे अनुभव किया जा सकता है।

अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की सीमाएँ अथवा व्यवाहरिक कठिनाइयाँ (Limitations and Diffculties of Principal of Maximum Social Advantage)

इस सिद्धान्त की प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैः

(i) सामाजिक सीमान्त त्याग व उपयोगिता को मापना कठिन– यह कहा जाता है कि सरकार द्वारा लगाये जाने वाले करों से त्याग बढ़ता है। परन्तु त्याग को मापना कठिन है। साथ ही, सभी आय–वर्गो के व्यक्ति रहते है, जिनमें से प्रत्येक की त्याग की क्षमता अलग–अलग होती है। धनी व्यक्ति की अपेक्षा निर्धन व्यक्ति अधिक त्याग करता है। ऐसी स्थिति में समाज के कुल त्याग का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। यही समस्या सार्वजनिक व्यय से प्राप्त होने वाली उपयोगिता के सम्बन्ध में भी है। हमें इस बात की सही जानकारी नहीं मिल पाती है कि सार्वजनिक व्यय से कौन–सा वर्ग लाभान्वित हो रहा है और कौन–सा नहीं। दूसरी समस्या यह है कि हम इस बात का सही अनुमान नही लगा सकते है कि किस मद में कितना व्यय किया जाय, ताकि उस व्यय से प्राप्त होने वाला सामाजिक लाभ दूसरी मद की अपेक्षा अधिक हो जाय।

(ii) अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दृष्टिकोण में अन्तर– राज्य आय का सृजन केवल अल्पकालीन योजनाओं के लिए नही करती है, बल्कि दीर्घकालीन योजनओं के लिए भी करती है। ऐसी स्थिति में करों का भारवर्तमान पीढ़ी को वहन बरना होगा, जबकि इसका लाभ भावी पीढ़ी को होगा। इस प्रकार वर्तमान त्याग व भविष्य के लाभ के आधार पर अधिकतम सामाजिक लाभ की कल्पना करना सम्भव नही है।

(iii) अनुपयोगिता को ज्ञात करना कठिन– लोक वित्त आन्तरिक एवं बाह्म परिस्थितियों से तो प्रभावित होता है, इसको सही दिशा देने के लिए अनेक प्रकार के उपाय करने होते है। जब तक लोक–वित्त की कार्य प्रणाली द्वारा इस बात की जानकारी नहीं कर ली जाती है। कि लोकवित्त के कार्यो से कहॉ और किससीमा तक अनुपयोगिता बढ़ती है तब तक अधिकतम सामाजिक लाभ की कल्पना करना निरर्थक है।

(iv) करारोपण के मिश्रित लाभों की जानाकरी न होना– एक व्यक्ति के लिए यह बताना कठिन है कि करों से उसे कितनी अनुपयोगिता प्राप्त हो रही है, और आय से कितनी उपयोगिता, तब सरकार के लिएतो यह कार्य और भी कठिन हो जाता है उसे कितनी उपयोगिता तथा अनुपयोगिता प्राप्त हो रही है। अतः यह निश्चित करने के लिए कि राज्य की वित्तीय क्रियाओं से सामाजिक कल्याण हुआ या नही, डाल्टन ने निम्नलिखित आधार बताये है।

अधिकतम सामाजिक लाभ की आर्थिक कसौटी (Economic Test of Social Advantage)-

डाल्टन ने अधिकतम सामाजिक लाभ के निम्नलिखित आधार बताये हैः

(1) आर्थिक कल्याण में वृद्धि– अधिकतम सामाजिक कल्याण तभी हो सकता है जब देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है। आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है। आर्थिक कल्याण में वृद्धि दो बातों पर निर्भर करती हैः (i) देश की उत्पादन–शक्ति में वृद्धि , तथा (ii) उत्पादन में सुधार। डाल्टन के अनुसार निम्न बातें इसे तय करेंगी।

1. उत्पादन में सुधार तभी कहा जायेगा जबकि कम से कम प्रयास के बाद श्रमिकों के द्वारा पहले से अधिक उत्पादन किया जा रहा हो।
2. उत्पादन के संगठन में सुधार हो रहा हो, जिसके कारण उत्पादन के साधनों का अव्यय न हो; तथा

3. उत्पादन के स्वरूप व आकार में सुधार हो, जिसके कारण सब की आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से की जा सके।

संक्षेप में, उत्पादन–शक्ति में वृद्धि करने के लिए सरकार को आवश्यक वस्तुओं पर कम कर लगाने चाहिए ताकि लोगो को आसानी से सस्ती वस्तुएँ उपलब्ध हो सके; ऐसी व्यवस्था अपनायी जानी चाहिए कि आयात होने वाली वस्तुओं के आयात पर रोक लग जाय; और घरेलू उद्योगो–धन्धो को अनेक प्रकार का संरक्षण प्रदान कर रोजगार के स्तर को बढ़ाया जाना चाहिए। इन उपायों से उत्पादन की शक्तियों का विकास होगा और सामजिक कल्याण में भी वृद्धि होगी।

उत्पादित धन के वितरण में समानता लाने के लिए डाल्टन ने निम्नलिखित बातों को लागू करने की सिफारिश की है।

(i) धन के वितरण की असमानताओं में कमी करना; तथा

(ii) गरीब वर्ग के आय–स्तर में समय–समय पर हाने वाले उतार–चढ़ावों को रोकना।

डाल्टन का कहना है कि **''धन की विषमता को कम करना इसलिए वांछनीय है कि इससे व्यक्तियों और परिवारों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार आय मिलेगी और उनकी आय उपभोग करने की शक्ति के अनुसार ही होगी।**

(2) सुरक्षा एवं शान्ति– जब तक देश में आन्तरिक एवं बाह्मा शान्ति स्थापित नहीं की जाती है तब तक किसी भी प्रकार का किया गया आर्थिक विकास देश के लिए लाभप्रद नहीं हो सकेगा, विदेशी आक्रमणो से देश की सुरक्षा के लिए सेना व युद्ध–सामग्री पर किया जाने वाला व्यय देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि करेगा। इसी प्रकार, आन्तरिक शान्ति–व्यवस्था को बनाये रखने के लिए पुलिस एवं प्रशासन–व्यवस्था पर किया जाने वाला व्यय भी लाभप्रद होना। इसलिए एक बार स्थायी शान्ति प्राप्त कर लेने के बाद बार–बार की परेशानियों से बचा जा सकता है।

(3) आर्थिक जीवन में स्थायित्व– अधिकतम सामाजिक कल्याण तभी होगा, जबकि सरकारी प्रयासों के द्वारा आर्थिक स्थायित्व प्राप्त किया जा। आर्थिक उच्चावन के कारण मुद्रा–प्रयास बेरोजगारी या अवसाद जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस के कारण उपभोक्ताओं और उत्पादकों में निराशा पैदा होती है और आर्थिक विकास में भी वृद्धि नही होती है। अतः सरकार द्वारा आर्थिक स्थायित्व के लिए किया जा रहा प्रत्येक प्रयास आर्थिक कल्याण में वृद्धि करेगा।

(4) भावी पीढ़ी पर प्रभाव– केवल अल्पकालीन समस्याओं के समाधान से ही आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं हो सकती है, बल्कि भावी पीढ़ी को समस्याओं को ध्यान में रखते हु2ए कियाजाने वाला कार्य आर्थिक कल्याण में वृद्धि करता है। अतः सरकार को भावी योजनाओं के विकास पर भी उतना ही ध्यान देना होगा जितना कि अल्पकालीन योजानाओं पर।

राजकोषीय नीति के अन्तर्गत इस बात का भी विशेष ध्यान रखना होता है कि जिस नीति को लागू किया जा रहा है उसका भविष्य में क्या प्रभाव होगा। डाल्टन के अनुसार, **''किसी भी वित्तीय प्रस्ताव की विवेचना करते समय इस प्रस्ताव से उत्पन्न हाने वाले प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए। समाज को होने वाले लाभ–हानि के बीचपता लगाया जाय कि कौन अधिक है। इसकी तुलना अन्य प्रस्तावों के लाभ तथा हानिलयों से करके जो निष्कर्ष प्राप्त हो उन्हीं के अनुसार कार्य करना चाहिए।''** इस प्रकार, हम कह सकते है कि सरकार को ऐसी नीति अपनानीद चाहिए जिससे अधिकतम सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो सके। इस सन्दर्भ में डाल्टन के विचार उल्लेखनीय है–**''हम बार–बार अधिकतम सामाजिक लाभ के सरल किन्तु व्यापक सिद्धनत पर लौट आते है। किसी भी विचाराधीन वित्तीय प्रस्ताव के समस्त सम्भव परिणामों का,**

जिनका अनुामन किया जा सकें, पूरा लेखा–जोखा करें तथा समाज से हाने वाले सम्भावित लाभों और हानियो से तुलना करें। इस सन्तुलन की तुलना दूसरे वैकल्पिक प्रस्तावों के सन्तुलनों से करें और इन तुलनाओं के परिणाम पर अमल करें। जो लोग इन लेखा–जोखा से परेशान हो उठे हों उन्ही प्राचीन यूनानियों की इस केहावत से सात्वना प्राप्ती करनी चाहिए कि चीजें सरल नहीं अपितु चीजे सुन्दर हुआ करती है, और इसका कोई सस्ता ढंग है भी नही।

अधिकतम सन्तुष्टि के सन्दर्भ में श्रीमती उर्सला हिक्स के विचार (Views of Mrs, Hicks)-

श्रीमती उर्सला हिक्स ने डाल्टन के अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की विवेचना दूसरे ढंग से की है। उनका मतह ै कि लोक वित्त की कार्य–प्रणाली की कुश्ज्ञलता व अकुशलता को दो आदर्शों के आधार पर मापा जाना चाहिए। (i) उत्पादन आदर्श (Production Optimum), (ii) उपयोगिता आदर्श (Utility Optimum)।

उत्पादन आदर्श (Production Optyimum)- श्रीमती हिक्स के अनुसार, आर्थिक निती का अन्तिम उद्येश्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना है। इसलिए आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के साधनपों को बढ़ाया जाय। यदि उत्पादन अधिकतम न किया गया तो सन्तुष्टि कम प्राप्त होगी, चाहे वितरण न्यायोचित ही क्यों नहो। वस्तु के अभाव में उपभोक्ताओ की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होपायेगी। उत्पादन को अधिकतमन करने का तरीका साधनों का उचित बॅटवारा है। श्रीमती हिक्स के शब्दों मे, ''उत्पादन को अधिकतम करने की शर्त यह है कि उत्पन्न वस्तुओं के स्थिर रहने की दशा में, साधनों के वितरण में परिवर्तन करके दूसरी वस्तुओं का उत्पादन कम किये बिना एक वस्तु के उत्पादन में वृद्धि करना असम्भव हो।

उपयोगिता आदर्श (Utility Opeimum)– श्रीमती हिक्स के अनुसार, उत्पादन आदर्श के बाद लोक–वित्त का उदूसरा आधार उपयागिता आदर्श है। उत्पादन आदर्श को विभिन्न व्यवस्थाओं से प्राप्त किया जा सकता है। हम इन व्यवस्थओं में से उन व्यवस्थाओ को चुनना होता है। जो अधिकतम सन्तुष्टि दे सकें। इस उपयोगिता आदर्श को 'उत्पादन आदर्श' की तहत परिभाषित किया जा सकता है। **''उपयोगिता उस समय सबसे अधिक होती है, जबकि एक व्यक्ति की सन्तुष्टि को बिना दूसरे की सन्तुष्टि को कम करते हुए बढ़ाना सम्भव हो।** इस विचारधारा के अनुसार लोक–वित्त की वह क्रिया ठीक समझी जानी चाहिए जिससे एक व्यक्ति की सन्तुष्टि में वृद्धि हो तो व्यक्ति की सन्तुष्टि में कमी हो, परन्तु पहले व्यक्ति की सनतुष्टि में वृद्धि दूसरे व्यक्ति सन्तुष्टि में कमी से अधिक होनी चाहिए।

श्रीमती उर्सला हिक्स तथा डालटन के विचारों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि श्रीमती हिक्स के विचार भी डाल्टन के समान ही सैद्धान्तिक है। इन विचारों से यह ज्ञात नहीं होता है कि व्यवहार मे इसे कैसे लागू किया जाय। वैसे इसे व्यवहार में लागू किया जा सकता है; परन्तु इसके लिए बढ़ी सतर्कता व निुपणता की आवश्यकता पड़ती है। व्यक्ति को बढ़ा ही चतुर व हिसाब–किताब में निपुण होना चाहिए। इसलिए अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त अनुमानों पर ही आधारित रह जाता है।

अभ्यास प्रश्न – 2

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्रो0 डाल्टन द्वारा राजस्व की दी गयी परिभाषा को संक्षेप में समझाइए।
2. किन्ही तीन बिन्दुओं के आधार पर राजस्व की प्रकृति और क्षेत्र को समझाइए।
3. सार्वजनिक वित्त और निजी वित्त में अन्तर के किन्ही दो कारणों को लिखिए।

4. राजस्व के महत्व पर संक्षेप में अपने विचार प्रकट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.अधिकतम सामाजिक कल्याण किस बिन्दु पर होता है?

(अ) सामाजिक त्याग और सामाजिक उपयोगिता के बराबर होन पर।

(ब) सामाजिक उपयोगिता के सामाजि त्याग से अधिक होने पर।

(स) सामाजिक त्याग के सामाजिक उपयोगिता से अधिक होने पर।

(द) उपर्युक्त में से किसी पर भी नही।

2.वह कौन सी प्रमुख बात है जिसके आधार पर सार्वजनिक वित्त को निजी वित्त से अलग किया जाता है?

(अ) गोपनीयता (ब) कीमती नीति

(स) आर्थिक स्थायित्वीकरण (द) माँग–प्रेरित।

2.12 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके है कि लोक वित्त मूल रूप से सरकारों के आय–व्यय से सम्बन्धित है तथा सरकारों का अर्थ केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सत्ताओं से है। वर्तमान समय में लोक वित्त का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है, लोक वित्त के अध्ययन क्रम को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है–सार्वजनिक व्यय ,सार्वजनिक आय,सार्वजनिक ऋण ,वित्तीय प्रशासन और राजकोषीय या वित्तीय–नीति। राज्य आज आर्थिक विकास को बढ़ावा देने, बाहय–आक्रमण से सुरक्षा तथा आंतरिक शान्ति बनाए रखने, सामाजिक सुरक्षा तथा जनकल्याणकारी कार्यों के कार्यान्वयन करने, सामाजिक बुराइयों को दूर करने, शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान कर विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए, आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए, दुर्लभ साधनों के सर्वोत्तम ढंग से आवंटन के लिए, राष्ट्रीय उपक्रमों का विकास करने तथा बेरोजगारी दूर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ये महत्वपूर्ण कार्य सरकार राजकोषीय नीति के द्वारा सुगमतापूर्वक कर सकती है। कोई भी राज्य कुशलतापूर्वक अपने उक्त कार्यों का सम्पादन तब तक नहीं कर सकती जब तक कि उसके पास सुसंगठित लोकवित्त नहीं होगा। इस तरह, राज्य के कार्यों एवं महत्व में वृद्धि होने से लोकवित्त के महत्व में अधिक वृद्धि हो चुकी है। लोक वित्त तथा निजी वित्त में सामान्यतया ऊपरी तौर पर कोई विशेष भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती क्योकि दोनो का उद्येश्य आय तथा व्ययय के बीज सामंजस्य अथवा संतुलन स्थापित करना होता है। दोनो की समस्याएँ एक सी है तथा दोनो का उददेश्य अपनी आय तथा व्यय से अधिकतम् सतोष प्राप्त करना होता है। निजी व्यय इसलिए होता है ताकि 'अधिकतम संतुष्टि' की प्राप्ति हो सके और सार्वजनिक व्यय इसलिए किया जाता है ताकि उससे 'अधिकतम् सामाजिक लाभ' उपलब्ध हो सके। फिर भी लोक वित्त तथा निजी वित्त की प्रकृति, उद्येश्य, सिद्धान्त व्यवस्था तथा प्रशासन आदि में आधारभूत एवं मौलिक भेद हैं। राजस्व का न्यायोचित सिद्धान्त वह होगा जिनकी अनुसार राजकीय आय व व्यय से अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके। डाल्टन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए इसको अधिकतम सामाजिक लाभ का नियम कहा है।इसके विभिन्न दृष्टिकोण का आप ने अध्ययन किया ।

2.13 शब्दावली

बजट– सरकार का वार्षिक वित्तीय विवरण।

आर्थिक सर्वेक्षण– एक वित्तीय वर्ष में भारतीय अर्थव्यवस्था के समस्त क्षेत्रों की स्थिति एवं मूल्यांकन का सरकारी प्रकाशन।

वित्त आयोग– राज्यों को संसाधनों के बंटवारे हेतु संविधान की धारा 280 के अन्तर्गत स्थापित आयोग

अन्तरण– हस्तान्तरण।

कर प्रयास– किसी भी राज्य के प्रति व्यक्ति कर राजस्व से प्रति व्यक्ति आय का अनुपात।

2.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आर0ए0मसग्रेव, पब्लिक फिनान्स इन ए डेमोक्रेटिक सोसाइटी वाल्यूम–II
- आर0 ए0 मसग्रेव, द थियरी ऑफ पब्लिक फिनान्स, मैग्राहिल 1984।
- जे0 सी0 पन्त राजस्व, लक्ष्मी नरायण अग्रवाल पब्लिकेशन 1979।
- अमरेश बागेची ,रीडिंग इन पब्लिक फिनान्स, आक्सफोर्ड 1980।
- ए0 प्रेमचन्द्र गवर्नमेन्ट बजटिंग एण्ड एक्सपेन्डीचर कन्ट्रोल, IMF 1983।
- एस0 के0 सिंह लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2008
- H. Parnell, "On Financial Reform"; quoted by G. Findaly shirrras in the science of Public Financle, p. 31

2.15 सहायक पाठ्य सामग्री

- भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
- पंत, जे0सी0 (2005), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
- वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997), ***राजस्व*** (Public Finance), साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, हास्पीटल रोड, आगरा।
- डॉ. जे.पी. मिश्र : लोक वित्त एवं रोजगार सिद्धान्त विजडम बुक्स, वाराणसी।

2.16 निबन्धात्मक प्रश्न

- राजस्व की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जिसके अन्तर्गत राज्य अपने कार्यों द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त कर सकता।'' (डाल्टन) इस कथन की पूर्ण व्याख्या कीजिए।
- ''सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक आय का आधारभूत सिद्धान्त अधिकतम सामाजिक लाभ हव'' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
- ''अधिकतम सामाजिक लाभ'' के सिद्धान्त पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
- राज्सव की परिभाषा दीजिए तथा उसके क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
- राजस्व की परिभाषा दीजिए तथा अन्य विज्ञानें के इसका सम्बन्ध बताइये।
- व्यक्तिगत व सार्वजनिक वित्त में मुख्य अन्तर क्या है?

इकाई 3 लोक वित्त की अवधारणायें और बाजार असफलता

इकाई संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 लोक वित्त की अवधारणा से तात्पर्य

3.4 लोक वित्त की अवधारणा का महत्व

3.5 लोक वित्त की विचारधारायें एवं अवधारणायें

3.6 लोक वित्त के सिद्धान्त

3.7 बाजार असफलता का तात्पर्य

3.8 बाजार असफलता के कारण

3.9 लोक वित्त की अवधारणा एवं बाजार असफलता

3.10 सारांश

3.11 शब्दावली

3.12 अभ्यास प्रश्न

3.13 निबंधात्मक प्रश्न

3.14 सन्दर्भित ग्रन्थ सूत्र

3.1 प्रस्तावना

लोक वित्त का सामान्यतया तात्पर्य लोक सत्ताओं के आय तथा व्यय से संबंधित होता है । आधुनिक काल में विशेषकर कल्याणकारी राज्य की स्थापना के कारण लोकवित्त के क्षेत्र में अत्याधिक विस्तार हुआ है । लोकवित्त की प्रकृति भी अर्थशास्त्र की भाँति विज्ञान तथा कला दोनों प्रकार की होती है । लोकवित्त की प्रकृति तथा क्षेत्र के सन्दर्भ में अध्ययन पूर्व की इकाईयों में किया जा चुका है ।

लोक वित्त की अवधारणायें समय एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही हैं । वर्तमान में राज्य का कार्यक्षेत्र सुरक्षा एवं कानून व्यवस्था तक सीमित न रहकर शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, सामाजिक सुरक्षा, बैंकिग, वित्त आदि सभी क्षेत्रों तक फैल चुका है । वैश्वीकरण एवं उदारीकरण से उपजी परिस्थितियों ने राज्य की भूमिकाओं को नये सिरे से परिभाषित किया है जिसके फलस्वरूप लोक वित्त अवधारणायें भी प्रभावित हुई हैं ।

सार्वजनिक वस्तुओं एवं लोक सेवाओं की कीमत का निर्धारण एवं उनका आवंटन के तौर तरीके भी लोक वित्त की अवधारणाओं के अन्तर्गत आते हैं । सामान्यतया सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत निर्धारण से लेकर उनके कुशल आवंटन में बाजार तंत्र असफल रहता है । लोक वित्त की अवधारणाओं एवं बाजार असफलता के संदर्भ में व्यापक अध्ययन वर्तमान इकाई में किया जायेगा ।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं –

- लोक वित्त की अवधारणाओं से क्या तात्पर्य है ?
- लोक वित्त की प्रमुख अवधारणायें कौन–कौन सी हैं ?
- लोक वित्त की अवधारणाओं को विकसित करने वाले अर्थशास्त्री कौन रहे हैं ?
- लोक वित्त की परिभाषाओं व सिद्धान्तों के निर्माण तथा विकास में लोक वित्त की अवधारणाओं की क्या भूमिका रही है ?
- लोक वित्त की विषय वस्तु एवं अवधारणायें किस प्रकार से संबंधित हैं ?
- बाजार असफलता का तात्पर्य क्या है ?
- बाजार असफलता के कारण तथा परिणाम कौन से हैं ?
- बाजार असफलता की समस्या का निवारण हेतु प्रयास किस प्रकार से किये जाते हैं ?

3.3 लोक वित्त की अवधारणा से तात्पर्य

किसी वस्तु, घटना अथवा प्रक्रिया के वैज्ञानिक प्रेक्षण एवं बोध के आधार पर निर्मित सामान्य विचारों को अभिव्यक्त एवं बोध के आधार पर निर्मित सामान्य विचारों को

अभिव्यक्त करने हेतु जिन विशिष्ट शब्द संकेतों, परिभाषाओं तथा सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है उसे वैज्ञानिक शब्दावली में अवधारणा कहते हैं । अतः अवधारणायें स्थिर न होकर गतिशील रहती हैं तथा इनके अर्थ में निरन्तर संशोधन एवं परिष्करण होता रहता है । अवधारणा से किसी विषय के सिद्धान्तों, विचारधाराओं एवं विषय वस्तु का विकास होता है तथा विषय के प्रति समझ का विकास होता है ।

अतः लोक वित्त की अवधारणा के अन्तर्गत लोक वित्त की परिभाषा, विचारधारा एवं सिद्धान्त आदि आते हैं । लोक वित्त की अवधारणा को और स्पष्ट करने हेतु सर्वप्रथम हमें इसके अर्थ के बारे में जानना होगा । परम्परागत् तौर पर लोक वित्त को राजस्व भी कहते हैं ,जिसका अर्थ है राजा का धन अर्थात् इसका तात्पर्य यह है कि राजा अपने कार्यों की पूर्ति हेतु किस प्रकार से धन की व्यवस्था करता है । लोक या सार्वजनिक शब्द से आशय जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था से है । लोक वित्त के अन्तर्गत केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय सरकारों के वित्त से संबंधित क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है ।

लोक वित्त की अवधारणाओं में समय के साथ–साथ परिवर्तन होता आया है । इसका कारण यह है कि लोक वित्त के विषय क्षेत्र में समय के अनुसार व्यापक परिवर्तन हुए हैं । प्राचीन समय में लोक वित्त का क्षेत्र अत्यधिक सीमित था परन्तु वर्तमान समय में विशेषकर कल्याणकारी राज्य की स्थापना के पश्चात् राज्य को मात्र सुरक्षा, कानून एवं व्यवस्था तक सीमित न रहते हुए स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, नागरिक सुविधायें जैसे जल, विद्युत आपूर्ति आदि कल्याणकारी कार्य करने होते हैं ।

भारत जैसे देशों में जहाँ कि आर्थिक नियोजन फलस्वरूप जन्य नियोजित विकास की प्रक्रिया में राज्य द्वारा प्रमुख रूप से विकास कार्यों में सक्रिय तथा प्रभावी भूमिका निभायी हैं एवं विभिन्न सरकारों द्वारा लोकवित्त के सार्वजनिक निवेश, सार्वजनिक ऋण तथा राजकोषीय नीतियों से संबंधित विभिन्न अवधारणाओं का प्रयोग नियोजन एवं विकास प्रक्रियाओं में किया गया है ।

लोक वित्त की अवधारणाओं को शासन व्यवस्था के विभिन्न स्वरूपों जैसे एकीकृत शासन प्रणालियों ने भी प्रभावित किया है । भारत में विशेषकर विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था हेतु एवं स्थानीय संस्थाओं को अधिक स्वायत्त बनाने के लिए संविधान में 73वाँ तथा 74वाँ संशोधन करने से लोक वित्त की अवधारणाओं में नया परिवर्तन आया है ।

वैश्वीकरण तथा उदारीकरण के दौर में राज्य की भूमिका पुर्नपरिभाषित हुई है । वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया में जहाँ बाजार प्रभावी भूमिका निभा रहा है वहीं राज्य की भूमिका में भी परिवर्तन आया है । राज्य अब नियन्त्रक की नहीं अपितु नियामक की भूमिका में आ गया है । उपरोक्त के कारण लोक वित्त की अवधारणाओं को एक नवीन दिशा मिली है ।

3.3.1 लोक वित्त की परिभाषायें – लोक वित्त को विभिन्न विद्वानों ने अलग–अलग प्रकार से परिभाषित किया है इन परिभाषाओं की सहायता से लोक वित्त की अवधारणा को निम्नवत् रुप से समझा जा सकता है –

- **डॉल्टन के अनुसार** ''लोक वित्त का सम्बन्ध लोक सत्ताओं के आय और व्यय से तथा एक दूसरे के साथ समायोजन से है ।''
- **फिण्डले शिराज के अनुसार** ''लोक वित्त लोक सत्ताओं द्वारा कोषों के व्यय करने एवं प्राप्त करने में निहित सिद्धान्त का अध्ययन है ।''
- **बेस्टेबल के अनुसार** ''लोक वित्त लोक सत्ताओं के आय और व्यय तथा उनके पारस्परिक संबंध और वित्तीय प्रशासन तथा नियन्त्रण से संबंधित है ।''
- **आर0 मसग्रेव के अनुसार** ''लोक वित्त सार्वजनिक अर्थव्यवस्थाओं के सिद्धान्तों का अनुसंधान है या अधिक स्पष्ट रूप में आर्थिक नीति के उन पहलुओं का अध्ययन है जो सार्वजनिक बजट की क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं ।''
- **जे0 के0 मेहता के अनुसार** ''लोक वित्त राज्य के मौद्रिक तथा सम्बन्धी साधनों का अध्ययन है ।''

विभिन्न विद्वानों द्वारा लोक वित्त की विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि लोक वित्त का तात्पर्य सार्वजनिक सत्ताओं के आय व्यय सम्बन्धी विषयों से है । यद्यपि वर्तमान समय में लोक वित्त की अवधारणायें अधिक व्यापक हो गयी हैं तथा इसके अन्तर्गत अध्ययन सार्वजनिक सत्ताओं जैसे केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन सत्ताओं के आय व्यय से संबंधित ही नहीं किया जाता अपितु वित्तीय प्रशासन, राजकोषीय नीतियों एवं वित्तीय नियन्त्रण के सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है । कुल मिलाकर लोकवित्त सरकारों की वित्त व्यवस्था से संबंधित सिद्धान्तों, समस्याओं, नीतियों प्रक्रियाओं एवं समायोजन व्यवस्था का अध्ययन करती है ।

3.4 लोकवित्त की अवधारणा का महत्व

वर्तमान समय में लोकवित्त की अवधारणा का तीव्र तथा व्यापक विकास हुआ है जिसके फलस्वरूप विकसित तथा विकासशील देश समेत सभी देशों हेतु लोकवित्त की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी हैं । यद्यपि परम्परागत् अर्थशास्त्रियों द्वारा लोकवित्त की महत्वपूर्ण अवधारणाओं की उपेक्षा की थी परन्तु विशेषकर 1930 की महामंदी तथा उसके पश्चात् समय–समय पर घटित होने वाले आर्थिक उतार चढ़ावों ने लोकवित्त की भूमिका को आर्थिक समस्याओं ने स्थापित कर दिया । द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् विशेषकर नवोदित एवं अल्पविकसित राष्ट्रों के विकास हेतु लोकवित्त के नियमों एवं

नीतियों का प्रभावी उपयोग किया गया है। वर्तमान में भारत जैसे विकासशील देशों में लोकवित्त के बढ़ते हुए महत्व को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है –

- **राज्य की बढ़ती क्रियायें** – प्राचीन समय सुरक्षा तथा कानून व्यवस्था ही राज्य के प्रमुख दायित्व माने जाते थे । परम्परागत अर्थशास्त्री द्वारा आर्थिक क्रियाओं में राज्य का हस्तक्षेप को अनुचित माना है । परन्तु आर्थिक विकास तथा कल्याण कारी राज्य की अवधारणा की स्थापना ने राज्य की क्रियाओं में व्यापक वृद्धि की है । सरकार द्वारा रेल, सड़क, परिवहन, ऊर्जा आदि महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश किया गया है इसके अतिरिक्त समाज कल्याण हेतु शिक्षा, स्वास्थ्य एवं साफ सफाई पर भी व्यापक सार्वजनिक व्यय किया जाता है । वर्तमान समय में राज्य की क्रियाओं में वृद्धि से संबंधित वैगनर का नियम यह है कि ,''राज्य के कार्यों में व्यापक एवं गहन वृद्धि की एक स्थायी प्रवृत्ति पायी जाती है । ''
- **आर्थिक नियोजन में महत्व** – देश के संतुलित तथा सर्वांगीण विकास हेतु आर्थिक नियोजन का महत्व आज स्थापित हो गया है । आर्थिक नियोजन की सफलता लोक वित्त की उचित व्यवस्था एवं अवधारणा पर निर्भर करती है । आर्थिक नियोजन हेतु सरकार को व्यापक तथा महत्वकांक्षी परियोजनाओं का क्रियान्वयन करना पड़ता है जिसके लिए बड़े पैमाने पर वित्त की आवश्यकता होती है । अतः लोक वित्त की विभिन्न रणनीतियों जैसे घाटे की वित्त व्यवस्था, सार्वजनिक ऋण आदि को कुशलता से क्रियान्वित करना पड़ता है ।
- **पूँजी निर्माण एवं आर्थिक विकास हेतु** – आर्थिक विकास की कुंजी पूँजी निर्माण है । पूँजी निर्माण हेतु संसाधनों को गतिशील कर उन्हें बचत तथा निवेश हेतु सक्रिय करने में लोकवित्त की प्रक्रियाओं का मुख्य योगदान होता है । विकासशील एवं अल्पविकसित देशों में आर्थिक विकास को गति देने हेतु पूँजी निर्माण के साथ–साथ उद्योग धन्धों तथा कृषि क्षेत्र का विकास करना होता है जिसके सरकार कर राहत, कर्ज, सब्सिडी एवं उपदान आदि तरीकों का प्रयोग कर उद्योगपति तथा कृषकों को प्रोत्साहित करती है ।
- **महत्वपूर्ण उद्योगों एवं सेवाओं का राष्ट्रीयकरण** – देश की सुरक्षा, सामाजिक एवं आर्थिक विकास के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सरकार द्वारा समय–समय पर बैंकिग, वित्त, बीमा एवं महत्वपूर्ण उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण किया जाता रहा है ।
- **आर्थिक स्थिरता** – 1929–30 में आयी विश्वव्यापी मंदी के पश्चात् यह अवधारणा आज स्थापित हो गयी है कि अर्थव्यवस्था में आर्थिक उतार चढ़ावों पर नियन्त्रण करने तथा आर्थिक स्थिरता को कायम् रखने हेतु सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है । यह सरकारी हस्तक्षेप प्रभावी लोकवित्त नीति के माध्यम् से ही पूर्ण हो सकता है ।

इसके लिए करारोपण, लोकवित्त और लोकऋण की नीतियों के मध्य उचित समायोजन करके आर्थिक स्थिरता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है ।

- **संसाधनों का इष्टतम् प्रयोग** – लोकवित्त की विभिन्न रणनीतियों तथा प्रक्रियाओं के माध्यम् से राष्ट्र के निष्क्रिय तथा बेकार पड़े संसाधनों का प्रभावी तथा इष्टतम् प्रयोग किया जा सकता है । सरकार बजट तथा राजकोषीय नीतियों के माध्यम् से उपयोग, उत्पादन, निवेश, बचत तथा वितरण को वांछित दिशा में सक्रिय कर सकती है।
- **आर्थिक असमानता कम करने में सहायक** – आर्थिक विकास का एक मुख्य लक्ष्य न्यायपूर्ण एवं समानता पूर्ण आर्थिक विकास है जोकि आय तथा सम्पत्ति के समानता पूर्ण वितरण से ही पूर्ण हो सकता है । लोकवित्त की रणनीतियों के माध्यम् से धनीवर्ग से कर तथा अन्य माध्यम् से संसाधनों को एकत्र कर उन्हें निर्धन वर्ग के पक्ष में सार्वजनिक व्यय के माध्यम् से हस्तांतरित किया जा सकता है ।
- **सामाजिक कल्याण तथा विकास हेतु** – लोकवित्त के माध्यम् से सामाजिक सुरक्षा एवं सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों को संचालित करने जैसे निर्धन वर्गों हेतु आर्थिक सहायता, महिलाओं, दलितों तथा पिछड़े वर्गों के विकास हेतु विशेष कार्यक्रम को चलाने रोजगार संवर्धन कार्यक्रमों को लागू किया जाता है ।
- **राजनैतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महत्व** – सरकारें अपनी राजनैतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों को तभी कारगर रूप से लागू कर सकती है जबकि उनके पास पर्याप्त वित्तीय संसाधन तथा प्रभावी लोकवित्त की रणनीति हो । देश में आंतरिक शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने, विदेशी आक्रमण से रक्षा हेतु, सामाजिक रणनीति के लिए, क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में महत्ता स्थापित करने हेतु लोकवित्त की रणनीतियों की आवश्यकता पड़ती है । भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में लोकवित्त की प्रक्रियायें राजनैतिक क्रियाकलापों से भारी अन्तर्सम्बन्धित होती हैं । पीकॉक–बाइजमैन द्वारा सार्वजनिक व्यय के निर्धारण में राजनैतिक सिद्धान्त तथा आधारों की महत्व को स्थापित किया गया उनके अनुसार लोक व्यय के निर्धारण में राजनैतिक आधारों पर निर्णय लिये जाते हैं ।

3.5 लोक वित्त की विचारधारायें एवं अवधारणायें

अर्थशास्त्रियों द्वारा लोक वित्त की विभिन्न विचार धाराओं का प्रतिपादन किया गया जिसके फलस्वरूप लोक वित्त की विभिन्न अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों का विकास हुआ लोक वित्त की प्राचीन विचारधारा परम्परागत आर्थिक अवधारणा पर ही आधारित थी, परन्तु समय के साथ–साथ इस अवधारणा में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं एवं

अंततः लोक वित्त की आधुनिक अवधारणा का विकास हुआ । लोक वित्त की सभी महत्वपूर्ण अवधारणायें निम्नवत् हैं –

3.5.1 प्राचीन या संस्थापक अवधारणा – प्राचीन या संस्थापक अवधारणा मूलतया परम्परागत् आर्थिक विचारधारा एवं सिद्धान्तों पर आधारित है । संस्थापक अवधारणा आर्थिक क्रियाकलापों में किसी भी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप को अनुचित मानते हैं । इन विचारकों के अनुसार सरकार को न्यूनतम् व्यय तथा न्यूनतम् कर लगाने चाहिए । यह सरकारी व्यय को अनुत्पादक मानते हैं एवं इस बात पर जोर देते हैं कि कर बचत एवं निवेश पर नकारात्मक प्रभाव डालते हैं । प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री जे0 बी0 से0 के अनुसार, ''वित्त की सारी योजनाओं में सर्वोत्तम् वह है, जिसमें कम व्यय किया जाये और सभी करों में सर्वोत्तम् कर वह है जिसकी धनराशि सबसे कम हो ।'' एडम् स्थिम तथा रिकार्डो का विचार यह था कि गैर सरकारी व्यय उत्पादक होता है और सरकारी व्यय अनुत्पादक होता है । प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार, ''प्रत्येक कर एक बुराई है और प्रत्येक सरकारी व्यय अनुत्पादक है ।'' संस्थापक अवधारणा के मुख्य विचार बिन्दु निम्न हैं –

- बजट सदैव संतुलित होना चाहिए एवं बजट का आकार भी छोटा होना चाहिए तथा बजट घाटा प्रगति पर नकारात्मक प्रभाव डालता है ।
- सरकारी निवेश अनुत्पादक होता है अतः सरकार को निवेश कम से कम करना चाहिए एवं निजी निवेश पूर्ण रोजगार स्थापित करने में सक्षम होता है ।
- बचतों पर पड़ने वाले कर समाज हेतु हानिकारक होते हैं जैसे आयकर, मृत्यु कर आदि, उपभोग पर पड़ने वाले कर कम हानिकारक होते हैं ।

3.5.2 आधुनिक वैचारिक अवधारणा एवं आधुनिक सिद्धान्त – कीन्स द्वारा न सिर्फ प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की स्वचालित पूर्ण रोजगार की मान्यता पर जमकर कुठाराघात किया अपितु पूर्णरोजगार, निवेश में वृद्धि एवं संवृद्धि दर को तीव्र करने के लिए की लोक वित्त महत्ता को प्रमुखता से स्थापित किया । कीन्स के सिद्धान्त में निम्न अवधारणात्मक विचार बिन्दु उजागर होते हैं –

- पूर्ण रोजगार की स्थापना एवं निवेश, बचत प्रक्रिया में संवृद्धि हेतु सार्वजनिक निवेश का बढ़ा महत्वपूर्ण योगदान होता है ।
- सार्वजनिक निवेश गुणक प्रक्रिया के माध्यम् से आय उत्पादन में वृद्धि करता है ।
- सरकार सड़कों, रेलों, विद्युत, जनोपयोगी उद्यमों तथा उद्योगों में सरकारी धन के व्यय करके समर्थ माँग को प्रोत्साहित कर सकती है ।

- घाटे की वित्त व्यवस्था तथा जनता से उधार लेकर सार्वजनिक निवेश आर्थिक मंदी को दूर करने का कारगर उपाय है ।

कुल मिलाकर कीन्स ने लोक वित्त का महत्व को पूर्ण रोजगार, आर्थिक प्रगति, आर्थिक स्थिरता तथा संसाधनों के श्रेष्ठतर आवंटन हेतु स्थापित कर दिया । लर्नर द्वारा लोक वित्त की कीन्सियन विचारधारा को क्रियाशील वित्त की अवधारणा के रूप में प्रतिपादित किया है । क्रियाशील वित्त (क्रियात्मक वित्त) में लोक वित्त की पद्धति का मूल्यांकन उसके क्रियाशील कार्यों के आधार पर किया जाता है ।

3.5.3 सक्रियकारी वित्त की अवधारणा – सक्रियकारी वित्त की वैचारिक अवधारणा का प्रतिपादन प्रो0 बलजीत सिंह द्वारा किया गया है । सक्रियकारी वित्त के अन्तर्गत लोक वित्त साधनों एवं उपकरणों का उनकी कार्य संरचना पर परीक्षण करते हैं तथा इसका मूल्यांकन करते हैं कि इन उपकरणों की अर्थव्यवस्था हेतु क्या उपयोगिता है एवं किस प्रकार वित्त प्रबन्ध की रीतियाँ अर्थव्यवस्था में स्पूर्ति उत्पन्न करती हैं । सक्रियकारी वित्त की अवधारणा विशेषकर विकासशील तथा अर्द्धविकसित देशों के परिपेक्ष में विकसित की गयी है जबकि लर्नर तथा कीन्स का कार्यशील वित्त की अवधारणा विकसित देशों की समस्या के सन्दर्भ में स्थापित की गयी है ।

3.5.4 समाजिक राजनैतिक अवधारणा – इस अवधारणा के समर्थकों में वैगनर तथा एजवर्थ प्रमुख हैं । इस अवधारणा के विकास में लोकतांत्रिक एवं कल्याणकारी राज्य की राजनैतिक विचारधारा के माध्यम् से हुआ है । इस अवधारणा के अनुसार लोक वित्त का प्रमुख उद्देश्य यह होना चाहिए जिससे धन का हस्तांतरण निर्धनों के पक्ष में हो जाये जिससे समाज में अधिकतम् सामाजिक कल्याण की स्थापना हो सके ।

3.5.5 लोक वित्त की विशुद्ध अवधारणा – इस वैचारिक अवधारणा का प्रतिपादन सेलिगमैन द्वारा किया गया । इसके अनुसार लोक वित्त की विभिन्न समस्याओं जैसे आय, व्यय, ऋण आदि पर तटस्थ रूप से विचार किया जाना चाहिए । इस विचारधारा में ऐसा कोई आग्रह नहीं किया जाता कि लोक वित्त नीति का उद्देश्य धन की असमानताओं को दूर करना होना ही चाहिए ।

3.5.6 लोक वित्त के नवीनतम् अवधारणा – मसग्रेव द्वारा लोक वित्त की परिधि में नवीनतम् विचारों का समावेश किया । मसग्रेव के अनुसार लोक वित्त के सिद्धान्तों का मुख्य कार्य सार्वजनिक अर्थव्यवस्था को कुशलतम् बनाने हेतु नियमों के निर्माण से सम्बन्धित होता है । मसग्रेव के अनुसार लोक वित्त के उद्देश्यों को तीन निम्न भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है –

- आर्थिक स्थिरीकरण
- आय का वितरण
- साधनों का आवंटन

अतः मसग्रेव के अनुसार लोक वित्त के अन्तर्गत ऐसी प्रक्रियाओं को अपनाया जाता है जिससे उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति हो सके एवं इन उद्देश्यों की पूर्ति करने में बजट की विभिन्न क्रियाकलापों का अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन किया जा सके ।

3.6 लोक वित्त के सिद्धान्त

लोक वित्त के सिद्धान्तों का विकास लोक वित्त की विचारधाराओं एवं लोक वित्त की अवधारणाओं के माध्यम् से हुआ है । लोक वित्त के सिद्धान्तों से तात्पर्य लोक वित्त के मूलभूत नियमों से है जिसके द्वारा लोक वित्त की महत्वपूर्ण नीतियों का निर्धारण होता है । लोक वित्त परम्परागत् विचारधारा ने इस अवधारणा को स्थापित किया सरकार को न्यूनतम् सरकारी व्यय करना चाहिए क्योंकि यह अनुत्पादक होता है । परन्तु कीन्स एवं डॉल्टन द्वारा प्राचीन विचारधारा का विरोध किया तथा सरकारी व्यय को महत्वपूर्ण एवं उत्पादक बताया ।

आधुनिक समय में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की स्थापना के कारण लोक वित्त का महत्व अत्याधिक बढ़ गया है । लोक वित्त के इसी बढ़ते हुए महत्व के कारण ही अर्थशास्त्रियों द्वारा अधिकतम् सामाजिक कल्याण या अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है लोक वित्त के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रो0 पीगू तथा प्रो0 डॉल्टन द्वारा किया गया । डॉल्टन का मत है कि ''कोई व्यय उत्पादक है या नहीं इसका मूल्यांकन उस व्यय की आर्थिक सामाजिक कल्याण की उत्पादकता से ज्ञात होती है ।'' जैसे शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर किया गया व्यय प्रायः व्यक्तिगत् भोग विलासों पर किये जाने वाले व्यय की अपेक्षा अधिक उत्पादक तथा कल्याणकारी होते हैं तथा इन कार्यों को पूर्ण करने के लिये जो कर लगाये जाते हैं, वह सार्वजनिक हित की भावना से लगाये जाते हैं तथा इस प्रकार से समस्त कर बुरे नहीं होते हैं ।

3.6.1 अधिकतम् सामाजिक लाभ का सिद्धान्त – आधुनिक समसामयिक विश्व में प्रायः सभी राष्ट्र कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में विश्वास रखते हैं तथा राज्य की नीति का मुख्य उद्देश्य समाज को अधिकतम् सुख सुविधाओं को प्रदान करना है। लोक वित्त के दो प्रमुख क्षेत्र सार्वजनिक आय तथा सार्वजनिक व्यय होते हैं । अतः लोक वित्त के दोनों क्षेत्रों पर लागू हो तथा इन दोनों वित्तीय कार्यवाहियों का निर्देशन तथा नियमन ऐसे मूलभूत सिद्धान्त के द्वारा किया जाये ताकि अधिकतम् सामाजिक लाभ को प्राप्त किया जा सके । प्रो0 पीगू तथा प्रो0 डॉल्टन इस सिद्धान्त के प्रतिपादक एवं प्रसिद्धि हेतु उत्तरदायी थे ।

डॉल्टन का मत यह है कि ''लोक वित्त की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जिससे राज्य अपने कार्यों द्वारा अधिकतम् सामाजिक लाभ की प्राप्ति करता है ।'' प्रो0 पीगू ने इस

सिद्धान्त को अधिकतम् कुल कल्याण का सिद्धान्त कहा है । प्रो0 पीगू के मतानुसार, ''लोक वित्त की सबसे बेहतर प्रणाली वह है जिससे राज्य कुल सामाजिक कल्याण को अधिकतम् करता है ।''

3.6.2 अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की व्याख्या – अधिकतम् सामाजिक लाभ सिद्धान्त मूलतया उपयोगिता क्षय नियम् पर आधारित है । इसके अनुसार धन की मात्रा में वृद्धि होने के साथ–साथ उपयोगिता में कमी आती है तथा धन की मात्रा में कमी आने से उसकी उपयोगिता में वृद्धि होती है । इस सिद्धान्त में आधारभूत मान्यतायें निम्न प्रकार से हैं –

- लोक वित्त की समस्त क्रियायें क्रय शक्ति के हस्तांतरण या परिवर्तन से सम्बन्धित होते हैं ।
- सरकार के द्वारा धन के व्यय उपयोगिता या तुष्टिगुण में वृद्धि होती है एवं कर के आरोपण समाज में अनुपयोगिता या तुष्टिहीनता उत्पन्न होती है यानि सार्वजनिक व्यय से समाज को लाभ प्राप्त होता है तथा कर के कारण समाज को त्याग करना पड़ता है ।
- डाल्टन के अनुसार प्रत्येक इकाई कर में वृद्धि के कारण से समाज को जो अतिरिक्त त्याग करना पड़ता है उसे सीमांत सामाजिक त्याग कहते हैं तथा प्रति इकाई व्यय में वृद्धि से जो अतिरिक्त संतुष्टि प्राप्त होती है उसे सीमान्त सामाजिक संतुष्टि कहते हैं ।
- सरकार अपने आय व्यय का निर्धारण करते समय सम सीमान्त उपयोगिता के नियमानुसार आय तथा व्यय की सीमांत उपयोगिता में संतुलन का प्रयास करना चाहिए जिससे अधिकतम् संतुष्टि की प्राप्ति हो सके ।
- इस सिद्धान्त के अनुसार संतुलन की स्थिति में सरकारी व्यय की इकाई के फलस्वरूप सीमातं लाभ सरकार द्वारा लगाये जाने वाले कर की किसी इकाई के कारण जनता के सीमांत त्याग के बराबर हो जायेगा । जिस बिन्दु पर सीमांत लाभ व सीमांत त्याग बराबर हो जाते हैं वह सरकार के वित्तीय कार्य की अनुकूलतम् सीमा का निर्धारण करता है एवं अधिकतम् सामाजिक लाभ इसी संतुलन पर प्राप्त होता है ।
- सिद्धान्त के अनुसार राजकीय व्यय को उस सीमा तक बढ़ाते रहना चाहिए जब तक कि उस व्यय से प्राप्त संतुष्टि करदाता द्वारा दिये गये करों से प्राप्त असंतुष्टि के बराबर न हो जाये । अतः प्रो0 पीगू के अनुसार, ''सभी दिशाओं में व्यय को इस प्रकार से करना चाहिए कि अन्तिम शिलिंग से प्राप्त उपयोगिता सरकारी सेवा के रूप में खोयी गयी अन्तिम शिलिंग की संतुष्टि के बराबर हो जाये ।

अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को निम्न तालिका की सहायता से भली–भाँति समझा जा सकता है –

मुद्रा की इकाई	कर की प्रत्येक इकाई से त्याग	व्यय की प्रत्येक इकाई से संतुष्टि
1	3	25
2	5	20
3	8	16
4	**12**	**12**
5	16	9
6	21	7

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि समाज पर प्रत्येक इकाई कर के भार में वृद्धि होने पर सीमांत त्याग बढ़ता जाता है इसके विपरीत सार्वजनिक व्यय की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के परिणाम् स्वरूप सीमांत उपयोगिता घटती जाती है मुद्रा की चौथी इकाई हेतु सीमांत सामाजिक त्याग तथा सीमांत सामाजिक लाभ की मात्रा बराबर हो जायेगी । इसी इकाई पर सार्वजनिक व्यय की मात्रा की सीमा निश्चित हो जायेगी तथा यह इकाई अधिकतम् सामाजिक लाभ या अधिकतम् कुल सामाजिक कल्याण की सीमा को निर्धारित करेगी ।

उपरोक्त उदाहरण तथा अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को रेखाचित्र के माध्यम् से भी समझाया जा सकता है । प्रस्तुत निम्न चित्र संख्या 3 अ में X अक्ष कर तथा व्यय की इकाई को निरूपित करती है । जबकि Y अक्ष लाभ एवं त्याग अर्थात् उपयोगिता तथा अनुपयोगिता को निरूपित करती है चित्र में RS रेखा अनुपयोगिता या तुष्टिहीनता की रेखा जबकि FB रेखा उपयोगिता की रेखा है । RS रेखा की प्रवृत्ति ऊपर उठने की है क्योंकि कर भार बढ़ने के कारण कर दाता को अधिक कष्ट उठाना पड़ता है । FB रेखा की प्रवृत्ति नीचे झुकने की है क्योंकि सार्वजनिक व्यय की प्रति अतिरिक्त इकाई में वृद्धि के साथ–साथ उसकी उपयोगिता भी गिरती जाती है ।

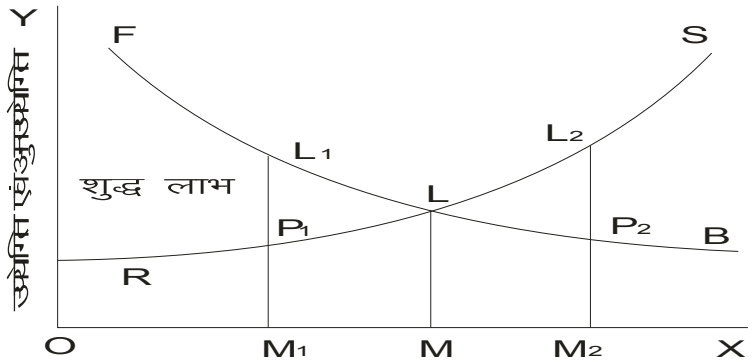

चित्र संख्या 3 अ

संलग्न चित्र में वक्ररेखा FB सीमांत उपयोगिता तथा RS सीमांत अनुपयोगिता को प्रदर्शित करते हैं । यह दोनों वक्र रेखायें एक दूसरे को बिन्दु L पर काटते हैं । यही बिन्दु राज्य की वित्तीय क्रिया की अनुकूलतम् सीमा को प्रदर्शित करता है तथा इसी बिन्दु पर सीमांत सामाजिक त्याग एवं सीमांत सामाजिक लाभ बराबर हो जाते हैं । अतः यही बिन्दु अधिकतम् सामाजिक कल्याण को निरूपित करता है क्योंकि इस बिन्दु से कम या अधिक की स्थित होने पर अधिकतम् सामाजिक लाभ को प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सकेगा । यदि सरकार OM_1 कर वसूल करती है तो सामाजिक उपयोगिता M_1L_1 होगी तथा सामाजिक त्याग M_1P_1 से L_1P_1 अधिक होगी । ऐसी स्थिति में कर की मात्रा को बढ़ाया जा सकता है वहीं दूसरी ओर यदि सरकार व्यय की मात्रा में वृद्धि करती है तथा OM_2 तक कर लगाती है तो ऐसी दशा में सीमांत अनुपयोगिता ML_1 सीमांत उपयोगिता MP_2 से L_2P_2 अधिक होगी । अतः ऐसी दशा में कर की मात्रा को कम करना होगा जिससे सीमांत अनुपयोगिता कम तथा सीमांत उपयोगिता बढ़ जायेगी तथा L पर साम्य स्थापित हो जायेगा ।

साम्य बिन्दु पर सामाजिक उपयोगिता तथा सामाजिक त्याग की दृष्टि से निम्न तीन विशेषतायें पायी जाती हैं –

- साम्य बिन्दु पर सीमांत त्याग एवं सीमांत उपयोगिता बराबर रहते हैं ।
- सामाज को प्राप्त कुल उपयोगिता समाज द्वारा किये गये कुल त्याग से अधिक रहती है ।
- समाज को लोकवित्त की क्रियाओं से प्राप्त होने वाले लाभ सार्वजनिक रहते हैं ।

3.6.3 मसग्रेव के विचार – मसग्रेव द्वारा अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के सम्बन्ध अपने विचार प्रस्तुत किये एवं इस सिद्धान्त की व्याख्या नये रूप में की है । मसग्रेव के अनुसार ऐसी तकनीक को विकसित किया जाना चाहिए जिससे व्यक्ति सामाजिक वस्तुओं के प्रति अपने अधिमानों को प्रकट कर सके । मसग्रेव द्वारा इस सिद्धान्त को चित्र संख्या 3ब के माध्यम् से समझाने का प्रयास किया है । चित्र संख्या 3ब में X अक्ष पर मुद्रा की मात्रा निरूपित की गयी है। अक्ष में ऊपर के भाग में उपयोगिता या सामाजिक कल्याण को तथा नीचे के भाग में अनुपयोगिता या सामाजिक त्याग को प्रदर्शित किया गया है ।

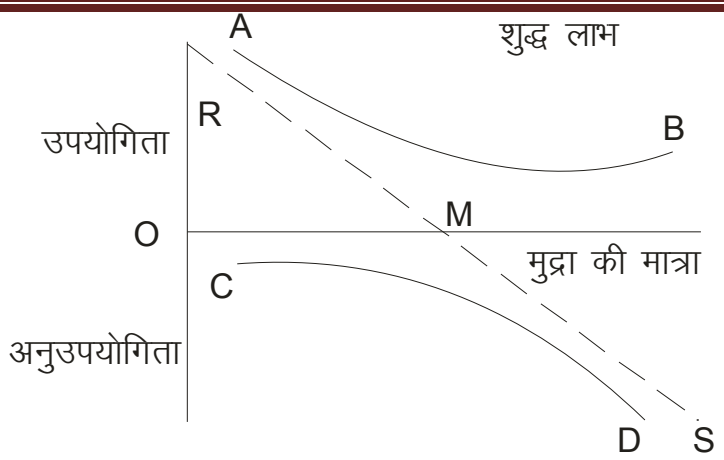

चित्र संख्या 3ब

उपरोक्त चित्र में AB वक्र सीमान्त सामाजिक कल्याण तथा CD वक्र सीमांत सामाजिक त्याग को प्रदर्शित करता है । वक्र का गिरता हुआ ढाल यह निरूपित करता है कि व्यय की अतिरिक्त राशियों से प्राप्त होने वाला कल्याण गिर रहा है । वक्र से यह स्पष्ट होता है कि कर भार में वृद्धि से करदाता के सीमांत त्याग में वृद्धि हो रही है । RS वक्र को AB व CD से घटाकर ज्ञात किया गया है अर्थात् सीमांत सामाजिक लाभ से सीमांत सामाजिक त्याग को घटा दिया गया है। RS वक्र शुद्ध सामाजिक कल्याण को प्रदर्शित करता है तथा यह M बिन्दु पर अक्ष को काटती है। अतः M वह बिन्दु है जहाँ पर वास्तविक सामाजिक कल्याण अधिकतम् है तथा सरकार के बजट की इष्टतम् सीमा OM है । इस सीमा पर शुद्ध सीमांत सामाजिक कल्याण शून्य हो जाता है । OM की वह मात्रा है जिसे सरकार को समाज से कर के रूप में वसूल करनी चाहिए एवं सार्वजनिक व्यय के रूप में खर्च करनी चाहिए ।

3.6.4 अधिकतम् सामाजिक लाभ सिद्धान्त के निष्कर्ष – अधिकतम् सामाजिक लाभ का सिद्धान्त राज्य की वित्तीय तथा बजट नीति के दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं एवं सरकार की लोक वित्त नीतियों का मार्गदर्शन करते हैं। इस सिद्धान्त से निम्न महत्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आते हैं –

- **व्यय की सीमा** – सरकारी व्यय को उस सीमा तक किया जाना चाहिए जहाँ पर राज्य द्वारा व्यय किये जाने वाले सार्वजनिक धन की अन्तिम् इकाई से जनता को प्राप्त होने वाला लाभ सरकारी आय की उसी इकाई के प्राप्त करने में जनता पर पड़ने वाले त्याग के ठीक बराबर हो जाये अर्थात् व्यय से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता एवं करों से प्राप्त होने वाली सीमांत अनुपयोगिता सदैव बराबर होनी चाहिए।
- **राज्य के साधनों का आबंटन** – सार्वजनिक व्यय की विभिन्न मदों के बीच राज्य के साधनों का आबंटन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि प्रत्येक साधन से प्राप्त होने वाली संतुष्टि का सीमांत प्रतिफल एक

समान हो अर्थात् व्यय की सीमांत उपयोगिता प्रत्येक स्तर पर समान होनी चाहिए ।

- **कर विभाजन** – राज्य द्वारा करों का विभाजन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि प्रत्येक करारोपण की सीमांत उपयोगिता विभिन्न स्तरों पर समान होनी चाहिए अर्थात् समाज द्वारा करों के भुगतान के फलस्वरूप जो त्याग वहन किया जाता है उसकी सीमांत अनुपयोगिता सभी करदाताओं हेतु एक समान हो ।

3.6.5 अधिकतम् सामाजिक लाभ सिद्धान्त का परीक्षण – अधिकतम् सामाजिक कल्याण सिद्धान्त को क्रियान्वित करने में अनेक व्यवहारिक कठिनाइयाँ आती हैं अतः इस सिद्धान्त के प्रभावी क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने तथा क्रियान्वयन का परीक्षण एवं मूल्यांकन करने हेतु डाल्टन द्वारा निम्न महत्वपूर्ण कसौटियों का उल्लेख किया है –

(अ) आर्थिक कल्याण में वृद्धि – यदि सार्वजनिक व्यय से समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है तो उससे सामाजिक कल्याण अधिकतम् हो जाता है । समाज का आर्थिक कल्याण उत्पादन की शक्ति में वृद्धि तथा धन के वितरण में सुधार के माध्यम् से निम्न प्रकार से बढ़ाया जा सकता है –

- **उत्पादन शक्ति में वृद्धि** – लोकवित्त की नीतियों तथा प्रक्रियाओं को माध्यम् से समाज की उत्पादन शक्ति बढ़ाकर कल्याण को अधिकतम् किया जा सकता है। उत्पादन में सुधार निम्न का प्रयोग किया जा सकता है –
  - उत्पादन के आकार में वृद्धि कर देश की आर्थिक प्रगति तथा कल्याण में बढ़ोत्तरी की जा सकती है ।
  - उद्योगों की उत्पादन शक्ति तथा उद्योगों की कार्यक्षमता बढ़ाकर भी उत्पादन की मात्रा बढ़ायी जा सकती है ।
  - देश में उत्पादन संगठन की समुचित व्यवस्था करके आर्थिक संसाधनों के अपव्यय को रोका जा सकता है ।
  - उत्पादन का स्वरूप ऐसा हो जिससे समाज की आवश्यकताओं को अधिक मात्रा में तथा बेहतर तरह से पूरा किया जा सके ।
  - कर व्यवस्था छूट देकर उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है इसके लिये अनिवार्य वस्तुओं के उत्पादन तथा निर्यात् के समानों पर कर छूट देकर तथा आयातों पर भारी कर लगाकर देश में उत्पादन को प्रोत्साहित किया जा सकता है।
- **धन के वितरण में सुधार** – आय तथा सम्पत्ति के उचित वितरण द्वारा भी समाज के कल्याण में वृद्धि की जा सकती है । इसके उदेद्श्य की पूर्ति हेतु

करों को इस प्रकार से नियोजित किया जाना चाहिए जिससे धनी वर्ग से क्रयशक्ति को एकत्रित करके उसे निर्धन वर्ग के पक्ष में सार्वजनिक व्यय के माध्यम् से हस्तांतरित किया जा सके ।

(ब) भावी विकास – सामान्यतया व्यक्ति वर्तमान हितों पर ही अधिक ध्यान देता है अतः राज्य को जनता के भावी कल्याण में वृद्धि, करने हेतु सुविचार करके सार्वजनिक व्यय हेतु नीतियाँ बनानी होंगी । राज्य को नीतियाँ बनाते हुए भावी पीढ़ियों के हितों को भी ध्यान में रखना होगा ।

(स) आर्थिक स्थायित्व – आर्थिक उतार चढ़ावों जैसे मंदी एवं तेजी से जनता के सामाजिक कल्याण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है । अतः सरकार को आर्थिक स्थायित्व को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए जिससे जनता के कल्याण को अधिकतम् किया जा सके ।

(द) शान्ति एवं सुरक्षा – शांति तथा सुरक्षा राज्य के विकास हेतु अनिवार्य एवं आवश्यक है । अतः राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि जनता के कल्याण हेतु सार्वजनिक व्यय के माध्यम् से शांति तथा सुरक्षा को स्थापित किया जाये ।

कुल मिलाकर डाल्टन ने सामाजिक कल्याण के परीक्षण तथा मूल्यांकन हेतु आर्थिक सामाजिक तथा भविष्य के आधारों को स्थापित किया है जो कि इस सिद्धान्त के प्रभावी क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने की दृश्टि से महत्वपूर्ण है ।

3.6.5 अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन – यह लोकवित्त का सबसे मूलभूत तथा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त के माध्यम् से लोकवित्त की न सिर्फ बुनियादी अवधारणा की स्थापना में सहायता मिली है परन्तु इस सिद्धान्त के क्रियान्वयन में निम्नवत् व्यवहारिक समस्यायें सामने आती हैं –

- **माप सम्बन्धित समस्यायें** – व्यवहार में उपयोगिता तथा त्याग को मापना एक कठिन कार्य है । यह कठिनाई राज्य व्यक्ति दोनों को उठानी पड़ती हैं । सरकार द्वारा इस तथ्य को ज्ञात करना बहुत कठिन है कि सार्वजनिक व्यय करने से जनता को कितनी मात्रा में सीमांत उपयोगिता प्राप्त होती है । इसी प्रकार करों के आरोपण से जनता को जो अनुपयोगिता वहन करनी पड़ती है उसको मापना तथा ज्ञात करना सम्भव नहीं होता है ।
- **उपयोगिता तथा अनुपयोगिता के मध्य संतुलन** – राज्य हेतु यह आकलन लगाना बहुत कठिन होगा कि करों के आरोपण से उत्पन्न होने वाली अनुपयोगिता तथा सरकारी व्यय से प्राप्त होने वाली उपयोगिता के मध्य कैसे संतुलन स्थापित कर सकें । ऐसे में अधिकतम् सामाजिक लाभ की

सीमा को ज्ञात करने में व्यवहारिक समस्या का सामना राज्य को करना पड़ेगा ।

- **भविष्य का अनुमान** – सामाजिक लाभ को अधिकतम् करने में राज्य की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि वह अपनी वित्तीय नीतियों के परिणामों का कितना सटीक पूर्वानुमान लगाने की क्षमता अपने पास रखता है । राज्य की वित्तीय क्रियाओं के भावी प्रतिफल के आकलन हेतु राज्य के पास कुशल प्रशासन, विशेषज्ञ नीतिकारों एवं योग्य अधिकारियों की निरंतर आवश्यकता होती है इसके अतिरिक्त नीतियों के भावी परिणामों के आकलन हेतु ठोस परिकल्पनायें एवं प्रभावी मापदण्ड होने चाहिए । अतः उपरोक्त सभी को देखते हुए राज्य के लिए इस सिद्धान्त के भावी पहलुओं का ऑकलन असंभव तो नहीं परन्तु कठिन जरुर जान पड़ता है ।
- **उपयोगिता तथा अनुपयोगिता का विवरण** – उपयोगिता तथा अनुपयोगिता की न सिर्फ माप कठिन है परन्तु इसका निरन्तर विवरण प्राप्त करना और भी अधिक कठिन है वर्तमान समय में लोकवित्त की क्रियाओं की व्यापकता तथा जटिलता को देखते हुए यह दुःरह सा प्रतीत होता है ।
- **वर्तमान त्याग एवं भावी उपयोगिता की समस्या** – सार्वजनिक व्यय सामान्यतया दीर्घकालीन दृष्टिकोण से भविष्य हेतु किये जाते हैं। विशेषकर विकास परियोजनाओं का क्रियान्वयन भावी दृष्टिकोण से किया जाता है सार्वजनिक व्यय का लाभ भविष्य में मिलता है तथा दूसरी ओर कर का भार जनता पर तुरन्त पड़ता है । अतः भविष्यकालीन लाभ तथा वर्तमान त्याग के आधार पर अधिकतम् सामाजिक लाभ का आकलन करना कठिन तथा अव्यावहारिक है ।

लोकवित्त के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त के क्रियान्वयन में उपर्युक्त व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण ही डाल्टन ने कहा है कि, ''यह सिद्धान्त सरल, स्पष्ट तथा शोधपूर्ण है परन्तु इसका व्यवहारिक दृष्टिकोण उतना ही कठिन है ।'' लेकिन तमाम् व्यवहारिक खामियों के बावजूद भी सामान्यतया अधिकतम् सामाजिक लाभ का सिद्धान्त लोकवित्त का सबसे मूलभूत सिद्धान्त है तथा राज्य की लोकवित्त क्रियाओं तथा बजट के प्रयोजनार्थ एक मार्गदर्शक की तरह कार्य करता है ।

3.7 बाजार असफलता का तात्पर्य

बाजार असफलता एक रुचिपूर्ण तथा जटिल अवधारणा है । यह एक ऐसी परिस्थितियों का संचयी परिणाम् है जहाँ पर बाजार व्यवस्था पूरी क्षमता के साथ कार्य

नहीं कर पाती है । आर्थिक सिद्धान्तों के अनुसार बाजार असफलता एक ऐसी अवधारणा है जहाँ पर मुक्त बाजार के माध्यम् वस्तु तथा सेवाओं का उत्पादन एवं आबंटन पूर्ण क्षमता के साथ नहीं हो पाता है । इस प्रक्रिया में संसाधनों का आबंटन तथा दोहन अनुकूलतम् नहीं होता है । अन्य अर्थों में यदि कहा जाये तो उत्पादन की सामाजिक लागत न्यूनतम् नहीं होती है कुल मिलाकर बाजार असफलता एक ऐसी स्थिति होती है जहाँ पर मुक्त बाजार में उपभोक्ताओं द्वारा किसी उत्पाद की माँगी गयी मात्रा आपूर्तिकर्त्ताओं द्वारा उस वस्तु की के समान नहीं हो पाती है तथा आवश्यक आर्थिक तत्वों के अभाव में स्थायी साम्यवस्था स्थापित नहीं हो पाती है तथा उत्पादन पेरेटो अनुकूलतम् की दृष्टि से उपयुक्त नहीं होता है यानि बाजार में समाज कल्याण के दृष्टिकोण से बेहतर परिणाम् प्राप्त हो सकता है । बाजार असफलता के कारण जहाँ एक ओर कीमत तंत्र समुचित रूप में कार्य नहीं कर पाता है । बाजार असफलता का प्रभाव उत्पादन वितरण एवं उपभोग तक के चरण में पड़ता है जिसका विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

- बाजार पूर्ण क्षमता तथा कुशलता के साथ दुर्लभ संसाधनों का आबंटन नहीं कर पाता है ।
- बाजार में कीमत तंत्र प्रभावी रूप से कार्य नहीं कर पाता है ।
- बाजार पर्याप्त मात्रा में मेरिट (गुण) वस्तुओं व सेवाओं जैसे शिक्षा तथा स्वास्थ्य सुविधाओं का उत्पादन नहीं कर पाता है साथ ही सामाजिक रूप से गैर गुण एवं हानिकारक वस्तुओं जैसे शराब, तम्बाकू आदि को नियन्त्रित नहीं कर पाता है ।
- बाजार असफलता के कारण से सामान्य संसाधन त्रासदी जैसी समस्याओं से गुजरना पड़ता है । जहाँ स्वहित को अधिकतम् करने की होड़ में सामान्य तथा सार्वजनिक संसाधनों का एक ओर अतिशोषण होता है वहीं दूसरी ओर संसाधनों के क्षरण का नुकसान समस्त समाज को भुगतना पड़ता है ।
- बाजार असफलता के कारण पर्यावरण मूल्यों का समावेश आर्थिक एवं बाजार मूल्य में नहीं हो पाता है जिससे औद्योगिक उत्पादन की लाभ उद्योगपति को प्राप्त होता है परन्तु प्रदूषण की लागत समस्त समाज को भुगतनी पड़ती है ।
- बाजार असफलता के कारण साम्य अस्थिर एवं असंतुलित होता है तथा साम्य सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण की दृष्टि इष्टतम् नहीं होता है बाजार असफलता के कारण साम्य स्थिति कल्याणकारी दृष्टि से महत्वपूर्ण पेरेटो अनुकूलतम् की शर्तों को पूर्ण नहीं कर पाता है ।

- बाजार असफलता के कारण उत्पादन के सीमांत सामाजिक लाभ तथा सीमांत सामाजिक लागत में अंतर आ जाता है । जिसके कारण से अधिकतम् सामाजिक कल्याण संतुलन की आवश्यक शर्त पूरी नहीं हो पाती है तथा सरकार के इष्ट्तम् बजट के आकलन में समस्या आती है ।
- बाजार असफलता के कारण संसाधनों का अक्षमतापूर्ण एवं कुआबंटन भी होता है । बाजार असफलता की दशायें अक्सर वित्तीय नीतियों एवं निर्णयों में अविवेकपूर्णता, अक्षमता, प्रतिकूल तथा गलत चयन, नैतिक खतरा व संकट की परिस्थितियों को उत्पन्न कर देते हैं । इन सब कारकों का संचयी परिणाम् व्यापक रूप से समस्त् अर्थव्यवस्था के ऊपर ही पड़ता है ।
- बाजार असफलता के कारण समष्टि आर्थिक चरों का आकलन एवं परिकलन दोषपूर्ण तथा जटिल हो जाता है । इसके कारण से महत्वपूर्ण आर्थिक नीतियों जैसे राजकोषीय एवं वित्तीय नीतियों के क्रियान्वयन में व्यापक बाधाओं का भी सामना करना पड़ता है ।
- बाजार असफलता के कारण से सार्वजनिक संसाधनों के दोहन संबंधी सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन में अक्सर समस्यायें सामने आती हैं सार्वजनिक संसाधनों के दोहन हेतु निलामी एवं निजीकरण की प्रक्रिया में अक्षमता, अपारदर्शिता तथा भ्रष्टाचार की समस्या उत्पन्न हो जाती है ।
- बाजार की असफलता के कारण से अक्सर सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं की निरन्तर आपूर्ति उत्पादन तथा विनिमेय व्यवस्था में खामियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे समूचित मात्रा में सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन नहीं हो पाता है तथा उपभोक्ता को असंतुष्ट रहना पड़ता है यानि उपभोक्ता की संतुष्टि एवं कल्याण की पूर्ति नहीं हो पाती है । यह तथ्य विशेषकर विकासशील देशों में सड़क, विद्युत, रेल परिवहन आदि सार्वजनिक सेवाओं के क्षेत्र में देखा जा सकता है ।
- बाजार असफलता का सबसे व्यापक प्रभाव सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन प्रबन्धन, वितरण आदि में सामने आता है । बाजार तथा कीमत तंत्र के अकुशल एवं अक्षम होने के कारण सरकार को इन वस्तुओं तथा सेवाओं के क्षेत्र में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करना पड़ता है ।
- बाजार की असफलता के कारण अक्सर वित्तीय, बीमा बैंकिग, पूँजी बाजार आदि क्षेत्रों में संकट की समस्या का सामना करना पड़ता है ।

- बाजार असफलता का प्रभाव आर्थिक नियमों, अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों के क्रियान्वयन पर भी पड़ता है । व्यष्टि, समष्टि, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से लेकर मौद्रिक अर्थशास्त्र के सामान्यतया नियम इसी अवधारणा पर कार्य करते हैं कि बाजार मुक्त एवं पूर्ण क्षमता के साथ सक्रिय हैं ।
- निःशुल्क सवार समस्या एक ऐसी समस्या है जो बाजार असफलता के कारण उत्पन्न होती है एवं इस समस्या के कारण सार्वजनिक वस्तु एवं सम्पदा जैसे पर्यावरण आदि के संरक्षण लाभ में सभी भागीदारी करना चाहते हैं परन्तु सार्वजनिक वस्तु एवं सम्पदा के संरक्षण तथा प्रबन्धन के लिये त्याग में भागीदारी नहीं करना चाहते हैं ।

3.8 बाजार असफलता के कारण

बाजार असफलता हेतु अनेक कारक उत्तरदायी होते हैं जोकि बाजार तथा वस्तु की प्रकृति पर निर्भर करते है । यह बाजार असफलता की अवधारणा का प्रतिपादन हेनरी सिजविक द्वारा किया गया है एवं समय के साथ अर्थशास्त्रियों ने इस अवधारणा का व्यापक विकास किया है । बाजार असफलता के कारणों का विश्लेषण निम्न है –

3.8.1 बाजार की प्रकृति – एकाधिकारी अधिक लाभ की लालसा में अक्सर एकाधिकार की शक्ति का प्रयोग करते हुए उत्पादन को सीमांत सामाजिक लाभ तथा सीमांत सामाजिक लागत के साम्यावस्था द्वारा निर्धारित बिन्दु से कम स्तर पर नियन्त्रित कर देता है यह स्थिति तब भी उत्पन्न हो सकती है जबकि एकाधिकारी अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए नयी फर्म के बाजार में प्रवेश पर रोक लगा दें । इस एकाधिकार बाजार व्यवस्था में उत्पादन पेरेटो अनुकूलतम् के अनुसार नहीं संभव हो जायेगा । एकाधिकार के अतिरिक्त निम्न बाजार दशाओं में भी बाजार असफलता की स्थिति सामने आती है ।

- एकाधिकारिकी व द्वैध एकाधिकार की बाजार दशाओं में भी बाजार असफलता की स्थिति सामने आ सकती है ।
- अपूर्ण एवं अधूरे बाजार की स्थिति में बाजार पर्याप्त मात्रा में वस्तु तथा सेवाओं का उत्पादन नहीं कर पाता है ।
- अस्थिर बाजार की दशाओं जैसे विदेशी विनिमेय बाजार आदि में भी संतुलित साम्यवस्था सुव्यवस्थित नहीं हो पाती है जिससे बाजार असफलता की संभावना बनी रहती है ।

3.8.2 वस्तु की प्रकृति – बाजार की असफलता होने का एक मुख्य कारण वस्तुओं तथा सेवाओं की प्रकृति पर भी निर्भर करता है यदि उत्पादित वस्तु तथा सेवाओं की प्रकृति सार्वजनिक या सामान्य वस्तुओं की है तो ऐसी दशा बाजार के नियम इन वस्तुओं की कीमत निर्धारण तथा आबंटन में असफल एवं अक्षम रहते हैं ।

सार्वजनिक वस्तुओं से तात्पर्य ऐसी विशिष्ट वस्तुओं से होता है जो उपभोग में गैर प्रतियोगी होती हैं, सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं के उपयोग द्वारा समाज के सभी सदस्यों को समान लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं तथा किसी व्यक्ति को इन वस्तुओं द्वारा उत्पन्न लाभों के उपयोग से वंचित नहीं किया जा सकता है । सामान्यतया बाजार में क्रय विक्रय की क्रियाओं से उपभोक्ता को पृथक किया जा सकता है परन्तु सार्वजनिक वस्तुओं के उपभोग से उपभोक्ता को पृथक नहीं किया जा सकता है । अतः सार्वजनिक वस्तुओं की निम्न विशेषताओं के कारण से सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में बाजार असफल रहता है ।

- **लाभ की अविभाज्य होना** – सार्वजनिक वस्तुओं से उत्पन्न लाभ को विभाजित नहीं किया जा सकता है ।
- **उपभोक्ता की पृथकता** – सार्वजनिक वस्तुओं के लाभों से उपभोक्ता को पृथक नहीं किया जा सकता है ।
- **गैर प्रतियोगी उपभोग** – सार्वजनिक वस्तु के उपभोग को एक उपभोक्ता द्वारा किये जाने पर दूसरे व्यक्ति के उपभोग के ऊपर इसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है ।

उपरोक्त सभी विशेषताओं को इस उदाहरण के माध्यम् से समझा जा सकता है जैसे सुरक्षा पर होने वाले व्यय से सभी व्यक्तियों को लाभ होता है परन्तु इस प्रकार के लाभ को न तो विभाजित किया जा सकता है एवं ना ही वंचित किया जा सकता है । साथ ही किसी के सुरक्षा लाभ उठाने की प्रक्रिया का दूसरे के लाभ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । अतः इन सभी विशेषताओं के कारण से सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में बाजार असफल रहता है ।

3.8.3 विनिमेय की प्रकृति एवं बाह्यता – बाजार असफलता में बाजार में होने वाली विनिमेय व्यवस्था की खामियाँ भी उत्तरदायी होती हैं । सूचनाओं का अभाव तथा असमितता के कारण से विनिमेय संबंधी खामियाँ उत्पन्न होती हैं । इन विनिमेय व्यवस्था में होने वाली खामियों तथा विखराव से कीमत तंत्र में सामाजिक लाभ एवं लागत का समावेश समुचित प्रकार से नहीं हो पाता है । इस बहिभार्विता या बाह्यता कहते हैं । वस्तु तथा सेवाओं के उत्पादन से वितरण की प्रक्रिया में बाह्यता उत्पन्न होती है जिससे तीसरे पक्ष को लाभ या हानि प्राप्त होती है । जिसके लिए वह उत्तरदायी नहीं होता है । उदाहरण हेतु इकाई सीमेंट के उत्पादन में कीमत तंत्र पर्यावरण तथा समाज को होने वाले नुकसान का समावेश करने में असफल रहता है । बाह्यता धनात्मक एवं ऋणात्मक दोनों प्रकार की होती है । धनात्मक बाह्यता से समाज के लिए लाभ उत्पन्न होता है जबकि ऋणात्मक बाह्यता से समाज को हानि भुगतनी पड़ती है ।

अतः बाह्यता के प्रभाव के कारण साम्यावस्था इष्टतम् नहीं प्राप्त हो पायेगी जिसके कारण आर्थिक अक्षमता उत्पन्न हो जायेगी । सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन की प्रक्रिया में भी बाह्यताओं का प्रभाव उत्पन्न होता है जिसके कारण बाजार व्यवस्था तथा कीमत तंत्र समुचित तौर पर कार्य नहीं कर पाता है ।

3.9 लोकवित्त की अवधारणा एवं बाजार असफलता

यद्यपि प्रारम्भिक एवं प्रतिष्टित अर्थशास्त्री मुक्त बाजार को प्रत्येक समस्या का निदान मानते आये हैं तथा सरकार के आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप को अनुत्पादक मानते हैं परन्तु कीन्सवादी एवं मुख्यधारा के आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा जो लोकवित्त की नवीन अवधारणा का विकास किया गया है उसके अनुसार सरकार लोकवित्त की नीतियों के माध्यम् बाजार असफलता की व्यवस्था के दुरुस्त कर वांछनीय परिणाम् प्राप्त किये जा सकते हैं । बाजार असफलता की समस्या के कारण सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं का समुचित उत्पादन एवं आबंटन नहीं हो पाता है तथा जिससे परिणाम् सामाजिक दृष्टि से इष्टतम् नहीं होते हैं । अतः लोकवित्त की नवीनतम् अवधारणा के अनुसार सरकार बाजार क्रियाओं में सक्रिय हस्तक्षेप कर बाजार व्यवस्था के परिणामों की इष्टतम् कर सकती है बाजार व्यवस्था को समुचित करने हेतु सरकार निम्न प्रक्रियाओं को अपना सकती है ।

3.9.1 प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप – प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप से तात्पर्य यह है कि सरकार का उत्पादन, विनिमेय वितरण एवं उपभोग आदि गतिविधियों पर सरकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण रहता है । इसका एक उदाहरण भारत में सार्वजनिक उपभोग की आवश्यक वस्तुओं हेतु विशेषकर निर्धन वर्गों के लिए सार्वजनिक वितरण व्यवस्था है जिसमें सरकारी संस्थायें कीमत तथा उपभोग की मात्रा आदि को नियन्त्रित रखते हैं प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप की प्रक्रियायें एवं तरीके निम्न हैं –

- **बल का प्रयोग** – बाजार असफलता की दशा में सरकारें विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था हेतु कानून के प्रयोग द्वारा अनिवार्य अंशदान हेतु लाभार्थियों को बाध्य कर सकती है ।
- **उत्पादन में भागीदारी** – सरकार सार्वजनिक संस्थाओं के माध्यम् से परिवहन रक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सार्वजनिक वस्तु एवं सेवाओं का उत्पादन सुनिश्चित कर सकती है । भारत में नियोजित विकास की प्रक्रिया को तीव्र करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया गया है ।
- **कीमत नियन्त्रण एवं प्रशासित कीमतें** – सरकार उत्पादन एवं बाजार की प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष भागीदारी कर कीमत का निर्धारण कर सकती है ।

जैसे भारत में रेल यातायात, विद्युत, खाद्यान्न, मिट्टी तेल, रसोई गैस आदि की कीमतें जन उपयोग हेतु नियन्त्रित एवं प्रशासित की गयी हैं ।

- **राशनिंग एवं कोटा** – सरकार उत्पादन तथा उपभोग का कोटा निर्धारित कर बाजार असफलता के लिए उत्तरदायी कारकों को नियन्त्रित किया जा सकता है । पर्यावरण मूल्यों की उपेक्षा बाजार असफलता के कारण होने से पर्यावरण प्रदूशण तथा हरित गैस उत्सर्जन हो रहा है । सरकार प्रदूशण में रोकथाम हेतु तथा सार्वजनिक सम्पदा जैसे भूमि जल आदि के उपयोग हेतु कोटा निर्धारित कर सकती है । कार्बन डाई ऑक्साइड का उत्सर्जन रोकने हेतु उत्सर्जन कोटा निर्धारित किया गया है । भारत में आवश्यक खाद्यान्न की वस्तुओं का सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अनुरूप कोटा निर्धारित किया गया है इसी संदर्भ में घरेलु उपयोग हेतु गैस सिलेण्डर का कोटा निर्धारित किया गया है ।
- **लाईसेंस एवं फीस** – लाईसेंस तथा फीस व्यवस्था के माध्यम् सरकार आर्थिक क्रियाओं एवं बाजार व्यवस्था में प्रत्यक्ष तथा प्रभावी हस्तक्षेप कर सकती है । उत्पादन तथा उपभोग की क्रियाओं को नियन्त्रित करने हेतु सरकार फीस व्यवस्था का प्रयोग कर लाईसेंस जारी कर सकती है । भारत में सरकार शराब जैसी हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन को नियन्त्रित करने हेतु लाईसेंस तथा फीस व्यवस्था का प्रयोग करती है ।

3.9.2 अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप एवं नियमन – प्रत्यक्ष हस्तक्षेप की तुलना में अप्रत्यक्ष एवं प्रोत्साहन आधारित प्रयास बाजार व्यवस्था को प्रभावी बनाने हेतु अधिक कारगर होते हैं । कर आधारित प्रेरक नीतियों के प्रयोग के माध्यम् से बाजार असफलता के लिये उत्तरदायी कारकों को दूर कर वांछित परिणाम् को प्राप्त किया जा सकता है । कर आधारित प्रेरक नीतियों में निम्न तरीकों को अपनाया जा सकता है –

- **कर रियायत** – करों में रियायत के माध्यम् से यह प्रेरणा प्रदान की जा सकती है कि आर्थिक इकाईयाँ अपनी क्रियाओं में वांछित सुधार को अपनाकर बाजार व्यवस्था को कारगर बनाने के लिए प्रयास करें, इसके लिए निम्न तरह से कर रियायत प्रदान की जा सकती है –
  - सामाजिक, मेरिट तथा सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की व्यवस्था करने वाली संस्थाओं को कर रियायत प्रदान की जाये ।
  - धनात्मक बाह्यता उत्पन्न कर सामाजिक लाभ को बढ़ाने वाली क्रियायें हेतु उत्तरदायी इकाईयों को कर रियायत प्रदान की जाये ।

- प्रदूषण नियन्त्रित करने वाली इकाईयों को कर रियायत प्रदान की जाये जैसे कार्बन डाई ऑक्साइड के उत्सर्जन में कटौती करने वाली संस्थाओं को कार्बन क्रेडिट प्रदान किया जाता है ।

➢ **करारोपण** – बाजार असफलता हेतु जिम्मेदार निजी व्यक्तियों तथा संस्थाओं की आर्थिक क्रियाओं को हतोत्साहित करने हेतु करारोपण की नीतियों का सहारा निम्न प्रकार से लिया जा सकता है –

- ऋणात्मक बाह्यता उत्पन्न कर सामाजिक हानि को बढ़ाने वाली क्रियाओं को हतोत्साहित करने हेतु कठोर कर लगाया जा सकता है । जैसे प्रदूषण करने वाली इकाईयों पर प्रदूषण के अनुपात में कर आरोपित किया जा सकता है ।
- सार्वजनिक सम्पदा अत्यधिक दोहन एवं निशुल्क सवार समस्या को नियन्त्रित करने हेतु करारोपण किया जा सकता है । जैसे जल के निर्धारित न्यूनतम् सीमा से अधिक उपयोग कर करारोपण करना ।
- सार्वजनिक वस्तुओं जैसे रक्षा आदि की व्यवस्था हेतु सरकार अक्सर सामान्य करोपण का प्रयोग करती है जबकि जैसे विशिष्ट उद्देश्यों की व्यवस्था हेतु सरकार उपकरों एवं विशिष्ट करों का सहारा लेती है।

➢ **निजीकरण** – इनके अन्तर्गत साझा प्राकृतिक संसाधन जैसे कोयला, तेल, वन, मछलियॉ आदि आती हैं। इन संसाधनों की व्यवस्था हेतु सरकारें प्रतियोगी आधार पर निलामी के माध्यम से लाईसेन्स उपलब्ध करा सकती है। सरकार बुनियादी आवश्यक सेवाओं जैसे हाईवे, दूरसंचार आदि के विकास, रखरखाव एवं नियमन हेतु निजी संस्थाओं को प्रोत्साहित कर सकती है । जैसे – निजी संस्थायें टोल टैक्स के माध्यम से हाईवे आदि का प्रबन्धन करती हैं ।

➢ **गारण्टी** – बाजार असफलता की दशा में विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था हेतु योगदान करने वालों धन की सुरक्षा एवं उसकी पुर्नवापसी की गारण्टी प्रदान करती है।

➢ **राज सहायता एवं सरकार समर्थन** – सरकार सार्वजनिक तथा सेवाओं के उत्पादन तथा वितरण में एवं बाजार असफलता के अन्य कारकों को दूर करने हेतु सब्सिडी प्रदान कर सकती है जैसे शिक्षण एवं जन स्वास्थ्य संस्थाओं की स्थापना हेतु सब्सिडी या राज सहायता प्रदान की जाती है ।

बाजार असफलता के कारण से अक्सर अर्थव्यवस्था में वित्तीय संकट की समस्या भी आ जाती है । जिसका प्रभाव बैंकिग, औद्योगिक, बीमा, पूँजी बाजार समेत सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर पड़ता है । अतः इन सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में विश्वास् की बहाली करने हेतु सरकार इन क्षेत्रों हेतु विशिष्ट सहायता एवं संकट निवारण कार्यक्रम (बेल

आउट प्रोग्राम) भी क्रियान्वित करती है । अमेरिका में 2008 में आये वित्तीय संकट तथा बाजार असफलता को दूर करने के उद्देश्य से वहाँ की संघीय सरकार द्वारा व्यापक बेल आउट पैकेज एण्ड प्रोग्राम लागू किये गये हैं ।

कुल मिलाकर सरकार अपनी राजकोषीय एवं बजट नीति के प्रयोग के माध्यम् से कर नीति, व्यय नीति, आदि का उपयोग बाजार व्यवस्था को समुचित बनाकर सामाजिक रूप से वांछनीय परिणाम् प्राप्त करने का प्रयास कर सकती है । चूँकि बाजार असफलता के कारण से सीमांत सामाजिक लाभ एवं सीमांत सामाजिक त्याग में असंतुलन आ जाता है जिसे लोकवित्त की नीतियों के प्रभावी क्रियान्वयन से संतुलित किया जा सकता है ।

3.10 सारांश

लोकवित्त की अवधारणा विकास एक दीर्घकालिक प्रक्रिया रही है इसके विकास में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय कारकों का योगदान रहा है । यद्यपि आरम्भिक चरणों में लोकवित्त की अवधारणा का महत्व एवं क्षेत्र परामपरागत अर्थशास्त्रियों द्वारा सीमित ही रखा गया था परन्तु कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की स्थापना हेतु तथा आधुनिक विकासात्मक आवश्यकताओं को देखते हुए लोकवित्त का महत्व अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में मुखर हो चला है ।

लोकवित्त की अवधारणाओं का सैद्धान्तिक महत्व होने के साथ–साथ व्यवहारिक रूप से भी महत्वपूर्ण है । इन अवधारणाओं के माध्यम् से जिन सिद्धान्तों, नियमों एवं परिकल्पनाओं का विकास हुआ है वह राज्य की बजट तथा राजकोषीय नीतियों के निर्माण तथा क्रियान्वयन हेतु महत्वपूर्ण दिशा निर्देश का कार्य करता है ।

बाजार असफलता के कारण महत्वपूर्ण आर्थिक क्रियाओं तथा उनके वांछित सामाजिक परिणामों की प्राप्ति में बाधा आती है । सार्वजनिक सम्पदा का अतिदोहन पर्यावरण प्रदूषण एवं वित्तीय संकट आदि बाजार असफलता का ही परिणाम् है बाजार असफलता के कारकों को दूर कर सामाजिक कल्याण हेतु आर्थिक संतुलन स्थापित करने में लोकवित्त की नीतियाँ एवं अवधारणायें कारगर हो सकती हैं ।

3.11 शब्दावली

बेल आउट प्रोग्राम – अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्र को आर्थिक तथा वित्तीय संकट से उबारने हेतु एक विशिश्ट कार्यक्रम लागू किया जाता है इसके कर राहत, राजकीय सहायता आदि को शामिल किया जाता है ।

नैतिक खतरा – यह एक ऐसी समस्या है जो कि अक्सर के कारण वित्तीय क्षेत्रों में अधिक देखी जाती है इसके अंतर्गत कोई व्यक्ति या संस्था विभिन्न जोखिमों के प्रति बीमा तथा सरकार से गारंटीकृत होने के कारण अविवेकपूर्ण एवं गैर जिम्मेदार व्यवहार तथा नीतियों को क्रियान्वित करता है ।

पेरेटो इष्ट्तम् – यह सामाजिक कल्याण की वह इष्टतम् दशा है जिसमें किसी एक व्यक्ति का कल्याण में वृद्धि दूसरे व्यक्ति के कल्याण में कमी करने के पश्चात् ही की जा सकती है ।

बाह्यतायें या बहिर्भावितायें – बाह्यतायें या बहिर्भावितायें किसी व्यक्ति या संस्था के कार्यों से तीसरे पक्ष पर पड़ने वाला प्रभाव है जिसका उस गतिविधि से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है ।

समष्टि आर्थिक चर – यह किसी अर्थव्यवस्था की परिपक्वता ज्ञात करने के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण तथा समग्र अर्थव्यवस्था हेतु चर होते हैं । इसके अंतर्गत सकल घरेलु उत्पाद, राष्ट्रीय बचत एवं निवेश दर, राजकोषीय एवं चालू खाते का घाटा आदि प्रमुख है ।

निःशुल्क सवार समस्या – निजी व्यक्ति तथा संस्था का वह व्यवहार है जोकि सार्वजनिक वस्तु तथा सेवाओं के लाभ में हिस्सेदारी चाहता है परन्तु लागत में भागीदारी नहीं करता है ।

द्वैध एकाधिकार – यह बाजार की ऐसी स्थिति होती है जहॉ एक ही क्रेता एवं एक ही विक्रेता होता है ।

घाटे का बजट – ऐसा बजट जिसमें आय से अधिक व्यय होता है तो ऐसा सरकार हेतु घाटे का बजट कहलाता है जिसकी पूर्ति सरकारें बाजार से उधार लेकर एवं नयी मुद्रा को जारी करके पूरा करती हैं ।

उपकर – सामान्य करों के विपरित उपकर किसी विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति हेतु आरोपित किया जाता है ।

3.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) अधिकतम् सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया है ?

(2) अधिकतम कुल कल्याण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया है ?

(3) लोकवित्त की प्रतिष्ठित विचारधारा के अनुसार राज्य का प्रत्यक्ष क्रियाओं में हस्तक्षेप किस प्रकार का सिद्ध होता है ?

(4) अधिकतम् सामाजिक कल्याण हेतु सरकारी बजट के इष्टतम् आकार हेतु सीमांत सामाजिक लाभ तथा सीमांत सामाजिक त्याग में क्या सम्बन्ध होना चाहिए ।

(5) क्रियाशील वित्त की अवधारणा का विकास किसने किया है ?

(6) कर की प्रति अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होने वाली सामाजिक अनुपयोगिता पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(7) आधुनिक लोकवित्त की अवधारणा के अनुसार आर्थिक गतिविधियों में सरकार का हस्तक्षेप आर्थिक तथा सामाजिक आपूर्ति हेतु किस प्रकार का है ?

(8) राज्य की क्रियाओं में वृद्धि की अवधारणा के प्रतिपादक कौन हैं ?

(9) बाजार असफलता की दशा में कीमत तंत्र किस प्रकार से कार्य करता है ?

(10) परेटो इष्टतम् की दृष्टि से बाजार असफलता के परिणाम् किस प्रकार के होते हैं ?

(11) मसग्रेव के अनुसार बजट के अनुकूलतम् होने के लिए, सीमांत उपयोगिता तथा सीमांत अनुपयोगिता के मध्य क्या सम्बन्ध होता है ?

(12) सार्वजनिक वस्तु तथा सेवाओं के उत्पादन तथा वितरण में बाजार सामान्यतया किस प्रकार से कार्य करने की स्थिति में रहता है ?

(13) ''लोकवित्त का सम्बन्ध लोक सत्ताओं के आय तथा व्यय से एवं एक दूसरे के समायोजन से होता है ।'' यह परिभाषा किस अर्थशास्त्री द्वारा दी गयी है ?

(14) प्रेरक कर नीतियों का प्रयोग बाजार में किस अव्यवस्था को दूर करने हेतु किया जाता है ?

(15) राज्य न्यूनतम् व्यय तथा न्यूनतम् कर की अवधारणा के समर्थक कौन से वर्ग के अर्थशास्त्री हैं ?

उत्तरमाला – (1) डाल्टन (2) पीगू (3) अनुत्पादक (4) बराबर होने का (5) लर्नर (6) धनात्मक (7) आवश्यक (8) वेगनर (9) असफलतापूर्वक (10) अवांछनीय (11) न्यूनतम् दूरी (12) असफलतापूर्वक (13) डाल्टन (14) असफलता (15) संस्थापक अर्थशास्त्री ।

3.13 निबन्धात्मक प्रश्न

(1) लोकवित्त की अवधारणा से अभिप्राय को समझाते हुए आधुनिक तथा संस्थापक अवधारणा में अन्तर स्पष्ट कीजिए ?

(2) अधिकतम् सामाजिक कल्याण सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए इसके महत्व पर चर्चा कीजिए ?

(3) अधिकतम् सामाजिक लाभ सिद्धान्त पर मसग्रेव के विचारों की व्याख्या करते हुए इस सिद्धान्त का मूल्यांकन कीजिए ?

(4) बाजार असफलता को परिभाषित करते हुए इसके कारणों एवं परिणामों पर टिप्पणी कीजिए ।

(5) बाजार असफलता के कारणों पर चर्चा करते हुए इसके निवारण हेतु नीतियों का वर्णन कीजिए ।

3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- सिंघई, जी0 सी0, मिश्रा, जे0 पी0, ''अर्थशास्त्र'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स (2012), आगरा ।
- त्यागी, बी0 पी0, ''लोकवित्त'' जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी (2004), मेरठ ।

- Basu Kaushik. *The Oxford companion to Economics in India*, Oxford University press (2007), New Delhi.
- Ahuja, H. L., *Advanced Economics Theory Microeconomic Analysis*, S. Chand & Company Ltd. (2004), New Delhi.

इकाई 4 निजी वस्तु, लोक वस्तु और मेरिट वस्तु एवं सिद्धान्त

इकाई संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 वस्तुओं की प्रकृति एवं निर्धारण सिद्धान्त

4.4 निजी वस्तुओ से अर्थ एवं तात्पर्य

4.5 सार्वजनिक वस्तुओं का अर्थ तथा तात्पर्य एवं सिद्धान्त

4.5 सार्वजनिक एवं निजी वस्तुओं का तुलात्मक अध्ययन

4.6 मेरिट वस्तुओं की अवधारणा

4.7 निजी, सार्वजनिक वस्तुओं तथा मेरिट वस्तुओं में तुलनात्मक अध्ययन

4.8 डिमेरिट या हानिकारक वस्तुओं की अवधारणा

4.10 सारांश

4.11 शब्दावली

4.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

4.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.1 प्रस्तावना

लोक वित्त की अवधारणायें समय एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही हैं । वैश्वीकरण एवं उदारीकरण से उपजी परिस्थितियों ने राज्य की भूमिकाओं को नये सिरे से परिभाषित किया है जिसके फलस्वरूप लोक वित्त अवधारणायें भी प्रभावित हुई हैं । निजी वस्तुओं के विपरीत लोक वस्तु तथा मेरिट वस्तुओं के कीमत निर्धारण तथा आबंटन में बाजार असफल रह जाता है तथा इनका प्रावधान करने हेतु लोक वित्त की नीतियों एवं अवधारणाओं का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान समय में लोक वित्त की अवधारणाओं का महत्व अत्याधिक व्यापक एवं प्रभावशाली हो गया है। पूर्व की इकाई में हम लोक वित्त की अवधारणा तथा बाजार असफलता के सन्दर्भ में व्यापक अध्ययन कर चुकें है।

लोक वित्त की नीतियों का मुख्य उद्देश्य समाज कल्याण में निरन्तर वृद्धि करना है। इसके समाज में बुनियादी आवश्यक वस्तुओं एवं सेवाओं की उपलब्धता एवं जनसाधारण तक उनकी पहुॅच बढाना आवश्यक है। इसके लिये सड़क, विद्युत, पेयजल, साफ–सफाई, शिक्षा, जनस्वास्थ्य आदि सार्वजनिक महत्व के क्षेत्रों का विकास करना आवश्यक है।

सार्वजनिक महत्व के क्षेत्रों का प्रावधान करने में अक्सर बाजार व्यवस्था एवं निजी क्षेत्र असफल रह जाता है। अतः सार्वजनिक एवं लोक महत्व की वस्तुओं एवं सेवाओं के लिये अलग सिद्धान्त तथा नीतियों के प्रावधान करने की आवश्यकता होती है जोकि निजी वस्तुओं हेतु लागू होने वाले सिद्धान्तों से भिन्न होते है। निजी, सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं के संदर्भ में व्यापक अध्ययन वर्तमान इकाई में किया जायेगा।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं –

- सार्वजनिक ,मेरिट एवं निजी वस्तुओं के अर्थ तथा तात्पर्य क्या हैं ?
- निजी वस्तुओं तथा सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं की अवधारणा में क्या अन्तर है ?
- सार्वजनिक, मेरिट एवं निजी वस्तुओं के सन्दर्भ में कौन से सिद्धान्त कार्य करते हैं तथा इनकी क्या विशेषतायें हैं ?
- बाजार तंत्र किस प्रकार से सार्वजनिक, निजी एवं मेरिट वस्तुओं के सन्दर्भ में कार्य करते हैं ?
- निजी, सार्वजनिक एवं उत्कृष्ट वस्तुओं के प्रावधान करने में सरकार किस प्रकार की भूमिका एवं नीतियों बनाती है ?
- सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं का सामाजिक कल्याण तथा राष्ट्र के विकास में किस प्रकार से भूमिका निभाते हैं ?

4.3 वस्तुओं की प्रकृति एवं निर्धारण सिद्धान्त

सामान्यतया पूर्णतया निजी तथा पूर्णतया सार्वजनिक वस्तुयें कम ही होती है। अधिकांश तथा वस्तुओं तथा सेवाओं में सार्वजनिक तथा निजी तत्वों दोनों का मिश्रण होता है। जिन वस्तुओं में सार्वजनिकता के गुण अधिक होते है उन्हें निजी वस्तु कहा जाता है। वास्तव में वस्तुओं की प्रकृति निर्धारित करने में उत्पादन, उपभोग एवं बाजार विनिमेय व्यवस्था के सिद्धान्तों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। जिनका विश्लेषण निम्नवत् हैं –

- **प्रतियोगी तथा गैर प्रतियोगी उपभोग** – यदि किसी वस्तु का प्रयोग एक व्यक्ति द्वारा किये जाने पर अन्य व्यक्तियों के लिये उस वस्तु की उपलब्धता या उपयोगिता में कमी हो जाती है तो उपभोग प्रतियोगी कहलाया जाता है। इसके विपरीत होने पर उपभोग की प्रवृत्ति गैर प्रतियोगी होती है।
- **वर्जन सिद्धान्त एवं उपभोक्ता की पृथकता** – इस सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि सामान्यतया बाजार में क्रय–विक्रय की प्रक्रिया से उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त निहित रहता है जो व्यक्ति वस्तु मूल्य का भुगतान सक्षम एवं तैयार रहता है वहीं वस्तु का उपभोग करता है अन्यथा व्यक्ति उपभोग से वंचित रहता है।
- **प्रकट अधिमान** – बाजार व्यवस्था समान्यतया निलामी अर्थ व्यवस्था पर निर्भर है। प्रत्येक उपभोक्ता द्वारा वस्तु हेतु बोली लगायी जाती है एवं अधिक अधिमान वाले उपभोक्ता अधिक कीमत देने को तत्पर रहते है तथा मॉग का ऑकलन कर उत्पादनक वस्तु का उत्पादन करता है। मॉग तथा आपूर्ति की शक्तियों से कीमत तंत्र निपुणता पूर्वक कार्य करती है।

उपरोक्त सिद्धान्तों के लागू होने से निजी वस्तुओं के लिये बाजार तंत्र पूरी क्षमता के साथ कार्य करता है तथा कीमत तंत्र प्रभावी रहता है। निजी वस्तुओं का उपभोग प्रतियोगी होता है तथा वर्जन एवं उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त लागू होता है वहीं वस्तुयें सार्वजनिक उपभोग में गैर प्रतियोगी होती हैं तथा इन वस्तुओं के सन्दर्भ में उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्जन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। यद्यपि निजी तथा सार्वजनिक वस्तओं की प्रकृति में तकनीकी प्रगति तथा बाजार तंत्र के विकास के साथ परिवर्तन भी आता जाता है। तकनीकी प्रगति ने जहॉ नयी वस्तु तथा सेवायें समाज को प्रदान की हैं वहीं उनका स्वरूप भी परिवर्तित किया है। इसका एक उदाहरण टेलीविजन के चैनलों का प्रसारण है जहॉ सेटटाप बाक्स पर कार्ड लगाकर लाभ का ऑकलन तथा भुगतान को सुनिश्चित किया जा सकता है। तकनीक के माध्यम से रेडियों प्रसारण एवं सूचना प्रसारण सेवाओं का स्वरूप कुछ हद तक बदला जा सकता है।

सार्वजनिक वस्तुओं के सम्बनध में यह भ्रांति है कि यह वस्तुयें सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा ही उत्पादित की जाती हैं। सार्वजनिक वस्तुयें यद्यपि अधिकांशतया सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा ही उत्पादित की जाती है परन्तु यह अनिवार्य नहीं हैं। सार्वजनिक वस्तुयें प्राकृतिक रूप से उपलब्ध हो सकती है तथा निजी इकाईयों एवं गैर राज्यकीय तत्वों द्वारा निर्मित की जा सकती है। सार्वजनिक वस्तुयें को भौगोलिक तथा राजनैतिक सीमाओं के अन्तर्गत नहीं परिभाषित किया जा सकता है। ज्ञान अविष्कार, सूचना, पर्यावरण एवं जलवायु आदि वैश्विक सार्वजनिक वस्तु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

अधिकांश सूचना प्रसारण तथा ज्ञान से सम्बन्धित वस्तुओं में अधिकांश विशेषतायें सार्वजनिक वस्तुओं की होती है। जैसे इंटरनेट सेवा एक गैर प्रतियोगी सेवा है इसी प्रकार सृजनात्मक वस्तु जैसे कविता, कहानी या अन्य अविष्कार भी गैर प्रतियोगी स्वरूप के है। सरकार कापी राईट व पेटेन्ट के माध्यम से गैर प्रतियोगी वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित करती है तथा विधिक तौर पर कुछ समय हेतु एकाधिकार प्रदान कर वर्जन के सिद्धान्त को सुनिश्चित करती है। अधिकांश वस्तुओं में सार्वजनिक तथा निजी वस्तुओं के गुण समाहित रहते है निम्न सारणी के माध्यम् से विभिन्न वस्तुओं की प्रकृति को समझा जा सकता है–

सारणी 4 अ

उपभोग	वर्जनसंम्भव	वर्जन सम्भव नहीं
प्रतियोगी	निजी वस्तु – कार, कपड़ें, रोटी	साझा संसाधन – लकड़ी, कोयला, मत्स्य भंडार
गैर प्रतियोगी	क्लब वस्तु – सिनेमा, पार्क, खेल मैदान, सैटेलाइट टी0 वी0	सार्वजनिक वस्तु – रक्षा, प्रकाश स्तम्भ, निशुल्क टी0 वी0 प्रसारण

उपरोक्त सारणी से वस्तुओं की प्रकृति एवं प्रकारो को भली भॉति समझा जा सकता है। जहॉ पर सार्वजनिक तथा निजी वस्तुयें वर्जन तथा प्रतियोगी सिद्धान्त के अनुसार विपरीत छोरों पर हैं।

साझा संसाधनों जैसे लकड़ी, कोयला, मत्स्य भंडार, तेल, गैस जैसे प्राकृतिक संसाधनों सार्वजनिक वस्तु की तरह सामान्य उपयोग के है तथा इनमें वर्जन सिद्धान्त भी लागू नहीं होता हैं। उदाहरण के तौर पर समुद्र से मछलियों के उत्पादन से किसी को वंचित नहीं किया जा सकता है परन्तु इनका उपयोग प्रतियोगी होता है।

क्लब वस्तुयें भी सार्वजनिक वस्तुओं की भॉति सामान्य हितों की पूर्ति करता है तथा यह गैर प्रतियोगी होती है। परन्तु इनमें वर्जन का सिद्धान्त लागु नहीं होता है। उदाहरण के तौर पर सैटेलाईट टी0 वी0 पर प्रसारण का उपभोग भुगतान के बाद ही उढाया जा सकता है। कानून व्यवस्था, शिक्षा, पुस्तकालय आदि को सामान्यतया सार्वजनिक वस्तु समझा जाता है परन्तु तकनीकी रूप से यह अर्द्ध सार्वजनिक वस्तुयें है जिनमें सार्वजनिक वस्तुओं की काफी गुण है।

4.4 निजी वस्तुओ से अर्थ एवं तात्पर्य

निजी वस्तुओ का तात्पर्य ऐसी वस्तुओ से होता है जिसका उत्पादन तथा उपभोग निजी तौर पर किया जा सके। निजी वस्तुओ की व्यवस्था में बाजार तंत्र निपुणता के साथ कार्य करता हैं। निजी वस्तुओं के उपभोग हेतु मूल्य का भुगतान करना पड़ता है। निजी वस्तुओं की विशेषतायें निम्न हैं –

- निजी वस्तुओ का उपभोग प्रतियोगी होता है तथा एक व्यक्ति द्वारा निजी वस्तु के उपभोग का प्रभाव अन्य व्यक्तियों के लिये उस वस्तु की उपयोगिता तथा उपलब्धता पर इस प्रकार से पड़ता है कि उस वस्तु द्वारा प्रदत्त होने वाले लाभ की मात्रा में कमी आ जाती है। उदाहरण हेतु किसी कालोनी में किसी फ्लैट को किसी व्यक्ति द्वारा क्रय कर लेने से अन्य व्यक्तियो के लिये फ्लैट की उपलब्धता में कमी आ जाती है।
- निजी वस्तुओं के लिये वर्जन एवं उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त लागू होता है। इसके सिद्धान्त के अनुसार वही व्यक्ति निजी वस्तु का उपभोग कर पाते है जिन्होने उस वस्तु के बाजार मूल्य का भुगतान किया हो। भुगतान न कर पाने वाले व्यक्ति निजी वस्तु के उपभोग से वंचित रह जाते है।
- निजी वस्तुओ के उपभोक्ता का अधिमान स्वतः एवं स्वायत रूप से अभिव्यक्त होता है।
- निजी वस्तुयें विभाज्य होती हैं तथा उनके द्वारा उत्पन्न लाभ निजी व्यक्तियों तक ही सीमित रहते है। निजी वस्तुयें केवल उसे क्रय करने वाले उपभोक्ता तक ही सीमित रहती है। कुल मिलाकर निजी वस्तु का उद्देश्य व्यक्तिगत हितों की आपूर्ति तक ही सीमित रहता है।
- निजी वस्तु द्वारा लाभ सामान्यतया आंतरिक होते है एवं उसी व्यक्ति तक सीमित रहते है जोकि निजी वस्तु हेतु भुगतान करता है।
- अधिकांश निजी वस्तुओं की व्यवस्था बाजार तंत्र के माध्यम् से होती है यानि निजी वस्तुओं का आबंटन बाजार व्यवस्था के माध्यम से होता है। बाजार तंत्र तथा कीमत तंत्र निजी वस्तुओं के सन्दर्भ में सामान्यतया निपुणता से कार्य करते हैं। निजी वस्तुओं का सामान्यतया उत्पादन निजी क्षेत्र में होता है परन्तु भारत जैसे विकासशील देशों में जहॉ कि अर्थव्यवस्था

में सार्वजनिक क्षेत्र महत्वपूर्ण भूमिका निभाता आया है निजी वस्तुओं का उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र में भी होता है। यद्यपि उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की प्रक्रिया के तीव्र होने से भारत में भी अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन में बाजार तथा निजी क्षेत्र मुख्य भूमिका निभाने लगे हैं।

- निजी वस्तुओं की मॉग एक दिये गये मूल्य पर मॉग वक्रों के क्षैतिज योग द्वारा प्राप्त होती है यानि कुल बाजार मॉग विभिन्न उपभोक्ताओं की मॉगों का योग होती है। चित्र संख्या '4अ' में तीन उपभोक्ताओं A, B तथा C के मॉग वक्र क्रमशः D_A, D_B तथा D_C एवं OP कीमत पर उनके उपभोग क्रमशः OM, MN एवं NR हैं।

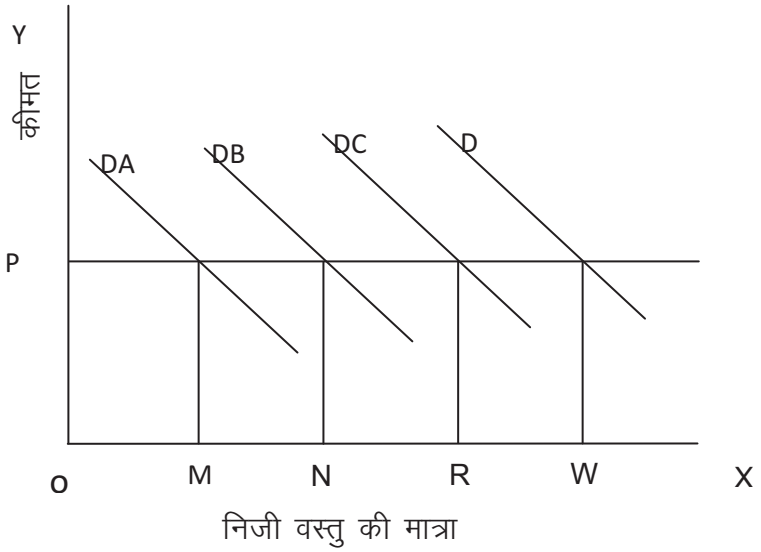

चित्र संख्या– 4 अ

उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि कुल मॉग वक्र तीनों मॉग वक्रों के क्षैतिज योग से प्राप्त हुआ है।

कुल वस्तु की मात्रा = A का उपभोग + B का उपभोग + C का उपभोग

$$OW = OM + MN + NR$$

अतः चित्र '4अ' से स्पष्ट है कि यदि A का उपभोग में वृद्धि होती है तो OW को स्थिर बनाने हेतु दूसरे उपभोक्ताओं के उपभोग में कमी आयेगी। इससे यह प्रमाणित होता है कि निजी वस्तुओं का उपभोग प्रतियोगी होता है।

कुल मिलाकर मुख्यतया निजी वस्तुयें वह होती है जिनका उपभोग प्रतियोगी होता है एवं जिनमें वर्जन का सिद्धान्त लागू हो सकता है।

4.5 सार्वजनिक वस्तुओं का अर्थ तथा तात्पर्य एवं सिद्धान्त

सार्वजनिक वस्तुयें वह होती हैं जिनका उत्पादन करने से वाह्य लाभ तथा बचतों का सृजन होता है तथा इनका उपयोग सामूहिक रूप से किया जाता है। यह वस्तुयें उपभोग में गैर प्रतियोगी होती है तथा इन वस्तुओं के सन्दर्भ में उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्णन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। सार्वजनिक वस्तुओं के उत्पादन का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। सार्वजनिक वस्तुओं का आबंटन सामान्यतया राजकोषीय एवं बजट नीतियों के माध्यम् से किया जाता है।

सैमुल्शन द्वारा सार्वजनिक वस्तुओं की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। उनके द्वारा 1959 में प्रकाशित ''लोक व्यय की अवधारणा के शुद्ध सिद्धान्त'' लेख में सार्वजनिक वस्तुओं की दो प्रमुख विशेषतायें उजागर की गयी, यह विशेषतायें उपयोग में गैर प्रतियोगी एवं गैर वर्जनीय होता है। जहाँ पर यह दोनों विशेषतायें पूर्ण होती हैं ऐसे वस्तु को शुद्ध सार्वजनिक वस्तु कहते हैं। सैमुल्शन द्वारा पुनः सार्वजनिक वस्तुओं को परिभाषित करते हुये इनको ''सामूहिक उपभोग की वस्तु'' के रूप में निर्धारित किया।

सार्वजनिक वस्तुओं के सामान्य उदाहरणों में रक्षा, प्रकाश स्तम्भ, स्ट्रीट लाईटिंग, पुल, पार्क, स्वच्छ वायु, पर्यावरणीय वस्तु एवं सूचना वस्तु आती है। सूचना वस्तु के अन्तर्गत अविष्कार एवं नवप्रर्वतन, तकनीकी विकास, लेखन आदि आते है। सूचना वस्तु से लाभ प्राप्ति हेतु कोई भी भुगतान नहीं देना चाहता है क्योंकि इस पर वर्जन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है तथा इसकी पुनरोत्पादन की लागत लगभग शून्य होती है।

4.5.1 सार्वजनिक वस्तुओं पर आरोपित सिद्धान्त – सार्वजनिक वस्तुओं की परिभाषा निर्धारित करने में मुख्यतया जो सिद्धान्त आरोपित होते है उनका विश्लेषण निम्नवत् है –

- **गैर प्रतियोगी उपभोग** – सार्वजनिक वस्तुओं के निर्धारण में उपभोग का गैर प्रतियोगी होना मुख्य लक्षण है। इसके अनुसार यदि सार्वजनिक वस्तु का उपभोग किसी एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है तो इसका प्रभाव अन्य व्यक्ति के लाभों पर नहीं पड़ता है। उदाहरण के तौर पर सार्वजनिक पुल या पार्क किसी व्यक्ति के जाने न जाने से अन्य व्यक्तियों हेतु पुल या पार्क की सुविधा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
- **उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्जन सिद्धान्त** – बाजार में क्रय विक्रय की प्रक्रिया द्वारा उपभोक्ता को पृथक किया जा सकता है । सार्वजनिक वस्तुओं हेतु उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्जन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। एक व्यक्ति को सार्वजनिक वस्तु की आपूर्ति होते ही इसके लाभ तुरन्त एवं एक साथ समाज के सभी व्याक्तियों पर पहुॅच जाते है। सार्वजनिक वस्तु के लाभों से किसी को वचिंत नहीं किया जा सकता है चाहे उसने उस वस्तु का भुगतान किया या नहीं किया हो। जैसे पर्यावरण एवं प्रदूषण सुधार कार्यक्रमों का लाभ समाज के सभी व्यक्तियों तक अपने आप पहुॅच जाते है तथा किसी को भी इसके लाभों से वंचित नहीं किया जा सकता है।
- **बाह्य बचतों का निर्माण** – सार्वजनिक वस्तुओं के उत्पादन से समाज हेतु बाह्य बचतों का निर्माण होता है। बाह्य बचते समाज हेतु लाभों को उत्पन्न करती हैं। बाह्य बचतों के प्रभाव से सामाजिक लागतो एवं निजी लागतों में अन्तर आ जाता है। इस दशा में सीमांत सामाजिक लागत सीमांत निजी लागत से कम हो जाती है। बाह्य बचतें उत्पादन की प्रक्रिया में धनात्मक बहिर्भाविता के कारण से उत्पन्न होती सामाजिक लागतों को निम्न सूत्र के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है –

  सामाजिक लागत = निजी लागत – बाह्य बचत

बाह्य बचतों का निर्माण जितना अधिक होगा सामाजिक लागत उतनी कम तथा सामजिक लाभ उतना ही अधिक हो जायेगा। बहिर्भाविता के कारण से बाह्य बचतों के प्रभावों के कारण से लागत तथा

लाभ का ऑकलन कीमत तंत्र के माध्यम् से नहीं हो पाता है जिससे बाजार तंत्र सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में हो जाता है।

- **प्रकट अधिमान** – उपभोक्ता की स्वतः अधिमान की अभिव्यक्ति पर बाजार में वस्तु की मॉग एवं कीमत निर्धारित होती है। सार्वजनिक वस्तुओं के सन्दर्भ में यह अधिमान की अभिव्यक्ति स्वतः नहीं होती है यह अभिव्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित की जाती है।
- **अविभाज्य लाभ** – सार्वजनिक वस्तुओं द्वारा उत्पन्न लाभ सार्वजनिक एवं सामूहिक होते है इन लाभों का विभाजन तथा प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में ऑकलन नहीं किया जा सकता है। उदाहरण हेतु समाज में प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा में व्यय का लाभ मिलता हैं परन्तु यह निर्धारित करना असंभव है कि किसी व्यक्ति को सुरक्षा व्यवस्था का आधा लाभ मिले और किसी को तिहाई लाभ मिले। अतः लाभ के अविभाजित होने पर कीमत निर्धारण कर पाना संभव नहीं हो पाता है।
- **निशुल्क सवार समस्या** – सार्वजनिक वस्तुओं के लाभों से किसी भी व्यक्ति को वंचित नहीं किया जा सकता है चाहे वह उसके लाभों के लिये भुगतान करें या न करें। अतः ऐसी दशा में सार्वजनिक वस्तुओ का यह गुण उपभोक्ताओं हेतु सार्वजनिक वस्तुओं के उनमुक्त विदोहन हेतु प्रेरित करता है। यानि प्रत्येक व्यक्ति लाभ में हिस्सेदारी तो उठने हेतु प्रेरित होता है परन्तु इसके लिये वह त्याग में भागीदारी नहीं करता है। उदाहरण के तौर पर पर्यावरण प्रदूषण पर नियन्त्रण से सभी को स्वतः लाभ प्राप्त हो जाते है।

अतः निशुल्क सवार प्रवृत्ति व्यक्ति को प्रेरित करती है कि वह सार्वजनिक वस्तु के लिये भुगतान में हिस्सेदारी न करें। इसी समस्या का परिणाम सार्वजनिक एवं प्राकृतिक संसाधनों के अति दोहन तथा प्रदूषण के रूप में सामने आ रहा है। जैसे भूमिगत जल का लाभ हर व्यक्ति को बगैर इसके संरक्षण में प्रयास किये बिना उपलब्ध है जिसके कारण इसका अति एवं कुदोहन हो रहा है।

- **बाजार असफलता** – सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में कीमत तंत्र निपुणता से कार्य नहीं कर पाता है जिसके कारण बाजार सार्वजनिक वस्तुओं का समुचित तौर पर आंबटन नहीं कर पाता है। बाजार असफलता हेतु सार्वजनिक वस्तुओं की निम्न विशेषतायें उत्तरदायी होती है –
  - ➢ सार्वजनिक वस्तुओं का गैर प्रतियोगी तथा इसके लाभों का अविभाज्य होना।
  - ➢ बहिर्भाविता या बाह्य बचतों के कारण सीमांत सामाजिक लागत एवं सीमांत निजी लागत में अतंर होना।
  - ➢ बाजार में उपभोक्ता के अधिमान की स्वतः अभिव्यक्ति न होना ।
  - ➢ उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्णन के सिद्धान्त के लागू न हो पाने की दशा में यह होता है कि जो व्यक्ति सार्वजनिक वस्तु हेतु भुगतान नहीं करता है उसे उस वस्तु के लाभ से वंचित नहीं किया जा सकता है।
- **लम्बीय योग द्वारा सामूहिक मॉग वक्र का निर्धारण** – सार्वजनिक वस्तु उपभोग एवं लाभ हेतु प्रत्येक व्यक्ति के लिये समान रूप से उपलब्ध रहती है। अतः यदि दो उपभोक्ता A तथा B किसी सार्वजनिक वस्तु का उपभोग करते है तो

सार्वजनिक वस्तु की मात्रा = A का उपभोग = B का उपभोग

चित्र संख्या 4ब में A तथा B उपभोक्ता हेतु सार्वजनिक वस्तुओं के मॉग वक्र क्रमशः D_ad_a एवं D_bd_b हैं। दोनों उपभोक्ता के मांग वक्र उनके सीमांत लाभ वक्र के माध्यम से निर्धारित किये गये है। दोनों उपभोक्ता सार्वजनिक वस्तु से प्राप्त सीमांत लाभ के अनुरूप भुगतान करना चाहते है।

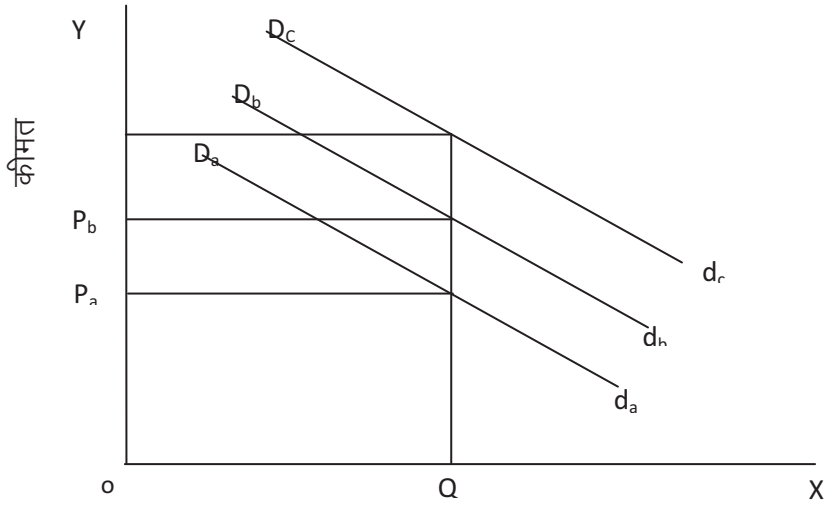

चित्र संख्या– 4ब

उपरोक्त चित्र में जहॉ OQ मात्रा हेतु A द्वारा OP_a का भुगतान किया जाता है व B द्वारा OP_b का भुगतान किया जाता है। यानि कुल OQ मात्रा हेतु दोनों के द्वारा $OP = OP_a + OP_b$, का भुगतान किया जाता है जिसे दोनों के लम्बीय अथवा उर्ध्वाधर योग द्वारा ज्ञात किया गया है।

4.5.2 सार्वजनिक वस्तुओं की विशेषतायें – सार्वजनिक वस्तुओं हेतु उपरोक्त वर्णित नियम तथा सिद्धान्तों से सार्वजनिक वस्तुओं की निम्न विशेषतायें उभरकर सामने आती है–

- सार्वजनिक वस्तुओं का प्रयोग गैर प्रतियोगी होता है।
- सार्वजनिक वस्तुओं पर वर्णन एवं उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त लागु नहीं होता है।
- सार्वजनिक वस्तुओं के अधिमानों की अभिव्यक्ति स्वतः न होकर समाज द्वारा निर्धारित की जाती है।
- सार्वजनिक वस्तुओं का उपभोग एवं लाभ हेतु समाज में सभी के लिये समान मात्रा में उपलब्ध रहती है।
- सार्वजनिक वस्तुओं का उपभोग सामूहिक तौर पर किया जाता है तथा वस्तुओं की आपूर्ति से सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति होती है।
- सार्वजनिक वस्तुओ द्वारा वाह्य बचतों के माध्यम् से समाज हेतु लाभ निर्मित होते है। सार्वजनिक वस्तुओं द्वारा उत्पन्न लाभ अविभाज्य होते है।
- सार्वजनिक वस्तुओं के सम्बन्ध में बाजार व्यवस्था तथा कीमत तंत्र असफल रहते है।
- सार्वजनिक वस्तुओं की मॉग विभन्न व्यक्तिगत उपभोक्ताओं की मॉगों के लम्बीय या उर्ध्वाधर योग से प्राप्त होती है।

- सार्वजनिक वस्तुओं के लिये सीमांत सामाजिक लागत तथा सीमांत निजी लागत के मध्य अतंर आ जाता है।
- सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में निशुल्क सवार समस्या के आत्मसात् होने के कारण बाजार एवं किसी तंत्र के माध्यम से सार्वजनिक वस्तुओं का उत्पादन परेटो इष्टतम् के अनुकूल नहीं होगा।
- सार्वजनिक वस्तुओं का आबंटन एवं व्यवस्था में सामान्यतया बाजार व्यवस्था असफल रहती है अतः इनकी व्यवस्था राजकोषीय एवं बजटीय नीतियों के माध्यम से की जाती है।

4.5.3 सार्वजनिक या सामाजिक वस्तुओं की व्यवस्था – सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था से तात्पर्य सार्वजनिक वस्तुओं का उत्पादन या सेवायें प्रदान करने से नहीं है अपितु इन वस्तुओं की चयन प्रक्रिया एवं भुगतान व्यवस्था से है। जहॉ तक चयन प्रक्रिया का प्रश्न है इससे तात्पर्य यह है कि किन–किन सार्वजनिक वस्तुओं को और कितनी मात्रा में समाज को उपलब्ध करायी जायें। उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति में सार्वजनिक वस्तुओं के सम्बन्ध में बाजार तंत्र असफल रहता है। अतः सार्वजनिक वस्तुओं के सन्दर्भ में आबंटनात्मक कार्य राजकोषीय एवं बजट नीतियों के माध्यम से किया जाता है। कुल मिलाकर सार्वजनिक वस्तुओं के आबंटन के सम्बन्ध में राजकोषीय नीति का यह उद्देश्य होता है कि सार्वजनिक संसाधनों को विभिन्न सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था में किस प्रकार से आबंटित किया जाये जिससे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके एवं समाज की कार्य कुशलता में वृद्धि हो सके। सरकार इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु विभिन्न मदों जैसे सुरक्षा, प्रशासन, कानून–व्यवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा, परिवहन आदि मदों पर बजट के माध्यम से धन का आबंटन करती है।

सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था तथा आबंटनात्मक पहलू ना सिर्फ जटिल है अपितु अत्याधिक महत्व का है। भारत जैसे विकासशील एवं आय की असमानता वाले देश में इसकी जटिलता तथा चुनौती दोनों ही बढ़ जाते है। सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था तथा आबंटन हेतु प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप भी करती है अर्थात सरकार का उत्पादन, विनिमेय वितरण एवं उपभोग आदि गतिविधियों पर सरकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण रहता है । इसका एक उदाहरण भारत में सार्वजनिक उपभोग की आवश्यक वस्तुओं हेतु विशेषकर निर्धन वर्गों के लिए सार्वजनिक वितरण व्यवस्था है जिसमें सरकारी संस्थायें कीमत तथा उपभोग की मात्रा आदि को नियन्त्रित रखते हैं। सरकार राजकोषीय नीति में सार्वजनिक वस्तुओं के आंबटन एवं व्यवस्था के लिये अप्रत्यक्ष तौर–तरीकों जैसे सब्सिडी, विशिष्ट कर, उपकर, फीस, लाईसेन्स आदि पर आधारित रणनीति को अपनाती है। यह समस्त् रणनीति सार्वजनिक वस्तुओं की प्रकृति एवं महत्व पर निर्भर करता है। अतः सार्वजनिक वस्तुओं के आंबटन एवं व्यवस्था के लिये निम्न रणनीतियों को अपनाया जा सकता है–

- **बल का प्रयोग** – बाजार असफलता की दशा में सरकारें विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था हेतु कानून के प्रयोग द्वारा अनिवार्य अंशदान हेतु लाभार्थियों को बाध्य कर सकती है ।
- **उत्पादन में भागीदारी** – सरकार सार्वजनिक संस्थाओं के माध्यम् से शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सार्वजनिक वस्तु एवं सेवाओं का उत्पादन सुनिश्चित कर सकती है । भारत में नियोजित विकास की प्रक्रिया को तीव्र करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया गया है ।
- **सामान्य करारोपण** – जिन वस्तुओं का प्रयोग पूर्णतया गैर प्रतियोगी है तथा जिन वस्तुओं के लिये उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्जन का सिद्धान्त लागु नहीं होता है। ऐसी दशा में सरकार सामान्य करों द्वारा इन वस्तुओं पर होने वाले व्यय की पूर्ति कर सकती हैं। इन करों में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों कर

आते है यहॉ पर उल्लेखनीय है कि कर एक प्रकार के अनिवार्य भुगतान है जिसके एवज में करदाता को कोई भी प्रत्यक्ष लाभ नहीं प्राप्त होता है। लेकिन इन करों से प्राप्त धन को राज्य समाज कल्याण हेतु प्रयोग करता है। इस प्रकार की सार्वजनिक वस्तुओं के अन्तर्गत रक्षा व्यवस्था आती है।

- **लाईसेन्स फीस एवं विशिष्ट कर** – जिन वस्तुओं का प्रयोग गैर प्रतियोगी है परन्तु जहॉ पर उपभोक्ताओं को स्पष्ट रूप से निर्धारित किया जा सकता है वहॉ पर सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था एवं उन पर होने वाले व्यय के एवज सरकार लाईसेन्स फीस एवं विशिष्ट करों का प्रावधान कर सकती है। जैसे – वाहनो पर पथकर, पार्क में प्रवेश शुल्क, वाहनों पर सड़क कर, जलकर, भवन कर आदि।
- **कोटा, प्रशासित कीमतें एवं सब्सिडी** – जिन वस्तुओं का प्रयोग गैर प्रतियोगी होता है परन्तु उनमें उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त लागु होता है ऐसी वस्तुओं की व्यवस्था सार्वजनिक कल्याण को देखते हुये सरकार आंशिक कीमत या आंशिक शुल्क वसूल करती है। भारत जैसे विकाशील देश में निर्धन वर्ग के कल्याण हेतु सरकार बहुत सी बाजार में उपलब्ध निजी वस्तुओं को सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अनुसार वितरित करती है जहॉ पर सरकार कोटा कीमत दोनों पर नियन्त्रण रखती है। कोटा निर्धारित कर सरकार आवश्यक वस्तु जैसे मिट्टी के तेल हेतु गैर प्रतियोगी स्वरूप निर्धारित करती है एवं सब्सिडीकृत कीमतों पर जन साधारण को वितरित करती है।
- **निजीकरण** – ऐसी सार्वजनिक उपयोग की वस्तुयें जोकि प्रतियोगी तो होती है परन्तु जिनके लाभ से जन सामान्य को वंचित नहीं किया जा सकता है यानि जो सार्वजनिक वस्तुओं की भाँति समाज हेतु समान रूप से उपयोगी होती है इनके अन्तर्गत साझा प्राकृतिक संसाधन जैसे कोयला, तेल, वन, मछलियॉ आदि आती हैं। इन संसाधनों की व्यवस्था हेतु सरकारें प्रतियोगी आधार पर निलामी के माध्यम से लाईसेन्स उपलब्ध करा सकती है। लाईसेन्स फीस सामान्यतया सरकार को उन अवस्थाओं में प्राप्त होती है जबकि सरकारी अधिकारी स्वंय कोई कार्य या सेवा न करके अन्य व्यक्ति को उस कार्य को करने का अधिकार प्रदान करता है। लाईसेन्स प्रक्रिया के माध्यम् से सरकार का जन कल्याण तथा पर्यावरणीय हितो को ध्यान में रखकर ऐसे क्षेत्रों का नियमन कर सकती है।
- **शुल्क / फीस**– सार्वजनिक हित की वर्जनीय सेवायें व वस्तुयें जो कि सार्वजनिक एवं सामान्य हित की होती है परन्तु जिनके लाभ से भुगतान न करने वालों को वंचित रखा जा सकता है यानि जिन वस्तु तथा सेवाओं में उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त लागु होता है। ऐसी वस्तु तथा सेवाओं की व्यवस्था हेतु सरकार फीस की वसूली कर सकती है। फीस उस भुगतान को कहते हैं जो सरकार द्वारा सार्वजनिक हित में प्रदान की जाने वाली प्रत्येक आवर्ती सेवा की लागत को अदा करने के लिये दिया जाता है।
- **कीमत, किराया एवं क्रास सब्सिडी** – ऐसी वस्तुयें जोकि निजी वस्तुओं के समान प्रतियोगी होती है तथा जिनमें उपभोक्ता की पृथकता का सिद्धान्त भी लागु होता है परन्तु जिनके सार्वजनिक महत्व तथा आर्थिक विकास में योगदान को देखते हुये उनका प्रावधान सरकार द्वारा किया जाता है। उदाहरण हेतु भारत में रेल परिवहन को सरकार जनहित में रेल मंत्रालय के माध्यम से नियमन करता है। आम जनता हेतु रेल परिवहन को सस्ते मूल्य पर सुनिश्चित करने के लिये रेल मंत्रालय ऊँचें माल भाड़े तथा उच्च वर्ग पर मंहगें किराये के माध्यम से रेल यातायात व्यवस्था को सुनिश्चित करता है। इसी प्रकार सरकार सार्वजनिक महत्व की जन उपयोगी वस्तुओं को निर्धन तथा कमजोर वर्गो के

लिये बाजार मूल्य से कम पर उपलब्ध कराती है। इसके लिये सरकार द्वारा सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के माध्यम से सरकार प्रत्येक निर्धन व्यक्ति को आवश्यक वस्तुयें जैसे खाद्यान्न आदि सस्ते मूल्यों एवं निश्चित मात्रा में उपलब्ध कराती है।

- **गारण्टी** – बाजार असफलता की दशा में विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था हेतु योगदान करने वालों धन की सुरक्षा एवं उसकी पुर्नवापसी की गारण्टी प्रदान करती है। जिससे से सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था में योगदान करने वाले आश्वस्त हो जाते हैं।
- **कोसानियन समाद्यान**– रोनाल्ड कोसा ने सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था एवं भुगतान हेतु एक समाद्यान प्रस्तुत किया जो कि कोसानियन समाद्यान के नाम से जाना जाता है। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं से लाभ प्राप्त करने वाले समस्त लाभार्थी सार्वजनिक वस्तुओं व्यवस्था एवं भुगतान हेतु एक साझा संसाद्यनों का एक पूल तैयार करते हैं। जिससे सार्वजनिक वस्तुओं की विनिमेय लागत कम हो जाती है। जैसे हाउसिंग सोसाईटी के सदस्य सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की व्यवस्था एवं भुगतान हेतु साझा प्रावद्यान करते हैं।
- **प्रशुल्क एवं किराया**– शुल्क फीस के माध्यम से सार्वजनिक वस्तु की व्यवस्था वहॉ सहज होती है जहॉ वह भुगतान कर्ता को मापनीय लाभ पहुॅचाती है। वास्तव में फीस का भूगतान सरकार की ओर से की जाने वाली किसी व्यापारिक सेवा के लिये नहीं, वरन सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली प्रशासनिक एवं न्यायिक सेवाओं हेतु किया जाता है। इन सेवाओं के लिये सरकार शुल्क के साथ–साथ अर्थ दंड का भी प्रावधान कर सकती है। तकनीकी प्रगति के कारण टेलीविजन प्रसारण, मोबाईल फोन सेवा, इंटरनेट सेवा आदि ऐसी सार्वजनिक उपयोग की सेवायें है जिन पर उपयोग एवं लाभ के अनुसार प्रशुल्क एवं किराया वसूल किया जा सकता है। उदाहरण के लिये टेलीविजन पर सेट टाप बाक्स एवं डिकोडर के माध्यम से किसी चैनल भुगतान प्राप्त कर लेते हैं।

4.6 सार्वजनिक एवं निजी वस्तुओं का तुलनात्मक अध्ययन

सैमुल्शन द्वारा सार्वजनिक वस्तुओं की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। उनके द्वारा 1959 में प्रकाशित ''लोक व्यय की अवधारणा के शुद्ध सिद्धान्त'' लेख में सार्वजनिक वस्तुओं की दो प्रमुख विशेषतायें उजागर की गयी, यह विशेषतायें उपयोग में गैर प्रतियोगी एवं गैर वर्जनीय होता है। जहाँ पर यह दोनों विशेषतायें पूर्ण होती हैं ऐसे वस्तु को शुद्ध सार्वजनिक वस्तु कहते हैं। सैमुल्शन द्वारा पुनः सार्वजनिक वस्तुओं को परिभाषित करते हुये इनको ''सामूहिक उपभोग की वस्तु'' के रूप में निर्धारित किया।

सार्वजनिक वस्तुओं के विपरीत विशेषताओं वाली वस्तु को निजी वस्तु के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। निजी वस्तुयें उपभोग में प्रतियोगी होती है तथा इनके ऊपर वर्जन का सिद्धान्त लागु होता है। वास्तव में पूर्णतया निजी या सार्वजनिक वस्तुयें कम ही होती हैं। अधिकांश वस्तुओं में दोनो के गुणों का समावेश होता है।

4.6.1 निजी एवं सार्वजनिक वस्तुओं में समानता – यद्यपि निजी वस्तुओं की प्रकृति, विशेषतायें एवं उनके ऊपर आरोपित होने वाले सिद्धान्त लगभग विपरीत होते है। परन्तु दोनों वस्तुओं में कुछ समानतायें होती हैं जो कि निम्नवत् है –

- **मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि** – सार्वजनिक एवं निजी वस्तु दोनों का उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं संतुष्टि का प्रयास करना है। यद्यपि दोनो में यह अन्तर है कि सार्वजनिक वस्तु सामूहिक तथा निजी वस्तु निजी रूप से संतुष्टि का प्रयास करती है।

- **अधिकतम संतुष्टि का प्रयास** – दोनों वस्तु के उपभोग से अधिकतम संतुष्टि का प्रयास किया जाता है। यद्यपि सार्वजनिक वस्तु से जहॉ सामाजिक संतुष्टि को अधिकतम किया जाता है। वहीं निजी वस्तु से व्यक्तिगत संतुष्टि को अधिकतम करने का प्रयास किया जाता है।
- **राष्ट्रीय आय एवं राष्ट्रीय उत्पादन में योगदान** – निजी तथा सार्वजनिक वस्तुओं के उत्पादन एवं उपभोग से रोजगार निवेश तथा कल्याण में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होती है।

4.6.2 निजी एवं सार्वजनिक वस्तुओं में अन्तर – सार्वजनिक तथा निजी वस्तुओं में निम्न प्रमुख अन्तर हैं –

- **गैर प्रतियोगी उपभोग** – सार्वजनिक वस्तु का उपभोग गैर प्रतियोगी तथा निजी वस्तु का प्रतियोगी उपभोग होता है। सार्वजनिक वस्तु के किसी व्यक्ति द्वारा उपभोग से अन्य व्यक्तियों के लाभ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है जबकि निजी वस्तु के उपभोग से अन्य उपभोक्ताओं हेतु उपलब्ध वस्तु की मात्रा पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
- **उपभोक्ता की पृथकता एवं वर्जन सिद्धान्त** – सार्वजनिक वस्तु के लाभ से किसी को भी वंचित नहीं किया जा सकता है चाहे उपभोक्ता ने भुगतान किया या ना किया हो। उदाहरण हेतु रक्षा, प्रकाश स्तम्भ, स्ट्रीट लाईटिंग, शुद्ध वायु निवारण कार्यक्रम आदि के लाभ से वंचित किसी को भी नहीं किया जा सकता हैं। वहीं किसी वस्तु के सम्बन्ध में वर्जन के सिद्धान्त लागु होने के कारण भुगतान कर पाने की स्थिति में उपभोक्ता उपभोग से वंचित हो जाता है।
- **सामुहिक उपभोग** – सार्वजनिक वस्तुओं का उपभोग सामूहिक तौर पर किया जाता है जबकि निजी वस्तुओं का उपभोग निजी तौर पर किया जाता है।
- **अधिमान की अभिव्यक्ति** – निजी वस्तुओं के बारे में उपभोक्ताओं के अधिमान स्वतः ही बाजार में अभिव्यवन्त हो जाते है। जबकि सार्वजनिक वस्तुओं के अधिमानों की अभिव्यक्ति स्वतः नहीं होती है।
- **सार्वजनिक उद्देश्य** – सार्वजनिक वस्तुओं के उद्देश्य सार्वजनिक एवं सामाजिक कल्याण तथा उपभोग की पूर्ति करना है। जबकि निजी वस्तुओं के उद्देश्य निजी कल्याण की पूर्ति तक सीमित है।
- **लाभों का मापन** – निजी वस्तुओं के उपभोग से प्रत्येक व्यक्ति को कितना लाभ हुआ है इसका ऑकलन तथा मापन संभव हैं। वहीं सार्वजनिक वस्तु के उपभोग से प्राप्त लाभों का मापन तथा ऑकलन करना है। इसका कारण यह भी है कि निजी वस्तुओं द्वारा प्राप्त लाभों को विभाजित किया जा सकता है परन्तु सार्वजनिक वस्तुओं के सम्बन्ध में यह लाभों को विभाजित नहीं किया जा सकता है। उदाहरण हेतु रक्षा व्यय से प्रत्येक व्यक्ति को कितना लाभ मिलता है इसका ऑकलन कर पाना संभव नहीं है।
- **बाह्य बचत एवं लाभों का निर्माण** – निजी वस्तुओं के उपभोग तथा उत्पादन से आन्तरिक लाभों का ही निर्माण होता है। जबकि वाह्य बचतों का निर्माण करती हैं जिनसे समाज के लिये सामूहिक तौर पर ऐसे लाभ पैदा होते जिनके लिये समाज को भुगतान नहीं करना पड़ता है।
- **बाजार असफलता** – सार्वजनिक वस्तुओं के मूल्य निर्धारण तथा उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में बाजार तंत्र असफल रहता है। क्योंकि सार्वजनिक वस्तु गैर प्रतियोगी एवं गैर वर्जनीय होती है

तथा इनके लाभों से किसी को वंचित किया जा सकता है। निजी वस्तुओं के सम्बन्ध में कीमत एवं बाजार तंत्र निपुणता तथा पूरी क्षमता के साथ कार्य करता है।

- **निशुल्क सवार समस्या** – यह एक महत्वपूर्ण अवधारणा है जोकि सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था से जुड़ी हुयी है। सार्वजनिक वस्तुओं के लाभों से उनको वंचित नहीं किया जा सकता है जो कि इसके लिये भुगतान नहीं कहते हैं। अतः इससे सार्वजनिक वस्तुओं के लाभ में हर कोई हिस्सेदारी चाहता है परन्तु इसके लागत में भागीदारी नहीं करना चाहता है। वहीं दूसरी ओर बाजार व्यवस्था के कारगर तौर पर कार्य करने से सामान्य रूप से निशुल्क सवार समस्या निजी वस्तुओं की व्यवस्था में सामने नहीं आती है।
- **मॉग वक्र की अवधारणा** – निजी वस्तुओं की कुल मॉग दिये गये मूल्य पर क्षैतिज योग के द्वारा प्राप्त होती है जबकि सार्वजनिक वस्तुओं की मॉग विभिन्न उपभोक्ताओं द्वारा मॉगी गयी मात्राओं के लम्बीय योग द्वारा प्राप्त होती है।
- **वस्तुओं की व्यवस्था** – सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था अधिकांश रूप से राजकोषीय एवं बजट नीतियों के माध्यम से की जाती है। वहीं निजी वस्तुओं की व्यवस्था हेतु बाजार तंत्र कारगर तरह से कार्य करता है।

4.7 मेरिट वस्तुओं की अवधारणा

मेरिट वस्तुओं को उत्क्रष्ट या गुण वस्तु भी कहा जाता है। मेरिट वस्तुओं अवधारणा का विकास मसर्गेव द्वारा किया गया है। मसर्गेव के अनुसार मेरिट वस्तु का निर्धारण भुगतान के आधार पर न करके आवश्यकता के आधार पर किया जाता हैं। मेरिट वस्तुओं में ऐसी वस्तुओं को शामिल किया जाता है जिनके उपभोग से समाज की क्षमता, कार्यकुशलता एवं समाज की आधार भूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मेरिट वस्तुओं के अन्तर्गत शिक्षा व स्वास्थ हेतु दी जाने वाली सहायता, स्कूलों में भोजन की व्यवस्था, खाद्यन्न तथा पोषण हेतु सहायता, रोजगार आदि शामिल किये जाते है।

मेरिट वस्तु की व्यवस्था सरकार द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु की जाती है कि यदि इन सुविधाओं को पूर्णतः निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया जाये तो समाज में अनेक व्यक्ति अपनी क्षमता में आभाव के कारण इन आवश्यक सुविधाओं से वंचित रह जायेगें। मेरिट वस्तुओं की आपूर्ति समुचित न होने से समाज पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। मेरिट वस्तयें प्रतियोगी हो भी सकती हैं और नहीं भी पड़ सकता है। मेरिट वस्तु प्रतियोगी हो भी सकती हैं और नहीं भी परन्तु इनमें वर्णन का सिद्धान्त लागू होता है। मेरिट वस्तुओं के अन्तर्गत उन वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रावधान सरकार करती है जिनके बारे में सरकार यह अवधारणा बनाती है कि उनका उपभोग अपेक्षित रूप से नहीं किया जा रहा है तथा समाज के हित इन वस्तु तथा सेवाओं का उपभोग बढाने हेतु इन्हें राजकीय सहायता प्रदान किये जाने की आवश्यकता है।

मसग्रेव के अनुसार मेरिट वस्तुयें ऐसी वस्तुयें है जिनकी व्यवस्था सार्वजनिक वस्तु के रूप में की जाती है। परन्तु इनकी व्यवस्था करते समय उपभोक्ताओं के अधिमान को ध्यान में नहीं रखा जाता है। मेरिट वस्तुओं में सार्वजनिक वस्तुओं के समान कुछ गुण तो होते है पर इनमें वर्जन का सिद्धान्त भी लागू होता है।

4.7.1 मेरिट वस्तुओं की आधारभूत अवधारणायें – मेंरिट वस्तुओं की महत्पूर्ण अवधारणाओं के विकास में मसग्रेव का मुख्य योगदान है। मेरिट वस्तुओं की महत्वपूर्ण अवधारणायें निम्न हैं–

- **वाह्यताओं का निर्माण** – मेरिट वस्तुओं का जब उपभोग किया जाता है तो वह धनात्मक वाह्यताओं का निर्माण करती है जिनसे समाज हेतु वाह्य लाभों का निर्माण होता है जिन लाभों के एवज में उपभोक्ताओं को कोई भी भुगतान नहीं करना होता है।
- **आरोपित अधिमान** – मेरिट वस्तुओं की पूर्ति उपभोक्तओं के अधिमान में हस्तक्षेप पर आधारित होती है। इन वस्तुओं की व्यवस्था करते समय उपभोक्ताओं के अधिमान को ध्यान में लिया नहीं जाता है एवं सरकार इनका अधिमान आरोपित करती है। जैसे वाहन के दुर्घटना बीमा हेतु सरकार द्वारा नियम उपभोक्ताओं पर लगाना।
- **लागत–लाभ में अन्तर** – वाह्यताओं के कारण मेरिट वस्तुओं के सामाजिक लाभ निजी लाभों से अधिक हो जाते है। यानि सीमांत सामाजिक लागत इन वस्तुओं की सीमांत निजी लागत से कम हो जाती है।
- **अपूर्ण सूचना एवं दूरदृष्टि कोण का आभाव** – व्यक्तिगत उपभोक्ता अपने तात्कालिक हितों की आपूर्ति पर अधिक जोर देता है एवं दीर्घ कालिक एवं व्यापक हितों की पूर्ति में वह दूर दृष्टिकोण एवं बेहतर तथा पूर्ण सूचना के आभाव में उपभोक्ता मेरिट वस्तुओं का समुचित उपभोग नहीं कर पाता है।
- **निजी क्षेत्र एवं बाजार व्यवस्था का सफल न होना** – मेरिट वस्तओं को सिर्फ निजी क्षेत्र एवं बाजार व्यवस्था के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता है। उपभोक्ताओं द्वारा इन वस्तुओं के प्रति अधिमान व्यक्त न कर पाने तथा क्रय करने की क्षमता एवं योग्यता के आभाव में इन आवश्यक वस्तुओं के उपभोग से वंचित रहने की संभावना रह जाती है।
- **बजट द्वारा प्रावधान** – सरकार समाज के विशिष्ट वर्गो के कल्याण में वृद्धि करने के लिये इन वस्तुओं का उपभोग बढाने तथा समुचित कीमतों पर प्रत्येक उपभोक्ता को उपलब्ध कराने के लिये मेरिट वस्तुओं का बजट द्वारा प्रावधान करती है। मेरिट वस्तुओं की व्यवस्था के सन्दर्भ में यह हमेशा आवश्यक नहीं है कि इन वस्तुओं की आपूर्ति सार्वजनिक व्यवस्था के अनुसार ही करायी जाये परन्तु यह अवश्य है कि इन वस्तुओं की आपूर्ति को सार्वजनिक व्यवस्था पूरक या बढावा दिया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में यह भी महत्वपूर्ण है कि मेरिट वस्तुओं की आपूर्ति सामान्य रियायती आधार पर अथवा आर्थिक उपादन (सहायता) के आधार पर की जाती है।
- **विशिष्ट वर्गों हेतु आपूर्ति** – मेरिट वस्तुओं में एक गुण यह पाया जाता है कि इनकी आपूर्ति सार्वजनिक वस्तुओं की भॉति समस्त समाज हेतु न करते हुये समाज के एक विशेष वर्गो हेतु की जाती है। जैसे महिलाओं के स्वास्थ्य हेतु राजकीय सहायता या निर्धन वर्गो के लिये खाद्यन्न कूपन का वितरण करना आदि प्रमुख हैं।

4.7.2 सरकारी हस्तक्षेप – मेरिट वस्तुओं की आपूर्ति सामान्यतया सरकार द्वारा बजटीय प्रावधानों के अनुसार की जाती है। सरकार द्वारा इनकी बजट से आपूर्ति तथा उपभोक्ताओं पर अधिमान आरोपित करने के लिये निम्न प्रमुख कारण हैं –

- इन वस्तुओं के उपभोग में वृद्धि करना जिससे समाज हेतु धनात्मक वाह्यताओं एवं बचतों का निर्माण किया जा सकें जैसे बच्चों का सार्वजनिक टीकाकरण से संक्रामक बीमारियों से समस्त बच्चों की सुरक्षा हो सकें।
- उपभोक्ताओं के दूरदृष्टि कोण एवं सूचना के आभावों तथा अपूर्णता को दूर करने के लिये।
- समता के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु जिससे इन वस्तुओं का उपभोग मात्र भुगतान की योग्यता तथा क्षमता पर आधारित न रह जायें।

- बाजार तंत्र तथा निजी क्षेत्र के द्वारा इन वस्तुओं की आपूर्ति हेतु संवेदनशील एवं पूर्ण रूप से सक्षम न हो पाना।

कल्याण कारी राज्य की अवधारणा अनुसार सरकार के सामाजिक राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इन वस्तओं की आपूर्ति सरकार बजट के माध्यम से करती है। मेरिट वस्तु का एक बेहतर उदाहरण शिक्षा पर व्यय है। यह एक दीर्घ कालिक प्रकृति का होता है तथा समाज के वर्तमान एवं भविष्य हेतु यह लाभों का निर्माण करता है। इसकी आपूर्ति यदि बाजार एवं निजी क्षेत्रों के माध्यम से समतापूर्वक नहीं की जा सकती है तथा बहुत बड़े वर्ग तथा निर्धन प्रतिभागी बालकों का शिक्षा से वंचित रह जाने की सम्भावना बनी रह सकती है। समाज के निर्धन तथा रह जाने की सम्भावना बनी रह सकती है। समाज के निर्धन तथा कमजोर तबका शिक्षा को प्राथमिकता ज्ञान सूचना एवं दृष्टि कोण के आभाव बजट के माध्यम से करती है। मेरिट वस्तुओं की व्यवस्था हेतु सरकार आंशिक अंशदान, विशिष्ट कर, उपकर एवं राज सहायता (सब्सिडी) का प्रावधान कर सकती है। यह सरकार प्रत्यक्ष सब्सिडी या अप्रत्यक्ष सब्सिडी के माध्यम से कर सकती है।

4.8 निजी, सार्वजनिक वस्तुओं तथा मेरिट वस्तुओं में तुलनात्मक अध्ययन

इन वस्तुओं के मध्य तुलनात्मक अध्ययन इन वस्तुओं के उद्देश्यों, प्रकृति, प्रावधानों को ध्यान में रखते हुये किया जा सकता है ।

4.8.1 निजी तथा मेरिट वस्तुओं में समानता – निजी तथा मेरिट वस्तुओं में निम्न समानता उभर कर सामने आती हैं –

- **उद्देश्यों में समानता** – मेरिट तथा निजी वस्तुओं दोनों का उद्देश्य उपभोक्ताओं की अधिकतम संतुष्टि को प्राप्त करना है।
- **राष्ट्रीय आय में वृद्धि** – मेरिट तथा निजी वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग से समाज में आय, निवेश तथा उत्पादन में वृद्धि होती है।
- **वर्जन सिद्धान्त** – मेरिट तथा निजी वस्तुओं में अधिकांश रूप से वर्जन का सिद्धान्त आरोपित होता है। अतः इन वस्तुओं के लाभ प्राप्ति हेतु भुगतान की योग्यता रखना आवश्यक है।
- **प्रतियोगी उपभोग** – जहॉ तक निजी वस्तु का प्रश्न है इनका उपभोग हमेशा से प्रतियोगी होता है। परन्तु मेरिट वस्तुओं का उपभोग निजी वस्तुओं की तुलना में कम प्रतियोगी होता है या एक सीमा के पश्चात ही प्रतियोगी होता है।

4.8.2 निजी तथा मेरिट वस्तुओं में अन्तर – मेरिट तथा निजी वस्तुओं मे के प्रावधानों, उद्देश्यों, प्रकृति में निम्न महत्वपूर्ण अंतर उभर कर सामने आते हैं–

- **अधिमान की प्रकृति** – निजी वस्तओं में जहॉ अधिमान स्वतः ही अभिव्यक्त हो जाता है। मेरिट वस्तुओं का अधिमान उपभोक्ताओं पर सरकार द्वारा आरोपित किया जाता है। इन वस्तुओं की आपूर्ति उपभोक्ताओं के अधिमान में हस्तक्षेप करके की जाती है।
- **बाह्यताओं का निर्माण** – मेरिट वस्तुओं के द्वारा समाज के लिये धनात्मक बाह्यताओं के निर्माण से बाह्य बचत एवं लाभ पैदा होते हैं। जिन्हें सभी के द्वारा समान रूप से उपभोग किया जाता है। निजी वस्तुओं के लाभ आन्तरिक एवं व्यक्ति विशेष तक सीमित रहते है।
- **लाभ–लागतों में अन्तर** – निजी वस्तुओं के लिये सामाजिक एवं निजी लाभ एवं लागतों में कोई भी अन्तर नहीं होता है। वहीं मेरिट वस्तुओं के लिये सीमांत सामाजिक लागतों की मात्रा सीमांत निजी लागतों से कम होने पर सामाजिक लाभों की मात्रा निजी लाभों से अधिक होती है।

- **वस्तुओं की व्यवस्था** – निजी वस्तुओं की सामान्यतया व्यवस्था बाजार तथा निजी क्षेत्र द्वारा की जाती है। वहीं मेरिट वस्तुओं की व्यवस्था समाज के हितों को देखते हुये सामान्यतया सरकार द्वारा की जाती है।
- **अवसर लागत** – निजी वस्तओं की तुलना में मेरिट वस्तुओं की अवसर लागत सामान्यतया ऊँची होती है।
- **दीर्घकालिक दृष्टिकोण** – मेरिट वस्तुओं से समाज की वर्तमान एवं भविष्य के लाभों की पूर्ति होती है। समाज तथा राष्ट्र के बेहतर भविष्य निर्माण तथा भावी आर्थिक सामाजिक विकास को गति देने के उद्देश्य से मेरिट वस्तुओं की आपूर्ति की जाती है। निजी वस्तुयें दूसरी ओर तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित होती है।
- **उद्देश्य** – मेरिट वस्तुओं से समाज के सामान्य हितो की पूर्ति के साथ समता, कल्याण एवं समाज की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। निजी वस्तुयें द्वारा निजी संतुष्टि एवं व्यक्तिगत हितों की आपूर्ति होती है।
- **बाजार एवं निजी क्षेत्र** – मेरिट वस्तुओं का प्रावधान बाजार एवं निजी क्षेत्र समता तथा सामाजिक कल्याण के अनुरूप समुचित तौर पर नहीं कर पाता हैं। यदि मेरिट वस्तुओं को पूर्णतः निजी क्षेत्र तथा बाजार के हवाले करें तो भुगतान की योग्यता न रखने वाले इन वस्तुओं के उपभोग से वंचित रह जायेंगे या आपेक्षित मात्रा में उपभोग नहीं कर पायेगें।

मेरिट वस्तु तथा निजी वस्तु के मध्य यह तुलनात्मक अंतर चित्र संख्या 4स से स्पष्ट हो जाता है। जहॉ MPB वक्र मेरिट वस्तु उपभोग से प्राप्त निजी सीमांत लाभ है तथा MSB मेरिट वस्तु के उपभोग से प्राप्त सीमांत सामाजिक लाभ है। SS' आपूर्ति वक्र है जो कि सीमांत सामाजिक लागत (MSC) द्वारा निर्धारित हो रहा है। यदि यह वस्तु निजी वस्तु होगी तो बाजार द्वारा OP कीमत OQ सम्भव होगा।

मेरिट वस्तु हेतु सामाजिक रूप से वांछनीय समाधान उस बिन्दु पर होगा। जहॉ पर MSC = MSB की शर्त सन्तुष्ट होगी। अतः सामाजिक रूप से वांछनीय उत्पादन OQ_1 होगा। मेरिट वस्तु का उत्पादन बाजार तंत्र को सौपने पर उत्पादन की मात्रा सामाजिक वांछनीयता के स्तर से गिर कर OQ आ जायेगी जिसके लिये उपभोक्ता से अधिकतम सम्भावित कीमत OP_2 वसूली जा सकती है। ऐसी दशा में कल्याण में अधिकतम सम्भावित हानि ABC त्रिभुज के अनुरूप होगी। अतः वस्तु के मेरिट वस्तु के उपभोग को प्रोत्साहित करने के लिये सरकार बजट के माध्यम् से सहायता प्रदान करती है जिससे उपभोक्ताओं के कल्याण में वृद्धि होती है।

4.8.3 मेरिट वस्तुओं तथा सार्वजनिक वस्तुओं में समनता – मेरिट तथा सार्वजनिक वस्तुओं में निम्न महत्वपूर्ण समनता हैं –

- **उद्देश्य** – सार्वजनिक तथा मेरिट वस्तुओं से सामाजिक एवं सामान्य आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। दोनो की आपूर्ति तथा उत्पादन का उद्देश्य सामाजिक कल्याण से जुड़ा हुआ है। यानि सामाजिक कल्याण को अधिकतम करना दोनों वस्तुओं का उद्देश्य है।
- **बाह्यता एवं बचत** – सार्वजनिक तथा मेरिट वस्तुयें से बाह्य बचतों का निर्माण होता है। यह वस्तुयें समाज के लिये इस प्रकार से लाभों को उत्पन्न करती है कि समाज को इसके लिये भुगतान नहीं करना पड़ता है।
- **निजी क्षेत्र एवं व्यवस्था** – सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं की व्यवस्था में सामान्यतया बाजार तंत्र एवं निजी क्षेत्र समुचित तौर पर योगदान नहीं कर पाते है। जहॉ सार्वजनिक वस्तुओं के लिये बाजार तंत्र

असफल रहता है। वहीं मेरिट वस्तुओं का बाजार तंत्र तथा निजी क्षेत्र द्वारा आधी–अधूरी आपूर्ति की जाती है जिससे उपभोक्ताओं के कल्याण में हानि होती है।

- **सरकारी हस्तक्षेप** – सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं की आपूर्ति सामान्यतया सरकार द्वारा बजटीय प्रावधानों के अनुसार की जाती है। जैसे रक्षा (सार्वजनिक वस्तु) एवं शिक्षा (मेरिट वस्तु) का प्रावधान सरकार बजट के माध्यम से ही करती है।

4.8.4 मेरिट वस्तुओं तथा सार्वजनिक वस्तुओं में असमानता – सामान्यतया मेरिट तथा सार्वजनिक वस्तुओं में अक्सर समनता की स्थिति का भ्रम होता है। ऐसा इसलिये होता है कि मेरिट वस्तुयें जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य सार्वजनिक हितों से सम्बन्धित होते है तथा मेरिट वस्तुओं का प्रावधान सार्वजनिक वस्तुओं की तरह बाजार पर आधारित न होकर सरकार द्वारा किया जाता है। सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं में असमानता को निम्न मानकों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है–

- **गैर प्रतियोगी उपभोग** – सार्वजनिक वस्तुओं के उपभोग एक व्यक्ति द्वारा किये जाने पर अन्य व्यक्तियों के लाभों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यानि सार्वजनिक वस्तुओं के उपभोग गैर प्रतियोगी होते है। वहीं मेरिट वस्तुओं का उपभोग सार्वजनिक वस्तुओं की तुलना में प्रतियोगी होता है या एक सीमा के बाद प्रतियोगी हो जाता है।
- **अधिमान** – मेरिट वस्तुओं के अधिमान समाज पर सरकार द्वारा आरोपित किये जाते है। जबकि सार्वजनिक वस्तुओं के सन्दर्भ में अधिमान की अभिव्यक्ति सामूहिक तौर पर होती है।
- **वस्तु व्यवस्था का उद्देश्य** – मेरिट वस्तुओं में एक विशिष्ट गुण यह होता है कि इनकी व्यवस्था समाज के एक वर्ग विशेष के लिये की जाती है। जबकि सार्वजनिक वस्तुओं की विशेषता समस्त समाज हेतु की जाती है।
- **वस्तुओं की प्रकृति** – मेरिट वस्तुओं में सार्वजनिक तथा निजी वस्तुओं दोनों की प्रकृति मिली जुली हो सकती है। जबकि शुद्ध सार्वजनिक वस्तुओं में अपनी मौलिक प्रकृति होती है।
- **व्यय व्यवस्था** – सार्वजनिक वस्तुओं पर व्यय हेतु सामान्यतया सरकारे सामान्य करों का सहारा लेती है। वहीं मेरिट वस्तुओं की व्यवस्था हेतु सरकार आंशिक अंशदान, विशिष्ट कर एवं राज सहायता (सब्सिडी) का प्रावधान कर सकती है। यह सरकार प्रत्यक्ष सब्सिडी या अप्रत्यक्ष सब्सिडी के माध्यम से कर सकती है।

4.9 डिमेरिट या हानिकारक वस्तुयें

मेरिट वस्तुओं की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करने के लिये डिमेरिट या हानिकारक वस्तुओं का विश्लेषण आवश्यक होता है। डिमेंरिट वस्तुयें की प्रकृति तथा अवधारणायें मेरिट वस्तुओं के विपरीत होती है। डिमेरिट वस्तुओं में उन वस्तुओं को शामिल किया जाता है। जो कि सामाजिक रूप से हानिकारक एवं आवांछनीय होती है तथा जो बाजार तंत्र द्वारा अत्याधिक एवं अति मात्रा में उत्पादित की जाती है। इन वस्तुओं के अन्तर्गत सिगरेट, तम्बाकू, गुटखा, शराब, ड्रग्स, अश्लील सिनेमा आदि को शामिल किया जा सकता है। डिमेरिट वस्तुओं की मुख्य विशेषतायें निम्नवत् हैं –

- **बहिर्भाविता एवं बाह्य हानि** – डिमेरिट वस्तुओं के द्वारा ऋणात्मक बहिर्भाविता एवं बाह्य हानि समाज हेतु निर्मित होती है। यानि इन वस्तुओं से प्रत्यक्ष तौर पर सेवन करने वाले उपभोक्ता के

साथ–साथ अन्य व्यक्तियों को भी नुकसान उढाना पड़ता है चाहे वह इनके लिये उत्तरदायी हो या न हो। जैसे सिगरेट के धुयें से पीने वाले के साथ–साथ अन्य को भी नुकसान उठाना पड़ता है।

- **हानि–लागत में अंतर** – डिमेरिट वस्तुओं के सम्बन्ध में सीमांत सामाजिक लागत की मात्रा सीमांत निजी लागत से अधिक होती है। ऋणात्मक बाह्यताओं के कारण सामजिक हानि की मात्रा निजी लागत से अधिक होती है। ऋणात्मक वाह्यताओं के कारण से समाज को ऐसी हानि वहन करनी पड़ती है जिसके लिये समाज उत्तरदायी नहीं होता है। वहीं निजी लागत में इस हानि का समावेश बाजार तंत्र नहीं कर पाता है। जिसके कारण से सामाजिक हानि की दशायें उत्पन्न करने वाले को अपने कृत्य सुधार करने की प्रेरणा नहीं मिल पाती है। जैसे औद्योगिक इकाईयों उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान किये गये पर्यावरण प्रदूषण की हानि समाज को भुगतनी पड़ती है एवं जिम्मेदार औद्योगिक इकाई को बाजार तंत्र इस हानि का समावेश अपनी निजी लागत में समावेशित करने हेतु बाध्य नहीं कर पाता है।
- **सामाजिक एवं निजी लाभ में अन्तर** – ऋणात्मक बाह्यताओं के कारण से सीमांत निजी लाभ की मात्रा सीमांत सामाजिक लाभ से अधिक हो जाती है। जिसके कारण सामाजिक कल्याण की हानि होती है।
- **अतिउत्पादन** – चूँकि हानिकारक वस्तुओं द्वारा निजी लाभ अधिक तथा सामाजिक लाभ कम होते है एवं निजी लागतों में हानियों का समावेश नहीं होता है। इसलिये बाजार ऐसी वस्तओं का अति उत्पादन का प्रेरित होता है। चित्र संख्या 4द में हानिकारक वस्तु द्वारा उत्पन्न सीमांत सामाजिक लाभ को MSB वक्र तथा सीमांत निजी लाभ को MPB वक्र द्वारा निरूपित किया गया है।

आपूर्ति वक्र SS' को सीमांत सामाजिक लागत द्वारा निर्धारित किया गया है। अधिकतम सामाजिक कल्याण हेतु जहॉ पर MSC = MSB के होगा यानि OQ सामाजिक रूप से वांछनीय उत्पादन हैं। परन्तु बाजार उत्पादन उस बिन्दु पर करेगा जहॉ पर MSC = MPB के हो जायेगा। अतः बाजार द्वारा संम्भावित उत्पादन OQ_1 अति उत्पादन होगा तथा त्रिभुज ABC हानिकारक वस्तु के उपभोग से सामाजिक कल्याण को होने वाली अधिकतम संभावित हानि होगी।

- **सरकार द्वारा नियमन** – डिमेरिट वस्तुओं के उत्पादन को नियन्त्रित करने हेतु तथा समाज में इन वस्तुओं के उपभोग को हतोत्साहित करने हेतु सरकार निम्न रणनीति का प्रयोग करती है –
  - ➢ इन वस्तुओं के उत्पादन एवं प्रयोग हेतु सीमित पैमाने पर लाईसेन्स जारी कर सकती है।
  - ➢ इन वस्तुओं पर ऊँचें कर लगाकर इनका प्रयोग को हतोत्साहित कर सकती है।
  - ➢ हानिकारक वस्तुओं के प्रयोग को विशिष्ट वर्ग हेतु वर्जित कर सकती है।
  - ➢ हानिकारक वस्तुओं के अनावश्यक उत्पादन एवं प्रयोग पर आर्थिक दंड का प्रावघान कर सकती है।
  - ➢ हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग को कानूनन वर्जित कर सकती है।

4.10 सारांश

लोक वित्त की अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों के विकास में सदैव से ही सारी बहस राज्य तथा बाजार की भूमिकाओं के ही मध्य होती आयी है। निजी, सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं की प्रकृति, उद्देश्य तथा इनकी व्यवस्था में अंतर सरकार एवं बाजार की ही भूमिकाओं के माध्यम से निर्धारित होते है।

आर्थिक एवं तकनीकी विकास से जहॉ एक ओर सामाजिक एवं निजी आवश्यकताओं में परिवर्तन हुआ है वहीं दूसरी ओर इन वस्तुओं की प्रकृति तथा महत्व में भी सापेक्षिक अन्तर आया है। तकनीकी विकास, वैश्वीकरण तथा उदारीकरण की प्रक्रिया ने बाजार की भूमिका को आज प्रभावी बना दिया है। ऐसे समय में भी सार्वजनिक एवं मेरिट वस्तुओं का महत्व और बढ़ गया है। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि सार्वजनिक वस्तुओं से तात्पर्य सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा उत्पादित वस्तु नहीं है अपितु ऐसी वस्तु जो गैर प्रतियोगी, गैर वर्जनीय तथा सार्वजनिक एवं सामाजिक हितों की पूर्ति करने वाली है।

निजी, मेरिट तथा सार्वजनिक वस्तुओं के सन्दर्भ में अवधारणाओं, सिद्धान्तो तथा विशेषताओं के अध्ययन से निष्कर्ष तथा सामाजिक कल्याण की पूर्ति हेतु इन तीनों प्रकार की वस्तुओं की भूमिका अति महत्वपूर्ण है। सार्वजनिक वस्तुओं तथा मेरिट वस्तुओं की व्यवस्था तथा आबंटनात्मक पहलू ना सिर्फ जटिल है अपितु अत्याधिक महत्व का है। भारत जैसे विकासशील एवं आय की असमानता वाले देश में इसकी जटिलता तथा चुनौती दोनों ही बढ़ जाते हैं। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु कारगर बजटीय नीति की आवश्यकता है।

4.11 शब्दावली

लाईसेन्स प्रणाली – अर्थ व्यवस्था में विभिन्न प्रकार की आर्थिक गतिविधियों के नियमन तथा नियन्त्रण हेतु इस प्रणाली को अपनाया जाता है। जैसे भारत में औद्योगिक गतिविधियों के नियमन हेतु औद्योगिक लाईसेन्स की प्रणाली को अपनाया गया है।

विशेष कर निर्धारण – विशेष कर निर्धारण एक ऐसा अनिवार्य अंशदान है जो प्राप्त होने वाले विशेष लाभ के अनुपात में लगाया जाता है।

क्रास सब्सिडी सहायता – एक ही सेवा या वस्तु को सरकार निर्धन वर्गो के कल्याण या निजी विशिष्ट उद्देश्य के तौर पर सस्ते में उपलब्ध कराती है। यह प्रावधान सरकार अन्य उपभोक्ताओं को उसी वस्तु को अधिक कीमत पर उपलब्ध कराती है।

आरोपित अधिमान – जब सरकार उपभोक्ताओं को ऊपर विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किसी वस्तु विशेष का उपभोग में वृद्धि करने हेतु अधिमान को थोपकर आरोपित करती है तो उसे आरोपित अधिमान कहा जाता है।

अवसर लागत – किसी सीमित एवं अनेक वैकल्पिक प्रयोग में आने वाले साधन की अवसर लागत वह उत्पादन या लाभ का त्याग है जो किसी विशेष प्रयोजन की बजाय दूसरे श्रेष्ठतम् वैकल्पिक प्रयोग द्वारा प्राप्त हो सकता है।

प्रत्यक्ष सब्सिडी – सरकार द्वारा जब उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं को सीधे बजट के माध्यम से सहायता प्रदान करती है तो उसे प्रत्यक्ष सब्सिडी के अन्तर्गत शामिल किया जाता है।

अप्रत्यक्ष सब्सिडी – जब सरकार उपभाक्ताओं तथा उत्पादकों को सहायता बजट के माध्यम से सीधे तौर पर न करके अन्य माध्यमों से जारी करती है तो ऐसी सहायता अप्रत्यक्ष सब्सिडी के अन्तर्गत आती है।

आर्थिक कल्याण – आर्थिक कल्याण सामान्य कल्याण का वह भाग है। जिसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुडा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।

सामाजिक कल्याण – वस्तु तथा सेवाओं के उपभोग से मनुष्य को संतुष्टि प्राप्ति होती जिस पर मनुष्य का कल्याण आधारित होता है। अतः समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों की संतुष्टि के योग को सामाजिक

कल्याण कहते है। पेरेटो के अनुसार सामाजिक कल्याण तब होता है जबकि सामाजिक कल्याण में वृद्धि इस प्रकार से होती हो कि समाज के किसी भी व्यक्ति के कल्याण में कमी न हो।

4.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सार्वजनिक वस्तु की अवधारण किस अर्थशास्त्री द्वारा प्रतिपादित की गयी है?
2. मेरिट वस्तुओं की अवधारणा किस अर्थशास्त्री द्वारा प्रतिपादित की गयी है?
3. किसी उपभोक्ता द्वारा सार्वजनिक वस्तु के उपभोग करने पर दूसरे उपभोक्ता के लाभ पर जब कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता हो तो सार्वजनिक वस्तु की ऐसी विशेषता को क्या कहा जाता है?
4. सार्वजनिक वस्तु के लाभों से किसी भी व्यक्ति को वंचित नहीं किया जा सकता है। सार्वजनिक वस्तु की यह विशेषता किस सिद्धान्त का परिणाम होती है?
5. मेरिट वस्तुयें का अधिमान किसके द्वारा उपभोक्ताओं पर आरोपित होता है?
6. रक्षा एवं गली का प्रकाश किस प्रकार की वस्तुओं का उदाहरण है?
7. शिक्षा किस प्रकार की वस्तुओं का उदाहरण है?
8. यदि मेरिट वस्तुओं को बाजार तथा निजी क्षेत्र के माध्यम से उत्पादित तथा वितरित किया जाये तो उपभोक्ताओं के उपभोग पर क्या प्रभाव पड़ेगा?
9. बाजार व्यवस्था सार्वजनिक वस्तुओं के आबंटन किस प्रकार से कार्य करती है?
10. डिमेरिट वस्तुओं का बाजार द्वारा किस मात्रा में उत्पादन किया जाता है?
11. सामाजिक लागतों का स्तर सार्वजनिक वस्तुओं के सन्दर्भ निजी लागतों की तुलना में किस स्तर पर होती है?
12. निजी वस्तुओं के अधिमान की अभिव्यक्ति बाजार में किस प्रकार से होती है?
13. निजी वस्तुओं की दो प्रमुख विशेषतायें कौन सी है?
14. सार्वजनिक वस्तुओं का मॉग वक्र व्यक्तिगत उपभोक्ताओं के मॉग वक्रों द्वारा किस प्रकार से निर्धारित होता है?
15. सरकार किन वस्तुओं का उपभोग समाज में वृद्धि करने हेतु सहायता प्रदान करती है?

उत्तरमाला – 1. सैमुल्शन 2. मसग्रेव 3. गैर प्रतियोगी उपभोग
4. उपभोग में गैर वर्जनीय 5. सरकार 6. सार्वजनिक वस्तु
7. मेरिट वस्तु 8. नकारात्मक 9. असफलता से
10. अति मात्राओं में 11. कम स्तर पर 12. स्वतः
13. उपभोग प्रतियोगी एवं वर्जनीय होना 14. लम्बीय योग से 15. मेरिट वस्तुओं

4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. निजी वस्तुओं तथा सार्वजनिक वस्तुओं की मुख्य विशेषतायें समझाते हुये दोनों वस्तुओं में अंतरों को स्पष्ट कीजियें?
2. सार्वजनिक वस्तुओं के उदाहरण प्रस्तुत करते हुये इन वस्तु की व्यवस्था पर चर्चा कीजियें?
3. मेरिट वस्तुओं की अवधारणा स्पष्ट करते हुये इनके महत्व पर टिप्पणी कीजियें?
4. सार्वजनिक वस्तुओं तथा मेरिट वस्तुओं में तुलनात्मक विवेचना कीजियें?
5. मेरिट वस्तुओं के प्रावधान करने के लिये सरकारी हस्तक्षेप का औचित्य एवं सार्थकता स्पष्ट कीजियें?

4.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- सिंघई, जी0 सी0, मिश्रा, जे0 पी0, ''अर्थशास्त्र'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स (2012), आगरा ।
- त्यागी, बी0 पी0, ''लोकवित्त'' जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी (2004), मेरठ ।
- Basu Kaushik. *The Oxford companion to Economics in India*, Oxford University press (2007), New Delhi.
- Ahuja, H. L., *Advanced Economics Theory Microeconomic Analysis*, S. Chand & Company Ltd. (2004), New Delhi.

इकाई 5 लोक व्यय उद्देश्य – आवंटन, वितरण और स्थिरीकरण

इकाई संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 लोक व्यय उद्देश्य

5.3.1 लोक व्यय के आवंटन सम्बन्धी उद्देश्य

5.3.2 लोक व्यय के वितरण उद्देश्य

5.4 लोक व्यय द्वारा स्थिरीकरण का उद्देश्य

5.5 लोक व्यय के उद्देश्यनिर्धारण की समस्या

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.10 सहायक ग्रंथ सूची

5.11 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

खण्ड दो लोक व्यय की यह पॉचवी इकाई है जो लोक व्यय के उद्देश्यों को स्पष्ट करती है जिसमें लोक व्यय के आवंटन, वितरण तथा स्थिरीकरण सम्बन्धी उद्देश्यों को शामिल किया गया है।

लोक व्यय के आवंटन उद्देश्यों से हमारा तात्पर्य लोक व्यय की विभिन्न मदों पर व्यय की जाने वाली राशि से है जिसके द्वारा व्यक्तिगत कल्याण के स्थान पर सामाजिक कल्याण को अधिकतम किये जाने का प्रयास किया जाता है। जबकि वितरण के अन्तर्गत लोक व्यय से प्राप्त कल्याण के केन्द्रीयकरण के स्थान पर कल्याण के विकेन्द्रीकरण के द्वारा असमानताओं को कम करने का लक्ष्य तय किया जाता है। विकसित तथा विकासशील देशों के सामने आर्थिक स्थिरीकरण की समस्या समय – समय पर उपस्थित होती रही है जिसके समाधान के लिए लोक व्यय को एक उपकरण के रूप में अपनाया जाता रहा है। लोक व्यय के द्वारा अर्थव्यवस्था को एक विकासात्मक मार्ग पर चलने के लिए पयास किये जाते हैं। अतः लोक व्यय के द्वारा आर्थिक विकास की दोनों ही अवस्थाओं को नियंत्रित करने के कार्य का लक्ष्य निर्धारित किया जाता है।

प्रस्तुत इकाई में लोक व्यय के उद्देश्यों का अध्ययन अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के सम्बन्ध में करेंगे लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति पूर्णरूप से की जा सके। उद्देश्यों के निर्धारण एवं उद्देश्यों की प्राप्ति में अन्तर अर्थव्यवस्था की प्रकृति तथा लोक सत्ताओं के निर्णयों पर निर्भर करता है।

5.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई लोक व्यय के उददेश्य, आवंटन, वितरण और स्थिरीकरण के अन्तर्गत आप भली भांति समझ सकेंगे कि–

1. लोक व्यय के उद्देश्यों का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है तथा ये उद्देश्यों किन तत्वों द्वारा प्रभावित होते है?

2. लोक व्यय के द्वारा आवंटन सम्बन्धी उद्देश्यों की क्या स्थिति है?

3. लोक व्यय के द्वारा अर्थव्यवस्था में सामाजिक कल्याण के विकेन्द्रीकरण के द्वारा वितरण को किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?

4. आर्थिक स्थिरीकरण को प्राप्त करने में लोक व्यय की क्या भूमिका होती है?

5. आप समझ सकेंगे कि लोक व्यय के उद्देश्यों का निर्धारण करते समय कौन कौन सी समस्याऐं सामने आती है जिससे लोक व्यय का उद्देश्य किस प्रकार परिवर्तित होता है?

5.3 लोक व्यय के उद्देश्य

किसी भी देश की सरकार जिस उद्देश्य को ध्यान में रखकर लोक व्यय करती है वह उददेश्य उस उददेश्य से सदैव अलग पाया जाता है जिसे लेकर निजी व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा व्यय किया जाता है। आपको शायद इस तथ्य से ज्ञात हो कि लोक सत्ताओं के व्यय तथा निजी व्यक्तियों के व्यय के उद्देश्य के मध्य एक उभयनिपर तत्व 'कल्याण' विद्यमान पाया जाता है लेकिन लोक व्यय के उद्देश्य की वात करें तो इस कल्याण का आकार एवं प्रकृति बदल जाती है। लोक व्यय के समक्ष सदैव लोक कल्याण का उद्देश्य रखा जाता है।

यदि हम स्मिथ के अनुसार राज्य के तीन कार्यो पर प्रकाश डालें तो क्रमशः बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा, आन्तरिक कानून व व्यवस्था तथा कुछ सार्वजनिक कार्यों को शामिल किया गया है। उक्त यह तीनों कार्य लोक वित्त के व्यय द्वारा ही किया जाना आवश्यक बताया गया। इन तीनों कार्यों के मध्य सामूहिक कल्याण के उददेश्य की भावना निहित है जो स्वतंत्र अर्थव्यवस्था एवं निजी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत बिना लोक व्यय के प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं होता है। प्रो0 जे0एस0 मिल ने लोक व्यय की सीमा में आवश्यक सुरक्षा, कानून व्यवस्था, वित्तीय व्यवस्था, सिक्के की व्यवस्था, मापतौल व्यवस्था, सड़क, प्रकाश, बन्दरगाह तथा बांध आदि को शामिल किया जिसके पीछे भी सामूहिक या लोक कल्याण के उददेश्य को रखा गया है। वर्तमान में भी व्यक्तिगत कल्याण के केन्द्रीयकरण को रोकने तथा कल्याण के वंचित वितरण को बचाये रखने के लिए लोक व्यय के उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं।

लोक व्यय राजकीय वित्त का एक महत्वपूर्ण भाग है इसके साथ वर्तमान में विकसित देशों के साथ विकासशील तथा पिछड़े देशों में सार्वजनिक वित्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया है। देशों की राजकोषीय नीति में लोक व्यय सबसे अधिक प्रभावशाली उपकरण के रूप में अपनाया जा रहा है अर्थशास्त्र में जो स्थान उपभोग द्वारा स्थापित किया गया है वहीं लोक व्यय सार्वजनिक वित्त में अपनी अलग भूमिका बनाये हुए है। किसी भी देश की राजकोषीय नीति के उद्देश्यों को देखा जाए तो लोक आगम, लोक व्यय, लोक ऋण तथा राजकोषीय नियन्त्रण का अपना अलग–अलग महत्वपूर्ण स्थान है। आपको यहां पर यह ध्यान देना होगा कि लोक सत्ताओं द्वारा व्यय की मदों का निर्धारण पूर्व में किया जाता है तत्पश्चात् उन मदों पर होने वाले लोक व्यय की राशि का अनुमान लगाया जाता है। इन मदों के निर्धारण एवं लोक व्यय की राशि का अनुमान लगाने का उद्देश्य अलग– अलग देशों की लोक सत्ताओं द्वारा अपने शासन नीति एवं अर्थव्यवस्था की प्रक्रति के आधार पर तय किया जाता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये लोक व्यय की पूर्ति करने तथा लोक व्यय की सार्थकता को बनाये रखने के लिये राजकोषीय नीति के अन्य उपकरणों यथा लोक आगम, लोक ऋण, वित्तीय प्रशासन को प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि लोक व्यय का उद्देश्य राजकोषीय नीति के उद्देश्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लोक कल्याणकारी लोक सत्ताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि ये लोक सत्ताये उन मदों पर व्यय करें जिन मदों पर व्यय करने के लिये निजी व्यक्ति समर्थ नहीं है। सामूहिक शिक्षा व स्वास्थ्य, आवास, सड़क परिवाहन आदि पर निजी व्यक्ति द्वारा व्यय किया जाना सम्भब नहीं है। इसी लिये इस प्रकार की महत्वपूर्ण योजनाओं का निर्माण एवं उनका संचालन लोक सत्ताओं द्वारा किया जा सकता है। लोक व्यय के द्वारा उन आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है जो व्यक्तिगत रूप से पूरी नहीं की जा सकती है।

वर्तमान में लोक सत्ताओं के बढ़ते कार्यों एवं दायित्वों को देखते हुए लोक व्यय के उद्देश्यों को दो आधार पर भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथमतः लोक व्यय का उद्देश्य राज्य की आर्थिक क्रियाओं का कुशल संचालन है ताकि लोक सत्ताओं द्वारा एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सके

। वर्तमान में शायद आपने ध्यान दिया होगा कि लोक व्यय के उद्देश्य निर्धारण में लागत लाभ विश्लेषण को ध्यान में रखा जाता है। अतः लोक सत्तायें भी निजी क्षेत्र की तरह लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से भी आर्थिक क्रियाओं का संचालन कर रही हैं इसके साथ राष्ट्रीयकरण की भावना से भी प्रेरित होकर उद्योगों का संचालन करने लगी है। द्वितीयतः सार्वजनिक कल्याण में वृद्धि करने के उद्देश से लोक व्यय किया जाता है जिसके अन्तर्गत उत्पादन में वृद्धि करके रोजगार व उपभोग में वृद्धि करने का प्रयास किया जाता है इसीलिये लोक सत्ताओं द्वारा लोक व्यय के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र को व्यापक बनाती हैं ।

5.3.1राजकोषीय नीति के उद्देश्यों में लोक व्यय–विभिन्न देशों के आर्थिक इतिहास के आधार पर यह महसूस किया गया कि विभिन्न देशों की राजकोषीय नीति में समय – समय पर परिवर्तन होते रहे है वर्तमान में राजकोषीय नीति का उपयोग बेरोजगारी व अति उत्पादन की समस्या को दूर करने के लिये किया जाता है इस प्रकार धीरे–धीरे राजकोषीय नीति का उद्देश्य हर क्षेत्र में बढ़ता ही गया। मसग्रेव के अनुसार – राजकोषीय नीति के उद्देश्य उच्च रोजगार कीमत में स्थिरता, विदेशी व्यापार में सन्तुलन, आर्थिक विकास में वृद्धि आदि है। वर्तमान में राजकोषीय नीति के माध्यम से रोजगार में पर्याप्त वृद्धि की जाती है जिसमें लोक व्यय की भूमिका सर्वोपरि निर्धारित की गयी है। कीन्स के पूर्ण रोजगार के केन्द्र विन्दु प्रभाव पूर्ण मांग में क्रय शक्ति को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया तथा अन्ततः प्रभावपूर्ण माग को बढ़ाने में कीन्स ने लोक व्यय के विवेक पूर्ण प्रयोग पर जोर दिया।

विकसित देशों में रोजगार के स्तर को एक सीमा के बाद बढ़ाया नहीं जा सकता। अतः विकसित देशों में राजकोषीय नीति के अन्तर्गत लोक व्यय के माध्यम से रोजगार को एक वांछित स्तर पर बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। इसीलिये इन देशों में लोक व्यय के आवंटन को निवेश तथा उपभोगगत क्षेत्र में ध्यान पूर्वक तय किया जाता है। विकासशील देशों में वेरोजगारी की समस्या एवं संसाधनो का अल्प प्रयोग की समस्या पायी जाती है इसी आधार पर लोक व्यय के माध्यम से संसाधनो के कुशलतम पूर्ण प्रयोग करने के साथ अर्थव्यवस्था में रोजगार सृजन की क्षमता को बढाने का प्रयास किया जाता है ।

विकसित देशों के सामने राजकोषीय नीति का मुख्य उछेश्य यह होना चाहिए कि वह उत्पादन की मात्रा को बढा सके परन्तु यहॉ इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि उत्पादन का स्तर उपभोग के स्तर से ऊॅचा नहीं होना चाहिए। जब तक उत्पादन क्षमता कम न हो तब तक उपभोग प्रव्रति में वृद्धि की जानी चाहिए। अतः विकसित राष्ट्रों में प्रभावोत्पादक मॉग में लगातार वृद्धि की जानी चाहिए। ऐसा नहीं हुआ तो बेरोजगारी की समस्या हल नहीं होगी।

विकासशील देशों में छिपी हुई बेरोजगारी होती है जिसे दूर करने के लिए उत्पादन के साधनों को गतिशील बनया जा सकता है। विकसित देशों में छिपी हुई बेरोजगारी तो नही रहती हैं परन्तु वहॉ अनिश्चित बेरोजगारी होती है काम के अवसर होते है हुए भी यदि वहाँ के लोग काम न करना चाहे या उनके पास इतनी आय हो कि वे बिना काम किये हुए भी अपना जीवन व्यतीत करने की सोचते हो, तो ऐसी स्थिति में अनिश्चित बेरोजगारी फैल जायेगी। यह स्थिति अर्थव्यवथा पर बुरा प्रभाव डालती है। देश की जन.शक्ति आलसी व अकर्मण्य हो जाती है इस स्थिति के लिए पूर्णतया जिम्मेदार मौद्रिक मॉग में उतार–चढाव का आना बेरोजगारी उत्पन्न करता है,यदि बेरोजगारी को दूर करना है तो मुद्रा की मॉग के उतार चढावों पर नियन्त्रण लगाना होगा।

5.3.2 लोक व्यय के आवंटन सम्बन्धी उददेश्य

बजट के अन्तर्गत लोक व्यय के आवंटन सम्बन्धी उद्देश्योंका सम्बन्ध इस बात से है कि समाज के कुल साधनों का विभाजन निजी एवं सामाजिक वस्तुओं के मध्य किस प्रकार होता है ? निजी वस्तुओं की यह विशेषता है कि उनमें वर्जन के सिद्धान्त का उपयोग हो सकता है तथा उपभोग में प्रतिद्वन्दिता रहती है। सामाजिक वस्तुएं वे है जिनका उपभोग सभी व्यक्ति समान मात्रा में करते है, क्योंकि यहां वर्जन सिद्धान्त का उपयोग सम्भव नहीं है।

अर्थव्यवस्थाओं की प्रकृति में काफी अन्तर पाया जाता है। आन्तरिक क्षेत्रों की संरचना भी अलग–अलग स्थितियों में होती है। अर्थव्यवस्था में साधनों का आदर्श आवंटन कुछ शर्तों के पूरी होने पर ही संभव है। अर्थव्यवस्था के एक बड़े क्षेत्र में ये शर्तें पूरी हो जाती है, लेकिन कुछ क्षेत्र ऐसे भी है जहां बाजार यन्त्र के उपयोग से सर्वोत्तम परिणाम नहीं मिल सकते हैं। जिन क्षेत्रों में उपभोक्ताओं तथा उत्पादनकर्ताओं को पूर्ण जानकारी नहीं रहती है वहां बाजार सही ढंग से कार्य नहीं कर सकता है। इस समस्या का समाधान करने के लिए लोक व्यय का एक तकनीकी के रूप में अपनाने का प्रयास किया जाता है।

उत्पादन से सम्बन्धित साधन समायोजन का भी उद्देश्य एक महत्वपूर्ण तथ्य है। कुछ साधन ऐसे है जो एक साथ बड़ी मात्रा में ही उपलब्ध होते है। उत्पादन की कुछ क्रियाएं बड़े पैमाने पर सम्भव हैं। इन परिस्थितियों में उत्पत्ति ह्रासमान लागत के अनुसार होती है और एकाधिकार का सृजन हो सकता है। अतः आदर्श आवंटन के नियम, अर्थात् कीमत – सीमान्त लागत, का प्रयोग सम्भव नहीं होता है। यहां भी बजट नीति की जरूरत पड़ जाती है।

लोक व्यय–नीति की आवश्यकता उन क्षेत्रों में भी पड़ती है जहां उत्पादन में बाह्य मितव्ययिता या गैर मितव्ययिता मिलती है। बाह्यताओं से तात्पर्य उस लागत या लाभ से है जो कीमत में प्रतिबिम्बित नहीं होते है और इसलिए वे कीमतों से 'बाहर' है। इसलिए वे बाह्यता के मौजूद रहने का अर्थ यह है कि व्यक्ति उत्पादन तथा वाणिज्य से अधिकतम लाभ ऐसी लागत तथा कीमत के आधार पर ही प्राप्त कर सकता है जो साधनों के उपयोग के वास्तविक मूल्य को नहीं दर्शाती हैं। बाह्यताएं किसी वस्तु के उत्पादन के कारण तीसरे लोगों को ऐसी आकस्मिक सेवाओं के रूप में प्रकट हो सकती है जिनके लिए कोई कीमत नहीं ली जा सकती है या ऐसे नुकसान के रूप में आ सकती है जिनके लिए कोई क्षतिपूर्ति नहीं की जाती हैं। वस्तु के उत्पादन के कारण तीसरे लोगों को प्राप्त ऐसी आकस्मिक सेवाओं का एक उदाहरण लें। मान लें किसी नये क्षेत्र में रेल की लाइनें बिछायी जाती हैं। इससे आर्थिक विकास की गति तेज हो जाती है। इससे समाज को जो लाभ मिलता है वह रेल लाइन बिछाने वाली कम्पनी के निजी लाभ से कहीं ज्यादा है। बाजार यन्त्र के अन्तर्गत कीमत उस कुल लाभ के केवल एक ही भाग अर्थात् निजी लाभ के बराबर हो सकती है। अतः किसी भी निजी कम्पनी को इस क्रिया से नुकसान होगा। यहां राज्य की आवश्यकता हो जाती है। कल्याण के अर्थशास्त्र में ऐसी क्रियाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे सिजविक का लाइट हाउस, पीगू की धुआं फेंकने वाली चिमनी, आदि।

लोक व्यय के उद्देश्य को वस्तुओं के उत्पादन को आवंटन के साथ जोड़ा जाता है। बाजार यन्त्र के द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं की आदर्श उत्पत्ति उस समय सम्भव नहीं है जब इन वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग सामूहिक या संयुक्त रूप से समाज के सभी सदस्यों द्वारा होता है। एक बार जब

इन सेवाओं का उत्पादन हो जाता है, तब किसी को भी इसके उपभोग से वर्जित नहीं किया जा सकता है। इस स्थिति में इनके उपभोग के लिए व्यक्तियों से बाजार कीमत मांगना सम्भव नहीं होगा। अतः लाभ से प्रेरित होकर कार्य करने वाले निजी उत्पादनकर्ता इन वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में साधनों का उपयोग नहीं करेंगे। यहां भी बजट नीति का प्रयोग करना होगा।

सरकार के पास अनेक उपकरण है जिनका उपयोग कर अर्थव्यवस्था में साधनों के आवंटन को प्रभावित किया जा सकता है। इन यन्त्रों में दो प्रमुख यन्त्र हैः– कर लगाने की शक्ति तथा व्यय करने की क्षमता। करों के माध्यम से उन वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग को प्रोत्साहित किया जा सकता है जिनका इष्टतम से कम उत्पादन होता है। इसके विपरीत जिन वस्तुओं का उत्पादन इष्टतम से अधिक होता है उनके उत्पादन तथा उपभोग को करों के माध्यम से कम किया जा सकता हैं। इन्हीं कार्यों के लिए व्यय का भी उपभोग सम्भव है। ये दोनों मूल लोक वित्तीय यन्त्र है और इन्हें हम इस रूप में भी समझ सकते है कि लोक व्यय आर्थिक सहायता है जबकि कर जुर्माना है जिससे उत्पादन की लागत में वृद्धि होती है।

सरकार नियमन के गैर–वित्तीय यन्त्रों का भी प्रयोग कर सकती है। किन्तु, जहां व्यय एवं कर बजट के अंग है, वहां अन्य यन्त्र सरकारी बजट से बाहर रहते है।

लोक व्यय के आवंटन उद्देश्य के साथ समस्या यह है कि वह कैसे निर्धारित करेगी कि कितनी मात्रा में सामाजिक वस्तुओं का प्रावधान किया जाय, किन सामाजिक वस्तुओं का प्रावधान किया जाय तथा कैसे निर्धारित किया जाय कि इन वस्तुओं के उपभोक्ताओं को इनके उपभोग के लिए कितना भुगतान करना है? निजी वस्तुओं की स्थिति में उपभोक्ता बाजार में मांग के रूप में इन वस्तुओं के लिए अपने अधिमान को व्यक्त करता है। सामाजिक वस्तुओं के लिए वे ऐसा नहीं करेंगे क्योंकि एक बार इनका उत्पादन हो जाने पर लोगों को इनके उपभोग के लिए भुगतान करने पर विवश करना असम्भव है। इन वस्तुओ की स्थिति में भुगतान नहीं करने वालों को उपयोग नहीं करने वाला बनाना मुश्किल है। सामाजिक या सामूहिक उपभोग या सार्वजनिक वस्तुओं की दो प्रमुख विशेषताएं हैः– उपभोग में प्रतिद्वन्द्विता का अभाव तथा वर्जन का अभाव इस समस्या के समाधान के लिए राजनीतिक प्रक्रिया के विश्लेषण की आवश्यकता है और इसका अध्ययन सार्वजनिक चयन के सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जाता है।

5.3.2 लोक व्यय के वितरण उददेश्य

सरकार द्वारा निर्धारित किये जाने वाले लोक व्यय के वितरण उद्देश्य का क्लासिकल कार्य माना जाता है। ''वस्तुतः एक ऐसा समय था जब लोक सेवाओं के प्रावधान को ही एकमात्र वैध कार्य समझा जाता था ऐसा तर्क प्रस्तुत किया जाता था कि शुद्ध एवं सरल लोक वित्तीय समस्याओं को सामाजिक एवं आर्थिक नीति के असम्बद्ध विचार के साथ उलझाना नहीं चाहिए।'' लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि बजट नीति के सामाजिक एवं आर्थिक प्रभाव पड़ते है। इन प्रभावों को उस दिशा में मोड़ा जा सकता है जिनका आवंटन के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। इस सन्दर्भ में ऐसी एक दिशा वह है जिसका सम्बन्ध आय एवं सम्पत्ति के वितरण से है। लोक व्यय के उपयोग से आय एवं सम्पत्ति का वह वितरण सम्भव है जिसे समाज न्यायोचित समझता हो। इसे ही व्यय नीति का वितरण उद्देश्य समझा जाता है।

आवंटन उद्देश्य के अन्तर्गत कर एवं व्यय के माध्यम से साधनों का हस्तान्तरण निजी आवश्याकता से हटाकर सार्वजनिक आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए होता है। वितरण का उददेश्य यह है कि आय एवं सम्पत्ति का हस्तान्तरण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को किया जाय। समाज के दृष्टिकोण से मौजूदा वितरण न्यायपूर्ण हो सकता है या नहीं भी। यदि नहीं है तो बाजार यन्त्र के द्वारा सामाजिक दृष्टि से न्यायोचित वितरण लाना सम्भव नहीं है। अतः बजट प्रक्रिया की आवश्यकता होती है।

बाजार अर्थव्यस्था में आय की असमानता का प्रमुख कारण यह है कि मजदूरी, लगान, ब्याज के रूप में उत्पादन के साधनों को जो भुगतान किया जाता है वह उनकी सीमान्त उत्पादकता के आधार पर ही किया जाता है। बाजार व्यवस्था एक ऐसे योग्यता तन्त्र को जन्म देती है जिसमें योग्यता (तथा आय) उन्हीं को प्राप्त होती है जिन्होंने इस व्यवस्था की आवश्यकता के अनुकूल उत्पादन क्षमता को अर्जित किया है। निजी दान को छोड़कर अन्य किसी भी परिस्थिति में उन लोगों की जीविका के लिए कोई प्रावधान नहीं होता है जिन्हें आवश्यक उत्पादन क्षमता प्राप्त नहीं हैं। एकाधिकार एक दूसरा तत्व है जिसकी उपस्थिति से बाजार व्यवस्था में आय के वितरण में असमानता का सृजन होता है। बाजार व्यवस्था की क्रिया के लिए निजी सम्पत्ति का अधिकार आवश्यक है, लेकिन यह संस्था आय की असमानता के सृजन में सहायता पहुंचाती है। निजी सम्पत्ति के साथ उत्तराधिकार की व्यवस्था असमानता को और बढ़ाती है।

लेकिन न्यायपूर्ण किसे कहा जाय? आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता। आधुनिक कल्याण के अर्थशास्त्र में आर्थिक कार्यकुशलता का विश्लेषण दिये हुए वितरण की स्थिति में किया जाता है। आर्थिक पुनर्व्यवस्था से सामाजिक कल्याण में उस समय वृद्धि होती है जब एक व्यक्ति की दशा में तो सुधार होता है, लेकिन अन्य व्यक्तियों की हालत बिगड़ती नहीं है। पुनर्वितरण कार्य ऐसी पुनर्व्यवस्था से भिन्न है क्योकि इसमें कुछ लोगों की आर्थिक दशा में सुधार अन्य लोगों की कीमत पर ही किया जाता है।

आय का पुनर्वितरण का लक्ष्य सरकार द्वारा कई तरह से किया जा सकता है। परोक्ष रूप से यह कार्य उत्पादक साधनों व उत्पत्ति की कीमतों में परिवर्तन के द्वारा या सम्पत्ति के अधिकार के प्रावधानों में परिवर्तन के द्वारा सम्भव है। एक उदाहरण लें। मान लें सरकार अपने अधिकार का उपयोग करते हुए कृषि वस्तुओं की कीमतों को सहारा देती है। इससे कृषकों की आय बढ़ जायगी तथा गैर–कृषकों की आय घट जायगी। सरकार रोजगार विशेष तथा खास उद्योगों में कुछ खास लोगों के प्रवेश को रोक सकती है। इससे ऐसे कुछ लोगों को रोजगार नहीं मिलेगा जिन्हें इनमें रोजगार पाने का प्रशिक्षण मिला हुआ है। ऊंची आय पर अधिकतम सीमा तथा न्यूनतम आय का स्तर निर्धारित करके भी आय के वितरण में समानता लाने की चेष्टा की जा सकती है। कर हस्तान्तरण व्यवस्था, ऋणात्मक आय कर, प्रगतिशील आय–कर, आदि कुछ अन्य उपाय है जिनका उपयोग सरकार करती है।

मस्ग्रेव एवं मस्ग्रेव ने आय के पुनर्वितरण के लिए निम्न तीन राज कोषीय विधियों की चर्चा की है–

- कर हस्तान्तर योजना जिसमें ऊंची आय पर प्रगतिशील कर के साथ निम्न आय पाने वाले परिवारों को सब्सिडी।
- निम्न आय पाने वाले परिवारों के उपभोग में आने वाली लोक सेवाओं, जैसे, मकान, स्वास्थ्य, आदि का वित्त पोषण प्रगतिशील करों के द्वारा।

- ऊंची आय वालों के उपभोग की वस्तुओं पर कर तथा निम्न आय वालों के उपभोग की वस्तुओं की सब्सिडी।

5.4 लोक व्यय द्वारा स्थिरीकरण का उद्देश्य

लोक व्यय का स्थिरीकरण का उद्देश्य नवीनतम है। 1930 के दशक से ही यह प्रकाश में आया है। यह कार्य आवंटन कार्य से भिन्न है। जिसका सम्बन्ध निजी एवं सार्वजनिक आवश्यकताओं के मध्य साधनों के बंटवारे से है। यह वितरण कार्य से भी पृथक है जिसका सम्बन्ध निजी आवश्यकताओं के मध्य साधनों के बंटवारे से है। स्थायित्व का प्रमुख उददेश्य रोजगार को ऊंचे स्तर पर कायम रखना तथा कीमत में स्थिरता को बनाये रखना है। इस कार्य की जरूरत इसलिए होती है क्योकि बाजार अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार एवं कीमत स्थिरता स्वयं अर्थात् किसी बाहरी हस्तक्षेप के बिना अपने आप कायम नहीं रह सकती है। रोजगार एवं कीमत स्तर समग्र मांग पर निर्भर करते है। इसलिए प्रसारकारी या संकुचनकारी राजकोषीय नीति द्वारा समग्र मांग को स्थिर रखने की जरूरत होती है। मन्दी काल में लोक व्यय में वृद्धि तथा करों में कटौती करके समग्र मांग में वृद्धि करने की जरूरत होती है। मुद्र–स्फीति काल में लोक व्यय में कमी करने की जरूरत पड़ सकती है।

1936 में प्रकाशित General Theory में केन्स ने रोजगार एवं कीमतों में अस्थिरता के कारणों का विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि सरकार के पास ऐसे यन्त्र हैं जिनके प्रयोग द्वारा इन अस्थिरताओं को समाप्त किया जा सकता है। आधुनिक स्थायित्व नीति कीन्स तथा केन्सीयों के द्वारा विकसित सिद्धान्तों का ही उपयोग है। भारत जैसे विकासशील देशों में भी आधार पर स्थिरीकरण का लक्ष्य तय किया जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्, विशेषकार 1950 के दशक से, राजकोषीय नीति के उद्देश्यों में एक तीसरा उद्देश्य भी जुड़ गया है। एक प्रगतिशील अर्थव्यवस्था में समग्र मांग एक अपरिवर्तनीय स्तर पर स्थिर नहीं रहती है बल्कि देश की उत्पादन क्षमता तथा जनसंख्या में वृद्धि के अनुसार बढ़ती रहती है। इसलिए जरूरी है कि बजट नीति के द्वारा उत्पादन क्षमता तथा जनसंख्या में वृद्धि के अनुकूल समग्र मांग में भी वृद्धि की जाय ताकि पूर्ण रोजगार एवं कीमत स्थायित्व बने रहें। साथ ही यह भी याद रखना है कि आर्थिक स्थायित्व के लिए सिर्फ राजकोषीय नीति ही पर्याप्त नहीं है। इसके साथ मौद्रिक नीति तथा समयानुसार अन्दरूनी नीतियों का भी उपयोग पड़ सकता है।

5.5 लोक व्यय के उद्देश्य निर्धारण की समस्या

बजट नीति के अनेक उद्देश्य होते है– आवंटन, वितरण तथा स्थायित्व। इन्हें राजकोषीय कार्यों की संज्ञा दी जाती है। इन सभी उद्देश्यों को एक साथ पूरा करने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती है क्योकि इनके मध्य संघर्ष हो सकता हैं और वे परस्पर व्यापी है। इसलिए कार्यकुशल बजट नीति के निर्माण में जटिलताएं आ जाती है, यानि ऐसी बजट नीति का निर्माण कठिन हो जाता है जो सभी उद्देश्यों के साथ न्याय करें।

कुछ उदाहरण लें। मान लें सरकार सेवाओं में वृद्धि करना चाहती है। इसके लिए कर की मात्रा में वृद्धि करनी होगी। अब प्रश्न यह उठता है कि अतिरिक्त करों का वितरण करदाताओं के मध्य किस

प्रकार किया जाय। कर के द्वारा आय के वितरण में परिवर्तन हो सकता है। इसलिए निजी उपयोग के लिए जो आय बच जाती है उसमें सापेक्ष परिवर्तन हो जाएगा। इसका नतीजा यह होगा कि कुछ मतदाता लोक सेवाओं में वृद्धि के पक्ष में मत देंगे। सम्भव है कि ऐसा वे इसलिए करते है क्योकि वे आय में होने वाले वितरण के पक्षधर हैं, इसलिए नहीं कि वे लोक सेवाओं में वृद्धि के पक्षपाती हैं। शायद उचित यह होगा कि दोनों उद्देश्यों को अलग रखा जाय। समाज पहले यह तय कर ले कि आय का उचित वितरण क्या है? इसके बाद लोक सेवाओं की वित्त व्यवस्था के लिए करदाताओं पर इन सेवाओं से मिलने वाले लाभ के अनुसार कर लगा दें? किन्तु, इस रास्ते को अपनाने में कठिनाइयां है। इसलिए लोक सेवाओं के प्रावधान एवं वितरण सम्बन्धी निर्णयों को केवल खिचड़ी ही नहीं बन जाती है, वरन् विकृति भी पैदा हो जाती है।

यहां ध्यान देना है कि सरकार निर्णय लेती है कि आय का वितरण अधिक समान होना चाहिए। इसके लिए प्रगतिशील कर प्रणाली को अपनाना होगा। लेकिन, अधिक समान वितरण लाने का एक दूसरा तरीका भी है। निम्न आय वाले वर्गों को लोक सेवाएं अधिक मात्रा में प्रदान की जा सकती है, किन्तु इससे उपभोक्ता के स्वतन्त्र चयन में बाधा पड़ सकती है। एक बार फिर दोनों उददेश्यों के मध्य संघर्ष पैदा हो जाता है।

अब स्थायित्व राजकोषीय नीति को लें। मान लें कि बेरोजगारी को कम करने के लिए प्रसार की नीति की जरूरत है। इसके लिए लोक व्यय में वृद्धि की जा सकती है। यदि पहला रास्ता अपनाया जाय तो आवंटन कार्य के साथ हस्तक्षेप होगा, कर में कटौती करते समय यह निर्णय लेना पड़ेगा कि यह किस प्रकार लागू किया जाय। आवंटन एवं वितरण दोनों के मध्य तटस्थ रहते हुए स्थायित्व उददेश्य को प्राप्त करने के लिए कर की दरों में आनुपातिक परिवर्तन करना होगा।

5.6 सारांश

परम्परागत अर्थव्यवस्थाओं के साथ वर्तमान में सभी राष्ट्र लोक व्यय के उद्देश्यों को लेकर अत्यन्त गम्भीर रहें हैं। यद्यपि सामान्य रूप से अर्थ व्यवस्थाओं के संचालन की दृष्टि से सरकारों द्वारा लोक व्यय के उद्देश्यों में सामान्यता प्रकट करते हैं परन्तु अर्थव्यवस्थाओं में पाये जाने वाले संरचानत्मक व संगढनात्मक अन्तर के कारण लोक व्यय के उदेदश्यों की प्रकृति में भी व्यापक अन्तर पाया जाता हैं। सामान्यतःइसे विकसित, विकासशील तथा पिछड़े राष्ट्रों के सामने उपादन को यथास्तर से आगे बनाये रखने तथा उसमें आवश्यक सुधार एवं गुणवत्ता पैदा करने के साथ आय तथा सम्पत्ति के वितरण की असमानताओं को कम करने पर जोर दिया जाता है इस उद्देश्य को प्राप्त करने मे लोक व्यय महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। लोक व्यय की उचित नीति द्वारा वितरण के इस उद्देश्य को निर्धारित करने में अत्यधिक रूचि प्रकट की गयी है। उत्पादन तथा वितरण के साथ– साथ अर्थिक वृद्धि को उच्च स्तर पर बनाये रखने का उद्देश्य भी लोक व्यय के द्वारा निर्धारित किया जाता है। यह उद्देश्य विकासशील तथा पिछडे देशों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि विकासशील तथा विकसित देशों के लिये आर्थिक वृद्धि दर को ऊंचे स्तर पर बनाये रखना वहाँ की सरकारों के लिये एक चुनौती है।

आपको यहां पर यह भी ध्यान देना अति आवश्यक होगा कि आर्थिक स्थायित्व बनाये रखना भी वर्तमान में विकसित तथा विकासशील देशों की सरकारों के लिये अत्यन्त आवश्यक है। वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में आर्थिक मन्दी तथा तेजी के व्यापार चक्रों का सामना प्रायः सभी देशों को करना पडता है।

विकसित देशों में आर्थिक स्थायित्व का उद्देश्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जो विकासशील तथा पिछडे देशों में उतना महत्वपूर्ण नहीं है। मन्दी काल में लोग व्यय में वृद्धि तथा तेजी काल में लोक व्यय की आवश्यक कटौती सम्बन्धी नीतियों के द्वारा आर्थिक स्थायित्व का उद्देश्य तय किया जाता है।

आपको यहां पर यह भी जानना अत्यन्त आवश्यक है कि उक्त सभी उद्देश्यों को निर्धारित करने में लोक आगम की भी महत्वपूर्ण भूमिका है लेकिन वर्तमान में लोकतान्त्रिक सरकारों द्वारा लोक व्यय के द्वारा इन उद्देश्यों का निर्धारण करना एवं इन्हें प्राप्त करना महत्वपूर्ण बन गया है।

शब्दावली

1. आवंटनः– आवंटन की प्रक्रिया के अन्तर्गत संसाधनों को अलग– अलग मदों एवं उप विभागों में वांटा जाता है।

2. वितरणः– इसके अन्तर्गत अर्थ व्यवस्था में आय तथा सम्पत्ति के वर्तमान स्थिति में इस प्रकार परिवर्तन किया जाता है कि निम्न आय तथा कम सम्पति वाले लोगों की आय तथा सम्पत्ति में वृद्धि होती है लेकिन अर्थ व्यवस्था के संचालन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है।

3. स्थिरीकरणः– अर्थव्यवस्था में समय–समय पर आने वाले व्यापार चक्रों को नियन्त्रित करते हुए विकास की गति को निरन्तर बनाये रखना स्थिरीकरण कहलाता है।

4. सामाजिक वस्तुएॅः– सामाजिक वस्तुऐं वे वस्तुऐं हैं जो उपभोग में गैर प्रतियोगी होती है तथा उन्हें उपलब्ध कराने एवं उनके मूल्य निर्धारण की जिम्मेदारी सरकार की होती है। सामान्य रूप से सामाजिक वस्तुओं की उपलब्धता सामूहिक कल्याण में वृद्धि के उद्देश्य से की जाती है।

5. बाजार अर्थव्यस्थाः– बाजार अर्थव्यवस्था से तात्पर्य उस अर्थव्यवस्था से है जिसमें मांग एवं पूर्ति शक्तियां विना सरकारी हस्तक्षेप के स्वतंन्त्र रूप से कार्य करती हैं।

6. राजकोषीय कार्यः– सरकारी राजस्व सम्बन्धी कार्य ।

7. आर्थिक उच्चावचन :– अर्थव्यवस्था में मन्दी तथा तेजी की क्रमवार उत्पन्न होने वाली स्थितियां जो अलग–अलग प्रभाव डालती है।

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न संख्या 1– निम्न लिखित प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिए।

(क) लोक व्यय का मुख्य उददेश्य क्या है?

(ख) विकसित तथा विकासशील देशों में लोक व्यय के उद्देश्यों में क्या अन्तर पाया जाता है? संक्षेप में लिखो।

(ग) लोक व्यय का उद्देश्य कौन निर्धारित करता है?

(घ) मुद्रा स्फीति में लोक व्यय किस प्रकार कार्य करता है?

प्रश्न संख्या 2– निम्न लिखित कथनों में सही व गलत का चयन कीजिए?

(क) लोक व्यय, लोक आगम का पूरक है।

(ख) लोक व्यय तेजी काल में अत्यधिक बढ़ा दिया जाता है।

(ग) लोक व्यय के उद्देश्य केवल विकासशील देशों में ही निर्धारित होते है।

(घ) लोक व्यय उद्देश्यों के प्रति तटस्थ होता है।

प्रश्न संख्या 3– नीचे दिये कथनों में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए।

(क) बाजारी अर्थव्यवस्था में .....नहीं होता।

(ख) बजट नीति के .....तीन उद्देश्य होते हैं।

(ग) सामाजिक वस्तुओं और सेवाओं में वृद्धि.....बढाती है।

(घ) बेरोजगारी को दूर करने के लिये.....नीति की जरूरत होती है।

हल– प्रश्न संख्या 2 का उत्तर– क. सही, ख. गलत, ग. गलत, घ. गलत

प्रश्न संख्या 3 का उत्तर क. सरकारी हस्तक्षेप, ख. आवंटन, वितरण, ग. आर्थिक कल्याण, घ. स्थायित्व प्रसार

प्रश्न संख्या 4– लोक व्यय के उददेश्य निर्धारण में आने वाली मुख्य चार समस्याऐं बताओ?

प्रश्न संख्या 5– लोक व्यय के उददेश्यों की मुख्य विशेषताऐं संक्षेप में लिखो?

5.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भाटिया, एच0एल (2006)– लोक वित्त (Public Finance), विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0 जंगपुरा, नई दिल्ली।

2. पंत, जे0सी0 (2005)– राजस्व (Public Finance),लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।

3. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997)– राजस्व, साहित्य भवन पब्लिकेशन हास्पीटल रोड, आगरा।

4. सिंह, एस0के0 (2013)– लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

5.10 सहायक / उपयोगी ग्रंथ

1.दत्त एवं सुन्दरम (2011)– भारतीय अर्थव्यवस्था, एस चन्द एण्ड क0 लि0, नई दिल्ली।

2. सेठी, टी0टी0 (2005)– मुद्रा बैकिंग एवं लोकवित्त लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, संजय प्लेस, आगरा।

3. मिश्र, जगदीश नारायण (2011)–भारतीय अर्थव्यवस्था, किताब महल पब्लिशर्स, हरिसदन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

5.11 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न संख्या 1:– लोक व्यय के उद्देश्यों का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है?

प्रश्न संख्या 2:– लोक व्यय के आवंटनात्मक उद्देश्यों को स्पष्ट कीजिए?

प्रश्न संख्या 3:– लोक व्यय के वितरण सम्बन्धी उददेश्यों का विश्लेषण कीजिए?

प्रश्न संख्या 4:– लोक व्यय के द्वारा आर्थिक स्थायित्व को किस प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है? स्पष्ट कीजिए?

प्रश्न संख्या 5:– लोक व्यय के उद्देश्य निर्धारण की मुख्य समस्याओं को बताओं?

इकाई–6 लोक व्यय के नियम–वैगनर एवं वाइजमैन पीकॉक

इकाई संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 लोक व्यय के नियमों की आवश्यकता

6.4 लोक व्यय के नियम

6.4.1 लोक व्यय का वैगनर नियम

6.4.2 वैगनर नियम की समीक्षा

6.4.3 विकासशील राष्ट्रों में विकास व्यय बढ़ने के कारण

6.5 लोक व्यय के वाइजमैन पीकॉक का नियम

6.5.1 वाइजमैन पीकॉक नियम की सीमाऐं

6.6 सारांश

6.7 शब्दावली

6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.10 सहायक/उपयोगी ग्रंथ सूची

6.11 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

यह लोक व्यय खण्ड की छठी इकाई है जो वैगनर तथा वाइजमैन पीकॉक के नियमों पर आधारित की गयी हैं। इससे पूर्व की पंचम् इकाई में लोक व्यय के उददेश्यों को स्पष्ट किया गया है जो आवंटन, वितरण तथा स्थायित्व के विभिन्न पक्षों को समायोजित करती है। आप इस इकाई में दर्शाये गये उददेश्यों को भंली भांति समझ गये होंगे।

प्रस्तुत इकाई में एडोल्फ वैगनर तथा वाइजमैन पीकॉक के नियमों को आप अच्छी तरह से समझ सकेंगे जो लोक व्यय के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते है तथा लोक व्यय के विभिन्न पक्षों को वास्तविकता के साथ स्पष्ट करते है। इसके साथ वैगनर तथा वाइजमैन पीकॉक के नियमों की भी समीक्षा से आप परिचित हो सकेंगे।

काफी लम्बे समय से लोक व्यय अर्थव्यवस्थाओं को अनेक पहलुओं से प्रभावित करता रहा है। ये दोनों नियम एक बड़ी सीमा तक वर्तमान अर्थव्यवस्थाओं के लिए भी अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक सिद्ध होते रहे हैं। वर्तमान में भारत जैसे विकासशील देशों के लिए सार्वजनिक व्यय की प्रांसगिकता की समीक्षा भी अत्यन्त आवश्यक है। उपयोगी तथा गैर उपयोगी मदों पर लोक व्यय वर्तमान में एक अत्यन्त गम्भीर विषय है जो इस इकाई के द्वारा आप आसानी से समझ सकेंगे।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि–

(क) लोक व्यय के लिए नियमों की क्या आवश्यकता है तथा नियमों का किस सीमा तक पालन होता है।

(ख) लोक व्यय का वैगनर का नियम क्या है तथा अर्थव्यवस्थाओं के लिए इसकी क्या उपयोगिता तथा इस नियम की क्या प्रांसगिकता है।

(ग) वाइजमैन पीकॉक का लोक व्यय का नियम लोक व्यय की किस समस्या को उजागर करता है एवं इस नियम की क्या प्रांसगिकता है।

(घ) इन दोनों नियमों में क्या समानताऐं है तथा किन विपरीत या अलग–अलग दशाओं को स्पष्ट करता है।

6.3 लोक व्यय के नियमों की आवश्यकता

अर्थव्यवस्था में लोक व्यय के लिए नियमों की आवश्यकता है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर के लिए आपको दो बिन्दुओं पर गहराई से विचार करना होगा। प्रथमतः अर्थव्यवस्था की प्रकृति क्या है अर्थात् अर्थव्यवस्था को संचालित करने वाली विभिन्न शक्तिया कौन–कौन सी है तथा वे लोक व्यय से किस प्रकार प्रभावित होती है। द्वितीयतः लोक व्यय करने वाली सत्ता या सरकार की स्थिति तथा

उददेश्य क्या है अर्थात् लोक व्यय करने वाली सत्ता का चयन या चुनाव किसके द्वारा किस प्रकार होता है तथा उसे चलाने वाले तत्व लोक व्यय द्वारा किस सीमा तक प्रभावित है। लोक सत्ताओं का उददेश्य केवल सरकार चलाना है या विकास को अग्रसर करना। सरकार को लोक आगम की अपेक्षा लोक व्यय के लिए बड़े ही सतर्कता के साथ कार्य करना होता है। इसके प्रभाव अत्यन्त ही गम्भीर तथा विस्तृत होते है। सरकार की प्रकृति से सम्बन्ध इस आधार पर लगाया जाता है कि लोक कल्याणकारी समाजवादी सरकारी तथा पूंजीवादी सरकारों के लोक व्यय के मार्ग अलग–अलग है अतः इनके लिए अलग–अलग प्रकार के नियमों की आवश्यकता है ताकि पूर्व निर्धारित उददेश्यों को प्राप्त किया जा सके। वही दूसरी ओर सरकार का चुनाव करने वालों के हितों की सुरक्षा या उन पर अनावश्यक अपव्यय आदि के लिए भी सरकार के सामने लोक व्यय सम्बन्धी अनेक प्रकार की समस्याऐं आती है। लोक व्यय के नियमों की आवश्यकता इस बात पर जोर देती है कि बिना अपव्यय के लोक हितों को सुरक्षित किया जाय तथा आर्थिक स्थिरता को प्राप्त किया जाय। लोक व्यय के नियम की उपयोगिता इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि लोक व्यय के लिए लोक आगम की नीतियों भी प्रभावित होती है।

6.4 लोक व्यय के नियम

लोक व्यय की नियमों की आवश्यकता को देखते हुए सरकारों द्वारा कुछ नियमों को भी ध्यान में रखना होता है जो नियमों की आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर करता है। लोक व्यय के लिए अलग–अलग कार्य शक्तियों द्धारा अनेक नियम प्रतिपादित किये गये है जिसमें लाभ का नियम, मितव्ययता का नियम तथा स्वीकृति के नियमों को सामान्य रूप से जाना जाता है। लाभ के नियम के बारें में प्रो0 पीगू का यह कथन अत्यन्त ही महत्वपूर्ण प्रतीत होता है–''सभी दशाओं में व्यय को उस बिन्दु तक बढ़ाया जाय जिस पर कि व्यय की गयी मुद्रा की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली संतुष्टियाँ इस अन्तिम इकाईयों की संतुष्टियों के बराबर हों जो सरकार सेवा प्रदान करने पर व्यय करती है।

यह नियम स्पष्ट करता है कि सार्वजनिक व्यय के समाज के सभी व्यक्तियों को लाभ प्राप्त होना चाहिए न कि व्यक्तिगत स्तर पर अत्यधिक लाभ।

अर्थव्यवस्था के लिए मितव्ययता का नियम अत्यन्त ही उपयोगी एवं लम्बे समय के लिए आवश्यक है। सरकारी अपव्यय को रोकने के लिए स्वीकृति का नियम विकासशील देशों के लिए बड़ा ही उपयोगी सिद्ध होता है।

लोक व्यय का सही रूप में प्रयोग करने के साथ लोक व्यय के नियमों से सम्बन्धित ग्लेडस्टोन का यह कथन अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। **"**आय प्राप्त करने से इसको व्यय करना अधिक कठिन है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो राज्य के लिये सबसे उत्तम सिद्धान्त यह है कि सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य को सामने रखकर व्यय करे। अर्थात विभिन्न मदों पर व्यय किये हुए धन के सीमान्त लाभ को बराबर रखने का प्रयत्न करे।**"**

लोक व्यय से सम्बन्धित मितव्ययता नियम भी अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं भारत जैसे विकासशील देश में लोक तान्त्रिक सत्ताओं के लिये इस नियम की उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है। इस नियम के अनुसार सरकार को चाहिए कि व्यय उसी मद में किया जाए जहां पर उसकी आवश्यकता

अत्यधिक हो । लोक व्यय से अर्थ व्यवस्था में उत्पादन शक्ति का विकास हो सके जिससे लोगों की कार्य कुशलता एवं कार्य क्षमता में वृद्धि हो सके। लोक व्यय के सम्बन्ध में समय का अपव्यय न हो ताकि फिजूल खर्ची पर रोक लगाकर जनता को सन्तुष्ट किया जा सके ।

लोक व्यय से सम्बन्धित स्वीकृति का नियम भी अपना अलग स्थान बनाये हुए है इस नियम के अनुसार लोक व्यय उस स्थिति में ही किया जाये जब उच्च अधिकारी या लोक संस्थाओं से इसकी सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो जाऐ। लोक व्यय से सम्बन्धित बचत के सिद्धान्त पर शिराज का निम्न कथन भी आपके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा **"** सार्वजनिक अधिकारियों को अपनी आय की प्राप्ति व उसका व्यय सामान्य नागरिकों के समान करना चाहिए । व्यक्तिगत व्यय के समान सन्तुलित बजट की सामान्य नीति होनी चाहिए ।

प्रस्तुत इकाई में लोक व्यय से सम्बन्धित वाइजमैन पीकॉक तथा वैगनर के नियम को आप मुख्य रूप से समझ सकेंगे जो सभी प्रकार की प्रगतिशील सरकारों के संचालन में तथा विकास के लिए अत्यन्त ही उपयोगी है।

6.4.1 लोक व्यय का वैगनर नियम

आपको शायद ज्ञात हो कि लोक व्यय के क्षेत्र में जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर का नियम महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस नियम को राजस्व के कार्यकलाप में वृद्धि का नियम (Law of The Increase of State Activities) के नाम से जाना जाता है। इस नियम के अनुसार लोक व्यय में वृद्धि आर्थिक विकास के साथ–साथ बढ़ती जाती है अर्थात् लोक व्यय तथा आर्थिक विकास में धनात्मक व कार्यात्मक सहसम्बन्ध पाया जाता है। वैगनर ने अपने इस नियम को स्पष्ट करते हुए लिखा कि – ''विभिन्न देशों और विभिन्न कालों की व्यापक तुलनाओं से पता चलता है कि प्रगतिशील राष्ट्रों में केन्द्रीय और स्थानीय दोनों सरकारों के कार्यकलापों में बृद्धि होती रहती है। यह बृद्धि विस्तृत और गहन दोनों प्रकार की है। केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें निरन्तर नये कार्य हाथ में लेती जाती है और पुराने कार्यो को अधिक कुशलता और पूर्णता के साथ करती है। इस प्रकार केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें जनता की आर्थिक आवश्यकताऐं एक से अधिक परिमाण में और अधिक संतोषजनक ढंग से पूरा करती हैं।''

लोक व्यय के वैगनर के इस नियम का सम्बन्ध समाज कल्याण की प्राप्ति से होने के साथ लोक आगम के साथ भी स्थापित किया गया है। इन्होने लोक वित्त को धन के पुनर्वितरण के साधन के रूप में माना जिसमें लोक व्यय की अपनी अलग अहम् भूमिका बतायी गयी है।

वैगनर के अनुसार प्रस्तुत की गयी लोक व्यय में वृद्धि की संकल्पना अर्थव्यवस्था को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित करती है। यह सार्वजनिक व्यय निम्न तीन प्रकार से अपने प्रभाव को प्रसारित करता है।

लोक सत्ताओं के पास देश से सम्बन्धित अनेक प्रकार की आर्थिक तथा गैर आर्थिक मदें लोक व्यय के लिए मौजूद रहती हैं। इन मदों के मध्य सरकार को मांग–पूर्ति सम्बन्धी संतुलन स्थापित भी करना होता है जिसके सम्बन्ध में सरकार को अपने कार्यों को कुशलता के साथ करना होता है एवं गहनता के साथ

में क्रिया कलापों का निष्पादन करना होता है। सरकार के पास पूंजी की पर्याप्तता होती है इस लिए विस्तृत एवं गहनता के साथ लोक राजस्व को व्यय करना आवश्यक होता है। अपव्यय तथा अनावश्यक व्यय सरकारों के लिए खतरनाक सिद्ध होता है।

इसके साथ आपको यह भी ध्यान देना होगा कि सरकार लोक व्यय को व्यक्तिगत लाभ देने के आधार पर व्यय नहीं कर सकती है। समाज के सम्पूर्ण हितों के आधार पर लोक व्यय अत्यन्त उपयोगी एवं फलदायक होता है। अतः लोक व्यय लोक कल्याणकारी होता है। अनेक कारणों से लोक कल्याण का क्षेत्र बढ़ता है जिससे लोक व्यय में बृद्धि होती है।

लोक कल्याण से ही जुड़ा एक अन्य पहलू यह भी है कि सरकार उन सभी समाज हित वाले कार्यो पर लोक व्यय आसानी से कर सकती है जिन पर व्यक्तिगत व्यय की सम्भावना नहीं है। व्यक्तिगत व्यय निजी लाभों से प्रेरित होता है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से निजी व्यय या निवेश उपयोगी नहीं रह जाता है। सरकार उन सभी बृहद योजनाओं एवं परियोजनाओं पर भी लोक व्यय करती है जो निजी क्षेत्र द्वारा किये जाने वाले व्यय की सीमा से वाहर होती है।

इससे पूर्व आपने पढ़ा होगा कि सरकारों की प्रकृति एवं अर्थव्यवस्था की प्रकृति के आधार पर भी लोक व्यय प्रभावित होता है। इसी आधार पर सरकार की लोकप्रियता एवं आर्थिक विकास की आवश्यकता के महत्व सामन्जस्य स्थापित करने में लोक व्यय में विस्तृत एवं गहन दोनों स्तरों पर उचित निर्णय लिये जाना अत्यन्त आवश्यक है।

आपको यहां पर यह भी जानना अत्यन्त आवश्यक है कि डाल्टन ने वैगनर के नियम को लागू होने के पीछे तीन मुख्य कारण स्पष्ट किये। जो निम्न प्रकार है–

1– आधुनिक आर्थिक विकास के कार्यो के कुछ क्षेत्र ऐसे होते है, जिनमें निजी संस्थाओं की तुलना में सरकारी संस्थाएं अधिक कुशलता के साथ कार्य कर सकती है। डाल्टन का कथन है कि निजी एजेसिंयों की तुलना में सरकारी एजेसिंयों का चयन बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकता है।

2– विकास की प्रक्रिया के कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं, जिसमें निजी क्षेत्र निवेश करने में रूचि नहीं दिखाते। इन क्षेत्रों में जो जनोपयोगी तथा आवश्यक होते है, सरकार को अनिवार्य रूप से व्यय करना पड़ता है। इसका एक उपयुक्त उदाहरण बड़े नगरों में जन स्वास्थ्य सेवाओं से सम्बन्धित कार्य है।

3– लोक व्यय का सम्बन्ध मुख्यतः सामूहिक उपयोगी वस्तुओं एवं सेवाओं से होता है, जबकि निजी व्यय का सम्बन्ध वस्तुओं एवं सेवाओं के व्यक्तिगत उपयोग से सम्बन्धित होता है। पार्क, अजायबघर, सार्वजनिक, पुस्तकालय आदि जो सार्वजनिक उपयोग से सम्बन्धित है, पर व्यय सरकार द्वारा किया जाता है।

6.4.2 वैगनर नियम की समीक्षा

19वीं शताब्दी में बढ़ते लोक व्यय की प्रवृत्ति पर आधारित एडोल्फ वैगनर का नियम जर्मनी की अर्थव्यवस्था के साथ अन्य अर्थव्यवस्थाओं के लिए भी अत्यधिक प्रासंगिक रहा। विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं

की आन्तरिक तथा वाह्य विशेषताओं में अन्तर के कारण इस नियम को अनेक दृष्टिकोणों से आलोचनाओं का भी समाना करना पड़ा है। मसग्रेव ने अपने आनुभाविक अध्ययन के आधार पर स्पष्ट किया कि लोक व्यय के हिस्से तथा प्रति व्यक्ति आय में सकारात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया। प्रतिव्यक्ति आय बढ़ाने के साथ लोक व्यय में बृद्धि का जारी रहना आवश्यक नहीं हैं इसके साथ वैगनर की समयावधि को लेकर भी आलोचना की गयी। लोक व्यय तथा विकास के मध्य सम्बन्धों में समय तत्व को स्थान नहीं दिया गया है। समय तत्व आर्थिक नियमों का महत्वपूर्ण घटक है। इसके साथ लोक व्यय में होने वाली बृद्धि की आन्तरिक वृद्धियों का जिक्र वैगनर के नियम में नहीं किया गया है।

वर्तमान में वैश्विक अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत निजीकरण के दौर में लोक व्यय तथा विकास के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। निजी क्षेत्र द्वारा भी बड़ी–बड़ी परियोजनाओं तथा बृहद क्षेत्रों में भी निवेश किया जा रहा है तथा लोक व्यय में बृद्धि के कारणों में भी बहुदिशीय परिवर्तन नजर आ रहा है।

उपर्युक्त विश्लेषण के बाद भी वैगनर का नियम प्रगतीशील कल्याणकारी राज्यों के सम्बन्ध में अत्यधिक प्रासंगिकता रखता है।

6.4.3 विकासशील राष्ट्रों में विकास व्यय बढ़ने के कारण

विकासशील राष्ट्रों के सामने आर्थिक समस्याओं के साथ–साथ सामाजिक तथा अन्य चुनौतियाँ भी समय–समय पर पैदा होती रहती हैं। इस समस्याओं एवं चुनौतियों को दूर करने के लिए सरकारों को आवश्यक कदम उठाने होते हैं। ''विकासशील राष्ट्रो की मुख्य समस्या आर्थिक विकास की गति को बढाना होता है ताकि शेष विश्व के राष्ट्रो के साथ आर्थिक मुद्दों पर सामन्जस्य स्थापित किया जा सके। इस राष्ट्रों में आर्थिक विकास की दर को तीव्र करने के लिए अत्याधिक मात्रा पूंजी निवेश की आवश्यकता होती है। इन देशों में बड़ी–बड़ी परियोजनाओं एवं उपक्रमों को स्थापित करना होता है निजी क्षेत्र के पास इतनी अत्याधिक मात्रा में निवेश कर पाने की क्षमता नहीं है। इस निवेश में निजी क्षेत्र को प्रेरित करने के लिए भी अन्य दूसरे सहायक क्षेत्रों में सरकार को ही निवेश करना होता है। इसीलिए आर्थिक विकास का प्रयास चाहे प्रत्यक्ष सरकार द्वारा हो चाहे निजी क्षेत्र द्वारा अन्ततः परोक्ष रूप से सरकार द्वारा ही किया जाता है। इसके लिए सरकार को अनेक प्रकार की योजनाऐं भी संचालित करनी होती है। जो पूंजी निवेश को संरक्षित करती है।

आर्थिक विकास की अलग–अलग अवस्थाओं में जनता का जीवन स्तर भी परिवर्तित होता रहता है तथा सामूहिक लोक कल्याणकारी सुविधाओं के उपभोक्ताओं की संख्या आदि में भी बदलाव आता है। इसी लिए सरकार को इस क्षेत्र पर भी भारी मात्रा में कल्याणकारी लोक व्यय करना होता है। इसका दूसरा पहलू भी अत्यन्त ही रोचक है जनसंख्या वृद्धि जो स्वयं अशिक्षा, परम्परागत समाज जैसी समस्याओं से ही एक समस्या पैदा हुई है। लोक तांत्रिक राष्ट्रों में जनसंख्या सम्बन्धी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय करना सरकार की मजबूरी बन जाती है। जो लोक व्यय में वृद्धि का कारण बन जाती है।

बढ़ती जनसंख्या के कारण राष्ट्रों में आन्तरिक अशान्ति, बेरोजगारी गरीबी, असन्तुलित विकास, आर्थिक विषमता जैसी अनेक समस्याऐं पैदा हो रही है। इन सभी समस्याओं को दूर या कम करने के लिए सरकार को निवेश एवं प्रत्यक्ष कल्याणकारी व्यय भारी मात्रा में करना पड़ता है। विकासशील राष्ट्रों की ये समस्याऐं इस प्रकार की हैं कि लोक व्यय के अभाव में इनका समाधान सम्भव नहीं होता है। और न ही निजी क्षेत्र द्वारा किये जाने वाले व्यय से इन समस्याओं को दूर किया जा सकता है। यहां आपको ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है कि बढ़ती जनसंख्या की समस्या लोक व्यय की प्रवृत्ति दो तरफ से प्रभावित होती है प्रथमतः बढ़ती जनसंख्या को रोकने के लिए केवल सरकारी प्रयास अत्यन्त सार्थक सिद्ध होते है। चूंकि बढ़ती जनसंख्या के लिए मुख्य रूप से जनता ही जिम्मेदार है अतः निजी क्षेत्र द्वारा इस दिशा में व्यय किया जाना सम्भव नहीं है। शिक्षा, स्वास्थ्य, जागरूकता कार्यक्रम आदि के प्रचार प्रसार द्वारा लोक व्यय की प्रवृत्ति प्रभावित होती है दूसरी ओर जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न समस्याओं के निराकरण हेतु भी लोक व्यय का ही सहारा लिया जाना प्रासंगिक है। इसी तथ्य के समानान्तर गरीबी तथा बेरोजगारी की समस्या से भी लोक व्यय में वृद्धि की प्रवृत्ति पैदा होती है तथा समयानुसार गरीबी व बेरोजगारी के स्वरूप से लोक व्यय की प्रवृत्ति में परिवर्तन उत्पन्न होते है जो वैगनजर के नियम का भी अनुसरण कर सकते हैं।

6.5 लोक व्यय के वाइजमैन का नियम

लोक व्यय के एडौल्फ वैगनर के नियम को आप भंली भांति समझ गये होंगे। लोक व्यय के दूसरे पक्ष से जुड़ा एक अन्य महत्वपूर्ण वाइजमैन पीकॉक का नियम अपना अलग महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वाइजमैन पीकॉक ने अपनी पुस्तक ''The Growth of public Expenditure in the United Kingdome'' जो 1961 में प्रकाशित हुई, में अपने देश में 1890 से 1955 तक के लोक व्यय सम्बन्धी आंकड़ों के अध्ययन के पश्चात इस नियम को स्पष्ट किया। इस नियम के अनुसार लोक व्यय के बारे में निर्णय राजनैतिक आधार पर लिए जाते हैं। सार्वजनिक विचारधारा, लोक व्यय सम्बन्धी राजनैतिक निर्णयों को प्रभावित करती है। यह परिकल्पना लोक व्यय की वृद्धि के स्वरूप तथा ढॉचे में परिवर्तन के विश्लेषण से सम्बन्धित है।

पीकॉक वाइजमैन विश्लेषण सार्वजनिक व्यय निर्धारण के राजनैतिक सिद्धान्त पर आधारित है। उनके अनुसार, लोक व्यय के बारे में निर्णय राजनैतिक आधार पर लिए जाते है। सार्वजनिक विधारधारा जो मतपेटी के माध्यम से व्यक्त होती है, लोकव्यय के सम्बन्ध में लिए गए राजनैतिक निर्णयों को प्रभावित करती है। अन्य शब्दों में, लोक व्यय का स्तर जनमत अथवा मतदान द्वारा प्रभावित होता है, यह कथन यथार्थपरक है, क्योंकि वास्तविक जीवन में हम देखते है कि लोक व्यय को नागरिक अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से प्रभावित करते है चुनाव के पश्चात गरीबी उन्मूलन हेतु किए जाने वाले व्यय कार्यक्रम तथा किसी प्रतिनिधि विशेष के चुनाव क्षेत्र का विकास इसके उदाहरण है। प्रजातन्त्र में नागरिक उन प्रतिनिधियों का चयन करना चाहता है जिनसे उन्हें अधिकतम लाभ मिल सकता हो, प्रतिनिधि भी राज्य के व्यय कार्यक्रम को इस तरह प्रभावित करना चाहते है ताकि उनका प्रतिनिधित्व सरकार में बना रहे। पीकॉक एवं वाइजमैन की धारणा है कि मतदाता सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं का लाभ तो लेना चाहता है लेकिन उनके बदले में कुछ भी चुकाने को सामान्य रूप से तैयार नहीं होता है। इस आधार पर लोक व्यय का निर्धारण करते समय सरकार द्वारा इस तथ्य को ध्यान में रखा जाता है कि सम्बन्धित कराधार के प्रस्ताव पर मतदाताओं की क्या प्रतिक्रिया है क्योंकि सरकार से जुडे

जनप्रतिनिधियों को एक निर्धारित समय के बाद उन्हें मतदाताओं के क्षेत्र में जाना होता है इसी लिये उनका विचार है कि कराधान का एक सहन स्तर होता है इस स्तर से अधिक कर लगाने पर करदाता सरकार के फैसलों का विरोध करने लगते हैं।

आपको यहां ध्यान देना होगा कि कुछ विशेष परिस्थितियों में शारीरिक व्यय में वृद्धि हो जाती है जैसे युद्ध के समय निजी एवं राष्ट्र की सुरक्षा से प्रेरित होकर जनता कराधान के ऊचें स्तर को सहन करने के लिये तैयार हो जाती है। युद्ध की समाप्ति के बाद शारीरिक व्यय में कुछ कमी आ जाती है लेकिन कुछ समय के बाद बडे हुये कराधान के एक बडे भाग को सहन करने के लिये जनता भविष्य में भी तैयार बनी रहती है।

वाइजमैन पीकॉक ने अपने अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि युद्ध के बाद ब्रिटेन के सरकारी व्यय में कमी आई परन्तु यह कमी घटकर युद्ध के पूर्व के स्तर पर नहीं आई तथा राष्ट्रीय आय में लोक व्यय का अनुपात युद्ध के तुरन्त पहले के स्तर की तुलना में बहुत अधिक रहा। इस प्रकार लोक व्यय में यह वृद्धि स्थायी रूप में रही। इस स्थायी वृद्धि की आन्तारिक प्रवृत्ति को देखने पर स्पष्ट होता है कि यह स्थायी वृद्धि स्थिर वृद्धि के रूप में नहीं होती है बल्कि यह पेड़ीदार अर्थात् अनियमित रूप में सीढ़ीदार होती है। आपको यहां ध्यान देना होगा कि लोक व्यय का आकार एवं प्रवृत्ति लोक आगम द्वारा भी प्रभावित होती है। आपातकाल में जनता पर अधिक करों की वसूली की जाती है। राष्ट्रीय सुरक्षा आदि कारणों से जनता इस अधिक कर के भार को सहन करने के लिए तैयार हो जाती है और एक निश्चित समय अवधि के बाद जनता इस कर राशि को सहन करने की आदी हो जाती है जिससे सरकार के आय में स्थिर वृद्धि हो जाती है जिसे लोक व्यय के द्वारा संतुलित किया जाता है। सामान्य स्थितियों में कर का यह स्तर मौजूद रहता है तथा युद्ध जैसी आपातकालीन स्थिति में लोक आगम इसी बढ़े हुए स्तर से आगे ही बढ़ता है। युद्ध स्थिति तथा सामान्य स्थिति या मन्दी की स्थितियों के पैदा होने पर इस लोक आगम में स्थायी वृद्धि के कारण लोक व्यय में भी स्थायी लेकिन पेड़ीदार वृद्धि होती है। युद्धोत्तर काल में लोक व्यय में स्थायी वृद्धि होती है लेकिन युद्ध काल की तुलना में कम होगी।

वाइजमैन पीकॉक ने अपने लोक व्यय सम्बन्धी नियम को भली–भांति स्पष्ट करने के लिये कुछ अवधारणाओं का भी सहारा लिया जिसमें प्रतिस्थापन प्रभाव, निरीक्षण प्रभाव, कर सहनशीलता तथा केन्द्रीयकरण प्रभाव को मुख्य रूप से जाना जाता है।

प्रतिस्थापन प्रभाव के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया गया कि युद्ध काल के बढते हुये लोक व्यय की पूर्ति के लिये लोक सत्तायें करों को बढा लेती हैं। तथा आवश्यकता पडने पर लोक ऋण का भी सहारा लेती हैं। क्योंकि करों के बढाने एवं लोक ऋणों की व्यवस्था करने के कारण निजी क्षेत्र द्वारा किया जाने वाला व्यय सार्वजनिक क्षेत्र में होने वाला व्यय के रूप में प्रतिस्थापित हो जाता है। युद्ध की समाप्ति के बाद सरकार के पास जो अतिरिक्त आगम होता है वह युद्ध पर खर्च न होकर सामान्य लोक व्यय के रूप में प्रतिस्थापित हो जाता है।

निरीक्षण प्रभाव के अन्तर्गत युद्ध तथा अन्य किसी संकट काल में लोक व्यय में बढोत्तरी होने पर लोक सत्ताओं द्वारा समीक्षा की जाती है और बढते लोक व्ययों की वित्त व्यवस्था के समायोजन के लिये सहमति की जाती है।

संकट के समय लोकव्यय में वृद्धि होने पर जनता पर करारोपण का भार बढ़ जाता है लेकिन जनता द्वारा करारोपण के अधिक भार को सहन करने की क्षमता बढ़ जाती है। जिसे कर सहनता के रूप में उल्लिखित किया गया।

देश में प्रत्येक संकटकाल के पश्चात अर्थव्यवस्था में लोक सत्ताओं की भूमिका बढ जाती है। इस वृद्धि को भी केन्द्रीयकरण प्रभाव कहा जाता है। जहां पर यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि स्थानीय तथा राज्य सरकारों की तुलना में केन्द्र सरकार के लोक व्यय में तीव्र वृद्धि होती है।

6.5.1 वाइजमैन पीकॉक के नियम की सीमाऐं

वाइजमैन पीकॉक के नियम को आप समझ गयें होंगे लेकिन इस नियम के सरल एवं विश्लेषणपूर्ण होने के साथ–साथ यह व्यवहारिक रूप से पूर्ण खरा नहीं उतरता है। यह तर्क ठीक है कि आपातकाल में लोक व्यय में वृद्धि के साथ लोक आगम की व्यवस्था आसानी से हो जाती है लेकिन लोक व्यय की वृद्धि की प्रवृत्ति इस प्रकार इस नियम के अनुसार नहीं पायी जाती है। इस नियम में लोक व्यय में वृद्धि का कारण आपातकाल को बताया है लेकिन आपातकाल के साथ अन्य विकासात्मक व संस्थागत सुधारों के कारण भी लोक व्यय में वृद्धि हो जाती है। सरकार के चुनाव तथा शासन सत्ताओं पर लगातार कब्जा बनाये रखने के कारण भी लोक आगम तथा लोक व्यय में लगातार वृद्धि होती है। जो इस नियम के लागू होने के आधार नहीं है।

आर्थिक सुधारों के दौर में इस नियम के मुख्य आधारों को अधिक जोर से समर्थन नहीं किया जा सकता है। औद्योगीकरण, शहरीकरण तथा राजघरानों के विकास के कारण भी इस नियम को गहरा धक्का लग रहा है। जनसंख्या एवं जनसंख्या की बढ़ती आदतें, आवश्यकताओं के कारण भी सरकारों को अत्यधिक लोक व्यय का सहारा लेना पड़ रहा है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में सरकार की घटती भूमिका के सम्बन्ध में भी इस नियम की क्रियाशीलता के ठोस कारण या आधार नहीं ढूंढे जा सकते है।

सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के पश्चात यह विश्लेषण उचित होगा कि इन सिद्धान्तों का भारत में कहां तक पालन किया जा रहा है–

लाभ का सिद्धान्त– भारत में सार्वजनिक व्ययों में लाभ के सिद्धान्त का अधिकतम पालन करने का प्रयास किया जा रहा है। इस दृष्टि से व्ययों को विभिन्न विकासात्मक, प्रशासनिक और सुरक्षात्मक कार्यो में इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि समाज को अधिकाधिक लाभ मिल सके।

मितव्ययिता का सिद्धान्त– भारत में सैद्धान्तिक रूप से तो मितव्ययिता के सिद्धान्त को अपनाने पर जोर दिया जाता रहा है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से प्रशासनिक शिथिलता और अकुशलता के कारण इस सिद्धान्त का नाममात्र को ही पालन हो पाता है।

स्वीकृति का सिद्धान्त– भारत में वैधानिक दृष्टि से स्वीकृति के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से अपनाया गया हैं इसके अन्तर्गत संसद अथवा विधानसभा से व्ययों की स्वीकृति के पश्चात उनके सम्बन्ध में प्रशासकीय स्वीकृति और तकनीकी स्वीकृति पर भी जोर दिया जाता है। स्वीकृति के सिद्धान्त के पालन की जांच के लिए अकेक्षण का प्रावधान भी है।

बचत का सिद्धान्त– भारत एक विकासशील राष्ट्र है और आर्थिक नियोजन के माध्यम से विकास योजनाओं में संलग्न है। इस दृष्टि से भारत में बचत के सिद्धान्त का पालन नहीं हो पाया है और प्रायः सभी राज्यों और केन्द्रीय सरकार द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था की नीति अपनायी जा रही है।

लोच का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त को आंशिक रूप से ही अपनाना सम्भव हो सका है, क्योंकि सरकारी कार्य क्षेत्र और उत्तरदायित्वों में वृद्धि होने के कारण व्यय निरन्तर बढते रहे है। और आय कम होने पर व्ययों को उसी के अनुसार कम करने में कठिनाइयां रही है।

उत्पादन का सिद्धान्त– सरकार ने नीति के रूप में उत्पादकता के सिद्धान्त को अपनाया है लेकिन मितव्ययिता के सिद्धान्त का पूरा पालन न होने के कारण उत्पादकता के सिद्धान्त का भी पूरी तरह पालन नहीं हो पाता।

समान वितरण का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त का एक बडी सीमा तक पालन किया गया है और पिछड़े, अविकसित तथा पहाड़ी क्षेत्रों और निर्धन वर्गो पर बड़ी मात्रा में व्यय किया जा रहा है।

समन्वय का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त को भी लगभग पूरी तरह अपनाया गया है। केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय सरकारों के मध्य आय और व्ययों के स्रोतों के स्पष्ट विभाजन तथा उचित समायोजन की व्यवस्था है।

6.6 सारांश

लोक सत्ताओं द्वारा लोक व्यय को उचित तथा कुशलतापूर्ण बनाये रखने के लिए लोक व्यय के नियमों की अत्यन्त आवश्यकता है, ताकि लोक कल्याण के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकें। इसी सम्बन्ध में अनेक नियमों का प्रतिपादन किया गया है जिसमें वैगनर तथा वाइजमैन पीकॉक के नियम अपना अलग–अलग महत्वपूर्ण स्थान रखते है। वैगनर के नियम के अनुसार प्रगतिशील राष्ट्रों में केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारों में विस्तृत तथा गहन स्तर पर लोक व्यय में वृद्धि करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ये लोक व्यय में प्रवृत्ति अनेक प्रकार के परम्परागत तथा नवीन क्रियाकलापों द्वारा प्रभावित होती है। इसके साथ वैगनर के नियम में समयावधि की उपेक्षा की गयी है जो इस नियम को कमजोर बनाती है।

वाइजमैन पीकॉक का नियमUnited Kingdome में उनके अनुभवों पर आधारित था। इस नियम के अनुसार आपातकाल में लोक व्यय में वृद्धि स्थायी होने के साथ–साथ स्थिर न होकर पेढ़ीदार अर्थात् सीढीनुमा होती है तथा यह लोक व्यय की प्रवृत्ति जनता पर लगने वाले कर की सहनशीलता द्वारा प्रभावित होती है।अर्थशास्त्रियों द्वारा वाइजमैन पीकॉक के नियम की क्रियाशीलता में अनेक प्रकार के

अन्य तत्वों जैसे शहरीकरण, औद्योगीकरण, बढ़ती जनसंख्या एवं उसकी आदतें आदि को शामिल न करने की आलोचना की है।

6.7शब्दावली

आर्थिक विकास– आर्थिक क्षेत्रों में दीर्घकालीन संस्थागत परिवर्तन ही आर्थिक विकास है परन्तु यह परिवर्तन धनात्मक रूप से होते है।

केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकार– केन्द्रीय सरकार से तात्पर्य राष्ट्रीय स्तर की सरकार से तथा स्थानीय सरकार से तात्पर्य ग्रामीण तथा शहरी निकायों की सरकारों से है।

विस्तृत और गहन वृद्धि– विस्तृत वृद्धि से तात्पर्य नये कार्यो एवं मदों पर व्यय वृद्धि से तथा गहन वृद्धि से तात्पर्य पुरानी मदों पर पूर्व से अधिक व्यय करने से है।

धन का पुनर्वितरण– धन के पुनर्वितरण से तात्पर्य लोगो की आय की संरचना में बदलाव से है। सामान्य रूप से गरीबी की आय में वृद्धि करने के प्रयास शामिल किये जाते है।

वैश्विक अर्थ व्यवस्था– विश्व के राष्ट्रों की अर्थ व्यवस्थाओं का आपस में आर्थिक मुद्दों पर अन्तर्सम्बन्धित होना ही वैश्विक अर्थव्यवस्था कहलाता है।

निजीकरण– सार्वजनिक संस्थाओं एवं उपक्रमों को निजी स्वार्मित्व एवं अधिकार में आना ही निजीकरण कहलाता है।

आर्थिक सुधार– देश की अर्थव्यवस्था में ऐसे सुधार जो आर्थिक विकास की गति को तीव्र करते है।

6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न संख्या–1 लोक व्यय के नियमों की आवश्यकता को संक्षेप में लिखो?

प्रश्न संख्या–2 वैगनर का नियम किन सरकारों के सम्बन्ध में लागू होता है? संक्षेप में लिखो?

प्रश्न संख्या–3 वैगनर के अनुसार लोक व्यय में किस प्रकार की बृद्धि की प्रवृत्ति पायी जाती है?

प्रश्न संख्या–4 सही (√) तथा गलत (X) का चयन कीजिए?

(क) वैगनर का नियम प्रगतिशील राष्ट्रों में लागू होता है।

(ख) वैगनर के अनुसार लोक व्यय में केवल गहन बृद्धि की प्रवृत्ति होती है

(ग) वाइजमैन पीकॉक का नियम 1890 से 1955 तक के लोक व्यय के अनुभवों पर आधारित है।

(घ) वाइजमैन पीकॉक के अनुसार लोक व्यय में बृद्धि स्थायी तथा पेढ़ीदार होती है।

प्रश्न संख्या–5 निम्न कथनों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(क) The Growth of Public Expenditure in the United Kingdome पुस्तक सन्.....में प्रकाशित हुई।

(ख).....का नियम आपातकाल तथा मंदी की स्थिति में लागू होता है।

(ग) युद्ध उपरान्त जनता में कर सहनशीलता में .....होती है।

(घ) वैगनर के नियम में.....तत्व को स्थान नहीं दिया गया।(समय, बृद्धि, 1961, वाइजमैन पीकॉक)

हल– प्रश्न संख्या 4 का उत्तर– (क) सही, (ख) गलत, (ग) सही, (घ) सही

प्रश्न संख्या 5 का उत्तर– (क) 1961, (ख) वाइजमैन पीकॉक, (ग) वृद्धि, (घ) समय

6.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

- भाटिया, एच0एल (2006)–लोक वित्त (Public Finance), विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0 जंगपुरा, नई दिल्ली।
- पंत, जे0सी0 (2005)–राजस्व (Public Finance),लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
- 3. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997)– राजस्व, साहित्य भवन पब्लिकेशन हास्पीटल रोड, आगरा।
- सिंह, एस0के0 (2013)–लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

6.10 सहायक/उपयोगी ग्रंथ

1.दत्त एवं सुन्दरम (2011)–भारतीय अर्थव्यवस्था, एस चन्द एण्ड क0 लि0, नई दिल्ली।

2.सेठी, टी0टी0 (2005)–मुद्रा बैकिंग एवं लोकवित्त लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, संजय प्लेस, आगरा।

3. मिश्र, जगदीश नारायण (2011)–भारतीय अर्थव्यवस्था, किताब महल पब्लिशर्स, हरिसदन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

6.11 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न संख्या–1 लोक व्यय से सम्बन्धित वैगनर के नियम की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?

प्रश्न संख्या–2 लोक व्यय के नियमों की आवश्यकता को बताते हुए वाइजमैन पीकॉक नियम की व्याख्या कीजिए?

प्रश्न संख्या–3 विकासशील देशों के संदर्भ में लोक व्यय के नियमों की प्रासंगिता को स्पष्ट कीजिए?

प्रश्न संख्या–4 वैगनर तथा वाइजमैन पीकॉक के नियमों के मुख्य अन्तरों को स्पष्ट कीजिए?

इकाई–7 लोक व्यय का प्रभाव – उत्पादन, वृद्धि, वितरण और स्थरीकरण

इकाई संरचना

7.1 प्रस्तावना

7.2 उददेश्य

7.3 लोक व्यय के प्रभाव

7.3.1 लोक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव

7.3.2 लोक व्यय का वृद्धि पर प्रभाव

7.3.3 लोक व्यय का वितरण पर प्रभाव

7.4 लोक व्यय एवं स्थिरीकरण

7.5 लोक व्यय के प्रभावों की सीमाऐं

7.6 सारांश

7.7 शब्दावली

7.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.10 सहायक /उपयोगी पुस्तक सूची

7.11 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

यह लोक व्यय खण्ड की सातवीं इकाई है जो लोक व्यय के प्रभावों पर आधारित है। इससे पूर्व की इकाई में आपने लोक व्यय के नियमों को भंली भांति समझा होगा जिसमें वैगनर तथा वाइजमैन पीकॉक के नियमों पर मुख्य रूप से ध्यान दिया गया। प्रस्तुत इकाई में आप लोक व्यय के अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़ने वाले प्रभावों से परिचित हो सकेंगे। जिससे उत्पादन, बृद्धि, वितरण और स्थिरीकरण पर पड़ने वाले प्रभावों को शामिल किया गया है।लोक व्यय का उत्पादन पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। प्रत्यक्ष प्रभावों के साथ परोक्ष रूप से भी प्रभावित करता है। बृद्धि को तीव्र बनाने में लोक व्यय अत्यधिक उपयोगी है। आय का समान वितरण तथा स्थिरीकरण की दशा में लोक व्यय को सरकारों द्वारा एक उपकरण के रूप में अपनाया जाता है। अतः इन पक्षों पर लोक व्यय के प्रभावों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।उत्पादन, वृद्धि, वितरण तथा स्थिरीकरण पर पड़ने वाले लोक व्यय के प्रभावों का विश्लेषण से आप लोक व्यय की अर्थव्यवस्था के लिए उपयोगिता का अनुमान लगा सकते है। लोक व्यय से प्रभावित ये सभी पक्ष आपस में गहरा अन्तसम्बन्ध रखते है, जिसे प्रस्तुत इकाई के माध्यम से आप भंली भांति समझ सकेंगे।

7.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप भंली भांति समझ सकेंगे कि–

1. लोक व्यय अर्थव्यवस्था को किस दिशा एवं रूप में प्रभावित करता है तथा इन प्रभावों का स्वरूप क्या है?

2. लोक व्यय का उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों को आप भंली भांति समझ सकेंगे तथा उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों के स्वरूप को भी आप समझेंगे।

3. आर्थिक वृद्धि पर लोक व्यय का क्या प्रभाव पड़ता है तथा वितरण लोक व्यय द्वारा किस प्रकार एवं किस रूप में प्रभावित होता है।

4. आर्थिक स्थायित्व को बनाये रखने के लिए लोक व्यय कितना सार्थक है तथा यह लोक व्यय से कहां तक प्रभावित होता है।

5. उत्पादन, वृद्धि, वितरण तथा स्थिरीकरण पर पड़ने वाले लोक व्यय के प्रभाव किस सीमा तक क्रियाशील होते है?

7.3 लाक व्यय के प्रभाव

प्राचीन काल में लोक व्यय राज्य के क्रिया कलापों को संचालित करने का एक उपकरण था लेकिन वर्तमान में लोक व्यय न केवल राज्य के क्रिया कलापों को चलाने के साथ–साथ सरकारों को चलाने का भी एक महत्वपूर्ण उपकरण बन गया है। राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं की प्रकृति के अनुसार लोक व्यय का प्रभाव अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग स्तर पर पाया जाता है। इसीलिए लोक व्यय वर्तमान में महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है। सरकारों का मुख्य ध्यान लोक आगम की अपेक्षा लोक व्यय पर केन्द्रित किया जा रहा है। अर्थव्यवस्था का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जो लोक व्यय के प्रभाव से अछूता रहता हो।

आपको यहां पर ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है कि लोक व्यय के प्रभाव दो रूपों में पड़ते है प्रथमतः प्रभाव आपको स्पष्ट रूप से दिखाई देते है तथा द्वितीयतः प्रभावों पर आम जनता की नजर पहुॅचना अधिक आसान नहीं है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि द्वितीयतः प्रभाव प्रथमतः प्रभावों से कमजोर है। लोक व्यय का कोई भी प्रभाव एक दूसरे से कितना प्रबल व निर्वल है यह इस बात पर निर्भर करता है कि प्रभावित होने वाला क्षेत्र कितना संवेदनशील क्षेत्र है? लोक व्यय के प्रभावों की विवेचना आगे के शीर्षकों के अन्तर्गत भंली भांति रूप से स्पष्ट की जा सकती हैं।

7.3.1 लोक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव

आपको यहां पर लोक व्यय के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों की प्रवृत्ति से परिचित किया जायेगा। लोक व्यय का उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों का प्राचीन काल में भी महत्वपूर्ण स्थान रहा तथा वर्तमान में भी लोक व्यय अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। अर्थव्यवस्था की प्रकृति किसी भी प्रकार की हो या उसका आकार कैसा भी क्यों न हो? लोक व्यय के बिना उत्पादन सम्बन्धी अनेक निर्णयों को ले पाना सम्भव नहीं है।

लोक व्यय के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण तथ्य पर विचार करना आपके लिए अत्यन्त उपयोगी होगा कि अर्थव्यवस्था के संसाधनों पर स्वामित्व अधिकार की स्थिति क्या है? संसाधनों पर निजी स्वामित्व तथा अधिकार है तो लोक व्यय का प्रभाव उत्पादन पर अलग दिशा में होगा और यदि संसाधनो पर सरकार का स्वामित्व तथा अधिकार है तव लोक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव अत्यन्त तीव्र तथा गहन होता है। इसके साथ आर्थिक नियमों की भांति उत्पादन केवल आर्थिक संसाधनों पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक पर एक बड़ी सीमा तक निर्भर रहता है। उत्पादन से जुड़ा एक अन्य अहम तत्व मानवीय व्यवहार है जो लोक व्यय से काफी प्रभावित होता है।सरकारों का दायित्व है कि वह अपनी जनता की मूल भूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हरदम प्रयास करें। इस मूल भूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकार को ऐसे आवश्यक उत्पादन को अपने हाथों में लेना होता है। ऐसी स्थिति में उत्पादन के सभी साधनों को एकत्रित एवं समायोजित करने के लिए लोक व्यय को एक उपकरण के रूप में अपनाना होता है। सामाजिक आर्थिक सेवाओं के उत्पादन पर भी सरकार को भारी मात्रा में व्यय करना होता है जैसे स्वास्थ सुविधाऐं, शिक्षा व्यवस्था, परिवहन सेवाऐं, सुरक्षा व्यवस्था, सिचांई योजनाऐं, न्यायालय व्यवस्था, जलकल व्यवस्था आदि पर भारी मात्रा में लोक व्यय का सहारा लिया जाता है।

आपको सामान्य रूप से समझाया जा सकता है कि इन उत्पादनों पर लोक व्यय का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। लोक व्यय जितना अधिक होगा उत्पादन का स्तर भी उतना ही ऊंचा होगा। सरकार कुछ उत्पादन कार्य को स्वयं अपने हाथ में नहीं लेती है लेकिन उत्पादन में वृद्धि करने के लिए निजी व्यक्तियों को प्रोत्साहन हेतु लोक व्यय का सहारा लेती है। यह लोक व्यय जनता में उत्पादन बढ़ाने हेतु प्रेरणा पैदा करता है।लोक व्यय का उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव को प्रो0 डाल्टन के इस कथन से भंली भांति समझाा जा सकता है– ''जब सरकार स्वास्थ्य, मकानों और सामाजिक सुरक्षा पर व्यय करती है या बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करती है तो यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विनियोग होता है जो भौतिक पूंजी के स्थान पर मानवीय पूंजी का निर्माण करता है।''प्राचीन काल की अपेक्षा वर्तमान सरकारों द्वारा लोक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव इस दिशा में बढ़ता जा रहा है।

लोक व्यय उत्पादन पर कार्य निवेश तथा बचत के माध्यम से भी प्रभाव डालता है। आपको शायद यह ज्ञात हो कार्य करने की क्षमता निवेश का स्तर तथा बचत करने की क्षमता एवं स्तर उत्पादन के स्तर तथा गुण्वत्ता दोनों पर ही प्रभाव डालता है। लोक व्यय कार्य, निवेश तथा बचत की क्षमताओं एवं स्तर को सीधे तौर पर प्रभावित करता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना होता है कि सरकार

द्वारा किये जाने वाला लोक व्यय कही लोगों के मध्य कार्य निवेश तथा बचत को विपरीत रूप से प्रभावित नहीं कर रहा है, ऐसी स्थिति में उत्पादन भी बढ़ने के स्थान पर घटना प्रारम्भ होता है। लोक व्यय में वृद्धि होने पर आर्थिक क्रियाओं का विस्तार होता है जिससे उत्पादन में बृद्धि होना स्वाभाविक है।सरकार को चाहिए कि लोक व्यय को उत्पादन कार्यों पर ही करना चाहिए। अपव्यय तथा अनुत्पादक कार्यों पर किये जाने वाले लोक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव वांछित दिशा में नहीं पड़ सकता है। लोक व्यय का उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव को एक अन्य दिशा में भी देखा गया है यदि लोक व्यय वर्तमान उत्पादन क्रिया के लिए किया गया है या भविष्य की उत्पादन योजनाओं के लिए। दोनों ही दिशाओं में लोक व्यय का उत्पादन पर अलग–अलग स्तर पर प्रभाव पड़ता है।लोक व्यय से उत्पादन के साधन वर्तमान से भविष्य की ओर हस्तान्तरित होते हैं। जब सरकार द्वारा पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन के लिये किसी कार्य योजना पर बल देती है तब संसाधनों का हस्तातरण भविष्य की ओर होता है और विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती जाती है परिणाम स्वरूप अर्थव्यवस्था में उत्पादन शक्ति का विकास होता है। साधनों के इस हस्तान्तरण के लिये भारी उद्योग एवं बहुउद्देशीय नदी घाटी परियोजनाओं को प्राथमिकता दी जाती हैं। इन भारी उद्योग एवं परियोजनाओं पर निजी क्षेत्र की अपेक्षा लोक सत्ताओं द्वारा सही ढंग से कुशलतापूर्ण कार्य किया जा सकता है क्योंकि इस का सम्बन्ध सामूहिक लोक कल्याण एवं राष्ट्र निमार्ण से होता है।

विकासशील देशों में राज्य आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिये व्यक्तियों , निजी संस्थाओं को ऋण व अनुदान आदि देता है ताकि ये सब मिलकर अपने – अपने क्षेत्र में साधनों का सदुपयोग कर उत्पादन के स्तर को बढ़ा सके ।साधनों के हस्तान्तरण के सम्बन्ध में इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है कि जब साधनों को मानवीय संसाधनों के विकास की ओर हस्तान्तरित किया जाता है तब उत्पादन के स्तर में अनुकूल असर दिखाई देने लगता है इस सन्दर्भ में डाल्टन का कहना है कि **"**जब सरकार स्वस्थ्य, मकानों और सामाजिक सुरक्षा पर व्यय करती है या बच्चों को निशुल्क शिक्षा प्रदान करती है तो यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विनियोग होता है जो भौतिक पूंजी के स्थान पर मानवीय पूंजी का निर्माण करता है।**"**

प्राचीन अर्थशास्त्रीयों का विचार था कि साधनों के हस्तान्तरण से आर्थिक विकास नहीं किया जा सकता है उनका विश्वास था कि आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए।यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि राज्य द्वारा साधनों का हस्तान्तरण लाभप्रद हो या हानिप्रद ? इस प्रश्न का उत्तर देश की परिस्थितियों पर निर्भर करता है । उदाहरण के लिये सुरक्षा व्यय को ही लें। आज प्रत्येक देश बाह्म आक्रमण से अपने को सुरक्षित रखना चाहता है। शीत – युद्ध की आशंका से भी देश अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना चाहते है कुछ लोग यहां यह भी कह सकते हैं कि यदि सुरक्षा – व्यय में कमी करके इसे विकास कार्यों में लगाया जाता तो देश प्रगति कर सकता था, परन्तु हमेशा यह कथन सत्य नहीं है । यदि देश में हमेशा शान्ति व सुरक्षा बनी रहे, तो इससे देश का निरन्तर विकास होगा देश उत्तरोत्तर आर्थिक प्रगति करता रहेगा। इस प्रकार सुरक्षा सम्बन्धी व्यय पूर्ण रूप से आवश्यक एवं उत्पादक है। परन्तु यहां इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि सुरक्षा– व्यय एक सीमा से आगे न बढ़े। यदि विश्व के सभी राष्ट्र इस बात के लिये सहमत हो जाते हैं कि **'**सुरक्षा परिषद**'** के ही समान **'**विश्व सेना**'** का गठन कर दिया जाये, जो सब देशों की सुरक्षा के लिये उत्तरदायी होगा, यदि इसके बाद भी कोई राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिये व्यय करता है, तो ऐसा सुरक्षात्मक व्यय अनुत्पादक होगा ।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि यदि सरकार सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक स्वार्थों से अलग होकर सार्वजनिक व्यय करे तो प्रत्येक प्रकार का सार्वजनिक व्यय उत्पादक हो सकता है।

7.3.2 लोक व्यय का वृद्धि पर प्रभाव

आपको यहॉ पर गम्भीरता से विचार करना होगा कि लोक व्यय का वृद्धि पर पड़ने वाले प्रभाव का सवाल विकासशील या पिछड़े देशों से मुख्य रूप से जुड़ा हुआ है। विकासशील तथा पिछड़े देश पूंजी की कमी के कारण बेरोजगारी तथा गरीबी की समस्या का सामना कर रहे है। लोक व्यय तथा वृद्धि के सम्बन्ध में लेविस के इस कथन पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है– ''अर्द्धविकसित देशों में विकास कार्यक्रमों को इस प्रकार लागू करना चाहिए कि अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का विकास समान रूप से एक साथ हो, ताकि उद्योग और कृषि, उत्पादन और उपभोग तथा उत्पादन और निर्यात में उचित सन्तुलन बना रहे।''

उक्त कथन के आधार पर आप समझ सकते है कि लोक व्यय का वृद्धि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रभाव पाया जाता है। केवल उत्पादन बढ़ाने से वृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती इसके लिए अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के महज सन्तुलन स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है।सभी अर्थशास्त्री इस मत से सहमत है कि लोक व्यय आर्थिक बृद्धि पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। वृद्धि को बनाये रखने के लिए बजट में लोक व्यय की वृद्धि बनाये रखने के साथ नयी नयी विकास मदों पर उसका आवंटन करके आर्थिक बृद्धि को तेज किया जा सकता है। वर्तमान में लोक व्यय आर्थिक वृद्धि के लिए एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण कारगर उपाय है।

7.3.3 लोक व्यय का वितरण पर प्रभाव

लोक व्यय के उत्पादन तथा वृद्धि पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करने के बाद अब आप लोक व्यय का वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों को भंली भांति समझ सकेंगे। सामान्य रूप से कर व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन एवं सुधार करके ही आय तथा धन के असमान वितरण को कम करने का प्रभाव सरकारों द्वारा किया जाता रहा है। वर्तमान में ऐसा लगता है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में असमान वितरण की समस्या को दूर करने का सरकारी प्रयास सरकारी कार्यो के संचालन का एक उपकरण बनता जा रहा है। किसी भी अर्थव्यवस्था में धन के समान वितरण की कल्पना करना अर्थव्यवस्था तथा सरकार दोनों के लिए ही एक टेढ़ी खीर सिद्ध होगा।

विकसित देशों में असमान वितरण की समस्या को कम करने के लिए प्रगतिशील करों के प्रयोग को वरीयता दी जाती है। लेकिन यदि निर्धनों पर से कर के भार को हटा लिया जाय तो इसे केवल एक अनुदान के ही रूप में समझ लिया जाय क्योंकि करों को हटाने से किसी भी देश में गरीबी एवं बेरोजगारी को दूर नही किया जा सकता है।यहां पर लोक व्यय के प्रभावों पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तो विकासशील देशों में प्रगतिशील कर प्रणाली के समान या कही अधिक लोक व्यय, आय के असमान वितरण को कम करने में सहायक होता है। प्रगतिशील सरकारें लोक व्ययों को गरीबी दूर करने के एक उपाय के रूप में अत्यधिक ओर से अपना रही है।

यहां एक तथ्य यह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि लोक व्यय किसी भी वर्ग या मद पर किया जाय लेकिन उसका अन्तिम प्रभाव गरीब तथा बेरोजगारों पर अनुकूल रूप से अवश्य पड़ता है। अर्थव्यवस्था में उत्पादन एवं बाजार व्यवस्था में गरीबों का योगदान कम नहीं आंका जा सकता है। लेकिन लोक व्यय को अमीरों पर व्यय करने से उसका प्रभाव गरीबों तक पहुॅचने में काफी समय लगता है। वही दूसरी ओर सरकार द्धारा लोक व्यय को गरीब वर्ग पर सीधे करके असमान वितरण पर अनूकूल प्रभाव डाला जाता है। प्रायः सभी प्रगतीशील सरकारें इस उपाय का प्रयोग करती रही है। सार्वजनिक निर्माण कार्यो एवं नवीन विकासात्मक कार्यों पर लोक व्यय द्धारा वितरण व्यवस्था में वांछनीय सुधार लाने का प्रयास सरकारों द्वारा किया जाता है।

लोकतांत्रिक सरकारों द्वारा गरीबों के कल्याण के चलायी जाने वाली विभिन्न विकासात्मक तथा गैर–विकासात्मक योजनाऐं पर भारी मात्रा में लोक व्यय किया जाता है जिससे गरीबों की क्रय शक्ति में वृद्धि होती है जिससे उनकी आय में सुधार के साथ–साथ अर्थव्यवस्था में मांग व पूर्ति शक्तियों के मध्य सामन्जस्य स्थापित करने में सहायता मिलती है। लोक व्यय का वितरण पर कई तरह से प्रभाव डाला जाता है। अतः लोक व्यय के वितरण पर एक तरफा पड़ने वाले प्रभावों का मापन करना इतना सरल कार्य नहीं है लेकिन महत्वपूर्ण आवश्यक है।

लोक व्यय का वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों के सम्बन्ध में प्रो0 पीगू का मत है कि कोई भी कार्य जो गरीबों की वास्तविक आय के कुल भाग में वृद्धि करता हो सामान्यतया आर्थिक कल्याण में वृद्धि करता है।लोक सत्तायें अपने राज्य के नागरिकों को एक आवश्यक न्यूनतम जीवन स्तर का आश्वासन देती हैं तथा इसके लिये राजकोषीय निति के अन्तर्गत लोक व्यय का इस प्रकार से प्रयोग करती है कि राज्य में व्याप्त बढ़ती आय तथा सम्पत्ति की अवांछनीय विसमता को दूर किया जा सके । लोक व्यय की वह पद्धति अधिक उत्तम मानी जाती है जो आय की असमानता को कम करने की क्षमता रखती हो लोक व्यय के द्वारा वितरण को प्रभावित करने के लिये निम्न विधि का प्रयोग किया जाता है जो वितरण को अलग–अलग रूपों में प्रभावित करती है ।

1. आनुपातिक लोक व्यय के द्वारा वितरण को प्रभावित किया जाता है । इस प्रणाली के अन्तर्गत समाज के व्यक्तियों को उनकी आय के अनुपात में ही लोक व्यय से सम्बन्धित लाभ या सुविधाऐं उपलब्ध कराई जाती है। जैसे मकान भत्ता में तीन प्रतिशत की वृद्धि कर दी जाये।

2. प्रतिगामी व्यय के द्वारा समाज के लोगों को प्राप्त आय की तुलना में कम अनुपात में लोक व्यय के द्वारा सुविधायें उपलब्ध करायी जाती है। विकासशील तथा पिछड़े देशों में गरीवो के लिये आवश्यक सुविधायें उपलब्ध कराने के लिये अमीर वर्ग के लिये इस प्रतिगामी लोक व्यय की रीत को अपनाया जाता है क्योंकि अमीर वर्ग को उनसे प्राप्त आय की अपेक्षा उन्हें कम अनुपात में लोक व्यय की सुविधायें प्राप्त हो पाती हैं।

3. प्रगतिशील लोक व्यय समाज में आय की अपेक्षा अधिक मात्रा में सुविधायें उपलब्ध कराता है। निर्धनों को उपलब्ध होने वाली सार्वजनिक सेवायें उनकी आय से अधिक मात्रा में उपलब्ध करायी जाती है। विकासशील तथा पिछड़े देशों में व्याप्त गरीबी, अशिक्षा, बेराजगारी जेसी समस्याओं के समाधान हेतु प्रगतिशील लोक व्यय अत्यन्त ही सार्थक सिद्ध होता है।

लोक व्यय का वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों के सम्बन्ध में निम्न तथ्य भी अत्यन्त उपयोगी है
निर्धन वर्ग के लिए निःशुल्क व्यवस्था– सार्वजनिक व्यय की नीति में यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि निर्धन वर्ग के लिए शिक्षा, चिकित्सा एवं बच्चों के लिए पौष्टिक भोजन की निःशुल्क व्यवस्था होनी चाहिए।

उपादान– सरकार उत्पादकों और वितरकों को उपादान प्रदान करके यह व्यवस्था कर सकती है कि निर्धन और मध्यम वर्ग के लोगों के लिए खाद्यान्न, वस्त्र एवं मकानों की उचित रियायती दरों पर उपलब्ध कराया जाये।

नकद अनुदान– कुछ विशिष्ट वर्गो को दिये जाने वाले नकद, अनुदान धन की वितरण व्यवस्था को सन्तुलित बनाने में योगदान देते है। इनमें वृद्धावस्था के लिए पेंशन, बीमारी भत्ता, बेरोजगारी भत्ता, मातृत्व भत्ता, विधवाओं के लिए पेंशन अपंगों के लिए सहायता इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है।

पिछड़े क्षेत्रों पर अधिक व्यय– देश में धन के वितरण की असमानता को कम करने के लिए यह भी आवश्यक है कि सरकार द्वारा अविकसित एवं पिछडे क्षेत्रों के विकास पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। इससे वहां के लोगों के जीवन स्तर में सुधार होता है और आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन– यदि सरकार विभिन्न वित्तीय सहायता एवं प्रेरणाओं द्वारा लघु और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करती है, तो उससे भी सम्पत्ति के वितरण में सुधार होता है।

उचित वेतन, मजदूरी एवं भत्ते– सरकार को यह देखना चाहिए कि वेतन भोगी वर्ग को उचित वेतन, मजदूरी एवं भत्ते मिलें। इसके लिए सरकार को निश्चित रूप से व्ययों में वृद्धि करनी होगी। दूसरी ओर निजी उपक्रमों में इस प्रभाव से उद्योगपतियों से कर्मचारी वर्ग के आय का उचित प्रवाह होता रहता है। लोक व्यय का वितरण पर प्रभाव के सम्बन्ध में लुट्ज का यह कथन अत्यन्त ही उपयागी है। "सार्वजनिक धन के वितरण की स्थायी नीति अपनाने से देश को हानि होगी और यदि इसी उद्देश्य से व्यय किया जाये तो सरकार का अधिकांश व्यय अनुत्पादक माना जाएगा।" इस सम्बन्ध में ब्यूहलर ने स्पष्ट किया कि धन के वितरण की असमानताओं को कम करने के लिये सरकार को गरीबों पर अधिक व्यय करके तथा धनी वर्ग पर अधिक करारोपण की रीति को कुछ समय तक लागू करना होगा ।

आपको यहां पर लोक व्यय तथा वितरण के समबन्ध में कीन्स के विचार को ही ध्यान में रखना होगा। कीन्स के अनुसार निर्धनों में धनी व्यक्तियों की अपेक्षा उपभोग पर व्यय करने की अधिक प्रव्रत्ति पायी जाती है और इसी कारण जब धनी वर्ग से धन ले कर गरीबों पर व्यय किया जायेगा तो देश में व्यय के धन की मात्रा बढ़ेगी जिससे उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि होगी।

7.4 लोक व्यय तथा स्थिरीकरण

अब आप अर्थव्यवस्थाओं के स्थिरीकरण पर लोक व्यय के पड़ने वाले प्रभावों को भंली भांति समझ सकेंगे। आपको यहां पर यह ध्यान देना होगा कि यह आवश्यक नहीं है कि लोक व्यय का प्रभाव सदैव सकारात्मक ही पाय जाय। स्थिरीकरण की समस्या कोई नई समस्या नहीं है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान में भी विकसित देशों के साथ विकासशील देश भी इस समस्या के समाधान के लिए लोक आगम की व्यवस्था के साथ–साथ लोक व्यय की भूमिका भी अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं। सामान रूप से अर्थव्यवस्था को मंदी व तेजी की अनावश्यक अव्यवस्थाओं से बचाना ही स्थिरीकरण कहा जा सकता है जिसके लिए लोक व्यय को एक आवश्यक उपकरण बनाया गया है।

विकसित देशों में रोजगार तथा वृद्धि की दर चरम सीमा पर होती है अतः व्यापारिक चक्र की समस्या सामान्य रूप से पनपती रहती है जिसके समाधान के लिए लोक व्यय को अत्याधिक महत्व दिया जाता है। वही विकासशील देशों में इस समस्या के समाधान के लिए करारोपण एवं लोक व्यय दोनों ही तत्वों को एक सामन्जस्य के साथ स्वीकार किया जाता रहा है। विकासशील देशों में गरीबी, बेरोजगारी तथा संस्थागत विकास सम्बन्धी अनेक समस्याऐं पायी जाती है। विकासात्मक सरकारों की लोकप्रियता हासिल करने के लिए अपने कार्यो का विस्तार करना होता है जिससे आर्थिक अस्थिरता पैदा होती है। वही दूसरी ओर इस आर्थिक अस्थिरता को दूर करने के लिए करारोपण व्यवस्था के साथ बढते लोक व्यय को बड़ी सीमा तक सहारा लिया जा रहा है लेकिन सरकारों के सामने मुख्य समस्या इस लोक व्यय के लिए मदों का चयन की तथा व्यय के आवंटन की सदैव बनी रहती है। एक तरफ सरकार द्वारा मांग सृजित करने के लिए लोक कल्याणकारी योजनाऐं संचालित की जाती है वहीं पूर्ति पक्ष को समायोजित करने के लिए भारी मात्रा में पूंजीगत व्यय किया जाता है।

यहां पर आपको यह भी बताना आवश्यक है कि अर्थव्यवस्था में मंदी व तेजी की अवांछनीय अवस्थाओं से निपटने के लिए लोक व्यय सम्बन्धी तत्कालीन उपाय भी किये जाते हैं। मंदी की अवस्था में मांग सृजित करने व क्रय शक्ति बढ़ाने के लिए प्रत्यक्ष तौर पर भारी मात्रा में लोक व्यय किया जाता है वही तेजी की अवस्था में लोक व्यय में कमी करना सम्भव नहीं होता है लेकिन लोक व्यय की दशा एवं क्षेत्र में आवश्यक परिवर्तन किये जाते है जिससे लोक व्यय का प्रभाव आर्थिक स्थिरता बनाये रखने में सहायक सिद्ध हो सके। आर्थिक अस्थिरता की मन्दी काल में घटनाओं का क्रम इस प्रकार से संचालित होता है कि वस्तुऐं और सेवाओं के मूल्य में गिरावट आ जाती है जिससे व्यवसाय में सुस्ती पैदा हो जाती है । इससे व्यापारियों को हानि होने लगती है और आर्थिक क्षेत्र में निराशा का माहौल पैदा हो जाता है इस आर्थिक मन्दी का उत्पादन तथा रोजगार पर प्रतिकूल रूप से प्रभाव पड़ता है। जनता में क्रय शक्ति घट जाती है।

आपको शायद ध्यान होकि लोक व्यय के द्वारा जनता में क्रय शक्ति बढ़ जाती है जिससे वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग में वृद्धि हो जाती है। इस लोक व्यय के द्वारा बढ़ी हुई क्रय शक्ति का प्रभाव अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर अलग–अलग रूपों में सकारात्मक स्तर पर पड़ता है। लोक व्यय में वृद्धि होने से उपभोग का स्तर बढ़ जाता है जिससे निजी एवं सार्वजनिक विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के साथ पूर्ण विकसित अर्थव्यवस्थाओं में भी मुद्रा स्फीर्ति की स्थितियां आर्थिक अस्थिरता पैदा करती हैं । जिसे राजकोशीय नीति के माध्यम से नियन्त्रित किया जाता है। राजकोषीय नीति में लोक व्यय को एक महत्वपूर्ण एवं कारगर उपाय के रूप में प्रयोग किया जाता है। मन्दी काल में उठाये गये लोक व्यय सम्बन्धी कदमो के विपरीत इस स्थिति में लोक व्यय में कमी की जाती है। राजकीय व्यय को कम करके मुद्रा स्फीर्ति के खतरनाक प्रभावों को एक बडी सीमा तक कम किया जाता है ।

आर्थिक स्थिरता बनाऐ रखने के लिये इस बात का विशेष ध्यान रखना होता है कि मन्दी या तेजी की स्थिति में लोक व्यय से सम्बन्धित निर्णय इस प्रकार लिया जाये कि उसका प्रभाव अर्थव्यवस्था में एक तरफा न हो जाये अन्यथा आर्थिक अस्थिरता दो विन्दुओं – मन्दी और तेजी के बीच सदैव बनी रहेगी ।

7.5 लोक व्यय के प्रभावों की सीमाऐं

आपनें इस इकाई के प्रारम्भ में लोक व्यय के उत्पादन, वितरण आदि पर पड़ने वाले प्रभावों को अध्ययन किया। लेकिन इस संदर्भ में आपको यह भी ध्यान रखना होगा कि जिन प्रभावों के उददेश्यों को ध्यान में रखकर सरकार लोक व्यय करती है वे प्रभाव पूर्ण रूप से प्रभावी नहीं हो पाते है। जनता का व्यवहार तथा गैर आर्थिक क्रियाकलाप लोक व्यय के प्रभावों को कम करने में सफल हो जाते हैं। इसके साथ सरकारी योजनाओं तथा क्रियाकलापों का उचित क्रियान्वयन नही हो पाने से भी लोक व्यय के प्रभाव सीमित हो जाते है। एक अन्य महत्वपूर्ण सीमा यह भी देखने को मिलती है कि यदि सरकारी लोक व्यय से प्राप्त उददेश्यों को एक निश्चित समय सीमा में नहीं रखा गया अर्थात समय तत्व को ध्यान में नही रखा गया तो लोक व्यय के प्रभाव एक बड़ी सीमा तक प्रभावित होते है। सामान्यतः यह प्रभाव नकारात्मक या प्रतिकूल रूप में ही परिचलित होते है। अनावश्यक राजनीतिक हस्तक्षेप तथा प्राकृतिक आपदाओं आदि कारणों से भी लोक व्यय के प्रभाव पूर्ण रूप से दिखाई नहीं देतें है।

7.6 सारांश

लोक व्यय के प्रभाव देशों की अर्थव्यवस्थओं की प्रकृति तथा स्वरूप के कारण अलग–अलग स्तर तथा मात्रा में पड़ते है। लोक व्यय का उत्पादन पर सामान्य रूप से अनुकूल प्रभाव पड़ता है। लोक व्यय का स्तर ऊंचा होने तथा उत्पादक कार्यों पर करने से देश में उत्पादन का स्तर ऊंचा होगा। लोक व्यय

उत्पादन पर परोक्ष रूप से निवेश, बचत आदि के माध्यम से भी सकारात्मक प्रभाव डालता है। लोक व्यय के द्वारा वृद्धि को भी तीव्र किया जाता है। विकासशील देशों में विकासात्मक व्यय को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है। विकासशील देशों में आय के असमान वितरण की समस्याऐं उत्पन्न है जिसका समाधान सरकार द्वारा करारोपण के साथ–साथ लोक व्यय का अधिक प्रयोग किया जा रहा है।

अर्थव्यवस्था के सामने आने वाली एक अन्य मुख्य समस्या अर्थिक अस्थिरता की भी बनी रहती है जिसके समाधान के लिए लोक व्यय का सहारा लिया जाता है। वही लोक व्यय का उत्पादन, वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव सामूहिक रूप से देश की स्थिरीकरण में भी सहायता करते है। मंदी तेजी के अवांछनीय प्रभावों को लोक व्यय के द्धारा नियंत्रित किया जाता है। अतः हम सारस्वरूप कह सकते है कि लोक व्यय का उत्पादन, वितरण, बृद्धि तथा स्थिरीकरण पर अलग–अलग दिशाओं में भिन्न–भिन्न प्रभाव पड़ते है।

7.7 शब्दावली

1– लोक व्यय– लोक व्यय से हमारा तात्पर्य उस व्यय से है जो सरकारों द्वारा किया जाता है। यह व्यय देश के नागरिकों की रक्षा करने एवं उनके सामाजिक आर्थिक कल्याण हेतु किया जाता है।

2– उत्पादन– उत्पादन से तात्पर्य वस्तुओं एवं सेवाओं को पैदा करने या नया रूप देने से है जिससे उपभोक्ताओं को पूर्व की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है।

3– वितरण– वर्तमान में आय व सम्पत्ति के वितरण को परिवर्तन करना वितरण कहलाता है ताकि आय व सम्पत्ति जनता में न्यायपूर्ण वितरित हो सके।

4– वृद्धि– केवल उत्पादन में होने वाली कृत्रिम व स्थिर गति वाले परिवर्तन को आर्थिक वृद्धि कहा जाता है। संस्थागत रूप से दीर्घकालीन परिवर्तन इसमें शामिल नहीं किये जाते है।

5–स्थिरीकरण– स्थिरीकरण से तात्पर्य अर्थव्यवस्था की उस गति से है जिसमें अर्थव्यवस्था बिना किसी विशेष उतार चढाव से लोगों को रोजगार, आय व विकास की स्थितियां उत्पन्न कर सके।

6– मानवीय पूंजी– मानवीय पूंजी के अन्तर्गत कार्यशील मानव संसाधनों में कार्यकुशलता, विवेकपूर्ण निर्णय क्षमता, शारीरिक विकास, तथा स्वस्थ जीवन चर्या आदि में वृद्धि को शामिल किया जाता है।

7– उत्पादक व अनुत्पादक व्यय– ऐसा लोक व्यय जिससे अर्थव्यवस्था में उत्पादन में वृद्धि होती है उसे उत्पादक व्यय कहा जाता है जबकि ऐसी मदों पर किया गया व्यय जो किसी प्रकार का उत्पादन पर सकारात्मक प्रभाव नहीं डालता है अनुत्पादक व्यय कहलाता है।

8– पूंजी– धन का वह भाग जो उत्पादन कार्य में लगा होता है तथा आर्थिक वृद्धि में सहायक है, पूंजी कहलाता है।

9– व्यापार चक्र– अर्थव्यवस्था में आवश्यक गति के वितरीत अवांछित मंदी तथा तेजी की स्थितियों का क्रमवत पाया जाना व्यापार चक्र कहलाता है।

10– आर्थिक विकास– आर्थिक विकास से हमारा तात्पर्य उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ तकनीकी एवं संस्थागत रूप से होने वाली संरचनात्मक परिवर्तनों से है।

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

निम्न प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिए।

प्रश्न संख्या 1– लोक व्यय अर्थव्यवस्था के किन–किन क्षेत्रों को प्रभावित करता है? संक्षेप में लिखो।

प्रश्न संख्या 2– लोक व्यय उत्पादन को किस दिशा में प्रभावित करता है?

प्रश्न संख्या 3– लोक व्यय कौन–कौन सी सेवाओं के लिए प्रयोग किया जाता है?

प्रश्न संख्या 4– नयी विकास योजनाओं पर लोक व्यय को क्यों किया जाता है?

प्रश्न संख्या 5– लोक व्यय के प्रभावों को सीमित करने वाले कारको/तत्वों को संक्षेप में बताओ?

प्रश्न संख्या 6– नीचे दिये कथनों में सही (√) तथा गलत (X) का चयन करों–

(क) लोक व्यय अनुत्पादक भी हो सकता है–

(ख) लोक व्यय स्थिरीकरण में सहायक नहीं है–

(ग) लोक व्यय धन के असमान वितरण को बनाता है–

(घ) आर्थिक बृद्धि पर बढ़ाने में लोक व्यय का प्रभाव अनुकूल होता है–

प्रश्न संख्या 7– नीचे दिये गये कथनों में रिक्त स्थानों को पूरा करो।

(क) प्राकृतिक आपदाऐं लोक व्यय के प्रभावों को ..... करते है।

(ख) स्थिरीकरण के लिए कर प्रणाली के साथ भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(ग) लोक व्यय.....तथा.....के अवांछित प्रभावों को नियंत्रित करने में सहायक है।

(घ).....तथा ..... तत्वों पर भी लोक व्यय के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों की निर्भरता पायी जाती है।

(मंदी–तेजी, सामाजिक, धार्मिक, लोक व्यय,सीमित)

हल– प्रश्न संख्या 6 का उत्तर क. सही, ख. गलत, ग. गलत, घ. सही

हल– प्रश्न संख्या 7 का उत्तर क. मंदी–तेजी, ख. सामाजिक धार्मिक, ग. लोकप्रिय, घ. सीमित

7.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भाटिया, एच0एल (2006)–लोक वित्त (Public Finance), विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0 जंगपुरा, नई दिल्ली।

2. पंत, जे0सी0 (2005)–राजस्व (Public Finance),लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।

3. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997)–राजस्व, साहित्य भवन पब्लिकेशन हास्पीटल रोड, आगरा।

4. सिंह, एस0के0 (2013)–लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

5.10 सहायक/उपयोगी ग्रंथ

1. दत्त एवं सुन्दरम (2011)–भारतीय अर्थव्यवस्था, एस चन्द एण्ड क0 लि0, नई दिल्ली।

2. सेठी, टी0टी0 (2005)–मुद्रा बैकिंग एवं लोकवित्त लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, संजय प्लेस, आगरा।

3. मिश्र, जगदीश नारायण (2011)–भारतीय अर्थव्यवस्था, किताब महल पब्लिशर्स, हरिसदन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

7.11 निबन्धात्मक प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तृत रूप में दीजिए।

प्रश्न संख्या 1– लोक व्यय के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन कीजिए?

प्रश्न संख्या 2– लोक व्यय का आर्थिक वृद्धि पर किस रूप में प्रभाव पड़ता है।?स्पष्ट करो

प्रश्न संख्या 3– लोक व्यय का वितरण के साथ सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए?

प्रश्न संख्या 4– आर्थिक स्थायित्व के लिए लोक व्यय की उपयोगिता को स्पष्ट कीजिए?

प्रश्न संख्या 5– लोक व्यय के अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों को सीमित करने वाले तत्वों की विवेचना कीजिए?

इकाई – 8 कार्यात्मक वित्त

इकाई का स्वरूप

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 कार्यात्मक वित्त से आशय

8.4 कार्यात्मक वित्त के उद्देश्य

8.5 कार्यात्मक वित्त के नियम

8.6 प्रो0 लर्नर के तर्क

8.7 कीन्स के विचार

8.8 अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में कार्यात्मक वित्त की अनुरूपता

8.9 विकसित अर्थव्यवस्था में कार्यात्मक वित्त की सीमा

8.10 कार्यात्मक वित्त एवं कार्यशील वित्त

8.11 सारांश

8.12 शब्दावली

8.13 संदर्भ सहित ग्रन्थ

8.14 लघु उत्तरीय प्रश्न

8.15 निबन्धात्मक प्रश्न

8.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.1 प्रस्तावना

पिछली इकाईयों में सार्वजनिक वित्त से सम्बन्धित विभिन्न जानकारी का विस्तृत उल्लेख किया गया। सार्वजनिक वित्त का उद्देश्य एवं उसके वर्गीकरण की व्याख्या की गयी। प्रस्तुत इकाई में सार्वजनिक वित्त से सम्बन्धित कार्यात्मक वित्त की चर्चा की गयी है।

प्राचीन काल में लोक वित्त का क्षेत्र संकुचित होने से अर्थशास्त्री महज यह मानते थे कि राजकोषीय नीति का मुख्य कार्य आय व्यय का लेखा–जोखा करना है। उनके अनुसार सार्वजनिक वित्त का सम्बन्ध सार्वजनिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत आय प्राप्त करके उसे व्यय करना है। परम्परावादी अर्थशास्त्री जैसे एडम स्मिथ, रिकार्डो, मिल करारोपण को केवल आय का साधन मानते थे। इस प्रकार लोक वित्त अकार्यात्मक वित्त के रूप कार्य में करता था। पर ज्यों–ज्यों सरकार के कार्य क्षेत्र में वृद्धि होने लगी, और सरकारी हस्तक्षेप बढ़ता गया, वैसे–वैसे सार्वजनिक वित्त के प्रकृति में भी परिवर्तन होने लगा।

कार्यात्मक वित्त शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रो0 लर्नर ने किया था। परन्तु वित्त को कार्यात्मक बनाने का श्रेय कीन्स को जाता है। कीन्स द्वारा वित्त का उपयोग मन्दी एवं बेरोजगारी को दूर करने के लिये किया गया। जिन सामान्य उपकरणों की कीन्स ने चर्चा की, कार्यात्मक वित्त के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

8.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से हम यह जान सकेगे कि :–

1. कार्यात्मक वित्त क्या है ?
2. कार्यात्मक वित्त के उद्देश्य क्या है ?
3. कार्यात्मक वित्त के विभिन्न उपकरण क्या है ?
4. कार्यात्मक वित्त के संदर्भ में प्रो0 लर्नर एवं कीन्स के क्या विचार है ?
5. अल्पविकसित एवं विकसित अर्थव्यवस्था में कार्यात्मक वित्त की क्या अनुरूपता है ?
6. कार्यात्मक वित्त एवं कार्यशील वित्त में क्या अंतर है ?

8.3 कार्यात्मक वित्त का आशय (meaning of functional finance)

कार्यात्मक वित्त का अर्थ

आधुनिक अर्थशास्त्री के मतानुसार करारोपण का उद्देश्य आर्थिक असमानताओं को कम करना एवं आर्थिक क्रियाओं का नियमन करना है। लार्ड कीन्स (Lord Keynes) पहले अर्थशास्त्री थे जिन्होने इस बात पर जोर दिया कि राजस्व की नीतियों द्वारा आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित किया जा सकता है। कीन्स के पश्चात् प्रो0 लर्नर (Prof. Lerner) ने इस विचार को एक आधुनिक रूप प्रदान किया। प्रो0 लर्नर का कहना है जिस ढंग से सार्वजनिक वित्तीय उपाय समाज में कार्य करते है उसे कार्यात्मक वित्त कहते हे। उनका मानना है कि राजकोषीय कार्यवाहियों की जाँच केवल उनके प्रभावों द्वारा ही की जानी चाहिये।

जिस विधि के द्वारा अर्थव्यवस्था में राजकोषीय कार्यवाहियाँ क्रियाशील रहती है उसी को प्रो0 लर्नर ने कार्यात्मक वित्त का नाम दिया। आज राज्य के सामने अनेक उद्देश्य है जैसे – बेरोजगारी दूर करना, सार्वजनिक कल्याण की योजनाएँ बनाना, उन पर व्यय करना, यातायात के साधनो का विकास

करना, निजी उद्योग एवं सार्वजनिक उद्योगो में गति प्रदान करना, वितरण की असमानता को मिटाना आदि। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लोक वित्त की सहायता ली जाती है। जिन साधनों का प्रयोग इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया जाता है, वे कार्यात्मक वित्त के अन्तर्गत आते है।

कार्यात्मक वित्त के अर्थ को निम्न बातो से स्पष्ट किया जा सकता है।

1. **कर (tax)–** कार्यात्मक वित्त के अन्तर्गत करों को लगाने का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्त करना नही है, बल्कि कुछ सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति भी करना है। करारोपण के द्वारा आय की असामनता को दूर किया जा सकता है। जब मुद्रास्फीति की स्थिति हो तो, कर लगाकर अतिरिक्त क्रयशक्ति में कमी आ सकती है। इससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है। कार्यात्मक वित्त के कारण ही करारोपण अर्थव्यवस्था में सक्रिय भूमिका निभा रहा है।
2. **ऋण (public debt)–** कार्यात्मक वित्त यह भी स्पष्ट करता है कि ऋण से अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव नही पड़ना चाहिए। साथ ही यह भी बताता है कि ऋण का उपयोग कब और कैसे किया जाए।
3. **सार्वजनिक व्यय (public expenditure)–** यदि लोक व्यय से अर्थव्यवस्था पर अनुकूल प्रभाव पड़ रहे हो तो सार्वजनिक व्यय होने चाहिये, अन्यथा नही। कार्यात्मक वित्त की सहायता से सार्वजनिक व्ययों को उपयोगी बनाया जा सकता है। अर्थात् उत्पादन, उपभोग, रोजगार, राष्ट्रीय आय में वृद्धि संभव है तो सार्वजनिक व्यय आर्थिक विकास को चरम सीमा तक पहुँचा सकता है।

कार्यात्मक वित्त इस विचार पर आधारित है कि बजट स्थिरता (budget stability) के साथ पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने तथा बनाये रखने का एक महत्वपूर्ण अस्त्र है। इस विचार के अनुसार लोक वित्त मुद्रा स्फीति (inflation)तथा मुद्रा अवस्फीति (deflation) के मूल कारण को दूर करता है जिससे आर्थिक स्थिरता (economic stability) कायम रहती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रो0 लर्नर ने सुझाव दिया है कि कार्यात्मक वित्त के अन्तर्गत सरकार की क्रियाओं के लिये निम्नलिखित नियमों का पालन किया जाना चाहिए।

1. राज्य को सबसे पहली जिम्मेदारी यह है कि वह खर्च को इस प्रकार नियमित तथा नियन्त्रित करें कि सभी वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति प्रचलित मूल्यों पर ही पूरी तरह खप जाय। खर्च की मात्रा अधिक होने पर मुद्रास्फीति उत्पन्न हो जायेगी और यदि कम हुयी तो मुद्रा अवस्फीति और उसके परिणाम स्वरूप बेरोजगारी उत्पन्न होगी।

8.4 कार्यात्मक वित्त के उद्देश्य

कार्यात्मक वित्त के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है।

1. **रोजगार में वृद्धि :–** देश के लिये बेरोजगारी एक अभिशाप होती है। रोजगार स्तर में वृद्धि करने के लिए कार्यात्मक वित्त की सहायता ली जाती है।
2. **आय स्तर में वृद्धि :–** रोजगार से तो आय प्राप्त होती है परन्तु रोजगार में लगा व्यक्ति भी कुछ समय के बाद अपनी आय में वृद्धि करने में चेष्टा करता है। अतः सरकार बजटो में परिवर्तन करके आय स्तर को प्रभावित करती है।
3. **आर्थिक विकास :–** आर्थिक विकास में सार्वजनिक व्यय, आय तथा ऋण का महत्वपूर्ण योगदान हैं। कार्यात्मक वित्त के द्वारा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जा सकता है।
4. **बचत में वृद्धि :–** आर्थिक विकास के माध्यम से आय स्तर में वृद्धि करके बचतों को बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त करारोपण से उपभोग में कमी करके भी बचते बढ़ायी जा सकती है।

5. **व्यापार चक्रो पर रोक :–** पूंजीवादी व्यवस्था में व्यापार चक्रों की पुनरावृत्ति होती है। व्यापारिक तेजी व मन्दी के समय सार्वजनिक व्यय में परिवर्तन करके व्यापार चक्रों में रोक लगायी जा सकती है।

8.5 कार्यात्मक वित्त के उपकरण और उनके प्रयोग

जैसे युद्ध में बारूद का प्रयोग होता है, वैसे वर्तमान समय में कार्यात्मक वित्त उतना ही उपयोगी है। जब कभी किसी देश में आर्थिक अस्थिरता जैसे मुद्रा प्रसार, मुद्रा–संकुचन, मन्दी, बेरोजगारी उत्पादन ह्रास जैसी स्थिति उत्पन्न होती है। तब इस स्थिति को नियन्त्रण में लाने के लिये कार्यात्मक वित्त की सहायता ली जाती है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री सरकार का हस्तक्षेप स्वीकार नही करते थें। वे उसे घातक मानते थे। उनके अनुसार सरकारी हस्तक्षेप प्रतियोगिता में बाधक होते हे जिससे विकास अवरूद्ध हो उठता है। सरकारी हस्तक्षेप में न निज भावना होती है न निज स्वार्थ। पर वर्तमान समय में लोक कल्याणी राज्यों के विकास के साथ–साथ सरकारी हस्तक्षेप बढ़ने लगा है। आर्थिक उच्चावचन के समय सरकार मूक दर्शक बन कर नही रह सकती। सरकार अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करने के लिये निम्न उपकरणो की सहायता लेती है –

1. करारोपण
2. सार्वजनिक व्यय
3. सार्वजनिक ऋण
4. घाटे की वित्त व्यवस्था

ऊपर दिये गये उपकरणो की सहायता से रोजगार, आय की समानता, अल्पविकसित देशो में पूँजी का निर्माण एवं आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जा सकता है। विभिन्न परिस्थितियों में इन उपकरणों का प्रयोग निम्न प्रकार से होता है।

मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा संकुचन में कार्यात्मक वित्त की भूमिका – मुद्रा स्फीति एवं मुद्रा संकुचन से निपटने के लिये तीन राजकोषीय उपकरण है।

1. सरकार द्वारा स्वयं क्रय विक्रय करना।
2. नागरिको को मुद्रा देना और उनसे मुद्रा लेना
3. ऋण देना–लेना।

कार्यात्मक वित्त इस बात की जाँच करता है कि प्रत्येक वित्तीय उपकरण मुद्रा प्रसार या मुद्रा संकुचन को रोकने के लिये किस प्रकार से काम में लाया जा सकता है। वर्तमान में कार्यात्मक वित्त अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान ढूंढ चुका है।

1. **सार्वजनिक व्यय :–** सरकार को ऊपर यह दायित्व है कि वह अपने व्यय को इस प्रकार नियन्त्रित करें कि मुद्रा स्फीति एवं मुद्रा संकुचन जैसी स्थितियों से निपटारा हो सके।

a) **मुद्रा स्फीति –** मुद्रा स्फीति निजी अथवा गैर सरकारी व्यय की अधिकता का परिणाम होती है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिये राजकोषीय अस्त्रों का उपयोग किया जाना चाहिए।

1. कम व्यय करके।
2. नये कर लगाकर एवं चालू करो की दर को बढ़ाकर
3. निजी अथवा गैर सरकारी खर्च की वृद्धि को रोकने के लिये सरकार लोगो से रूप्ये उधार ले सकती है।
4. बैंक दर बढ़ाकर ब्याज की दरो को बढ़ा देना जिससे लोग खर्च कम करें और बचत अधिक।

इसका अर्थ यह है कि आधिक्य बजट की नीति अपनाकर मुद्रा स्फीति सम्बन्धी दबाव को रोका जा सकता है। इस प्रकार आर्थिक स्थिरता भी बनी रहेगी।

b) **मुद्रा अवस्फीति** :– जिस प्रकार मुद्रास्फीति निजी अथवा गैर सरकारी व्यय की अधिकता से उत्पन्न होता है उसी प्रकार मुद्रा अवस्फीति गैर सरकारी खर्च की कमी का परिणाम होता है। इसे निम्न तरीकों से दूर किया जा सकता है।

I. करें की दरें घटाकर जिससे लोगो की क्रयशक्ति में वृद्धि हो सकें।

II. सरकार कुछ ऐसी मदों पर अपने व्ययो में वृद्धि कर सकती हे जैसे पेन्शन, बेरोजगारी के लाभ आदि। इससे उपभोग में वृद्धि हो सकती है।

III. ब्याज की दर को घटाकर और निवेश व्यय को प्रोत्साहित करके निजी उद्यमियों को उदारता से ऋण दे सकती है।

IV. जब ब्याज की दर में वृद्धि से निजी उद्यमी प्रेरित नही होते तो ऐसे में बेरोजगारी दूर करने के लिए सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमों को अपने हाथ में लेना चाहिये।

V. उत्पादन एवं अनुदान देकर सरकार पिछड़े क्षेत्रों को प्रात्साहित कर सकती है साथ ही ब्याज मुक्त ऋण देकर भी ऐसे क्षेत्रो में निवेश को प्रोत्साहन दे सकती है।

ऊपर दिये गये उपाय मन्दी के विरूद्ध है जिससे लोगो में क्रय शक्ति बढ़ सकती है और वे उपभोग व्यय में वृद्धि कर देते है जिससे मांग बढ़ती है और निवेश प्रोत्साहित होता है। अतः यहाँ घाटे का बजट श्रेयस्कर माना जाता है।

2. **सार्वजनिक ऋण** :– कार्यात्मक वित्त के अनुसार, *'सरकार द्वारा उधार लेने का उद्देश्य स्वयं अधिक धन प्राप्त करना नही अपितु यह है कि जनता अपने पास बाण्ड अधिक रखे और मुद्रा कम रखें।'* यह लर्नर का मत है। अन्य शब्दों में सरकार को मुद्रा स्फीति की अवधि में उधार लेना चाहिए। और सरकार द्वारा लोगो को केवल तभी धन उधार दिया जाना चाहिए जब यह उचित समझे कि लोगो के पास मुद्रा तो अधिक मात्रा में रहे और बाण्ड कम मात्रा में।

3. **करारोपण** :– करारोपण के सम्बन्ध मे लर्नर ने कहा कि कराधान का उद्देश्य अधिक धन प्राप्त करना नही है अपितु यह कि करदाता के पास कम मात्रा में मुद्रा छोड़ी जाए। कर के दो प्रभाव होते है।

1. सरकार के हाथो में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है।
2. लोगो के हाथो में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।

पहले प्रभाव का महत्व उतना नही जितना की दूसरे का। क्योंकि सरकार नोट छापकर भी मुद्रा की मात्रा को बढ़ा सकती हे। मुद्रास्फीति में करों की मात्रा और दर में वृद्धि एवं अवस्फीति में कर की मात्रा और दर में कटौती की जानी चाहिए। अन्य शब्दो में कराधान का महत्व यह है कि यह निजी अथवा गैर सरकारी व्यय को नियमित एवं नियन्त्रित करता है।

कार्यात्मक वित्त एवं धन की असमानता

4. **घाटे की वित्त व्यवस्था** :– प्रो0 लर्नर के अनुसार यदि सरकार के द्रव्य व्यय की मात्रा चालू द्रव्य आय से अधिक हो और उसकी पूर्ति जनता से ऋण लेकर करना सम्भव न हो तो उसकी पूर्ति घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा अथवा नये नोट छापकर की जानी चाहिए। इस प्रकार पूर्ण रोजगार तथा मूल्य स्थिरता की स्थिति लाने के लिये सरकार को नोटो की छपाई उनका निःसंचय करना

(hoarding) अथवा उनको नष्ट करना, जो भी उचित हो वो करना चाहिये। अतः कार्यात्मक वित्त का प्रयोजन राजकोषीय या बजट नीति के प्रतिचक्रीय लक्ष्य (counter cyclical goal of fiscal policy) को पूर्णतया प्राप्त करना है। अन्य शब्दों में, क्रियाशील वित्त का उद्देश्य अर्थव्यवस्था के चक्रीय उतार चढ़ावो (cyclical fluctuations) के चक्रो को नियन्त्रित करना है और पूर्ण रोजगार तथा मूल्य स्थिरता की स्थिरता को बनाये रखना है। अतः लर्नर के मतानुसार सरकार का बजट इस लक्ष्य से प्रेरित होना चाहिए। प्रो0 लर्नर के ही शब्दो में, 'बजट को सन्तुलित करने के सिद्धान्तों को कदापि इतना महत्वपूर्ण नही माना जा सकता, जितना की पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रखने तथा मुद्रास्फीति को रोकने को माना जाना चाहिये। '

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि लर्नर ने सन्तुलित अथवा ठोस वित्त के सिद्धान्त पर आधारित राजकोषीय नीति के आधार पर समाप्त करके उसके स्थान पर कार्यात्मक वित्त के सिद्धान्त को प्रतिस्थापित किया।

8.6 बजट के समर्थन में प्रो0 लर्नर के विचार (Lerner's arguments in support of balanced budget)

वैसे तो लर्नर ने सन्तुलित बजट का परित्याग करने को कहा परन्तु कुछ परिस्थितियों में इसका समर्थन भी किया। जब सन्तुलित बजट पूर्ण रोजगार की स्थिति को क्षति न पहुँचाता हो, साधनो का अनुकूल उपयोग करता हो, मुद्रास्फीति, अवस्फीति उत्पन्न न करता हो।

नियन्त्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत, जहाँ कि अर्थव्यवस्था के एक काफी बड़े भाग का संचालन व्यवसायी लोगो द्वारा किया जाता है, ऐसे पूर्वाग्रह जहाँ व्यवसायी लोग सरकार को एक व्यवसाय समझते है और पूंजीवादी समाज पर अपनी विचारधारा धीरे–धीरे थोप देते है। बजट के किसी भी सिद्धान्त से बंधने के प्रति जाने वाला दृढ़ पूर्वाग्रह ही है। ऐसे पूर्वाग्रह महत्व रखते है। इन पूर्वाग्रहो के मुकाबले पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने आदि लक्ष्यों का अधिक महत्व है। और व्यवसायी लोगो की केवल इस भावना के कारण इन लक्ष्यों का बलिदान नही किया जा सकता कि सरकार को ठोस व्यावसायिक सिद्धान्त "sound business principle" पर दृढ़ता से टिके ही रहना चाहिए। पर यदि ऐसा कोई तरीका है जिससे कि बिना इन लक्ष्यों की बलि चढ़ाये बजट को सन्तुलित बनाया जा सकता है तो निश्चय ही उस पर विचार किया जाना चाहिए।

8.7 कार्यात्मक वित्त एवं कीन्स के विचार

परम्परावादी अर्थशास्त्रीयों ने लोक वित्त को कार्यात्मक वित्त का रूप नही दिया था। उनके अनुसार सरकारी क्षेत्र निजी क्षेत्र के समान कुशल नही है। उनका मानना था कि –

1. बचत का बजट होना चाहिये और संभव हो तो सन्तुलित बजट हो।
2. सरकारी हस्तक्षेप न हो।
3. स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।
4. बजट छोटा होना चाहिए।
5. कर उपभोग पर लगना चाहिये, कर पर नहीं।

हालांकि कीन्स परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के इन विचारो को काफी समय तक मानते रहे पर 1930 की महामन्दी ने उन पर गहरा प्रभाव डाला। अपनी पुस्तक "General theory of employment, interest and money" में उन्होने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री की पूर्ण रोजगार नही, अल्प बेरोजगारी अर्थव्यवस्था में विद्यमान रहती है। सरकारी हस्तक्षेप के महत्व को उजागर करते हुये उन्होने प्रभावपूर्ण मांग का कम होना बेरोजगारी का करण बताया जो सरकारी हस्तक्षेप से ही बढ़ाया किया जा सकता है। बेरोजगारी की स्थिति में सन्तुलित, आधिक्य या छोटा बचत कारगर नही होता बल्कि घाटे का बजट ही जरूरी होता है। सरकार द्वारा किया गया व्यय लोगो की क्रयशक्ति में वृद्धि करता है जिससे प्रभाव पूर्ण

मांग बढ़ती है। उपभोग पर लगने वाले कर को अनुचित बताते हुये उन्होने यह मत प्रस्तुत किया कि इससे वस्तुओं की मांग में कमी हो जायेगी और बेरोजगारी को बढ़ावा मिलेगा। कीन्स के अनुसार सार्वजनिक वित्त की क्रियाएँ देश में उत्पादन एवं रोजगार की प्रभावित करती है। मन्दी के समय सरकार को व्यय बढ़ा देना चाहिये। सार्वजनिक निर्माण कार्यो को बढ़ावा देने से देश में आय एवं रोजगार में वृद्धि होती हे। यह वृद्धि गुणक प्रभाव से कई गुना हो जाती है। प्रारम्भिक निवेश से केवल उन उद्योगो की आय में ही वृद्धि नही होती है, बल्कि अन्य उद्योगो की आय में भी वृद्धि हो जाती है। कीन्स ने इसे निवेश गुणक (Investment Multiplier) कहा है।

ΔI के बराबर विनियोग करने पर आय ΔY के बराबर बढ़ जायेगी तो विनियोग गुणांक होगा।

$$K = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$$

कीन्स मानते है कि गुणक सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) पर निर्भर करती है :–

$$K = \frac{1}{1 - mpc}$$

यदि $mpc = 0.5$ है तो 100 करोड़ रूपये के प्रारम्भिक निवेश के फलस्वरूप आय होगी।

$$\Delta Y = K.\Delta I \qquad ; \qquad K = \frac{1}{1 - mpc}$$

$$= \frac{1}{1 - 0.5} x100$$

$$= \frac{1}{0.5} x100$$

$$= 200$$

इसे एक चित्र के माध्यम से भी दर्शाया जा सकता है।

प्रारम्भिक अवस्था में संतुलन की स्थिति में $Y=C+I$ है। जहाँ OY आय प्राप्त होती है। यदि अर्थव्यवस्था में के ΔI बराबर विनियोग किया जाये तो नयी संतुलन की स्थिति ($Y=C+I+\Delta I$) पर होगी, जहाँ ΔY आय निश्चित होगी। ΔI के विनियोग में वृद्धि से YY_1, (ΔY) के बराबर आय में वृद्धि होती है।

अतः यह स्पष्ट है कि मन्दी काल में विनियोग बढ़ाकर मन्दी को दूर किया जा सकता है। कीन्स ने पूंजीवादी ढ़ाचे में वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए राजकोषीय नीति को अहम् बताया।

यह नीति सरकार के लिये एक महत्वपूर्ण उपकरण है जिसके द्वारा सरकार अपने लक्ष्यों को पूरा कर सकती है।

8.8 अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में कार्यात्मक वित्त की अनुरूपता

विकासशील देश चक्रीय समस्याओं में फँसे होने के कारण अपना आर्थिक विकास करने की क्षमता नही रखते। इन देशो में पूंजी की कमी, निर्धनता, प्रति व्यक्ति न्यून आय, जनसंख्या का आधिक्य, अशिक्षा कृषि का पिछड़ापन, परम्परावादी अर्थव्यवस्था, आदि अनेक ऐसी बाते है जो विकास में बाधक होती है। अतः विकासशील देशो में कार्यात्मक वित्त का मुख्य उद्देश्य पूंजी निर्माण तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना है।

1. **अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के लिये अनुपयुक्त** (not suitable for underdeveloped economy) :– कार्यात्मक वित्त का सिद्धान्त उस राजकोषीय नीति की कसौटी पर खरा नही उतरता जो कि एक विकसित अर्थव्यवस्था वाले देश के आर्थिक विकास के लिये उपयुक्त होती है। आर्थिक विकास की जरूरतें सन्तुलित बजट के माध्यम से सम्पूर्ण नही हो सकती।

   आर्थिक विकास की जरूरतों की मांग यह होती है कि राजकोषीय या बजट नीति का उपयोग निवेश और बचतों के स्तर को निरन्तर ऊँचा उठाने में किया जाना चाहिये। यही कि विकासशील अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति का आधार कार्यात्मक वित्त के आधार से भिन्न होता है।

2. **व्यापक अर्थव्यवस्था पर आधारित** (based upon Macro economy) :– कार्यात्मक वित्त व्यापक अर्थव्यवस्था के कीन्स मॉडल पर आधारित है और यह मानता है कि अर्थव्यवस्था में विकास की एक निश्चित दर बनी रहे। अतः अर्थव्यवस्था के समस्त व्यय को नियमित व नियन्त्रित करके यह विकास की उस दर पर अर्थव्यवस्था को बनाये रखने का प्रयास करता है। इस प्रकार वह स्थिर या स्थैतिक मॉडल जिस पर कि कार्यात्मक वित्त का सिद्धान्त आधारित है, विकासशील अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओ के लिये उपयुक्त नही है।

3. **अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में महत्व** (importance in underdeveloped economy) :– अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण व्यय के नियमन द्वारा मुद्रा स्फीति या मुद्रा अवस्फीति को रोकने की समस्या को तो गौण ही माना जाता। वहाँ मुख्य समस्या तीव्र गति से अधिक विकास करने की होती है। इसके लिये आवश्यकता है कि निवेशों में लगातार वृद्धि हो तथा उपभोग पर रोक लगे। इस प्रकार अल्पविकसित अथवा विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में विकास की समस्या वास्तव में गतिशील अर्थशास्त्र की समस्या होती है।

4. **व्यापक स्थिरता का आधार** (basis of macro statics):– कार्यात्मक वित्त का सिद्धान्त व्यापक स्थिरता का है जबकि आर्थिक विकास के लिए व्यापक गतिशीलता का सिद्धान्त माना जाता है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में कुल व्यय के स्थिरीकरण का अर्थ होगा अल्पविकसित के सन्तुलन की स्थिर दशा और वह आर्थिक विकास की जरूरतों के लिये उपयुक्त नही हो सकती।

5. **कराधान का उपयुक्त प्रयोग नही** (not proper use of taxation) :– विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में कराधान का उपयोग साधनो की वृद्धि के लिये किया जाना चाहिये। इस प्रकार, सरकारी उधार का उपयोग साधनो को गतिशील करने के एक अस्त्र के रूप में किया जाना चाहिए। परन्तु कार्यात्मक वित्त अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास के सिद्धान्त के पहलू को महत्वपूर्ण नही मानता। अन्त में यद्यपि यह सत्य है कि विकासशील अर्थव्यवस्था में निवेशों की मात्रा क्रमशः अधिकाधिक बढ़ती जाती है जिससे मुद्रा स्फीति सम्बन्धी दबाव भी उत्पन्न हो सकते है परन्तु इसका अर्थ यह नही कि अर्थव्यवस्था को अपने कुल व्यय में कटौती करनी चाहिये जैसा कि कार्यात्मक वित्त के सिद्धान्त में बतलाया गया है। आर्थिक विकास की लागत पर मौद्रिक स्थिरता उचित नही है।

सार्वजनिक व्यय, करारोपण, सार्वजनिक ऋण, उद्योग आदि ऐसे उपकरण है जिन्हे अपनाये बिना आर्थिक विकास सम्भव नहीं। बचतों को प्रोत्साहन देकर पूंजी के निर्माण से विनियोग को बढ़ाया जा सकता है। गुणक व त्वरक से आर्थिक विकास को गति प्रदान की जा सकती है। इस क्रिया से विकासशील देश आत्मनिर्भरता प्राप्त कर होते है। इसके अतिरिक्त कीमत स्तर में वृद्धि को रोकना तथा समाज में आय की विषमताओं को दूर करना भी विकासशील देशों में कार्यात्मक वित्त के उद्देश्य हो सकते है।

8.9 विकसित अर्थव्यवस्था में कार्यात्मक वित्त की सीमा

कार्यात्मक वित्त की मान्यता है कि अर्थव्यवस्था में विकास की एक निश्चित मान्य दर को प्राप्त किया जाए परन्तु ऊँची दर से विकास करना भी वांछनीय है। यदि राजकोषीय कार्यवाहियों के द्वारा कुल व्यय के स्तर को प्रभावित किया गया वह भी बिना इस बात की परवाह किये कि निवेश की वृद्धि पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, इससे लोगो की उपभोग प्रवृत्ति को अनुचित बढ़ावा मिल सकता है। उससे कुल उत्पादन की दीर्घकालीन वृद्धि अवरूद्ध हो सकती है। इस प्रकार कार्यात्मक वित्त के सिद्धान्त में चक्रीय उतार–चढ़ाव को रोकने की अल्पकालीन समस्या के समाधान पर ध्यान दिया परन्तु दीर्घकालीन विकास की समस्या पर नहीं।

8.10 कार्यशील वित्त

8.10.1 प्रो0 बलजीत सिंह का दृष्टिकोण

प्रो0 बलराज सिंह ने कार्यात्मक वित्त को कार्यशील वित्त कहा है। उनके अनुसार कार्यशील वित्त मे हम वित्तीय विधियों एवं उपकरणो का उनकी कार्य–संरचना पर परीक्षण करते है और यह ज्ञात करते है कि उपकरणों की अर्थव्यवस्था के लिये क्या उपयोगिता है। राजकोषीय नीति की साधनों की गतिशीलता बनाये रखने तथा आर्थिक विकास में जो भूमिका होती है, उसे कार्यशील वित्त कहा जाता है। कार्यशील वित्त में राज्य द्वारा राजकोषीय समायोजन किया जाता है, जिससे अर्थव्यवस्था में विनियोग का निरन्तर प्रवाह होता रहे और उपलब्ध साधनो का अधिकतम प्रयोग हो सकें, ताकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो सके।

8.10.2 कार्यशील वित्त की मान्यताएँ :–

1. सार्वजनिक व्यय अपूर्ण होने से मांग एवं उत्पादन में साम्य की स्थिति नही होती है।
2. राष्ट्रीय आय बचत और विनियोग पर आधारित है।
3. विभिन्न वित्तीय रीतियाँ अर्थव्यवस्था में स्फूर्ति उत्पन्न करती है।

कार्यशील वित्त में ऐसे उपाय किये जाते है कि विनियोग सदैव होते रहे, इससे उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि होती रहे।

प्रो0 सिंह के अनुसार कीन्स एवं लर्नर के वित्तीय दृष्टिकोण केवल विकसित अर्थव्यवस्था तक ही सीमित है। जबकि वास्तविक समस्या अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था की होती है। निर्धन देशो में राजकोषीय नीति का इस प्रकार नियमन एवं संचालन करना चाहिये, ताकि उपलब्ध साधनों की इष्टतम प्रयोग करके उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि की जा सकें।

8.10.3 कार्यात्मक वित्त एवं कार्यशील वित्त मे अंतर

1. कार्यात्मक वित्त इस मान्यता पर आधारित है कि सम्पूर्ण आय व्यय नही की जाती जिससे फलस्वरूप प्रभावपूर्ण मांग कम होती है। अतः ऐसी स्थिति में उत्पादन मांग से अधिक होगा और इसलिये कार्यात्मक वित्त का मुख्य कार्य वित्तीय क्रियाओं द्वारा मांग में वृद्धि करना है।

   इसके विपरीत कार्यशील वित्त की मान्यता है कि कोई देश इसलिये निर्धन है क्योंकि उसकी आय कम है। अतः मुख्य समस्या बचत एवं विनियोग में वृद्धि करके राष्ट्रीय आय को बढ़ाना है।

2. डॉ0 बलजीत सिंह के अनुसार कीन्स एवं लर्नर के विचार विकसित अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में प्रभावपूर्ण मांग बढ़ाना समस्या नही है। जैसा कि विकसित अर्थव्यवस्था में होती हैं। इन अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहित करके उत्पादन बढ़ाना मुख्य लक्ष्य होता है।
3. कार्यात्मक वित्त में व्यय से आरम्भ करते है जबकि कार्यशील वित्त में उत्पादन से आरम्भ किया जाता है। प्रो0 वॉन फिलिप का कहना है कि कार्यशील वित्त की धारणा कार्यात्मक वित्त की धारणा से निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।
4. बिना रूकावट के चलने वाली अर्थव्यवस्था में भी असाम्य उत्पन्न हो जाता है। इसको ठीक करने के लिये कार्यात्मक वित्त का सहारा लिया जाता है। इसके विपरीत जो अर्थव्यवस्था अविकसित है और अर्थव्यवस्था स्वयं नही चल पा रही है, ऐसी अर्थव्यवस्था में वित्तीय नीति द्वारा ऐसे उपाय किये जाते है जिससे बचत एवं विनियोग में निरन्तर प्रभाव बना रहे तथा उपलब्ध साधनो का इष्टतम प्रयोग किया जा सकें, यह कार्यशील वित्त में ही सम्भव है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी देश के विकास के लिये प्रथम चरण में कार्यशील वित्त तथा विकास के अंतिम चरण में कार्यात्मक वित्त का प्रयोग करके कोई भी देश अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

8.11 सारांश

कार्यात्मक वित्त शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रो0 लर्नर ने किया था। परन्तु वित्त को कार्यात्मक बनाने का श्रेय कीन्स को जाता है। प्रो0 लर्नर का कहना है जिस ढंग से सार्वजनिक वित्तीय उपाय समाज में कार्य करते है उसे कार्यात्मक वित्त कहते हे। उनका मानना है कि राजकोषीय कार्यवाहियों की जाँच केवल उनके प्रभावों द्वारा ही की जानी चाहिये। सरकार अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करने के लिये निम्न उपकरणो की सहायता लेती है – करारोपण ,सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण, घाटे की वित्त व्यवस्था। कार्यात्मक वित्त के अन्तर्गत करों को लगाने का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्त करना नही है, बल्कि कुछ सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति भी करना है। कार्यात्मक वित्त यह भी स्पष्ट करता है कि ऋण से अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव नही पड़ना चाहिए। इसकी सहायता से सार्वजनिक व्ययों को उपयोगी बनाया जा सकता है। कार्यात्मक वित्त इस विचार पर आधारित है कि बजट स्थिरता के साथ पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने तथा बनाये रखने का एक महत्वपूर्ण अस्त्र है। राज्य को सबसे पहली जिम्मेदारी यह है कि वह खर्च को इस प्रकार नियमित तथा नियन्त्रित करें कि सभी वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति प्रचलित मूल्यों पर ही पूरी तरह खप जाय। रोजगार स्तर में वृद्धि करने के लिए कार्यात्मक वित्त की सहायता ली जाती है। सरकार बजटो में परिवर्तन करके आय स्तर को प्रभावित करती है। कार्यात्मक वित्त के द्वारा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जा सकता है। प्रो0 बलराज सिंह ने कार्यात्मक वित्त को कार्यशील वित्त कहा है। उनके अनुसार कार्यशील वित्त मे हम वित्तीय विधियों एवं उपकरणो का उनकी कार्य–संरचना पर परीक्षण करते है और यह ज्ञात करते है कि उपकरणों की अर्थव्यवस्था के लिये क्या उपयोगिता है। प्रो0 सिंह के अनुसार कीन्स एवं लर्नर के वित्तीय दृष्टिकोण केवल विकसित अर्थव्यवस्था तक ही सीमित है। जबकि वास्तविक समस्या अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था की होती है। निर्धन देशों में राजकोषीय नीति का इस प्रकार नियमन एवं संचालन करना चाहिये, ताकि उपलब्ध साधनों की इष्टतम प्रयोग करके उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि की जा सकें।

8.12 शब्दावली

1. **प्रभावी माँग** :– वह बिन्दु जहाँ समग्र माँग एवं समग्र पूर्ति एक दूसरे को काटते है।
2. **गुणक** :– निवेश में परिवर्तन से आय में कई गुना परिवर्तन।

3. **त्वरक** :– उपभोग वस्तुओं की माँग में परिवर्तन के फलस्वरूप पूँजीगत वस्तुओं के विनीयोग में परिवर्तन।
4. **मुद्रा संकुचन** :– मुद्रा अवस्फीति की दशा।
5. **घाटे की वित्त व्यवस्था** :– सरकार द्वारा आय की तुलना में व्यय की अधिकता के कारण नये नोट छापना।

8.13 सन्दर्भ सहित ग्रन्थ

1. **बी0 पी0 त्यागी** :– लोक वित्त, जय प्रकाश एवं कम्पनी, मेरठ, 2004।
2. **डा0 वी0सी0सिन्हा एवं पुष्पा सिन्हा** – अर्थशास्त्र, एस बी पी डी पब्लिकेशन्स, आगरा, 2003
3. **टी0एन0हजेला** – राजस्व के सिद्वान्त, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा0 लि0 दिल्ली 2004
4. **जे0सी0वार्ष्णेय** – लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2003
5. **डा0 जे0सी0पन्त एण्ड प्रो0 जोशी** – राजस्व, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा 2002
6. **वार्ष्णेय एवं श्रीवास्तव** – राजस्व, एस0 बी0पी0डी0 पब्लिकेशन्स, आगरा, 2003

8.14 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बजट गुणांक क्या है ?
2. कार्यात्मक वित्त का विचार सर्वप्रथम किसने दिया ?
3. कार्यशील वित्त विचार किस अर्थशास्त्री के द्वारा दिया गया ?
4. कार्यात्मक एवं क्रियाशील वित्त में क्या अन्तर है।

उत्तर

1. आय में वृद्धि/बचत में वृद्धि
2. प्रो0 लर्नर
3. डा0 बलजीत सिंह
4. कार्यात्मक वित्त में व्यय को केन्द्र माना गया है जबकि कार्यशील वित्त में उत्पादन को केन्द्र माना गया है। जबकि कार्यशील वित्त में उत्पादन को केन्द्र माना गया है।

8.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कार्यात्मक वित्त क्या है ?आधुनिक आर्थिक विकास में यह किस प्रकार उपयोगी है ?
2. कार्यात्मक वित्त और कार्यशील वित्त में भेद स्पष्ट कीजियें ? क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि विकसित एवं अर्द्धविकसित देशों में राजकोषीय नीति के उद्देश्य में भिन्नता होती है।
3. मुद्रा प्रसार व मुद्रा संकुचन में वित्त की क्या भूमिका है ?

8.16 इकाई संरचना

1. Houghton, E. W. (Ed.) (1988), Public Finance, Penguin, Baltimore.
2. Jha, R. (1998), Modern Public Economics, Routledge, London.
3. Mithani, D. M. (1998), Modern Public Finance, Himalaya Publishing House. Mumbai.
4. Musgrave, R. A. and P. B. Musgrave (1976), Public Finance in Theory and Practice McGraw Hill, Kogakusha,Tokyo.

इकाई 9 करारोपण के सिद्धान्त एवं वर्गीकरण

इकाई संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 करारोपण एवं सिद्धान्त

9.3.1 करारोपण का आशय

9.3.2 करारोपण एवं सिद्धान्तों के मध्य सम्बन्ध

9.4 करारोपण के सिद्धान्त

9.4.1 करारोपण के मुख्य सिद्धान्त

9.4.2 करारोपण के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त

9.4.3 करारोपण के अन्य सिद्धन्त

9.5 करारोपण का वर्गीकरण

9.6 करारोपण की आवश्यकता

9.7 सारांश

9.8 शब्दावली

9.9 अभ्यास प्रश्न

9.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

9.11 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ

9.12 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई, तृतीय ब्लाक लोक राजस्व एवं बजटिंग से सम्बन्धित नवीं करारोपण के सिद्धान्त एवं वर्गीकरण पर आधारित हें इससे पूर्व की इकाई के अन्तर्गत आपने राजस्व से सम्बन्धित अनेक पक्षों के बारे में अध्ययन किया होगा। इस इकाई के अन्तर्गत लोक सत्ताओं या सरकारों द्वारा लगाये जाने वाले विभिन्न करों से सम्बन्धित सिद्धान्तों से भली भाँति परिचित हो पायेंगे। सर्वप्रथम आप करारोपण का आशय समझने के साथ करारोपण एवं इसके लिए आवश्यक सिद्धान्तों के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन करेंगे। करारोपण के विभिन्न सिद्धान्त राजस्व तथा सार्वजनिक उद्देश्यों के विभिन्न पक्षों से अलग–अलग सम्बन्धित हैं। प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत करारोपण के मुख्य सिद्धान्तों के साथ सामाजिक न्याय के लिए आवश्यक सिद्धान्तों को भी आप भली–भाँति समझ सकेंगे। करारोपण के अन्य सिद्धान्तों का भी आप अध्ययन करेंगे जो एक अर्थव्यवस्था के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

करारोपण के सिद्धान्तों को भली–भाँति समझने के बाद आप करारोपण के वर्गीकरण को समझेंगे जो करों की प्रकृति एवं आवश्यकता के आधार पर किये गये हैं। आपको यह विदि हो कि करारोपण के द्वारा सरकाकर किन–किन उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहती है। इसे भली–भाँति समझने के लिए प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत करारोपण की आवश्यकता को भी स्पष्ट किया गया है। करारोपण के सिद्धान्तों एवं वर्गीकरण की उपयोगिता किसी एक देश की सरकार के लिए ही नहीं अपितु समस्त प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के कुशल संचालन के लिए अत्यन्त आवश्यक समझी गयी है।

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई 'करारोपण के सिद्धान्त एवं वर्गीकरण' के अन्तर्गत आप समझ सकेंगे कि :–

1. करारोपण की क्या अवधारणा है तथा इसका विस्तृत अर्थ क्या है? जिसके कारण इसका राजस्व में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।
2. किसी भी सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था के सफल एवं कुशल क्रियान्वयन के लिए राजस्व की पूर्ति के करारोपण किन सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिए।
3. आप समझ सकेंगे कि करारोपण का सामाजिक न्याय तथा आर्थिक स्थिरता से क्या सम्बन्ध है जो किसी भी देश की सरकार के लिए अत्यन्त उपयोगी है।
4. करारोपण का वर्गीकरण क्या है तथा यह वर्गीकरण किन आधारों पर किये गये हैं तथा अर्थव्यवस्था के लिए इनकी क्या प्रासंगिकता है।
5. आप अध्ययन कर समझ सकेंगे कि करारोपण की आवश्यकता किसी देश की सरकारों एवं लोकसत्ताओं के लिए क्यों होती हैं।

9.3 करारोपण एवं सिद्धान्त

इस इकाई के इस भाग के अन्तर्गत आप अध्ययन कर सकेंगे कि करारोपण का क्या आशय है? एवं करारोपण के साथ इससे सम्बन्धित सिद्धान्तों के मध्य क्या अन्तर्सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

9.3.1 करारोपण का आशय–आपको यहाँ पर स्पष्ट रूप से समझना होगा कि कर एवं करारोपण एक ही अवधारणा नहीं है। सामान्य रूप से करारोपण को कर के ही रूप में

परिभाषित किया जाता रहा हे। लेकिन करारोपण तथा कर एक दूसरे के पूरक रूप में ही हैं। प्रथमतः आपको कर की अवधारणा को स्पष्ट किया जाय। कर जनता पर लगाया गया वह अनिवार्य भुगतान है जिसे सरकार द्वारा अनिवार्य रूप से एकत्रित किया जाता है तथा उसे सार्वजनिक कार्यों पर सामान्यतः व्यय कर दिया जाता है।

डॉल्टन के अनुसार, ''कर किसी सार्वजनिक सत्त द्वारा लगाया गया एक अनिवार्य अंशदान है भले ही इसके बदले में करदाताओं को उतनी सेवाएँ प्रदान की गयी हों अथवा नहीं। यह किसी कानूनी अपराध के दण्डस्वरूप नहीं लगाया जा सकता।''

बेस्टेबिल (Bastable) के शब्दों में कर को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है, ''कर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की सम्पत्ति का वह भाग होता है जो सार्वजनिक सेवाओं को चलाने के लिए अनिवार्य रूप से बसूल किया जाता है।''

अर्थशास्त्री शिराज ने भी कर को निम्नवत स्पष्ट किया है, ''कर सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा बसूल किया जाने वाला वह अनिवार्य भुगतान है जो सार्वजनिक भलाई के खर्च को पूरा करने के लिए लिया जाता है और उसका किसी विशेष लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।''

कर की अवधारणा को स्पष्ट करके आपको करारोपण की अवधारणा को समझने में कठिनाई नहीं होगी।

9.3.2 करारोपण एवं सिद्धान्तों के मध्य सम्बन्ध

लम्बे समय से ही सरकाकरों के क्रियाकलापों में वृद्धि के साथ अनेक प्रकार के उद्देश्यों में भी परिवर्तन पाया गया है। सरकार द्वारा अपनी अर्थव्यवसा संचालन के लिए वित्तीय व्यवस्था अनेक प्रकाकर के उपायों द्वारा की जाती रही है। करारोपण उनमें से एक महत्वपूर्ण उपाय के रूप में जाना जाता है। सरकार के ऊपर लगातार बढ़ती जिम्मेदारियों के मद्देनजर यह भी आवश्यक होता है कि सरकाकर की व्यवस्थाओं का सर्वाधिक लाभ किस वर्ग या व्यक्ति को प्राप्त हुआ है तथा किस वर्ग को किसी भी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं हो सका। सरकार को देश में वित्तीय व्यवस्था को सुचारु बनाये रखने के साथ शान्ति व्यवस्था तथा सामाजिक सुरक्षा आदि का भी ध्यान रखना होता है। इसीलिए करारोपण को एक अत्यन्त विचारणीय बिन्दु के रूप में देखा गया है। सरकार की वित्तीय व्यवस्थायें भी पूर्ण हों तथा जनता में भी शान्ति तथा सुरक्षा व्यवस्था बनी रहे इसके लिए किसी सामान्य से पैमाने से काम चलने वाला नहीं है। करारोपण के विभिन्न सिद्धान्त सरकार तथा जनता से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन कर आधारित किये गयेहैं। इसीलिए इन सिद्धान्तों की प्रासंगिकता प्राचीन से वर्तमान में भी बनी हुई है।

वर्तमान में कर प्रणाली इतनी विस्तृत है कि करारोपण के बिना सरकाकर के क्रियाकलापों को संचालित कर पाना सम्भव नहीं होगा। कल्याणकारी राज्यों में करारोपण के साथ–साथ करारोपण के सिद्धान्त भी समकक्ष रूप में देखे जाने लगे हैं। अतः सिद्धान्तों की अवहेलना करके करारोपण को सफल नहीं बनाया जा सकता है।

9.4 करारोपण के सिद्धान्त

करारोपण का आशय एवं सिद्धान्तों के साथ सम्बन्धों को समझने के बाद आपको यह भी भली–भाँति समझना आवश्यक होगा कि करारोपण के लिए उचित एवं अनुचित का निर्धारण

करने वाले सिद्धान्त कौन–कौन से हैं। अध्ययन की आसानी के लिए यहाँ पर करारोपण के सिद्धान्तों को तीन रूपों में स्पष्ट किया गया है।

करारोपण के मुख्य सिद्धान्त, करारोपण के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त तथा कररोपण के अन्य सिद्धान्त।

9.4.1 करारोपण के मुख्य सिद्धान्त

करारोपण के मुख्य सिद्धान्तों के अन्तर्गत उन सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे जिनको करारोपण के समय मुख्य रूप से ध्यान में रखा जाता है। ये मुख्य सिद्धान्त निम्नवत रूप से स्पष्ट किये जा सकते हैं :–

(1)**एडम स्मिथ के करारोपण के सिद्धान्त :** 1776 में प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्रों के धन के स्वरूप एवं कारणों की खोज' (An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations) में एडम स्मिथ ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वे निम्नवत् हैं :–

निश्चितता का सिद्धान्त (Canon of Certainty) : एडम स्मिथ के ही शब्दों में, ''प्रत्येक व्यक्ति को जो कर देना है, वह निश्चित होना चाहिए मनमानापन नहीं। भुगतान का समय, भुगतान की जाने वाली राशि, करदाता तथा प्रत्येक अन्य व्यक्ति को स्पष्ट होना चाहिए।'' यह सिद्धान्त इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि करारोपण के द्वारा सरकार एवं करदाता दोनों में से किसी को कोई असुविधा का सामना न करना पड़े। कर की राशि, समय, तथा अन्य महत्वपूर्ण तथ्य स्थिर तथा स्पष्ट हो ताकि कर के संग्रहण में अनावश्यक विवादों से बचा जा सके। कर देने वाले एवं कर लेने वाले दोनों को कर के बारे में पूर्ण एवं स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए। यह सिद्ध करदाता एवं करारोपण करने वाली संस्था या सत्ता दोनों के एि ही अत्यन्त लाभदायक माना गया है। कर सम्बन्धी निश्चितता होने पर करदाता को समय से पूर्ण करक चुकाने में अनावश्यक परेशानी का सामना नहीं करना पड़ता है।

समानता का सिद्धान्त (Canon of Equality) : करारोपण के इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''प्रत्येक राज्य की प्रजा को सरकार के लालन–पालन के लिए, जहाँ तक सम्भव हो, अपना अंशदान अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार देना चाहिए अर्थात् उस आय के अनुपात में जिसका आनन्द वे राज्य की संरक्षता में प्राप्त करते हैं।'' यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कर देने वाले व्यक्ति पर अनावश्यक या आवश्यकता से अधिक करारोपण नहीं करना चाहिए। राज्य का संरक्षण से प्राप्त लाभों के आधार पर ही करारोपण का आकार निश्चित होना चाहिए।

इस सिद्धान्त में राज्य की संरक्षता तथा कर की मात्रा के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट करना एक कठिन कार्य है। इसके साथ कर पर प्रतिफल की बाध्यता लागू करने के सम्बन्ध में भी यह सिद्धान्त न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता है। देश में गरीब, बेरोजगार, बीमार व्यक्ति राज्य की संरक्षता के अनुपात में कर का भुगतान करने में समर्थ नहीं कहे जा सकते हैं।

मितव्ययिता का सिद्धान्त (Canon of Economy) : एडम स्मिथ के इस सिद्धान्त को शुद्ध आर्थिक सिद्धान्त कहा जा सकता है। एडम स्मिथ के अनुसार, ''प्रत्येक कर इस तरह लगाया और बसूल किया जाना चाहिए कि उसके द्वारा सरकारी कोष में जितना द्रव्य आये उससे बहुत अधिक मात्रा में जनता की जेब से द्रव्य न निकाला जाय, अथवा जनता द्वारा दिये जाने वाले कर का सरकारी कोष में आने वाली रकम से आधिक्य न्यूनतम हो।''

- इस सिद्धान्त की वास्तविकता में जाने पर आप समझेंगे कि सरकार के पास अत्यधिक मात्रा में करारोपण से प्राप्त राशि अनावश्यक नहीं आनी चाहिए अन्यथा उस राशि का प्रयोग पूर्ण कुशलता के साथ नहीं हो सकेगा। यह सिद्धान्त सरकार की कार्यकुशलता पर नियंत्रण रखने पर ध्यान देता है।

सुविधा का सिद्धान्त : इस सिद्धान्त के अनुसार करदाता को कर देने में किसी भी प्रकार की असुविधा नहीं होनी चाहिए। यह करदाता को कर के भुगतान में किसी भी प्रकार की असुविधा होने पर करदाता को कर का भार अधिक सहना पड़ता है। एडम स्मिथ के अनुसार, ''प्रत्येक कर ऐसे समय और इस ढंग से लगाया जाय कि करदाता को भुगतान की सुविधा हो। प्रायः देखा जा सकता है कि प्रत्येक करदाता कर का सुविधाजनक रूप से भुगतान करना चाहता है।''

(2)लोच का सिद्धान्त : अर्थव्यवस्थाओं के विकास एवं प्रकृति के अनुसार लोच का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी तथा महत्वपूर्ण रूप में देखा जा सकता है। अर्थव्यवस्थाओं की आवश्यकताओं के अनुरूप सरकारें करारोपण में आवश्यक परिवर्तन कर सकती हैं। ताकि देश में आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े। कर प्रणाली में लोच की कमी के कारण करदाता एवं सरकार दोनों को ही अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

- **(3)उत्पादकता का सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त के अनुसार कर प्रणाली इस प्रकार की हो ताकि अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव उत्पादकता बढ़ाने वाले हों। कर प्रणाली का सम्बन्ध केवल कर देने एवं कर एकत्रित करने तक ही सीमित नहीं रह जाता है बल्कि कर प्रणाली एक अर्थव्यवस्था का केन्द्र बिन्दु होता है। कर एकत्रण की लागत पर कर प्राप्त की राशि आधिक्य होने पर भी उत्पादकता के रूप में देखा जाता है। इसके साथ उत्पादकता का सिद्धान्त भविष्य में करारोपण की प्रवृत्ति में वृद्धि बनाये रखने पर जोर देता है। यह सिद्धान्त उत्पादकों की उत्पादन वृद्धि, आय एवं बचत में वृद्धि की प्रवृत्ति, एवं उपभोग पर भी सकारात्मक प्रभाव डालता है।
- **(4)विविधता का सिद्धान्त :** करारोपण का विविधता का सिद्धान्त वर्तमान में गतिशील अर्थव्यवस्थाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सरकारें करारोपण के लिए केवल किसी एक मद पर ही निर्भर नहीं रह सकती हैं क्योंकि एक स्रोत से सरकार के क्रियाकलापों के लिए वित्त की पूर्ण व्यवस्था नहीं की जा सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर प्रणाली में अनेक प्रकार के कर होने चाहिए जिन्हें जनता की आर्थिक स्थिति के अनुसार अलग–अलग व्यक्तियों एवं वस्तुओं पर लगाया जा सके। इससे करारोपण काक प्रभाव समस्त अर्थव्यवस्था पर फैलाने में सहायता मिलती है। एक कर प्रणाली से अर्थव्यवस्था का कुछ क्षेत्र कर प्रणाली से बाहर ही रह जायेगा और सरकार के लिए एक नई समस्या पैदा होगी।

9.4.2 करारोपण के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त

समय–समय पर अर्थशास्त्रियों द्वारा जनता के साथ आर्थिक रूप से न्याय बनाये रखने के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं। न्याय सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है जो मुख्य रूप से निम्नवत हैं :–

(1) **कर देय योग्यता सिद्धान्त :** करारोपण के मुख्य एवं बहुत पुराने कर देय योग्यता सिद्धान्त (Ability ot pay theory) का प्रतिपादन 16वीं शताब्दी में जॉन बोर्डिन और 18वीं शताब्दी में बिलियम पेटी और एडम स्मिथ ने किया था। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में एडम स्मिथ का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि, ''प्रत्येक राज्य की जनता को राज्य की सहायता हेतु अपनी योग्यतानुसार अनुपात में अंशदान करना चाहिए अर्थात् उस आय के अनुपात में देना चाहिए जो कि वे राज्य के संरक्षण में प्राप्त करते हैं।''

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति की कर देने की योग्यता का निर्धारण करके करारोपण करना चाहिए ताकि वह उस कर का भुगतान आसानी से कर सके। यहाँ पर यह अत्यन्त साधारण सत्य है कि निर्धन वर्ग के व्यक्तियों की कर देने की क्षमता या योग्यता कम होती है। अतः निर्धनों पर कर का आरोपण करके कम मात्रा में अंशदान लिया जाय। इसके विपरीत धनीवर्ग के व्यक्तियों की कर देने की योग्यता अधिक होती है। अतः धनी वर्ग पर करारोपण द्वारा अधिक मात्रा में कर का अंशदान प्राप्त किया जाना चाहिए। इसी लिए सरकार द्वारा शासन को कुशलतापूर्ण चलाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के अनुसार अंशदान कर देना चाहिए या सरकार द्वारा बसूला जाना चाहिए। कर देय योग्यता के निर्धारण के लिए भावनात्मक तथा आन्तरिक दृष्टिकोणों की सहायता की आवश्यकता होती है।

(2) **सेवा लागत सिद्धान्त :** यह आपको विदित है कि लोक सत्तायें सार्वजनिक कार्यों का निष्पादन करती हैं तथा समाज के कल्याण में वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयासरत रहती हैं। समाज कल्याण में वृद्धि करने के लिए सार्वजनिक कार्यों के निष्पादन पर सरकारों या लोकसत्ताओं को एक निश्चित लागत उठानी पड़ती है जिसे अपने देश के नागरिकों से ही बसूला जा सकता है क्योंकि ये सत्तायें इन्हीं नागरिकों के कल्याण के प्रयास करती हैं। यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि समाज की सेवा पर आने वाली या उठायी जाने वाली लागत के बराबर समाज द्वारा सत्ताओं को कर दिये जाने चाहिए। सेवा लागत के सिद्धान्त के सम्बन्ध में डॉल्टन ने लिखा है कि, ''सेवा लागत का सिद्धान्त डाक सेवाओं, विद्युतधारा आदि की पूर्ति पर लागू किया जा सकता है। इन सेवाओं की कीमत इस सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित की जा सकती है।'' प्रो0 ब्यूहलर ने इस सिद्धान्त के विषय में स्पष्ट किया है कि, ''अनेक लेखकों का सुझाव है कि करों को सरकार द्वारा प्रदान की गयी सेवाओं की लागत के आधार पर ही लगाया जाना चाहिए। वह भी शायद इस आधार पर कि नागरिकों को सरकारी सेवाओं को चुनने या रद्द करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।''

यहाँ आपको स्पष्ट होना चाहिए कि एक तरफ कर को अदा करने पर प्रतिफल की आशा नहीं करनी चाहिए वहीं यह सिद्ध कर अदा करने पर सेवा प्राप्त करने की कीमत पर आधारित किया गया है। जो वास्तव में करारोपण का सिद्धान्त न होकर शुल्क आरोपण के रूप में देखा जा सकता है। यह सिद्धान्त सेवाओं को प्राप्त न करने वालों पर करारोपण न करने की बात भी स्वीकार करता है।

(3) **अधिकतम कल्याण का सिद्धान्त :** करारोपण व्यवस्था में कल्याण आधारित इस सिद्धान्त को एजवर्थ तथा पीगू ने अत्यन्त ही महत्वपूर्ण माना। इस सिद्धान्त के

अनुसार करारोपण की व्यवस्था इस प्रकार तय की जाय कि व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण हो सके। एजवर्थ के अनुसार, ''करारोपण की नीति को समान सीमान्त त्याग पर आधारित करने के उपरान्त ही समाज को अधिकतम कल्याण प्राप्त हो सकता है।''

इसी सम्बन्ध में पीगू ने एक तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया कि, ''सभी इस बात से सहमत हैं कि सरकार की क्रियाओं का नियमन इस प्रकार से होना चाहिए कि उसके नागरिकों का कल्याण अधिकतम हो। यही सरकार की सम्पूर्ण कानूनी प्रक्रिया की कसौटी है और करारोपण के क्षेत्र में यही न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त है।'' इस सिद्धान्त को इस अवधारणा पर आधारित किया गया है कि जैसे–जैसे व्यक्ति की आय में वृद्धि होती जाती है, त्यों–त्यों व्यक्ति को मिलने वाली आय की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। इसीलिए बढ़ी हुई आय पर घटती दर से करारोपण किया जाना चाहिए। पीगू ने स्पष्ट किया कि न्यूनतम त्याग के लिए यह आवश्यक है कि करदाताओं द्वारा भुगतान की गयी द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता समान होनी चाहिए।

डॉल्टन तथा मसग्रेव ने भी अधिकतम कल्याण के सिद्धानत से सम्बन्धित न्यायपूर्ण वितरण की समस्या को समान सीमान्त त्याग तथा समान सीमान्त कल्याण की तुलना करके हल करने का प्रयास किया। करारोपण से अधिकतम कलयाण की स्थिति को उस समय प्राप्त किया जा सकता है जब सरकार द्वारा प्रत्येक मद पर किये गये व्यय से समाज को समान सीमान्त कल्याण प्राप्त हो तथा करारोपण से जनता को होने वाला सीमान्त त्याग समान हो।

(4) **आय सिद्धान्त** : करारोपण के आय सिद्धान्त का प्रतिपादन इटली के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डि मार्को द्वारा किया गया। इस सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित किया गया है। यह सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति की आय के अनुपात के आधारपर करारोपण करने पर जोर देता है। डि मार्को के अनुसार, ''जितनी अधिक आय एक व्यक्ति की होती है, उसे उतना ही अधिक कर देना चाहिए, क्योंकि उतनी ही अधिक सेवाओं का उपयोग उसने किया है। अतः धीन व्यक्ति अधिक तथा निर्धन व्यक्ति कम कर देगा। इस प्रकार करों का निर्धारण आय के अनुपात में किया जाना चाहिए।'' यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से आय कर से सम्बन्धित किया गया है यदि सम्पूर्ण कर व्यवस्था के लिए आय को आधार बनाया जाय तो अर्थव्यवस्था का संचालन के लिए सरकार की वित्त व्यवस्था अत्यन्त संकुचित रूप में ही रह जायेगी तथा अन्य क्षेत्र करारोपण से बाहर ही रह जायेंगे।

(5) **वित्तीय सिद्धान्त** : करारोपण का वित्तीय सिद्धान्त कॉलबर्ट के कथन 'बत्तख को इस प्रकार नोचों कि वह कम से कम शोर मचाये'' पर आधारित है। प्राचीन काल में सरकारों के सम्मुख मुख्य समस्या अपनी व्यवस्थाओं के लिए अधिक से अधिक मात्रा में आय अर्जित करने की थी न कि जनता के कल्याण में वृद्धि करने या आर्थिक स्थिरता की। इसीलिए इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को करारोपण के द्वारा अधिकाधिक पर्याप्त आय प्राप्त हो जानी चाहिए। वर्तमान में सरकारों के सामने आय

प्राप्त के साथ समाज के कल्याण एवं त्याग के साथ अर्थव्यवस्था में समान वितरण सम्बन्धी समस्यायें उपस्थित रहती हैं।

9.4.3 करारोपण के अन्य सिद्धान्त

करारोपण के अन्य सिद्धान्तों में एडोल्फ बैगनर (Adolph Wagner) द्वारा प्रतिपादित सामाजिक–राजनैतिक सिद्धान्त, सैलिगमैन के हितप्राप्ति सिद्धान्त को भी शामिल किया गया है।

सामाजिक राजनैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन इस आधार पर कया गया कि करों काक चुनाव सामाजिक तथा राजनैतिक उद्देश्यों के आधार पर किया जाना चाहिए। व्यक्तिगत उद्देश्यों के आधार पर किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। वैगनर के अनुसार सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार का संरक्षण सरकार द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

हित प्राप्ति सिद्धान्त के अनुसार सरकार द्वारा समाज को अनेक सामाजिक प्रशासनिक सेवायें उपलब्ध करायी जाती हैं और समाज के जीवन, धन एवं सम्पत्ति की रक्षा भी सरकार के हस्तक्षेप के बिना सम्भव नहीं है। अतः इस सेवाओं की लागत के बदले उन्हें कर का भुगतान सरकाकर को करना ही चाहिए तथा यह वित्तीय भार सेवाओं की प्राप्ति के अनुपात में ही वहन किया जाना चाहिए।

9.5 करारोपण का वर्गीकरण

करारोपण से सम्बन्धित विभिन्न अर्थशास्त्रियों में सिद्धानतों का अध्ययन करने के बाद आपको यह समझना अतयन्त आवश्यक है कि करारोपण का वर्गीकरण किस प्रकार किया गया है।

1. प्रत्यक्ष कर तथा परोक्ष कर
2. एकल एवं बहुकर प्रणाली
3. करों की दर की स्थिति के आधार पर वर्गीकरण
4. विशिष्ट कर एवं मूल्यानुसार कर
5. लोक सत्ताओं के आधार पर कर–केन्द्रीय कर, राज्यीय कर, स्थानीय कर
6. अन्य वर्गीकरण

करों के उक्त वर्गीकरणों के अन्तर्गत निर्धारित किये जाने वाले करों की विस्तृत व्याख्या के आधार पर आप इन वर्गीकरणों के बारे में भली–भाँति समझ सकेंगे।

(1) प्रत्यक्ष कर तथा परोक्षकर (Direct and Indirect Tax)

एक लम्बे समय से अर्थशास्त्रियों में विवादास्पद विषय रहा है कि किन करों को प्रत्यक्ष कर माना जाय तथा किन करों को परोक्षकर की श्रेणी में रखा जाय। डॉल्टन ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के विषय में लिखा है कि, ''एक प्रत्यक्ष कर वास्तव में उसी व्यक्ति द्वारा दिया जाता है जिस पर वैधानिक रूप से वह लगाया जाता है जबकि अप्रतयक्ष कर एक व्यक्ति पर लगाया जाता है तथा सम्पूर्ण या आंशिक रूप से वह अन्य व्यक्ति द्वारा भुगतान किया जाता है, जो अनुबन्ध एवं सौदा करने की शर्तों के परिणाम स्वरूप ऐसा होता है।''

जे0एस0 मिल ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के बारे में लिखा है कि, ''एक प्रत्यक्ष कर वह हे जो उसी व्यक्ति से माँगा जाता है जो उसे भुगतान करने की इच्छा या इरादा

रखे और एक अप्रत्यक्ष कर वह है जो एक व्यक्ति से इस आशा एवं इच्छा से माँगा जाता है कि वह दूसरे की लागत पर इसकी क्षतिपूर्ति कर लेगा।''

सामान्य तौर पर कर आघात तथा कर आयतन के आधार पर ही करों को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों की श्रेणी में रखा गया है। प्रत्यक्ष करों के आरोपण पर कराघात एवं कर का आपतन एक ही इकाई या व्यक्ति पर पड़ता है जबकि परोक्ष करों के आरोपण की स्थिति में कराघात तथा कर का आयतन अलग–अलग इकाइयों या व्यक्तियों पर पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष करारोपण के अन्तर्गत कर विवर्तन नहीं पाया जाता जबकि परोक्ष करारोपण की स्थिति में कर का विवर्तन किया जाता है। इस प्रकार आय, व्यय, धन, सम्पत्ति, उपहार, उत्तराधिकार, पूँजी आय, ब्याज आदि पर करारोपण प्रत्यक्ष कर की श्रेणी में आता है। उत्पादन शुल्क, बिक्रीकर, सीमा शुल्क आदि को परोक्ष कर की श्रेणी में रखा जाता है।

(2) एकल एवं बहुकर प्रणाली

सामान्य रूप एकल करारोपण की स्थिति में कर प्रणाली के अन्तर्गत केवल एक ही कर अस्तित्व में पाया जाता है। साधारण जीवन की अर्थव्यवस्था में इस कर प्रणाली को अपनाया जा सकता है जिसमें एक ही कर से अर्थव्यवस्था संचालन के लिए वित्त की व्यवस्था आसानी से हो सके।

लेकिन अर्थव्यवस्थाओं के विकास एवं अनेक जटिलताओं के चलते एकल कर प्रणाली से काम चलने वाला नहीं है। इस कर प्रणाली से न तो सरकार सभी को कर सीमा में ला सकती है और न ही सार्वजनिक कार्य पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में राजस्व की आपूर्ति को जुटा पा सकती है।

बहुकर प्रणाली के अन्तर्गत एक ही कर प्रणाली में एक साथ एक से अधिक कर अस्तित्व में पाये जाते हैं। इस कर प्रणाली में अधिकांशतः सभी को किसी न किसी कर की सीमा में लाया गया है तथा सरकार के लिए सार्वजनिक कार्यों की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में राजस्व को जुटाया जा सका है। बहुकर प्रणाली से कर प्रणाली के अन्तर्गत पैदा होने वाली अनेक समस्याओं को हल किया जा सकता है।

एकल कर प्रणाली में अर्थव्यवस्था में आवश्यकतानुसार सुधारों की सम्भावनायें समाप्त हो जाती हैं तथा अर्थव्यवस्था में स्थिरता या ठहराव की स्थिति पैदा हो जाती है। इसके साथ बहुकर प्रणाली में लोचता की अधिकता के कारण अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं।

(3) करों की दर की स्थिति के आधार पर कर

आपको यहाँ पर ध्यान देना होगा कि करों की दरों की स्थिति में अन्तर के आधार पर करों को अनेक रूपों में रखा जा सकता है।

– **आनुपातिक कर (Proportional Tax)** : आनुपातिक कर प्रणाली के अन्तर्गत सभी प्रकार की आय वाली इकाईयों एवं व्यक्तियों पर एक ही दर से कर लगाया जाता है। आय में वृद्धि होने पर कर राजस्व में वृद्धि होती है। आय में वृद्धि की दर तथा कर राजस्व में वृद्धि की दर समान पायी जाती हैं यदि एक आय स्तर 1000 करोड़ रुपये पर 10 प्रतिशत की दर से कर लगाने पर 100 करोड़ रूपया का राजस्व प्राप्त होगा। परन्तु आय स्तर 10000 करोड़ रूपये होने पर भी कर 10

प्रतिशत की दर से ही लगाया जायेगा तथा कर राजस्0 की राशि 1000 करोड़ रूपये होगी।

– **प्रगतिशील कर (Progressive Tax)** : प्रगतिशील कर प्रणाली में आय के स्तर में वृद्धि होने पर कर की दर में भी वृद्धि हो जाती है। इसे एक उदाहरण द्वारा आसानी से समझाया जा सकता है।

आय स्तर (लाख)	की दर (%)	करों से प्राप्त आय (लाख रू0)
100	10	10
400	15	60
600	20	120
1000	30	300

उपर्युक्त तालिका में आय स्तर में वृद्धि होने के साथ साथ कर की दर में वृद्धि हो रही है।

– **प्रतिगामी कर (Regressive Tax)** : इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रगतिशील करक प्रणाली की विपरीत दिशा में कर की दरें निश्चित की जाती हैं। प्रारम्भ में आय स्तर पर कर की दर उच्च पायी जाती हैं जैसे–जैसे आय का स्तर बढ़ता जाता है कर की दर घटती जाती है।

– **अधोगामी कर (Degressive Tax)** : अधोगामी कर प्रणाली में प्रारम्भिक आय स्तर से आय में वृद्धि होने पर कर की दरें बढ़ती जाती हैं लेकिन एक स्तर के बाद आय वृद्धि होने पर कर की दर बढ़ायी नहीं जाती हैं। इस सीमा के बाद कर की दर समान हो जाती हैं जैसे 100000 रू0 की आय पर 8 प्रतिशत की दर, रू0 200000 रू0 पर 10 प्रतिशत की दर तथा रू0 400000 की आय पर 15 प्रतिशत की दर से कर लगेगा लेकिन 400000 रू0 से ऊपर आय वृद्धि पर कर की दर 15 प्रतिशत ही रहेगी। यह कर प्रगतिशील तथा प्रतिगामी कर प्रणाली की संयुक्त विशेषताओं के आधार पर व्युत्पन्न किया गया है।

(4) विशिष्ट कर एवं मूल्यानुसार कर

विशिष्ट कर वे कर कहलाते हैं जिन्हें किसी वस्तु के भार आकार या इकाईयों की संख्या के आधार पर लगाया जाता है, जबकि मूल्यानुसार कर वह कर है जिसे वस्तु के मूल्य के आधार पर लगाया जाता है। सामान्य रूप से मूल्यानुसार कर को अधिक महत्व दिया जा रहा है।

(5) लोक सत्ताओं के आधार पर कर

लोक सत्ताओं के अधिकार के आधार पर करों को निम्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है –

– **केन्द्रीय सरकार के कर** : जो कर किसी देश की केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं जैसे भारत में आय कर जो देष की संघीय सरकार द्वारा लगाया जाता है।

– **राज्य सरकार के कर :** किसी देश के अन्दर वहाँ की अलग–अलग राज्य सरकारों द्वारा लगाये जाने वाले कर इस श्रेणी में आते हैं, जैसे भारत में कृषि तथा मनोरंजन कर आदि राज्यों की सरकारों द्वारा लगाये जाते हैं।

– **स्थानीय कर :** ये कर स्थानीय सरकारों जैसे – नगर निगम, पंचायत द्वारा लगाये जाते हैं जैसे पथकर, गृहकर, जलकर आदि।

6. अन्य वर्गीकरण

करों के अन्य वर्गीकरणों में व्यक्ति कर तथा वस्तु कर, अस्थायी तथा स्थायीकर एवं सम्पत्ति कर तथा वस्तुकर (Tax on Propety and Tax on Commodity) को भी शामिल किया गया है।

9.6 करारोपण की आवश्यकता

आपको इस बिन्दु के अन्तर्गत यह समझ में आ जायेगा कि किसी राजसत्ता या सरकार को करारोपण की आवश्यकता क्यों पड़ती है। क्या अन्य साधनों से करारोपण से प्राप्त राजस्व की भरपाई नहीं की जा सकती। किसी अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा करारोपण की आवश्यकता को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

1. सरकार के लिए सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता अपने सामाजिक कार्यों के लिए किये जाने वाले व्यय की पूर्ति के लिए आय प्राप्त करना निर्धारित की गयी। यह आवश्यकता अत्यन्त ही प्राचीन तथा सार्वभौमिक रूप में देखी गयी है।
2. विकास के दौर में सरकारों के सामने एक अन्य चुनौती स्वयं की अर्थव्यवस्थाओं को संतुलित स्तर पर चलाने की रही है। अर्थव्यवस्थाओं के नियमन एवं नियन्त्रण के लिये सरकारों द्वारा करारोपण का सहारा लिया गया है। व्यापारिक चक्रों की स्थिति, विदेशी प्रभाव आदि से बचने के लिए भी करारोपण को एक उपकरण के रूप में अपनाया जाने लगा है।
3. समाज में व्याप्त अनेक विसंगतियों को दूर करने के लिए भी करारोपण पद्धति का सहारा समय–समय पर सरकारें लेती रही हैं। धन के असमान वितरण की समस्या का सामना करने वाली अर्थव्यवस्थाओं के लिए करारोपण की भूमिका और अधिक बढ़ जाती हैं।

प्रो0 राजा चलैया के एक कथन से करारोपण की आवश्यकता को और अधिक स्पष्ट रूप में रखा जा सकता है :–

''एक विकासोन्मुख देश में एक अच्छी कर पद्धति का कार्य यह होना चाहिए कि वह उस आर्थिक वेशी को गतिशील करे जो अर्थव्यवसथा में अभी हाल में उत्पन्न हुई हो। आर्थिक वेशी उस अन्तर को कहते हैं जो वास्तविक चालू उपज तथा वास्तविक चालू उपभोग के बीच पाया जाता है। भारत जैसे देश में आर्थिक वेशी का एक बड़ा भाग कृषि क्षेत्र में उत्पन्न होता है। वह किसानों, व्यापारियों तथा अन्य लोगों द्वारा अपने पास रख लिया जाता है और ये लोग इस वेशी को उत्पादक विनियोजन में लगाने के अभ्यस्त नहीं होते। आर्थिक विकास की दृष्टि से कर नीति का कार्य यह है कि वह इस वेशी को गतिशील करे, उसे उत्पादक स्रोतों की ओर मोड़े तथा उसके आकार में निरन्तर वृद्धि करे।''

इस प्रकार आर्थिक विकास के लिए करारोपण की आवश्यकता भी अहम भूमिका अदा करती है।

9.7 सारांश

करारोपण एक अत्यन्त प्राचीन अवधारणा है। सरकारों को अपने सार्वजनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए करारोपण द्वारा अनिवार्य रूप से कुछ धनराशि बसूली जाती है जिसे जनता द्वारा अदा किया जाता है। करारोपण का निर्धारण सरकारों द्वारा मनमाने ढंग से नहीं किया जा सकता है। इसके लिये करारोपण के अनेक सिद्धान्तों का सहारा लिया जाता है लेकिन यह वहाँ की अर्थव्यवस्थाओं की प्रकृति पर निर्भर करता है। एडम स्मिथ, विलियम पेटी, डि–मार्को, डॉल्टन, मसग्रेव, कॉलवर्ट, वैगनर तथा सैलिगमैन आदि अर्थशास्त्रियों द्वारा करारोपण के लिए अलग–अलग सैद्धान्तिक विचारों का प्रतिपादन किया है।

करारोपण का वर्गीकरण भी विभिन्न आधारों पर किया गया है। किसी देश की सरकारक अपनी आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं के आधार पर उनमें से करों का चयन करती है। सामान्य रूप से प्रत्यक्ष कर, परोक्ष कर, एकल कर–बहुकर तथा करों की दर के आधार पर वर्गीकरण को प्राथमिकता दी गयी है। सरकार के कार्यों कीपूर्ति गैर–कर राजस्व से कर पाना सम्भव नहीं होती है इसीलिए सरकाकरों को करारोपण की आवश्यकता होती है। अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए भी करारोपण का सहारा लिया जाता है।

9.8 शब्दावली

- **कर** – सरकार द्वारा जनता से अनिवार्य रूप से वसूला जाने वाला अंशदान।
- **सार्वजनिक सत्ता** – सरकार
- **करदाता** – कर को अदा करने वाले व्यक्ति/संस्था करदाता कहलाता है।
- **मिव्ययता** – कम या आवश्यकतानुसार खर्च करने की प्रवृत्ति।
- **द्रव्य** – मुद्रा की राशि।
- **लोचता** – लचीला पन।

9.9 अभ्यास प्रश्न

प्र.1 करारोपण से आप क्या समझते हैं?

प्र.2 ''कर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की सम्पत्ति का वह भाग होता है जो सार्वजनिक सेवाओं को चलाने के लिए अनिवार्य रूप से वसूल किया जाता है।'' यह कर सम्बन्धी परिभाषा किस अर्थषास्त्री द्वारा दी गयी?

प्र.3 एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित करारोपण के सिद्धान्त कौन–कौन से हैं?

प्र.4 'करारोपण का उत्पादकता का सिद्धान्त' उत्पादन क्षमता पर कैसा प्रभाव डालता है?

प्र.5 कर देय योग्यता स्द्धान्त का प्रतिपादन किस अर्थषास्त्री द्वारा किया गया?

प्र.6 आय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया –

(i) मार्षल द्वारा (ii) पीगू द्वारा

(iii) डि मार्को द्वारा (iv) रोबिन्स द्वारा

प्र.7 एडोल्फ वैगनर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है –

(i) आय सिद्धान्त (ii) सामाजिक राजनैतिक सिद्धान्त

(iii) हित प्राप्ति सिद्धान्त (iv) उत्पादकता का सिद्धान्त

प्र.8 विषिष्ट कर क्या है?

प्र.9 स्थानीय करों से आप क्या समझते हैं?

प्र.10 सही / गलत का चयन कीजिए –

(i) आय कर राज्य सरकार का कर है।

(ii) बिक्री कर परोक्ष कर की श्रेणी में आता है।

(iii) मूल्यानुसार कर वस्तु के मूल्य के आधार पर लगाया जाता है।

(iv) प्रत्यक्ष कर के अन्तर्गत कराघात एवं कर का भार एक ही व्यक्ति पर हाता है।

प्र.11 कर की दर के आधार पर करारोपण कितने प्रकार से किया जाता है?

9.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997), *राजस्व* (Public Finance), साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।
2. पंत, जे0सी0 (2005), *राजस्व* (Public Finance), द्वादष संस्करण, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, प्रकाषक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
3. भाटिया एच0एल0 (2008), *लोकवित्त* (Public Finance), विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
4. मिश्रा एवं पुरी (2010), *भारतीय अर्थव्यवस्था,* हिमालय पब्लिषिंग हाउस, नई दिल्ली।

9.11 उपयोगी / सहायक ग्रन्थ

1. Agarwal, R.C. (2006), ***Public Finance***, Lakshmi Narayan Agarwal, Agra.
2. रुद्र, दत्त एवं के0पी0एम0 सुन्दरम (2010), *भारतीय अर्थव्यवस्था,* एस0 चन्द एण्ड कं0 लि0, रामनगर, नई दिल्ली।
3. सेठी, टी0टी0 (2008), *मुद्रा बैंकिंग एवं लोकवित्त*, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

9.12 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 करारोपण से आप क्या समझते हैं? करारोपण के सिद्धान्तों की आवश्यकता को स्पष्ट कीजिए?

प्र.2 करारोपण के सिद्धान्तों को स्पष्ट कीजिए?

प्र.3 करारोपण का वर्गीकरण कीजिए?

प्र.4 करारोपण की आवश्यकता की आलोचनात्मक समीखा कीजिए?

प्र.5 प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों को स्पष्ट करते हुए उनके गुण–दोषों की विवेचना कीजिए?

इकाई 10 करारोपण का प्रभाव – उत्पादन, वृद्धि, वितरण और संसाधनों के आवंटन पर

इकाई संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 करारोपण के प्रभाव

10.3.1 करारोपण का उत्पादन पर प्रभाव

10.3.2 करारोपण का वृद्धि पर प्रभाव

10.4 करारोपण का वितरण एवं संसाधनों के आवंटन पर प्रभाव

10.4.1 करारोपण का वितरण पर प्रभाव

10.4.2 करारोपण का संसाधनों के आवंटन पर प्रभाव

10.4.3 करारोपण के प्रभाव एवं भारतीय अर्थव्यवस्था

10.5 सारांश

10.6 शब्दावली

10.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.8 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

10.9 अभ्यास प्रश्न

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई में आपने करारोपण के सिद्धान्तों का अध्ययन किया होगा तथा उन सिद्धान्तों की उपयोगिता तथा प्रासंगिकता को समझ लिया होगा। इसके साथ करारोपण के वर्गीकरणों को भी भलीभांति समझा होगा जो विभिन्न आधारों पर तय किये गये हैं। प्रस्तुत इकाई लोक राजस्व तथा बजटिंग ब्लॉक से सम्बन्धित दसवीं इकाई है जो करारोपण के प्रभावों से सम्बन्धित की गयी है। प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत करारोपण के अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर पड़ने वाले प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभावों का अध्ययन आप भलीभांति कर सकेंगे। करारोपण के प्रभावों को उत्पादन, वृद्धि वितरण तथा संसाधनों के आवंटन पर अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही दिशाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट किया जायेगा जो आपको अत्यन्त ही उपयोगी सिद्ध होंगे।

करारोपण के प्रभाव एक दिशीय न होकर बहुदिशीय पाये जाते हैं जो किसी भी अर्थव्यवस्था को विभिन्न रूपों में परवर्तित करते हैं तथा सरकार या लोकसत्ताओं के उद्देश्यों को पूरा करने में सहायक सिद्ध होते हैं। इसीलिए करारोपण के उत्पादन, वृद्धि तथा वितरण आदि पर पड़ने वाले प्रभाव सरकार द्वारा पूर्व लक्ष्यानुसार तय किये जाते हैं। लेकिन अर्थव्यवस्था की प्रकृति एवं सरकार की क्रियान्वयन नीति भी करारोपण के प्रभावों को अलग–अलग दिशाओं की ओर ले जाने में सहायक होती है।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद आप समझ सकेंगे कि :–

1. करारोपण के अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव किन–किन दिशाओं में क्रियाशील होते हैं?
2. आप अध्ययन कर सकेंगे कि करारोपण के द्वारा उत्पादन किस प्रकार तथा किस दिशा में प्रभावित होता है। करारोपण से उत्पादन प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से किसक प्रकार प्रभावित होता है?
3. करारोपण का वृद्धि पर पड़ने वाले प्रभावों को भी आप इस इकाई के द्वारा भलीभांति समझ सकेंगे?
4. आप समझ सकेंगे कि करारोपण द्वारा किसी भी अर्थव्यवस्था के लिये आय का पूर्ववितरण किस प्रकार किया जाता है तथा यह किस रूप में प्रभावित होता है?
5. करारोपण से संसाधनों के आवंटन पर पड़ने वाले प्रभावों का भी आप भलीभांति अध्ययन कर सकेंगे।

10.3 करारोपण के प्रभाव

वर्तमान में करारोपण का महत्व अर्थव्यवस्थाओं के लिए और अधिक बढ़ जाता है कि करारोपण के द्वारा अर्थव्यवस्था को किसी भी दिशा में प्रभावित करने में सहायता मिलती है। एक निश्चित समयावधि में अर्थव्यवस्था की रोजगार, विकास एवं वृद्धि, सामाजिक न्याय, आर्थिक–समानता आदि की स्थिति के बाद करारोपण के द्वारा इन महत्वपूर्ण आयामों में जो परिवर्तन पैदा होता है उसे आप करारोपण के प्रभावों के रूप में देख सकते हैं।

प्रायः आपने देखा होगा कि आर्थिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन से न केवल देश की अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है अपितु सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्थाओं में भी बदलाव देखा जा सकता

है लेकिन प्रस्तुत इकाई में मुख्यरूप से आर्थिक चरों पर पड़ने वाले करारोपण के प्रभावों का ही अध्ययन किया गया है।

करारोपण के प्रभावों के सम्बन्ध में प्रो0 लर्नर ने अपने विचार निम्न रूप में व्यक्त किये, ''कर सम्बन्धी नीति बनाते समय उद्देश्य केवल आर्थिक लाभ या आय प्राप्त करना नहीं होना चाहिए वरन अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनाये रखने तथा तेजी व मन्दी को रोकना चाहिए। कर प्रणाली का उद्देश्य आर्थिक स्थिरता को बनाये रखना होना चाहिए।''

इस प्रकार यह कहना न्याय संगत होगा कि करारोपण के प्रभावों को किसी विशेष आयाम के साथ नहीं जोड़ा जा सकता है। करारोपण के माध्यम से अर्थव्यवस्था के सभी महत्वपूर्ण चरों या आयामों में परिवर्तन किया जाता है जिन्हें सामूहिक रूप से करारोपण के प्रभावों के रूप में रखा जा सकता है।

10.3.1 करारोपण का उत्पादन पर प्रभाव

उत्पादन किसी भी अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है जिस पर करारोपण के प्रभाव को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। करारोपण का उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना निम्नवत रूप में की जा सकती है।

I. कार्य क्षमता इच्छा पर प्रभाव
II. बचत करने की क्षमता इच्छा पर प्रभाव
III. उत्पादनों के संसाधनों पर प्रभाव
IV. उत्पादन तकनीकी पर प्रभाव
V. उत्पादन पर अन्य प्रभाव

I. कार्यक्षमता एवं इच्छा पर प्रभाव : करारोपण के द्वारा व्यक्ति की कार्य करने की क्षमता एवं कार्य करने की इच्छा पर अलग–अलग रूप में प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति की कार्य करने की क्षमता करारोपण की प्रकृति से सीधे प्रभावित होती है। प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा परोक्ष कर निर्धन वर्ग की कार्यक्षमता को नकारात्मक दिशा में प्रभावित करते हैं। इसके साथ बेलोचदार तथा आवश्यक वस्तुओं पर लगाये गये करों से व्यक्ति की कार्यक्षमता दुष्प्रभावित होती है जबकि लोचदार या विलासिता की वस्तुओं पर लगने वाले कर कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाल सकते।

वहीं दूसरी ओर व्यक्ति की कार्य करने की इच्छा भी करारोपण द्वारा प्रभावित होती है। प्रो0 मिल के अनुसार, ''व्यक्ति केवल धनी नहीं होना चाहता, बल्कि वह दूसरों की अपेक्षा अधिक धनी होना चाहता है।'' यदि आनुपातिक कर प्रणाली को अपनाया जाता है तो कार्य करने की इच्छा अप्रभावित होगी तथा कर की अन्य प्रणालियाँ कार्य करने की इच्छा को अलग–अलग दिशाओं में प्रभावित करती हैं। करारोपण व्यक्ति को मानसिक रूप से भी प्रभावित करता है जिसका उस व्यक्ति की कार्य करने की क्षमता से गहरा सम्बन्ध होता है। बेलोचदार मांग में करारोपण का काम करने की इच्छा पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। आय की मांग लोच इकाई के बराबर होने पर व्यक्ति की कार्य करने की इच्छा अप्रभावित रहती है तथा आय की लोचदार मांग की स्थिति में करारोपण का व्यक्ति की कार्य करने की

इच्छा प्रतिकूल रूप में प्रभावित होती है। जो उत्पादन को भी उसी दिशा में प्रभावित करती है।

II. **बचत करने की क्षमता एवं इच्छा पर प्रभाव :** बचत करने की क्षमता एवं बचत करने की इच्छा दोनों ही एक बड़ी सीमा तक करारोपण द्वारा प्रभावित होती है। प्रथमतः देखा गया है कि निर्धन वर्ग की अपेक्षा धनीवर्ग की बचत करने की क्षमता अधिक होती है। यदि कर की दरें प्रगतिशील हैं तो बचत करने की क्षमता दुष्प्रभावित होती हैं। इसके विपरीत बचत करने की क्षमता में वृद्धि हो जाती है। वहीं निम्न आय वर्ग की बचत क्षमता में वृद्धि करने के लिए आवश्यक है उन्हें कर प्रणाली में सहायता प्रदान की जाय। इसके साथ वितरणीय असमानताओं को कम करने के लिए करारोपण का प्रयोग करके समाज के सभी वर्गों की बचत करने की क्षमता को प्रभावित किया जा सकता है जिसका उत्पादन से गहरा सम्बन्ध है।

द्वितीयतः बचत कने की इच्छा भी करारोपण द्वारा प्रभावित की जाती है। कर की प्रकृति, आकार तथा स्वरूप आदि के द्वारा बचत करने की इच्छा अलग–अलग स्तर पर प्रभावित होती है। ब्याज पर कर तथा लाभ–आय पर कर की ऊँची दर से बचत करने की इच्छा प्रतिकूल रूप से प्रभावित होती है जिसका उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

III. **उत्पादन के संसाधनों पर प्रभाव :** करारोपण के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने के साथ–साथ परोक्ष रूप से भी प्रभावित होता है। करों के आकार तथा प्रकृति के आधार पर उत्पादन के साधन के ंयोग तथा स्थानान्तरण पर पड़ने वाले प्रभाव के द्वारा उत्पादन को प्रभावित किया जाता है। उत्पादन कार्य में प्रयुक्त साधनों पर लगने वाले करों का भार अधिक है तो उसका उत्पादन की मात्रा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इस कर भार से बचने के लिए इन साधनों का प्रयोग गैर कर वाले उत्पादन कार्य में लगाया जाता है जो उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसके साथ साधनों पर विशिष्ट तथा मूल्यानुसार करारोपण भी उत्पादन को अलग–अलग रूप में प्रभावित करता है।

IV. **उत्पादन तकनीकी पर प्रभाव :** करारोपण का उत्पादन की तकनीकी पर भी गहरा प्रभाव पाया गया है। करों की ऊँची दरें मुद्रा स्फीति की स्थिति पैदा करती हैं जिससे मजदूरी बढ़ने की स्थिति आती है। श्रम संघ तथा अन्य संस्थाएँ मजदूरी में वृद्धि के लिए आवश्यक मानती हैं। फलस्वरूप श्रम प्रधान तकनीकी से पूँजी प्रधान तकनीकी को अधिक वरीयता प्रदान की जाती है। यहाँ पर यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि श्रम की कीमतें किसी भी प्रकार के अधिक मात्रा में करारोपण से सीधे रूप से प्रभावित होती है। इसके साथ उत्पादन कर तथा अन्य प्रकार के करों से लागतें कम करने के लिए भी उत्पादन की तकनीकी में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। लेकिन उत्पादन की तकनीकी पर करारोपण का प्रभाव करों की प्रकृति तथा सरकार की नीति दोनों का संयुक्त परिणाम होता है।

V. **उत्पादन पर अन्य प्रभाव :** करारोपण का एक अन्य उत्पादन पर प्रभाव यह पड़ता है कि कर अधिक मात्रा में लगाने से उत्पादन का रूप तथा डिजायन आदि में परिवर्तन आ जाता है। करारोपण की मात्रा उत्पादन की इकाइयों के आकार, वजन

तथा गुणवत्ता को भी किसी न किसी दिशा में प्रभावित करता है। ऊँचे कर उत्पादन की इस दिशा में प्रतिकूल प्रभाव ही डालते हैं।

10.3.2 करारोपण का वृद्धि पर प्रभाव

प्रस्तुत खण्ड के अन्तर्गत करारोपण का वृद्धि पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया गया है जो वृद्धि के आकार एवं स्वरूप को निम्नवत प्रभावित करता है।

– **वृद्धि के आकार पर प्रभाव**

करारोपण का उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करके आप यह समझ सकेंगे कि वृद्धि के आकार पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। करारोपण वृद्धि की दर को प्रत्यक्ष रूप से तथा परोक्ष रूप से भी प्रभावित करता है। वृद्धि दर को तीव्र बनाये रखने के लिए यह आवश्यक होता है कि देश में मुद्रा स्फीति की दर सामान्य स्तर पर बनी रहे। देश में मन्दी तथा तेजी की स्थितियाँ प्रतिकूल न हों। ऐसी स्थिति में वृद्धि की दर प्रतिकूल रूप से प्रभावित होती है। वृद्धि दर को तीव्र तथा निरन्तर बनाये रखने के लिए सरकार को करारोपण की नीति का सहारा लेना होता है। करों की दर अधिक होने पर प्रायः वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं तथा जनता की क्रयशक्ति कम होती है और देश की अर्थव्यवस्था विकृत होती है। इसके विपरती मन्दी की स्थिति में करारोपण की दर को कम करके जनता की क्रय शक्ति को बढ़ाया जाता है तथा उत्पादन की मांग बढ़ती है जिससे वृद्धि दर पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

किसी क्षेत्र विशेष में वृद्धि दर को बढ़ाने के लिए उत्पादकों को करों में राहत की व्यवस्था की जाती है। जिस क्षेत्र में करों की दर अधिक तथा जटिल होती है उन क्षेत्रों की वृद्धि दरें प्रतिकूल रूप से प्रभावित होती हैं।

– **वृद्धि के स्वरूप पर प्रभाव**

अर्थव्रूवसथाओं को अलग–अलग क्षेत्रों के रूप में बांटा जाता है जैसे प्राथमिक क्षेत्र, विनिर्माण क्षेत्र तथा सेवा क्षेत्र। सरकार की कोशिश रहती है कि सभी क्षेत्रों का समान रूप से विकास हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि सभी क्षेत्रों की वृद्धि दरों को बढ़ाने का प्रयास किया जाय। जिन क्षेत्रों में वृद्धि दर की अधिक आवश्यकता होती है उन क्षेत्रों में करारोपण की नीति को उदार बनाया जाता है तथा वृद्धि दर के अनुकूल रूप में समायेाजित किये जाने का प्रयास किया जाता है।

इसके साथ वृद्धि के स्वरूप को निरन्तरता प्रदान करने के लिए भी करारोपण का सहारा लिया जाता है जिससे वृद्धि दर की निरन्तरता का लाभ उत्पादक वर्ग को मिल सके। वृद्धि दर में होने वाले उच्चावचन उत्पादन की कीमत तथा पूर्ति को प्रभावित करता है जिसका उत्पादक वर्ग तथा उपभोक्ता वर्ग दोनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिससे अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर अवरूद्ध होती है। करारोपण की सफल नीति देशों की वृद्धि दर को उच्च स्तर पर ले जाने में सहायक होती है। इसके साथ करारोपण से प्राप्त राजस्व का प्रयोग आवश्यक वृद्धि दर को बढ़ाने के लिए भी किया जाता है जिससे देश के विकास को बढ़ावा मिलता है। इस राजस्व का प्रयोग यदि उत्पादक कार्यों में नहीं होगा तो वृद्धि दर प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगी।

10.4 करारोपण का वितरण एवं संसाधनों के आवंटन पर प्रभाव

करारोपण के इन प्रभावों को निम्न रूप में स्पष्ट किया जा सकता है :–

10.4.1 करारोपण का वितरण पर प्रभाव

करारोपण द्वारा किसी भी देश में वितरण पर प्रभावों को देखा जा सकता है। अर्थव्यवस्थाओं की प्रकृति के अनुसार कुछ देशों में करारोपण का आय के वितरण पर स्वतः प्रभाव पड़ता है तो कहीं पर इस वितरण पर प्रभाव डालने के लिए करारोपण की नीति तैयार की जाती है। जिन देशों में आय की वितरणात्मक समस्या कम पायी जाती है वहाँ पर करारोपण के वितरण पर बहुत कम ही प्रभाव पाया जाता है और इन प्रभावों पर ध्यान भी नहीं दिया जाता है। किन्तु अधिकांश देश पिछड़े तथा विकासशील देशों की श्रेणी में आतेहैं जहाँ पर वितरण की समस्या को मुख्य समस्या के रूप में देखा जा रहा है और आम जनता पर इसका दुष्प्रभाव पड़ा है। इस समस्या को हल करने के लिए सरकाकर को करारोपण का सहारा लेना होता है जिसके प्रभाव करारोपण के आकार, प्रकृति द्वारा निर्धारित होते हैं। इसके साथ इस वितरण की समस्या को कम करने की आवश्यकता का स्तर भी करारोपण के प्रभावों को निश्चित करता है।

आपको यहाँ पर यह समझना अत्यन्त आवश्यक होगा कि सरकार के सामने केवल आय की वितरणात्मक समस्या को दूर करना ही विकास के लिए आवश्यक नहीं है बल्कि इस वितरण को कम करने के दुष्प्रभाव, बचत की क्षमता, इच्छा तथा निवेश का स्तर एवं दिशा आदि अलग–अलग रूपों में भी पाये जाते हैं। अतः सरकार को इस प्रकारक की राजकोषीय नीति का सहारा लेना होता है कि देश में विरतणीय समस्याओं को भी कम किया जा सके तथा इसका धनी वर्ग पर बचत तथा निवेश के संदर्भ में प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़े। देश में करारोपण का ढाँचा वितरण को अलग–अलग रूपों में प्रभावित करता है। 'बेस्टेबिल' ने करारोपण तथा वितरण की समस्या पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, ''करारोपण को धन की असमानताओं को ठीक करने का एक साधन मानने की एक बड़ी दृढ़ धारणा है ..... यह तो वित्तीय कला की शक्ति के अन्दर ही सम्भव है कि करों की दरों और रूपों को इस प्रकार चुना जाय कि बिना किसी वर्ग पर अनुचित दबाव के आवश्यक धन प्राप्त हो जाय परन्तु यदि धन के वितरण के प्रभावों की ओर ध्यान देना है और इस दिशा में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोई तरकीब करनी है तो इस कार्य में कठिनाइयाँ अत्यधिक हो जाती हैं। यदि उद्देश्य समाजवादी प्रणाली स्थापित करना है तो करारोपण में चालाकी से व्यवस्था करने की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष और प्रभावशाली विधियाँ उपस्थित हैं।''

इसी संदर्भ में प्रो0 पीगू ने लिखा है कि, ''यदि राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा में कमी न आये तो धन के वितरण में प्रत्येक ऐसा सुधार जिससे लाभांश में से निर्धनों के पास जाने वाली मात्रा में वृद्धि हो जाती हो, सामूहिक कल्याण की अभिवृद्धि करेगा।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि करारोपण का आय के वितरण पर अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही दिशाओं में प्रभाव पड़ता है जो अर्थव्यवस्था की स्थिति तथा आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होता है।

करों के प्रकारों के सम्बन्ध में आप समझेंगे कि प्रगतिशील कर आय की वितरणीय असमानताओं को कम करने में सहायक होता है जबकि अधोगामी या प्रतिगामी करों का विरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जो एक अर्थव्यवस्था के लिए नुकसानदायक होता है।

इस प्रकार प्रगतिशील करारोपण द्वारा धनी वर्ग से धन का प्रवाह निर्धन तथा गरीब वर्ग की ओर हो जाता है। इसी प्रकार परोक्ष करों की अपेक्षा प्रत्यक्ष करों का वितरण पर अधिक अनुकूल प्रभाव पड़ता है। परोक्ष करों का वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है कयोंकि अन्ततः करारोपण का भार निम्न वर्ग तथा मध्यम वर्ग पर ही पड़ता है तथा धनी वर्ग इस प्रभाव से अलग रह जाता है। इसी प्रकार सबसे अच्छा कर आय कर है जो वितरण पर सबसे अधिक अनुकूल प्रभाव डालता है।

इसी क्रम में सम्पत्ति कर का भी वितरण पर अनुकूल प्रभावों को देखा जा सकता है। धनी तथा अधिक सम्पत्ति के मालिकों से कर की वसूली करके निर्धनों के सामाजिक कल्याण पर व्यय किया जा सकता है तथा निर्धनों की स्थिति में सुधार करने का प्रयास किया जा सकेगा। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि देश में पूँजी निवेश के लिये धनी वर्ग द्वारा ही बचतें काम आती हैं इसीलिए करारोपण से धनी वर्ग की उस राशि का ही प्रवाह निर्धनों की ओर किया जाना चाहिए जो देश के लिए निवेश या पूँजी के लिए सुरक्षित नहीं किया जा सकता है।

10.4.2 करारोपण का संसाधनों के आवंटन पर प्रभाव

उत्पादन कार्य में संसाधनों का आवंटन इस प्रकार से करने की समस्या पैदा होती है कि संसाधनों का कुशलतम रूप में प्रयोग हो तथा उत्पादन अधिकतम हो सके। इसके साथ सामाजिक लाभ में भी वृद्धि हो सके। देश में उत्पादन के स्वरूप, उपयोगिता तथा आकार के चलते संसाधनों के पुनः आवंटन की आवश्यकता पायी जाती है। इसी तथ्य के साथ करारोपण का सहारा लेकर इस समस्या को हल करने का प्रयास किया जाता है। करकारोपण का संसाधनों के आवंटन पर पड़ने वाले प्रभाव अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही रूपों में हो सकते हैं जो कर तथा उत्पादन की प्रकृति पर निर्भर करता है। समाज के लिए हानिकारक वस्तुओं के उत्पादन पर अत्यधिक कर लगाकर इसकी कीमत बढ़ाने से उपभोग में कमी होगी जिससे इसके उत्पादन में लगे साधनों का स्थानान्तरण अधिक उपभोग वाली वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन की ओर होगा जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी तथा सामाजिक कल्याण भी बढ़ेगा। इस प्रकार करारोपण द्वारा जीवन के लिए घातक वस्तुओं के उत्पादन से श्रम व पूँजी व अन्य संसाधनों को हटाकर उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में लगाया जाता है जो करारोपण का आवंटन पर अनुकूल प्रभाव कहा जायेगा जिससे अर्थव्यवस्था एवं सरकार दोनों को लाभ होगा।

इसके साथ यह भी पाया गया है कि सकरार कर राजस्व को अधिक मात्रा में जुटाने के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन एवं बिक्री कर अधिक कर लगाती है जिससे इन वस्तुओं की मांग कम होती है तथा समाज में उपभोग भी घटता है या निर्धन वर्ग को हानि होती है तो ऐसे उद्योगों से संसाधनों का स्थानान्तरण नुकसानदाय उद्योगों की ओर होने लगता है जो राष्ट्रीय हित के लिए घातक ही कहा जायेगा। इसके साथ देश में संसाधनों का आवंटन कुशलता के साथ नहीं हो पाता है तथा साधरों की आय की घटना प्रारम्भ हो जाती है और करारोपण का सहारा पुनः आवंटनात्मक कुशलता पैदा करने के लिए किया जाता है।

अत्यधिक करारोपण द्वारा उत्पादन के संसाधनों का प्रवाह अपने देश से विदेशों की ओर भी होने लगता है जो देश के लिए नुकसानदायक सिद्ध होता है और देश में पूँजी की

कमी पैदा होती है जो आर्थिक विकास को अवरूद्ध करती है। सरकार विदेशी पूँजी को आकर्षित करने के लिए एक सफल करारोपण की नीति का सहारा लेती है तथा इसका क्रियान्वयन बड़ी सावधानीपूर्वक करती है। कभी–कभी करारोपण की ऊँची दर उपभोग को कुछ समय के लिये रोक देती है तथा उसको भविष्य के लिए सुरक्षित किया जाता है। ऐसी स्थिति में संसाधनों का आवंटन वर्तमान समय से भविष्य के उत्पादन के लिए किया जाता है।

10.4.3 करारोपण के प्रभाव एवं भारतीय अर्थव्यवस्था

करारोपण का उत्पादन, वृद्धि पर प्रभावों का अध्ययन करने के बाद आपने करारोपण का वितरण एवं संसाधनों के आवंटन पर प्रभावों का भी अध्ययन किया। प्रस्तुत बिन्दु के अन्तर्गत आप करारोपणके अलग अलग क्षेत्रों में पड़ने वाले प्रभावों के समग्र रूप से परिचित होंगे तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के साथ इन समग्र प्रभावों की प्रासंगिकता से भलीभांति परिचित हो सकेंगे।

इस तथ्य से आप शायद परिचित होंगे कि भारत में बहुकर प्रणाली का प्रचलन है। इसके साथ कुछ मदों पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से करारोपण का संयुक्त दबाव भी पाया जाता है। भारतीय कर प्रणाली पर राजनैतिक प्रभावों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसके साथ भारत में यह तथ्य अत्यन्त परिवर्तनकारी एवं विचारणीय है कि विशाल भारत में राजनैतिक एकता एवं समरूपता का पाया जाना अत्यन्त कठिन है। करों के आरोपण के सम्बन्ध में त्रिस्तरीय व्यवस्था राजनैतिक रूप में विद्यमान है – केन्द्र सरकार की कर प्रणाली, राज्य सरकारों की कर प्रणाली तथा स्थानीय सरकारों/संस्थाओं की कर–प्रणाली।

भारत में करारोपण की प्रासंगिकता को प्रभावी बनाने के लिए समय–समय पर अनेक कमेटियों तथा मण्डलों का गठन किया गया लेकिन भारतीय कर प्रणाली सम्बन्धी गहन तथा विस्तृत नीतियों के चलते इन प्रभावों को एक दिशीय रूप नहीं दिया जा सका है। आपको विदित हो कि भारतीय अर्थव्यवस्था विकासशील होने के साथ–साथ मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषतायें रहती हैं जो करारोपण के प्रभावों को बहुदिशीय बना देती हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में कुछ ऐसी चुनौतियाँ हैं जो करारोपण के प्रभावों तथा सरकार की नीतियों में सामन्जस्य स्थापित होने में बाधक बन जाती हैं। आइये इन तथ्यों पर गहनता से विचार करें।

1. विकास की तीव्र दर एवं आय की वितरणीय असमानताओं को दूर करना
2. निजीकरण की प्रक्रिया एवं सामाजिक कल्याण
3. आर्थिक स्थिरता एवं निजी क्षेत्र में लाभ की दर
4. अन्तर्राष्ट्रीय साख एवं गरीबी–बेरोजगारी की समस्या
5. कर राजस्व एवं राजनैतिक लाभ की प्राप्ति
6. विभिन्न राज्यों तथा केन्द्र के मध्य अच्छे सम्बन्धों की कमी।

ऊपर दिये गये छः बिन्दुओं पर गहराई से विचार दिया जाय तो भारतीय अर्थव्यवस्था वर्तमान कर प्रणाली तथा उसके प्रभावों के मध्य आपसी तालमेल न बना पाने की स्थिति में है और आये दिन सरकारों के सामने कर तथा मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के मध्य सामन्जस्य स्थापित करने के प्रयास किये जाते रहते हैं। ऊपर दिये गये तथ्यों के मध्य

सामंजस्य स्थापित करने के लिये ही करारोपण प्रणाली को एक उपकरण के रूप में अपनाया जाता है। जहाँ तक अर्थव्यवस्था में तीव्र आर्थिक विकास की दर के लिये पूँजी का संकेन्द्रण तथा आय की वितरणीय असमानताओं को दूर करने के लिये पूंजी का प्रसरण के लिये प्रयास किये जाते हैं जिसके लिये करारोपण के प्रभावों के बंटवारे की अत्यन्त आवश्यकता महसूस की जाती है। करारोपण के एक दिशीय प्रभावों से इस कठिनाई को दूर नहीं किया जा सकता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के सामने सबसे बड़ी समस्या अर्थव्यवस्था के स्वरूप को परिवर्तित करने से सम्बन्धित है। तीव्र आर्थिक विकास की गति को आखिरकार कब तक प्राप्त किया जाता रहेगा। सामाजिक कल्याण की लागत पर आर्थिक विकास की बात करके करारोपण के प्रभावों के औचित्य को न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता। राजनैतिक दृष्टिकोण से करारोपण के प्रभावों के औचित्य को राजनेताओं तथा उद्योगपतियों के पक्ष में बनाये रखना करारोपण के अलग–अलग प्रभावों को धूमिल किया जाता है। अर्थव्यवस्था पर करारोपण के प्रभाव केवल इसके आकार पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि करारोपण के ढाँचे तथा संरचनात्मक व्यवस्था की भी महत्वपूर्ण भूमिका पायी जाती है। एक करोरोपण की मद वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग की लोच को परिवर्तित करती है वही दूसरी मद क्रेताओं की रूचि तथा मांग के निर्धारकों को परिवर्तित करती है।

आपको ध्यान देने की आवश्यकता है कि वर्तमान में राजकोषीय नीति विकास, रोजगार तथा अर्थव्यवस्था नियंत्रण के साथ राजनैतिक नियंत्रण की भी उपकरण बन गयी है। करों में छूट तथा उदारपन की प्रवृत्ति तथा राजकोषीय घाटे की समस्या जैसा विरोधाभास करारोपण के प्रभावों को सीमित करता है। भारत में आर्थिक विषमता करारोपण के प्रभावों के आंकलन के लिए एक महत्वपूर्ण पैमाना बन गया है। अर्थव्यवस्था में करारोपण के प्रभावों की मद सम्बन्धी पर्याप्त जानकारी प्रापत किये बिना रोजकोषीय नीति के प्रभावों की अपेक्षा करना सरल कार्य नहीं है।

भारत जैसी अर्थव्यवस्था में कई प्रकार की नम्यताओं का अभाव पाया जाता है। कई क्षेत्रों में एकाधिकारात्मक अनियमिततायें भी पायी जाती हैं। ऐसी स्थिति में मंदी तथा मुद्रा–स्फीति जैसी परिस्थितियाँ एक साथ अस्तित्व में पायी जाती हैं। इसके समाधान के लिए केवल करों में कमी या वृद्धि करके काम नहीं चलाया जा सकता है। इसके लिए करारोपण प्रणाली में समय–समय पर आवश्यकतानुसार संशोधन की आवश्यकता पायी जाती है। कई बार सरकारों के कड़े उपायों को भी अपनाना होता है। कड़े उपायों को यदि प्रारम्भ से ही अपनाया जाय तो शायद राजकोषीय नीति के प्रभावों से सम्बन्धित अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान भी सम्भव हो सकता है।

केन्द्र सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की राजकोषीय नीति सम्बन्धी उपायों पर भले ही अर्थव्यवस्था को एक नई दिशा प्रदान की जा सकती है किन्तु करारोपण व्यवस्था में राज्य सरकारों के हस्तक्षेप से भी करारोपण के प्रभावों में विरोधाभास की स्थिति पैदा हो जाती है। केन्द्र तथा विभिन्न राज्यों में अलग–अलग राजनैतिक दलों की सरकारों के अस्तित्व के कारण करारोपण के प्रभावों में समग्रता को नहीं देखा जा सकता। आपको यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि भारत में सभी राजनैतिक दलों के आर्थिक व सामाजिक लक्ष्यों में समरूपता

का पाया जाना आवश्यक नहीं है। जिसके आधार पर कर प्रणाली एवं करारोपा के प्रभाव दोनों को अलग–अलग दिशाओं में देखा गया है।

करारोपण सम्बन्धी नीति निर्धारित करते समय सरकार द्वारा यह अपेक्षा की जाती है कि करारोपण के बाद एक विशेष क्षेत्र में यथास्थिति बनी रहे तथा एक दूसरे क्षेत्र में वांछित परिवर्तन परिलक्षित हो। लेकिन भले ही एक क्षेत्र में करारोपण के प्रभाव न हो लेकिन दूसरे क्षेत्र में परिलक्षित करारोपण के प्रभावों का भी प्रथम क्षेत्र में परोक्ष रूप से प्रभावों को देखा जाता है जिन्हें व्यक्तियों की जिज्ञासाओं, भावनाओं तथा मानसिकताओं के आधार पर और अधिक फैलाया जा सकता है। इस प्रकार करारोपण की प्रणाली के द्वारा सरकार द्वारा यह आशा करना अधिक औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता कि करारोपण का प्रभाव केवल वांछित क्षेत्र तक ही सीमित रह पायेगा। सरकार को कर प्रणाली का प्रयोग एक नीतिशास्त्र के रूप में करने की आवश्यकता पायी जाती है।

भारत में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रकार की कर–प्रणाली को अपनाया गया है। प्रत्यक्ष करों के प्रभावों से बचने के लिये परोक्ष करारोपण के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिये हमेशा व्यक्तिगत स्तर पर प्रयास किये जाते रहे हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था अनेक प्रकार की नैतिकता सम्बन्धी समस्याओं से भी भरी है जो करारोपण के प्रभावों को प्रभावहीन करन में महतवपूर्ण सिद्ध होती है। सरकार के कड़े नियम व उपाय करारोपण के प्रभावों को वांछित दिशा की ओर ले जाने में सहायता करते हैं।

जहाँ तक भारतीय अर्थव्यवस्था तथा करारोपण के प्रभावों के अन्तर्सम्बन्ध के सही दिशा में क्रियाशील होने का सवाल है, भारतीय अर्थव्यवस्था में करवंचना तथा कर–चोरी जैसी समस्या भी करारोपण के प्रभावों को उद्देश्यपूर्ण होने से रोकती है। सामाजिक लाभ वाली करारोपण प्रणाली को नागरिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए प्रयोग करना चाहता है। भारतीय कर प्रणाली का लचीलापन इस करवंचना तथा कर की चोरी को प्रेरित करता है क्योंकि कर प्रणाली में होने वाले परिवर्तन व्यक्ति तथा संस्थानों एवं उद्यमों की भावी तथा वर्तमान नीतियों को अलग–अलग दिशाओं में मोड़ देने लगते हैं तथा सरकार की करारोपण व्यवस्था तथा करारोपण के प्रभावों को सीमित भी किया जाता है।

10.5 सारांश

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कराकरोपण अर्थव्यवस्था के समस्त मुख्य भागों को प्रभावित करता है। कार्य करने की क्षमता एवं इच्छा पर करारोपण का प्रभाव करारोपण की प्रकृति के आधार पर पड़ता है जो उसी दिशा में उत्पादन को प्रभावित करता है। बचत करने की क्षमता तथा इच्छा का उत्पादन से सीधा सम्बन्ध है। इसके साथ उत्पादन के संसाधनों द्वारा भी उत्पादन किसी न किसी दिशा में प्रभावित होता है। बचत तथा उत्पादन के संसाधन भी करारोपण से प्रभावित होते हैं। उत्पादन की तकनीकी भी किसी देश की कर प्रणाली से प्रभावित हुए नहीं रह सकती है। करारोपण देश में उत्पादन की वृद्धि को आकार तथा स्वरूप के संदर्भ में प्रभावित करता है। उच्च दर से लगाये गये करों का उत्पादन तथा वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। करों में छूट तथा निम्न दरें अनुकूल दिशा में प्रभावित करती है। करारोपण द्वारा समाज में आर्थिक विषमताओं को कम या अधिक भी किया जा सकता है। यह कर की प्रकृति पर निर्भर करता है। उत्पादन कार्य या उद्योगों में लगे संसाधनों को भी करारोपण प्रभावित करता है। संसाधनों की गतिशीलता

आदि करारोपण द्वारा प्रभावित होते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत करारोपण की लचीली प्रवृत्ति भी करारोपण के प्रभावों को अलग–अलग दिषाओं की ओर ले जाती है।

10.6 शब्दावली

1. **उत्पादन** – किसी वस्तु/सेवा को और अधिक उपयोगी बनाना उत्पादन कहलाता है। या किसी वस्तु या सेवा में उपयोगिता का सृजन करना ही उत्पादन होता है।
2. **वृद्धि** – किसी देश के अन्तर्गत उत्पादन में दीर्घकालीन वृद्धि।
3. **विकास** – उत्पादन में दीर्घकालीन वृद्धि के साथ संस्थागत परिवर्तनों का योग विकास कहलाता है।
4. **उत्पादन तकनीकी** – उत्पादन को प्राप्त करने के लिए साधनों को समायोजित करने का तरीका।
5. **बचत** – आय का वह भाग जिसे उपभोग पर व्यय नहीं किया जाता है।
6. **साधन** – उत्पादन में पाँच साधन – भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध, साहस।

10.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
2. वार्ष्णेय, जे0सी0 (2001), ***राजस्व*** (Public Finance), साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।
3. पंत, जे0सी0 (2001), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, प्रकाषक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
4. मिश्रा एवं पुरी (2010), ***भारतीय अर्थव्यवस्था,*** हिमालय पब्लिषिंग हाउस, नई दिल्ली।

10.8 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

1. रुद्र, दत्त एवं के0पी0एम0 सुन्दरम (2010), ***भारतीय अर्थव्यवस्था,*** एस0 चन्द एण्ड कं0 लि0, रामनगर, नई दिल्ली।
2. Agarwal, R.C. (2006), ***Public Finance***, Lakshmi Narayan Agarwal, Agra.
3. सेठी, टी0टी0 (2001), ***मुद्रा बैंकिंग एवं लोकवित्त,*** लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक विक्रेता एवं प्रकाशन, आगरा।

10.9 अभ्यास प्रश्न

प्र.1 प्रत्यक्ष कर वितरणीय असमानताओं को दूर करने में किस दिषा में कार्य करता है?

प्र.2 आवष्यक वस्तुओं पर लगाये गये कर व्यक्ति की कार्यक्षमता को किस रूप में प्रभावित करते हैं?

प्र.3 ब्याज पर कर की ऊँची दर बचत करने की इच्छा पर कैसा प्रभाव डालती है?

प्र.4 सही या गलत का निषान लगाओ?

(i) यदि कर की दरें प्रगतिषील हैं तो बचत की क्षमता दुष्प्रभावित होती हैं।

(ii) कार्य क्षमता पर करारोपण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(iii) करारोपण के द्वारा वृद्धि दर को प्रभावित किया जाता है।

(iv) करों की राहत वृद्धि दर को प्रतिकूल दिषा में प्रभावित करती हैं।

प्र.5 रिक्त पूर्ति करो?

(i) करारोपण वितरणीय ––––– को कम करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

(ii) करारोपण का संसाधनों के आवंटन पर ––––– तथा ––––– दोनों ही प्रकार के

प्रभाव पड़ते हैं।

(iii) करारोपण व्यक्ति की कार्य ––––– एवं ––––––– को प्रभावित करता है। (असमानताओं, क्षमता–इच्छा, अनुकूल–प्रतिकूल)

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 करारोपण से आप क्या समझते हैं? करारोपण के सिद्धान्तों की आवश्यकता को स्पष्ट कीजिए?

प्र.2 करारोपण आय की वितरणीय असमानताओं को किस सीमा तक कम करने में सहायक होता है? स्पष्ट कीजिए?

प्र.3 क्या करारोपण संसाधनों को कुषलतम प्रयोग को बढ़ावा देता है? इस कथन की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए?

इकाई 11 करापात एवं कर–विवर्तन

इकाई संरचना

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 करापात की अवधारणा

11.3.1 करापात की परिभाषा

11.3.2 करापात के रूप

11.3.2 करापात एवं कराघात में अन्तर

11.4 कर विवर्तन की अवधारणा

11.4.1 करापात एवं करविवर्तन के सिद्धान्त

11.4.2 कर विवर्तन के प्रकार

11.4.3 विभिन्न बाजारों में कर विवर्तन

11.5 महत्वपूर्ण करों की स्थिति में कर–विवर्तन

11.6 सारांश

11.7 शब्दावली

11.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

11.9 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

11.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत करापात एवं कर विवर्तन से सम्बन्धित 'लोक राजस्व एवं बजटिंग' की ग्यारहवीं इकाई है। इससे पूर्व की इकाई में आपने करारोपण के प्रभावों का भली–भांति अध्ययन किया। करारोपण का प्रभाव अर्थव्यवस्था के किसी एक क्षेत्र विशेष पर नहीं पड़ता अपितु समस्त क्षेत्र प्रभावित होते हैं।

प्रस्तुत इकाई में करापात एवं कर विवर्तन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का आप अध्ययन कर सकेंगे। करापात की अवधारणा को स्पष्ट करने के साथ विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी करारोपण की परिभाषाओं को भी समझेंगे। करापात के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के बाद आप प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत कराघात एवं करापात के मध्य उत्तर को भी भली–भांति समझ सकेंगें कर विवर्तन के अन्तर्गत आप इसकी अवधारणा को समझेंगे। कर विवर्तन के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के उपरान्त कर विवर्तन के प्रकारों को आप अच्छी तरह से समझ सकेंगे।

कर विवर्तन एक सामान्य अवधारणा नहीं है बल्कि यह अर्थव्यवस्था की प्रकृति तथा करों की स्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। इसीलिए एक अर्थव्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण करों के सम्बन्ध में कर विवर्तन की स्थिति को भी आप प्रस्तुत इकाई के माध्यम से भलीभांति परिचित हो सकेंगे।

11.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन आपके लिए अत्यन्त ही उपयोगी एवं सार्थक सिद्ध होगा क्योंकि :–

(i) प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप करारोपण के उपरान्त करों को वास्तविक रूप से सहन करने की अवस्थाओं से भलीभांति परिचित हो सकेंगे जिससे आपको करापात की उपयोगिता तथा महत्व की जानकारी हो सकेगी।

(ii) करापात जनता से किस रूप में वसूला जाता है तथा इसका वसूलने का वास्तविक मार्ग क्या है? इसके बारे में आप भलीभांति समझ सकेंगे।

(iii) सरकार द्वारा जनता पर लगाया जाने वाले कर के बारे में उत्पन्न विभिन्न प्रकार की भ्रांतियों से आप परिचित हो सकेंगे।

(iv) आप समझ सकेंगे कि सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के कर क्यों लगाये जाते हैं? तथा उनका जनता पर वास्तविक भार कहाँ तथा किस रूप में पड़ता है।

11.3 करापात की अवधारणा

जब सरकार किसी व्यक्ति या संस्था पर कर लगाती है तो वह व्यक्ति या संस्था उस कर की राशि को स्वयं वहन न करके दूसरों से बसूल कर सरकार को जमा करना चाहती है। ऐसा सम्भव भी हो सकता है और कभी–कभी ऐसा वह करने में असमर्थ रहता है। सामान्य रूप से सरकार द्वारा किये जाने वाले कर की राशि अन्तिम रूप से जिस व्यक्ति या संस्था के पास से निकाली जाती है उसका मौद्रिक भार ही करापात कहलाता है। इस प्रकार करापात कर की राशि को दूसरे से वसूलने का अन्तिम चरण होता है जिससे आगे किसी अन्य आर्थिक इकाई से इस राशि को वसूला नहीं जा सकता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि सरकार द्वारा करारोपण से कर की राशि का भुगतान अन्तिम से जिस आर्थिक इकाई को सहन करना होता है उस राशि के भार को करापात कहा जाता है।

11.3.1 करापात की परिभाषा

करापात को अनेक अर्थशास्त्रियों ने अलग–अलग रूप में परिभाषित किया है।

1. **मसग्रेव के अनुसार :** ''करभार शब्द, जिसका साधारणतः प्रयोग किया जाता है, कर के अन्तिम या प्रत्यक्ष मौद्रिक भार के स्थान से सम्बन्धित होता है।''
2. **डॉल्टन के शब्दों में :** ''कर के भार की समस्या इस बात से सम्बन्धित रहती है कि कौन उसका भुगतान करता है।''
3. **प्रो0 पीगू के अनुसार :** ''जो धन सरकारी कोष में पहुँचता है वह किसकी जेब से निकलता है अथवा किसकी जेब में वह धन सुरक्षित रहता, यदि कर के रूप में सरकार उसे न ले लेती।'' अतः कर भार के अन्तर्गत यह ज्ञात किया जाता है कि कर–विवर्तन के क्या कारण हैं और यह किस सीमा तक किया जा सकता है। कर भार उस व्यक्ति पर होता है, जो इसे और किसी पर टाल ही नहीं सकता।''
4. **वान मेरिंग के अनुसार :** ''कर भार वह बिन्दु है जहाँ पर कर का अन्तिम भार पड़ता है।''
5. **प्रो0 मेहता के अनुसार :** ''कर का भार एक कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार है।''

11.3.2 करापात के रूप

करापात की अवधारणा एवं परिभाषाओं को समझने के बाद आप करापात के विभिन्न रूपों का अध्ययन इस उपखण्ड में कर सकेंगे। सामान्यतः करापात को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है।

1. **प्रत्यक्ष मौद्रिक भार :** करापात के इस रूप के अन्तर्गत उस मौद्रिक भार को शामिल किया जाता है जो करदाताओं द्वारा मुद्रा के रूप में सरकार के पास जमा करना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष मौद्रिक भार कर राजस्व के बराबर होता है।
2. **प्रत्यक्ष गैर–मौद्रिक भार :** कर भार के प्रत्यक्ष गैर मौद्रिक भार से हमारा तात्पर्य उस भार से है जो जनता को करों के उपरान्त सहना पड़ता है लेकिन उसका परिमापन मुद्रा के रूप में नहीं किया जा सकता है। करापात के परिणाम स्वरूप होने वाली गैर मौद्रिक हानियों को इस श्रेणी में रखा जाता है।
3. **वास्तविक प्रत्यक्ष भार :** करापात के द्वारा जनता द्वारा सहन करने वाले प्रत्यक्ष मौद्रिक भार तथा प्रत्यक्ष गैर मौद्रिक भारों का योग वास्तविक प्रत्यक्ष भारों के बराबर होता है।
4. **अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार :** आपने प्रायः अनुभव किया होगा कि सरकार द्वारा कर की दरों में वृद्धि करने पर व्यापारी या विक्रेता द्वारा वस्तु के मूल्य में कर की दर की अपेक्षा अधिक वृद्धि कर दी जाती है तथा उसे कर राशि के बहाने वसूल लिया जाता है। इस प्रकार जनता पर पड़ने वाले मौद्रिक भार को अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार की संज्ञा दी जाती है। जैसे बिक्री कर दर में 2 प्रतिशत की वृद्धि होने पर उपभोक्ता से वस्तु की 3 प्रतिशत वृद्धि के साथ कीमत वसूली जाय तो वस्तु की कीमत में 1 प्रतिशत की वृद्धि को अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार कहा जायेगा।
5. **अप्रत्यक्ष गैर–मौद्रिक भार :** करारोपण के बाद होने वाली हानियों के बाद जनता पर पड़ने वाले ऐसे भारों को जो गैर–मौद्रिक होते हैं, अप्रत्यक्ष गैर–मौद्रिक भार के रूप में जाना जाता है।

6. **वास्तविक अप्रत्यक्ष भार :** करापात के इस रूप के अन्तर्गत अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार तथा अप्रत्यक्ष गैर मौद्रिक भारों के योग को शामिल किया जाता है। इस प्रभावों को प्रायः अर्थव्यवस्था में करापात के कारण उत्पन्न परिवर्तनों को शामिल किया जाता है।

11.3.3 करापात एवं कराघात में अन्तर

करापात की अवधारणा एवं इसके विभिन्न रूपों को आप भलीभांति समझ गये होंगे। इसके बाद आपको यह समझना भी अत्यन्त आवश्यक होगा कि करापात तथा कराघात के बीच पाया जाने वाला मूलभूत अन्तर क्या होता है? ताकि किसी भी प्रकार के भ्रम को दूर किया जा सके। करापात एवं कराघात में अन्तर को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. कराघात का सम्बन्ध उस व्यक्ति या आर्थिक इकाई से होता है जो कर को सरकार के कोष में जमा करता है। इस व्यक्ति की यह पूर्ण जिम्मेदारी होती है कि सरकार द्वारा जो धनराशि कर के रूप में जमा करने को कहा गया है वह उसे नियमित रूप से सरकाकर को जमा करे। यह व्यक्ति कर को जमा करने से अस्वीकृति नहीं दे सकता है और न ही अपनी असक्षमता को प्रकट कर सकता है। अर्थात् जिस व्यक्ति पर कर लगाया जाता है उस पर पड़ने वाले दायित्व को कराघात के रूप में कहा जाता है।
   कराघात का सम्बन्ध उस व्यक्ति से है जो सरकार द्वारा लगाये जाने वाले कर को अन्तिम रूप से वहन करता है तथा उससे अनिवार्य रूप से वसूल लिया जाता है। चाहे वह स्वयं कर को जमा करे या दूसरा व्यक्ति। करों की प्रकृति के अनुसार करापात की देयता का निर्धारण तय किया जाता है।
2. कराघात का सम्बन्ध सरकार द्वारा वसूले जाने वाले उस भार से है जो मौद्रिक रूप में होता है जबकि करापात का सम्बन्ध मौद्रिक होने के साथ गैर–मौद्रिक होता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कर को वहन करने वाले को सहना होता है।
3. सामान्य रूप से कहा जा तो यह अत्यन्त आसान एवं सरल होगा कि करकाघात कर प्रणाली का प्रारम्भिक भाग है तो करापात कर प्रणाली का अन्तिम चरण होता है।
4. कराघात के बाद कर के भार का विवर्तन संभव होता है जबकि करापात स्वतः ही कर का विवर्तित रूप होता है।
5. सरकार को यह मालूम हो कि कर का विवर्तन किस दिशा में होगा तब ऐसी स्थिति में कराघात को कर प्रणाली का एक भाग माना जायेगा क्योंकि करारोपण के बिना कर का संग्रहण सम्भव नहीं हो सकता है। इसी क्रम में करापात सरकाकर की कर प्रणाली का उद्देश्य होता है जिससे सरकारी क्रियाकलापों का क्रियान्वयन एवं वित्तीय व्यवस्था प्रभावित होती है।
6. कराघात की एक वैधानिक अवधारणा है तथा कर देने वाले व्यक्ति या इकाई सरकार के प्रति जबावदेय होती है जबकि करापात का सम्बन्ध व्यक्तिगत रूप से होता है इसकाक सम्बन्ध सरकार के प्रति जबावदेयता से नहीं है।

11.4 कर–विवर्तन की अवधारणा

आप भलीभांति समझ गये होंगे कि कराघात एवं करापात के मध्य अन्तर किस प्रकार पैदा होता है। कर विवर्तन की अवधारणा मुख्य रूप से कराघात एवं करापात के मध्य अन्तर से

सम्बन्धित है। सामान्य रूप से कर विवर्तन से हमारा आशय करक प्रणाली के उस भाग से लगाया जाता है जिसके अन्तर्गत करदाता कर के भार को दूसरे व्यक्ति या आर्थिक इकाई पर टालने में सफल हो जाता है। करदाता कर के भार के कितने अंश को दूसरे पर टालने में सफल हो पाता है यह कर की प्रकृति तथा वस्तु की कीमत लोच पर निर्भर करता है।

कर विवर्तन कराघात एवं कराभार (करापात) के बीच की एक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। कराघात के द्वारा सरकार कर संग्रहण के लिए एक व्यक्ति या इकाई को आधार बनाती है वही करापात को अलग–अलग रूप में प्रसरण करने के लिए करदाता को कुछ ऐसी व्यवस्थाओं का सहारा दिया जाता है जिससे वह कर को सरकार को जमा करने की प्रतिबद्धता तो पूरी करता है लेकिन करके अन्तिम रूप से उगाही को स्वयं वहन नहीं करता है। इसके लिए वह उस वस्तु या इकाइयों से सम्बन्धित व्यक्तियों पर विवर्तित कर देता है। इस प्रकार जब कराघात एवं करापात अलग–अलग दो व्यक्तियों एवं संस्थाओं पर होता है तब कराघात एवं करापात को अलग–लग सहन करने की क्रिया कर विवर्तन कहलाती है। कुछ करों की स्थिति में कर का विवर्तन सम्भव होता है तथा कुछ करों की स्थिति में करापात को दूसरों पर टाला नहीं जा सकता है।

11.4.1 करापात एवं कर विवर्तन के सिद्धान्त

सामान्य रूप से कर विवर्तन को दो सिद्धान्तों के आधार पर समभव बनाया गया है।

1. **केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त :** करापात का केन्द्रीयकरण सिद्धान्त के अनुसार सरकारक द्वारा किये जाने वाले करारोपण का भार अन्ततः एक ही स्थान पर आकर केन्द्रित हो जाता है। देश में किसी भी वस्तु या सेवा पर किसी भी प्रकार का कर लगाया जाय उसका समस्त भार अन्ततः भूमि/कृषि पर ही पड़ता है। करों का विवर्तन भी इसी प्रकार क्रियाशील होता है कि अन्तिम करापात भूमि पर ही पड़ता है।
2. **कर–प्रसारण सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त का प्रतिपादन फ्रांसीसी अर्थशास्त्री केनार्ड द्वारा किया गया। यह सिद्धान्त केन्द्रीयकरण सिद्धान्त के विपरीत तथ्य पर आधारित किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण कहीं भी किया जाय परन्तु उसका प्रभाव अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों एवं भागों में फैल जाता है। अर्थात् करारोपण का भार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को वहन करना होता है।

   सर हैमिल्टन के अनुसार, ''प्रसार के सिद्धान्त में कदाचित आशावादी सिद्धान्त से भी अधिक सच्चाई है, और वह यह कि करों की प्रवृत्ति फैलने तथा समान होने की होती है और वे निश्चितता तथा एकसारिता से लगाये जायें तो प्रसारित होकर प्रत्येक सम्पत्ति पर ही अपना भार डालेंगे।'' कर का विवर्तन इस प्रकार होता है कि समय के साथ–साथ कर का भार सम्पूर्ण समाज में फैल जाता है।

11.4.2 कर विवर्तन के प्रकार

कर विवर्तन की अवधारणा को आप भली–भांति समझ गये होंगे। इसके बाद अब यह समझना भी आपके लिए अत्यन्त आवश्यक होगा कि कर विवर्तन कितने प्रकार का होता है। कर विवर्तन के निम्नलिखित प्रकारों के बारे में आप अच्छी तरह से अध्ययन कर सकेंगे :–

1. अग्रग्रामी कर–विवर्तन
2. पश्चगामी कर–विवर्तन
3. अग्रोन्मुखी कर–विवर्तन

अब आप कर विवर्तन के ऊपर लिखे प्रकारों के बारे में विस्तार से समझ सकेंगे।

1. **अग्रगामी कर–विवर्तन :** अग्रगामी कर–विवर्तन से हमारा तात्पर्य सामान्य रूप से उस प्रक्रिया से है जिसके अन्तर्गत कर देने वाला व्यक्ति या संस्था कर का भार आगे वाले सम्बन्धित व्यक्ति पर टालने में सफल हो जाता है। उदाहरण के लिए आप बिक्री कर को लीजिए – माना सरकार द्वारा बिक्री कर लगा दिया गया तब उस कर को अदा तो वस्तु का विक्रेता करेगा लेकिन कर की धनराशि को वह अपनी जेब से नहीं करेगा। इस धनराशि के बराबर वह वस्तु की कीमत बढ़ा देगा तथा उसे क्रेता से बसूल लेगा जिसे सामान्य रूप से उस वस्तु का उपभोक्ता ही कहा जायेगा। इस प्रकार इस प्रकार के कर विवर्तन में विक्रेता करके भार को वस्तु की कीमत बढ़ाकर वस्तु के उपभोक्ता पर टाल दिया जाता है तथा इस करभार को उपभोक्ता आगे और नहीं टाल सकता। इस प्रकार अग्रगामी कर विवर्तन में कराघात विक्रेता पर तथा करापात वस्तु के उपभोक्ता पर पड़ता है।

2. **पश्चगामी कर विवर्तन :** पश्चगामी कर विवर्तन ठीक अग्रगामी कर विवर्तन की उल्टी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत करदाता के भार को उस वस्तु या सेवा से सम्बन्धित पूर्ववर्ती व्यक्ति या इकाई पर टाला जाता है तथा कर का भार पूववर्ती व्यक्ति या इकाई द्वारा ही सहन करना पड़ता है। इस प्रकार जब कर भार को पीरछे की ओर टाला जाता है तब उसे पश्चगामी कर विवर्तन की संज्ञा दी जाती है। इस एक उदाहरण द्वारा आसानी से समझाया जा सकता है। सरकार द्वारा उत्पादन कर लगाने की स्थिति में कर के भार को दो रूपों में टाला जा सकता है। प्रथमतः वह उत्पादन कर को उत्पादन की कीमत बढ़ाकर क्रेता से वसूल ले तथा द्वितीयतः वह उस उत्पादन में प्रयुक्त कच्चे माल की कीमतों में कर की धनराशि के बराबर कमी कर दे ताकि कर का भार कच्चे माल की आपूर्ति कर्ता को वहन करना पड़े। इस प्रकार पश्चगामी कर विवर्तन द्वितीय स्थिति की ओर इंगित करता है। इस प्रकार के कर विवर्तन में करापात को पीछे की प्रक्रिा में शामिल करते हुए टाल दिया जाता है तथा उसी से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से बसूल लिया जाता है।

3. **अग्रोन्मुखी कर विवर्तन :** यह कर विवर्तन की वह अवस्था है जिसके अन्तर्गत करापात को आगे की ओर विक्रेता तथा उपभोक्ता के पूर्व के मध्यस्थों पर टाला जाता है। इस प्रक्रिया में कर भार को एक से अधिक क्रेताओं तथा छोटे विक्रेताओं पर टाला जाता है। इस प्रकार यह कर विवर्तन उपभोक्ता से पूर्व तक का अग्रगामी कर विवर्तन है।

11.4.3 विभिन्न बाजारों में कर विवर्तन

प्रस्तुत उपखण्ड के अन्तर्गत आप अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत विद्यमान विभिन्न बाजारों में कर–विवर्तन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का अध्ययन कर सकेंगे। यहाँ पर हम सामान्य रूप से पूर्ण प्रतियोगी बाजार, एकाधिकार बाजार तथा अपूर्ण प्रतियोगी बाजार के अन्तर्गत व्यक्ति या संस्थाओं द्वारा किये जाने वाले कर–भार के विवर्तन की आलोचनात्मक व्याख्या करेंगे।

पूर्ण प्रतियोगी बाजार में कर–विवर्तन : जहाँ तक कर–विवर्तन की व्याख्या का सवाल है तब हम पूर्ण प्रतियोगी बाजार में यह जाँच पायेंगे कि कर का विवर्तन इस किस

प्रकार तथा किस सीमा तक किया जा सकता है। जैसा कि आप जानते होंगे कि पूर्ण प्रतियोगी बाजार में समरूप वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है तथा विक्रेता एवं क्रेताओं की संख्या अधिक पायी जाती है। इसके साथ सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य पूर्ण प्रतियोगिता में यह पाया जाता है कि क्रेताओं को बाजार की पूर्ण जानकारी पायी जाती है तथा वस्तुओं की कीमतें समान बसूली जाती हैं। पूर्ण प्रतियोगिता बाजार के अन्तर्गत क्रेता तथा विक्रेताओं का यह पूर्ण प्रयास होता है कि विक्रेता पर पड़ने वाले कराघात को क्रेता पर अधिकतम सीमा तक डाला जाय तथा क्रेता का पूर्ण प्रयास यह रहता है कि उस पर थोपा जाने वाला कर का भार विक्रेता तक ही सीमित रहे अर्थात् इस बाजार में क्रेता तथा विक्रेता कर के भार को कम से कम सहन करने का प्रयास करते हैं। लेकिन कर के विवर्तन बाजार की मांग की लोच तथा पूत्रि की लोच पर निर्भर करता है। आईये वस्तु की मांग तथा पूर्ति की अलग–अलग लोचों की स्थिति में कर का विवर्तन किस प्रकार तथा किस दिशा में होता है।

वस्तु की मांग की लोच एवं कर विवर्तन : पूर्ण प्रतियोगी बाजार के अन्तर्गत वस्तुओं पर लगाये जाने वाले कर को उसकी मांग की लोच एक बड़ी सीमा तक प्रभावित करती है। सामान्य रूप से यह देखा जाता है कि लोचदान कीमत मांग की स्थिति में कर का विवर्तन कम तथा बेलोचदार कीमत मांग की स्थिति में कर का विवर्तन उपभोक्ताओं की ओर अधिक किया जाता है। यहाँ पर आप मांग की कीमत लोच की विभिन्न श्रेणियों में करके विवर्तन को समझ सकेंगे।

(i) **लोचदार कीमत लोच एवं कर विवर्तन** : लोचदार कीमत लोच की स्थिति में कर के भार के एक भाग को विक्रेता स्वयं सहन करता है तथा एक भाग को क्रेताओं पर टालने में सफल हो जाता है। लोचदार कीमत लोच की स्थिति में वस्तु की मांग में एकतरफा परिवर्तन सम्भव नहीं होता है। इसीलिये कर का विवर्तन एक निश्चित सीमा तक ही सम्भव होता है।

(ii) **अधिक लोचदार कीमत लोच एवं कर–विवर्तन** : इस स्थिति में कीमत में वृद्धि की अपेक्षा वस्तुओं की मांग मात्रा में आनुपातिक रूप से अधिक कमी आ जाती है। कर–विवर्तन के लिए ऐसी स्थिति विक्रेताओं के अनुकूल नहीं पायी जाती है। बाजार की इस स्थिति में कर का विवर्तन उपभोक्ताओं पर बहुत कम ही किया जा सकता है। कर का भार विक्रेताओं को ही वहन करना होता है।

(iii) **पूर्ण लोचदार कीमत लोच तथा कर विवर्तन** : कीमतों में बहुत कम या मामूली सी वृद्धि होने पर वस्तु की मांग में अत्यधिक गिरावट आ जाती है। तब कर का विवर्तन उपभोक्ताओं पर किया जाना सम्भव नहीं होता है। उपभोक्ता कर के भार को अपने ऊपर टालने से रोकने में सफल हो जाते हैं।

(iv) **बेलोचदार मांग तथा कीमत परिवर्तन** : पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत बेलोचदार मांग वाली वस्तुओं की स्थिति में कर के भार का उपभोक्ताओं पर अत्यधिक सीमा तक टाला जा सकता है। उपभोक्ता कर के भार को सहन करने के लिए तैयार हो जाता है।

(v) **पूर्ण बेलोचदार मांग तथा कर–विवर्तन** : पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत यह वह स्थिति होती है जिसमें कीमतों में कर भार के परिणमस्वरूप कीमत वृद्धि का वस्तुओं की

मांग मात्रा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। परिणामस्वरूप कर विवर्तन के प्रयासों की स्थित में विक्रेता पूर्ण रूप से सफल हो जाता है और कर के विवर्तित भार को उपभोक्ताओं को ही सहन करना होता है।

पूर्ति की लोच एवं कर विवर्तन

वस्तुओं की मांग की कीमत लोच के कर विवर्तन पर पड़ने वाले प्रभावों को समझने के बाद आप वस्तुओं की पूर्ति लोच के कर विवर्तन पर के आकार एवं दिशा पर पड़ने वाले प्रभावों को भलीभांति समझ सकेंगे। आपको ध्यान देना होगा कि अल्पकाल में पूर्ति की लोच बेलोचदार तथा दीर्घकाल में पूर्ति लोचदार स्थिति में पायी जाती है। क्योंकि दीर्घकाल में मांग की स्थिति के अनुसार पूर्ति में पर्याप्त तथा मांग के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कर के भार का विवर्तन समयानुसार कम या अधिक सीमा तक किया जा सकता है। यदि वस्तु की पूर्ति लोचदार या पूर्ण लोचदार है तब कर के भार का विवर्तन उपभोक्ताओं की ओर आसानी से किया जा सकता है तथा उपभोक्ता कर के नवीन भार को सहन करने में समर्थ होगा।

इसके विपरीत यदि पूर्ति की लोच बेलोचदार श्रेणी की है तब कर का भार उपभोक्ताओं की ओर विवर्तित नहीं किया जा सकता है तथा कर का नवीन भार की विक्रेताओं द्वारा ही वहन किया जायेगा।

कर विवर्तन के सम्बन्ध में डॉल्टन ने स्पष्ट किया है कि, ''विक्रेता पूर्ति को कम करके कर के भार को क्रेताओं पर ढकेलने का प्रयत्न करता है और क्रेता इसकी मांग कम करके विक्रेताओं पर विवर्तित करने का प्रयत्न करता है। इन दोनों की सफलता इनकी सापेक्षित शक्तियों पर निर्भर करती है।''

इस प्रकार मांग–पूर्ति की लोच सम्बन्धी शक्तियाँ कर विवर्तन को पूर्ण रूप से प्रभावित करने का कार्य करती है। मांग तथा पूर्ति की लोच समबन्धी विचार धारा के सम्बन्ध में डाल्टन का यह कथन अत्यन्त ही महत्वपूर्ण सिद्ध होता है – ''किसी भी वस्तु पर लगाये गये कर का प्रत्यक्ष दायित्व भार विक्रेताओंके मध्य लगायी गयी वस्तु की मांग व पूर्ति की लचक के अनुपात पर निर्भर रहता है।''

अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में कर विवर्तन

आपको यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है कि पूर्ण प्रतियोगी बाजार तथा एकाधिकार बाजार को प्रायः काल्पनिक स्थितियाँ माना जाता है। व्यवहार में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति ही पायी जाती है जो पूर्ण प्रतियोगिता तथा कएाधिकार के बीच की स्थिति होती है। अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में वस्तु की कीमत, रंग एवं आकार (स्वरूप) तथा गुणवत्ता में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। अतः ऐसी स्थिति में कर का विवर्तन बाजार के निम्नलिखित तत्वों पर निर्भर करता है।

एकाधिकारी प्रतियोगी बाजार में उत्पादन की पूर्ति एवं कीमत सम्बन्धी नीतियों के कारण कर का विवर्तन अत्यन्त निम्न सीमा तक ही किया जाना सम्भव होता है। इसके साथ कर विवर्तन की सीमा एवं दिशा उत्पादकों के संयुक्त व्यवहार तथा उनकी नीतियों पर निर्भर करता है। फिर भी एक बड़ी सीमा तक उपभोक्ता कर भार से दूर रहने की स्थिति में रहता है। क्योंकि अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में उपभोक्ताओं के पास निकट की स्थानान्तरण वस्तुयें

आसानी से पायी जाती है। वस्तुओं की गुणवत्ता तथा उत्पादकों का व्यवहार तथा विक्रय रणनीति कर–विवर्तन करने में सहायक होती हैं।

एकाधिकार के अन्तर्गत कर विवर्तन

जैसा कि आपने पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत वस्तुओं की मांग तथा पूर्ति की लोचों के आधार पर कर विवर्तन का अध्ययन किया। ठीक इसी प्रकार एकाधिकार के अन्तर्गत वस्तु की मांग तथा पूर्ति की लोच के आधार पर कर का विवर्तन किया जाता है। एकाधिकार के अन्तर्गत वस्तु का केवल एक ही उत्पादक तथा विक्रेता होता है इसीलिये ऐसी स्थिति में कर का विवर्तन अत्यधिक मात्रा में किया जा सकता है। इसके साथ एकाधिकार पूर्ति का निर्धारक भी होता है। इसलिये इस आधार पर भी कर का विवर्तन उपभोक्ताओं के ऊपर आसानी से किया जा सकता है।

एकाधिकारी बाजार में कर का विवर्तन कितना होगा यह कर की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। यदि कर एकमुश्त रूप में लगाया जाता है तो उत्पादक इस कर को स्थायी लागत के साथ समयोजित कर लिया जाता है तथा वस्तु की सीमान्त लागत में वृद्धि नहीं होती है। ऐसी स्थिति में करों के भार को विवर्तित नहीं किया जायेगा। कर विवर्तन से विक्रेता या एकाधिकार के लाभ में कमी आ जाती है। अतः कर की राशि का भुगतान एकाधिकारी द्वारा स्वयं किया जाता है।

इसके साथ एकाधिकार के अन्तर्गत कर मात्रा में आधार पर आरोपित किया जाता है तो उत्पादन की बिक्री की मात्रा के आधार पर कर की राशि घटती तथा बढ़ती रहती है। इस स्थिति में कर का विवर्तन उपभोक्ताओं की ओर होने लगता है। मात्रा के अनुसार कर लगने से वस्तु की सीमान्त लागत बढ़ती है जिससे पूर्ववत मूल्यों पर वस्तुएँ बेचने से उसके लाभ की मात्रा घट जाती है। इसीलिये वह वस्तुओं की कीमत में वृद्धि करके कर का विवर्तन किया जाता है।

एकाधिकारी बाजार में मात्रा के आधार पर करारोपण तथा कर विवर्तन के सम्बन्ध में टेलर का यह कथन अत्यधिक सार्थक सिद्ध होता है – ''दूसरे वर्ग के करों (वे कर जिनकी कुल मात्रा उत्पादन या विक्रय की मात्रा के अनुसार बदलती है परन्तु प्रति इकाई प्रमुख लागत में स्थायी वृद्धि होती है) को सामान्यतः आगे की ओर विवर्तित किया जा सकता है। क्योंकि सम्पूर्ण तालिका में एक ही दर से सीमान्त लागत बढ़ जाती है, जिससे सीमान्त लागत, लाभ व सीमान्त का नया सन्तुलन स्थापित होता है।''

11.5 महत्वपूर्ण करों की स्थिति में कर विवर्तन

करापात एवं कर विवत्रन से सम्बन्धित विभिन्न महत्वपूर्ण तथ्यों का अध्ययन करने के बाद अब आप समझ सकेंगे कि कुछ महत्वपूर्ण करों की स्थिति में कर विवर्तन के द्वारा करापात की क्या स्थिति होती है। यहाँ पर कुछ महत्वपूर्ण करों के सम्बन्ध में कर विवर्तन एवं करापात की विवेचना करेंगे।

1. **आय कर :** कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि विशेष स्थितियों में आय कर का विवर्तन किया जा सकता है परन्तु सामान्यतः आय कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है। आय कर व्यक्तिगत आय पर लगाया जाता है तब उसके विवर्तन की कोई सम्भावना नहीं रहती है। इसके बाद व्यावसायिक आय कर की स्थिति में अर्थशास्त्री एक मत नही है।

मुख्यतः दोनों प्रकार की आय कर की स्थिति में कर–विवर्तन को सम्भव नहीं बनाया जा सकता है।

2. **बिक्रीकर एवं उत्पादन कर :** बिक्रीकर तथा उत्पादन कर की स्थिति में कर के विवर्तन को सम्भव किया गया है। इसके साथ कर को विवर्तन की मात्रा वस्तु एवं सेवा की मांग व पूर्ति लोच के आधार पर तय की जाती है। कर लगने से वस्तु या सेवा की कीमत वृद्धि होती है जिसे उपभोक्ताओं से वसूलने का प्रयास किया जाता है। यदि मांग की कीमत लोच बेलोचदार है तो कर का विवर्तन उपभोक्ताओं की ओर होगा और करापात उपभोक्ताओं पर ही पड़ेगा। लोचदार मांग की स्थिति में करापात का विवर्तन पूर्ण रूप से उपभोक्ताओं पर नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत पूर्ति लोच लोचदार है कर का विवर्तन उपभोक्ता की ओर होगा तथा पूर्ति लोच बेलोचदार होने पर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है।
3. **गृह कर :** गृह कर की स्थिति में कर का विवर्तन हो सकता है और नहीं भी हो सकता। यदि घर में गृह मालिक का परिवार ही निवास करता है तो कर का भार गृह स्वामी को ही वहन करना होगा तथा कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है। जब घर में मकान मालिक के साथ किराये दार भी रहते हैं तो कर का भार मकान मालिक व किरायेदार पर संयुक्त रूप से पड़ेगा क्योंकि कर भार का एक अंश किराये के रूप में वृद्धि कर दी जायेगी। ठीक इसके विपरीत यदि मकान में केवल किरायेदार ही निवास करते हैं तो गृह कर का पूर्ण विवर्तन कर दिया जायेगा तथा करापात किरायेदार पर ही पड़ेगा।
4. **सीमा शुल्क :** आयात एवं निर्यात किये जाने वाले माल एवं सेवाओं की कीमत लोच के आधार पर करों का विवर्तन किया जा सकता है। यदि आयात होने वाले सामान की मांग व पूर्ति बेलोचदार है तो कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार निर्यात होने वाली वस्तु की मांगलोच बेलोचदार है तो कर का विवर्तन किया जा सकता है। यदि निर्यात की स्थानान्पन्न वस्तुएँ उपलब्ध हैं तो कर का भार निर्यातक को ही करना होगा।
5. **भूमि कर :** भूमि कर की स्थिति में कर का विवर्तन किया भी जा सकता है तथा नहीं भी किया जा सकता है। यदि कर की स्थिति में किसान अपनी फसल की कीमत बढ़ाने में सफल होता है तो कर का विवर्तन कृषि उत्पादन को खरीदने वालों पर किया जा सकता है। यदि कर को मात्रा का निर्धरण आर्थिक लगान पर लगाया जाता है तो कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है तथा कर का भार भू–स्वामी को ही सहन करना होगा। इसके साथ कृषि उत्पादन की मांग की लोच के आधार कर का विवर्तन किया जा सकता है। यदि उत्पादन की मांग की लोच बेलोचदार है तो कर का विवर्तन आसानी से किया जा सकता है तथा उत्पादन की मांग लोच इकाई से अधिक है तो कर का भार किसानों को ही वहन करना होगा। कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है।
6. **सम्पत्ति कर :** सम्पत्ति कर की स्थिति में कर विवर्तन की स्थिति आसान नहीं है। सामान्य रूप से कर का भार सम्पत्ति मालिक को ही सहन करना पड़ता है। यदि सम्पत्ति का प्रत्यक्ष रूप से उपभोग किया जा सकता है तो सम्पत्ति कर का विवर्तन उपभोक्ताओं पर किया भी जा सकता है। इसके साथ यदि सम्पत्ति का प्रयोग उत्पादन कार्य में किया जाता है तो उत्पादन की मांग एवं पूर्ति की लोच के आधार पर कर का विवर्तन किया जा सकता है।

7. **लाभ कर :** लाभ कर की स्थिति में भी करों का भार व्यावसायिक निगमों के मालिकों को ही सहन करना पड़ता है। क्योंकि यह कर आय कर के ही समकक्ष रखा जाता है। अतः लाभ कर का विवर्तन करना सम्भव नहीं होता है।

11.6 सारांश

सारांशतः करारोपण के द्वारा एकत्रित की जाने वाली राशि को अन्ततः जिस व्यक्ति या संस्था से बसूला या निकाला जाता है उसके मौद्रिक भार को करापात के रूप में जाना जाता है। मसग्रेव, डॉल्टन, पीगू, प्रो0 मेहता आदि अर्थशास्त्रियों द्वारा करापात को उचित रूप में परिभाषित किया है। इसके साथ करापात अनेक रूपों में देखने को मिलता है जो मौद्रिक रूप में होने के साथ गैर–मौद्रिक रूप में भी अन्तिम व्यक्ति या संस्था को प्रभावित करता है। इसी आधार पर करापात को अलग–अलग रूपों में देखा जाता है। करापात एवं कराघात के मध्य अन्तर स्पष्ट करने का मुख्य आधार कर विवर्तन ही है। करापात एवं कराघात में कानूनी दायित्वों को भी शामिल किया गया है जो कर विवर्तन के स्वरूप को प्रभावित करता है।

कर विवर्तन के औचित्व को स्पष्ट करने के लिए केन्द्रीयकरण सिद्धान्त तथा कर प्रसरण सिद्धान्तों का भी सहारा लिया जाता है। कर विवर्तन की प्रकृति एवं स्वरूप के आधार पर कर विवर्तन किसी भी दिशा में क्रियाशील हो सकता है। कर विवर्तन तथा करों की प्रकृति के मध्य एक महत्वपूर्ण सम्बन्ध पाया जाता है।

11.7 शब्दावली

1. **अवधारणा** – संकल्पना
2. **मौद्रिक** – मुद्रा के रूप में।
3. **पूर्ववर्ती** – पहले वाला।
4. **लोचदार माँग** – कीमत की अपेक्षा मांग में आनुपातिक रूप से अधिक परिवर्तन।
5. **बेलोचदार माँग** – कीमत की अपेक्षा माँग में आनुपातिक रूप में कम परिवर्तन।
6. **बाजार** – अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत वह क्षेत्र जहाँ तक किसी वस्तु को क्रय तथा विक्रय करने वाली षक्तियाँ फैली होती हैं।

11.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पंत, जे0सी0 (2005), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, प्रकाषक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
2. भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
3. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997), ***राजस्व*** (Public Finance), साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, हास्पीटल रोड, आगरा।
4. मिश्र, जगदीष नारायण (2011), ***भारतीय अर्थव्यवस्था,*** किताब महन पब्लिषर्स, हरिसदन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

11.9 सहायक / उपयोगी ग्रन्थ

1. भारतीय अर्थव्यवस्था, ***मासिक पत्रिका,*** उपकार प्रकाषन, आगरा।
2. पुरी एवं मिश्रा (2011), ***भारतीय अर्थव्यवस्था,*** हिमालय पब्लिषिंग हाउस, नई दिल्ली।

3. दत्त एवं सुन्दरम (2010), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, एस0चन्द एण्ड क0लि0, नई दिल्ली।
4. सेठी, टी0टी0 (2008), ***मुद्रा बैंकिंग एवं लोकवित्त***, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक विक्रेता एवं प्रकाषन, आगरा।

11.10 अभ्यास प्रश्न

प्र.1 करापात को परिभाषित कीजिए?

प्र.2 ''कर के भार की समस्या इस बात से सम्बन्धित रहती है कि कौन उसका भुगतान करता है?'' यह कथन किस अर्थषास्त्री का है?

प्र.3 करापात के कितने रूप होते हैं?

प्र.4 सत्य तथा असत्य का चयन कीजिए?

(i) करापात एवं कराघात एक ही अवधारणा है।

(ii) वास्तविक प्रत्यक्ष भार प्रतयक्ष मौद्रिक तथा प्रत्यक्ष अमौद्रिक भार है।

(iii) कराघात एवं कानूनी दायित्व है।

(iv) कर विवर्तन सभी प्रकार के करों के लिए किया जाता है।

प्र.5 सही विकल्प का चयन कीजिए?

कर प्रसरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया –

(i) मार्षल द्वारा (ii) केनार्ड द्वारा

(iii) हिक्स द्वारा (iv) एडम स्मिथ द्वारा

प्र.6 रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

(i) प्रत्यक्ष करों में करापात एवं कराघात ––––– ही व्यक्ति पर होता है।

(ii) कर विवर्तन वस्तु की मांग की ––––– पर निर्भर करता है।

(iii) केन्द्रीयकरण सिद्धान्त में कर का अन्तिम भार –––––– पर ही पड़ता है।

(iv) अग्रग्रामी कर विवर्तन में वस्तु की कीमतें –––––– जाती हैं।

(v) आय कर के सम्बन्ध में कर विवर्तन –––––– नहीं होता है।

(लोच, एक, भूमि/कृषि, समीाव, बढ़)

प्र.7 मात्रा के आधार पर कराकरोपण में कर का विवर्तन किस दिषा में होता है?

11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 करापात से आप क्या समझते हैं? कराघात एवं करापात में अन्तर को स्पष्ट करो?

प्र.2 कर विवर्तन से आप क्या समझते हैं तथा कर विवर्तन के विभिन्न रूपों को समझाइये?

प्र.3 करापात एवं कर विवर्तन के मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए? तथा विभिन्न करों के सम्बन्ध में कर विवर्तन किस दिषा में होता है? स्पष्ट कीजिए?

प्र.4 मांग तथा पूर्ति की लोच की विभिन्न श्रेणियाँ कर विवर्तन को किस प्रकार प्रभावित करती हैं?

प्र.5 अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में कर विवर्तन की विवेचना कीजिए?

इकाई 12 परम्परागत बजटिंग, निष्पादन बजटिंग तथा शून्य आधारित बजटिंग

इकाई संरचना

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 बजट का आशय

12.3.1 बजट की परिभाषाएँ

12.3.2 बजट तथा राजकोषीय नीति

12.4 परम्परागत बजटिंग

12.4.1 परम्परागत बजटिंग का आषय

12.4.2 परम्परागत बजटिंग की विशेषताएँ

12.5 निष्पादन बजटिंग

12.5.1 निष्पादन बजटिंग का आशय

12.5.2 निष्पादन बजटिंग का आधार

12.6 शून्य आधार बजटिंग

12.6.1 शून्य आधार बजटिंग की विषेषताएँ

12.6.2 शून्य आधार बजटिंग की कठिनाइयाँ

12.6.3 भारत में बजटिंग प्रक्रिया

12.7 सारांश

12.8 शब्दावली

12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

12.11 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

12.12 निबन्धात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

आपने पूर्व की इकाई के अन्तर्गत करापात एवं कर विवर्तन से सम्बन्धित अनेक पक्षों को भली–भांति समझ लिया होगा। प्रस्तुत इकाई लोक राजस्व एवं बजटिंग ब्लाक की बारहवीं इकाई है जो बजटिंग से सम्बन्धित हें प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आप परम्परागत बजटिंग के साथ–साथ निष्पादन बजटिंग एवं शून्य आधार बजटिंग का भली–भांति अध्ययन कर सकेंगे। आप बजट की अवधारणाओं एवं परिभाषाओं से परिचित होने के साथ बजट की राजकोषीय नीति से सम्बद्धताओं का भी अध्ययन कर सकेंगे। परम्परागत बजटिंग के विभिन्न आयामों की विवेचना करने के बाद निष्पादन बजटिंग के विभिन्न पहलुओं तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। शून्य आधारित बजट की अवधारणा एवं मुख्य विशेषताओं से आपको परिचित कराया जा सकेगा। इसके साथ शून्य आधार बजट को अपनाने एवं क्रियान्वित करने में आने वाली कठिनाइयों से भी आप भली–भांति परिचित हो सकेंगे।

बजट शब्द की व्युत्पत्ति फ्रांसीसी शब्द Bougette से हुई है। सामान्य रूप से बजट एक अर्थव्यवस्था के कुशल एवं नियंत्रित संचालन का एक महत्वपूर्ण उपकरण है। इसके अभाव में किसी अर्थव्यवस्था के निहितार्थों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सकता है। बजट सरकार की आय–व्यय का विवरण प्रस्तुत करने के साथ उस देश की वास्तविक आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का आइना प्रस्तुत करता है। जिसके आधार पर उस देश की अर्थव्यवस्था की वास्तविक स्थिति तक पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार बजट देश के वित्तीय प्रवाहों का उल्लेख है जो नीतियों एवं कार्यक्रमों की सफलता के लिए अत्यन्त ही आवश्यक समझा जाता है।

12.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कने के बाद आप अच्छी तरह से समझ सकेंगे कि –

(i) बजट का क्या आशय है तथा किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के लिए बजट की क्या सार्थकता पायी जाती है।

(ii) परम्परागत बजटिंग के विभिन्न आयामों को समझने के साथ इसके मूलभूत तत्वों को आप भली–भांति समझ सकेंगे।

(iii) अर्थव्यवस्थाओं के लिए अलग–अलग प्रकार के बजटिंग प्रणाली की क्या आवश्यकता है तथा भविष्य में उनकी क्या उपयोगिता सिद्ध हो सकती है।

(iv)अर्थव्यवस्थाओं में व्याप्त अनेक प्रकार की वित्तीय अनियमितताओं के चलते शून्य आधार बजटिंग क्यों महत्वपूर्ण है तथा इसके मार्ग में किस प्रकार की तथा क्यों कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

(v) एक बजटिंग प्रक्रिया किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए क्यों आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध होती है।

12.3 बजट का आशय

बजट से हमारा आशय सरकार या लोकसत्ताओं द्वारा वित्तीय संसाधनों को जुटाने एवं उनको व्यय करने सम्बन्धी कार्यक्रमों की रूपरेखा से लगाया जाता है। बजट एक सरकारी प्रपत्र होता है जिसमें सार्वजनिक कार्यक्रमों को संचालित करने के लिये आवश्यक कार्यों की पूर्ति करने के स्रोत एवं मात्रा के साथ सम्बन्धित मदों का पूर्ण विवरण होता है। जिसका

सम्बन्ध किसी एक निश्चित समयावधि से होता है। इस प्रकार बजट सरकार के अर्थपूर्ण प्रशासन एवं कुशलता का प्रतीक माना गया है। बजट सरकारी कार्यों का एक प्रस्तावित विवरण एवं आवश्यक धनराशि के संग्रहण के लिए प्रस्तावित एवं अनुमानित व्यवस्था होती है। बजट की मुख्य विशेषताओं एवं मुख्य आयामों से आप बजट के आशय को भली–भांति समझ सकेंगे।

12.3.1 बजट की परिभाषायें

अर्थशास्त्रियों द्वारा दी बजट की मुख्य परिभाषायें निम्नलिखित हैं :–

शिराज के अनुसार, ''बजट आय तथा व्यय का विवरण है। यह सरकार द्वारा अनुमानित व्यय को पूरा करने के लिए बनाया जाता है। इसमें सामान्यतः दो वित्तीय अवधियाँ होती हैं – समाप्त होने वाली अवधि तथा आगामी अवधि। संक्षेप में बजट में पिछले वर्ष के आय–व्यय का अनुमान तथा घाटों को पूरा करने और बचत को वितरित करने के लिए प्रस्ताव होते हैं।''

किंग के अनुसार, ''बजट एक प्रशुल्क योजना है, जिसके द्वारा व्यय को आय से सन्तुलित किया जाता है।''

गैस्टन जेज के अनुसार, ''एक आधुनिक राज्य में बजट एक पूर्व कल्पना तथा सार्वजनिक आय एवं व्यय का एक अनुमान है तथा कुछ विशिष्ट व्ययों को करने व आय को प्राप्त करने का अधिकार है।''

पी0एफ0 टेलर के शब्दों में, ''बजट सरकार की मास्टर वित्तीय योजना है। यह आगामी आय के अनुमान तथा बजट के प्रस्तावित व्ययों के अनुमान साथ–साथ प्रदान करता है।''

डब्ल्यू0पी0 विलोबी के शब्दों में, ''बजट एक साथ एक रिपोर्ट एक अनुमान तथा एक प्रस्ताव है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वित्तीय प्रशासन की सभी विधियों को सम्बन्धित किया जाता है। उसकी तुलना की जाती है और उसमें समन्वय स्थापित किया जाता है।''

डॉल्टन के अनुसार, ''सन्तुलित बजट की सामान्य विचारधारा यह है कि एक समयावधि में आय बढ़ती है या व्यय से कम नहीं रहती है।''

पी0एल0 बिल्यू के शब्दों में, ''यह एक निश्चित अवधि की अनुमानित आय एवं व्ययों का विवरण है, यह तुलनात्मक तालिका है जिसमें प्रापत होने वाली आय तथा किये जाने वाले व्ययों की राशियों को दिखाया जाता है।''

12.3.2 बजट तथा राजकोषीय नीति

इस उपखण्ड के अन्तर्गत आपको यह बताने का प्रयास किया गया है कि बजट तथा राजकोषीय नीति के मध्य क्या अन्तर्सम्बन्ध हैं तथा राजकोषीय नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति में बजट प्रणाली किस सीमा तक सहायक सिद्ध होती है। सरकारों द्वारा निर्धारित राजकोषीय नीतियों में समयानुसार आवश्यक परिवर्तन होते रहते हैं जिसका बजटिंग प्रणाली से अटूट सम्बन्ध रहता है। वर्तमान में सामानयतः सभी देशों की राजकोषीय नीति का प्रयोग आर्थिक–स्थिरता बनाये रखने, मूल्य नियंत्रण, बेरोजगारी दूर करने तथा आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिये किया जाता है। राजकोषीय नीति के उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बजटिंग प्रणाली एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में कार्य करती है। सार्वजनिक उपक्रमों के लिए आवश्यक वित्तीय व्यवस्था, कीमत नियंत्रण के लिए कर प्रणाली की संरचना, बेरोजगारी दूर करने के लिए कार्यक्रमों एवं योजनाओं का निर्माण एवं कुशलतम क्रियान्वयन

तथा आर्थिक विकास के लिए आवश्यक वित्तीय–संसाधनों की व्यवस्था एक उचित बजटिंग प्रणाली द्वारा ही सम्भव हो सकती है। बजटिंग का उचित निर्माण एवं कुशलतम क्रियान्वयन करके ही देश की अर्थव्यवस्था को विकास के मार्ग पर सही रूप में अग्रसर किया जा सकता है।

उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु व्यय, ऋण व्यवस्था, कर, आय तथा हीनार्थ प्रबन्धन आदि की व्यवस्था राजकोषीय नीति के अन्तर्गत की जाती है लेकिन इन सभी व्यवस्थाओं का समावेशन बजटिंग प्रणाली के अन्तर्गत किया जाता है। वहीं दूसरी ओर राजकोषीय नीति के आधार पर ही बजट का प्रकार आकार तथा क्रियान्वयन आदि का निर्धारण किया जाता है। बजट का आकार, प्रकार तथा क्रियान्वयन का राजकोषीय नीति से सीधा तथा सकारात्मक सम्बन्ध पाया जाता है।

12.4 परम्परागत बजटिंग

इस खण्ड के अन्तर्गत परम्परागत बजटिंग का आषय एवं विषेषताओं का अध्ययन करेंगे।

12.4.1 परम्परागत बजटिंग का आषय

सामान्यतः दी जाने वाली सार्वजनिक बजटिंग की अवधारणा को परम्परागत बजटिंग से ही सम्बन्धित किया जाता रहा है। आपको यहाँ यह समझने में आसानी होगी कि परम्परागत बजटिंग के अन्तर्गत उन विधियों, व्ययों तथा मदों को सामान्य रूप से शामिल किया जाता है जिन्हें विगत वर्षों या समयावधियों में महत्व दिया जाता रहा है। इस प्रकार परम्परागत बजटिंग से हमारा तात्पर्य ऐसे बजट से है जो एक लम्बे समय से एक परम्परागत रूप में निर्मित व क्रियान्वित किया जाता रहा है। बजट के आवंटन में भी परम्परागत मदों को ही आधार बनाया जाता रहा है। बजट को अर्थपूर्ण बनाने एवं इसके प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करने के लिए परम्परागत बजटिंग के दो मुख्य आयामों को मुख्य रूप से समाहित किया गया है।

1. बजट का राजस्व खाता
2. बजट का पूँजी खाता

बजट के परम्परागत राजस्व खाते के अन्तर्गत किसी आर्थिक इकाई को चालू व्यय मदों की वित्तपूर्ति अपनी वर्तमान आय से ही की जाती है। इसकी वित्तपूर्ति के लिये परिसम्पत्तियों में कमी नहीं की जाती है तथा इसके साथ सरकार की देयदाताओं में भी वृद्धि नहीं की जाती है। इस मद की राशियाँ निवेशित राशियों से भिन्न हाती हैं। पूंजी खाते के अन्तर्गत वे प्राप्तियाँ शामिल की जाती हैं जिसको सम्बन्ध निवेशित राशियों से होता है तथा सरकार की देयताओं में वृद्धि होती है या सरकार की परिसम्पत्तियों में कमी। इस मद की राशियों का सम्बन्ध चालू खर्चों के वित्त पोषण से नहीं होता है।

परम्परागत बजटिंग के अन्तर्गत चालू खाता तथा पूँजी खाते को आपस में संतुलित बनाये रखा जाता है।

12.4.2 परम्परागत बजटिंग की विशेषताएँ

परम्परागत बजटिंग की अवधारणा को स्पष्ट करने के बाद यहाँ पर इस बजटिंग की मुख्य विशेषताओं को समझाने का प्रयास किया गया है।

(i) परम्परागत बजट चालू खाता तथा पूँजी खाते में विभाजित होता है जिन्हें बजट के मुख्य भागों के रूप में देखा जाता है।

(ii) परम्परागत बजट सामान्य रूप से सन्तुलित बजट के मुख्य आयाम पर आधारित किया गया है। पूँजी खातों तथा चालू खातों को आपस में संतुलित किया जाता है।

(iii) परम्परागत बजट को संतुलित बनाये रखने के लिए अर्थव्यवस्था की आवश्यकता माना जाता है। इसके पीछे अर्थशास्त्रियों का तर्क था कि संतुलित बजट सरकार की अपव्यय करने की प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखने में सहायक सिद्ध होता है।

(iv) यह बजट अर्थव्यवस्थाओं के अन्तर्गत आने वाले आर्थिक चक्रों/व्यापारिक चक्रों को नियंत्रित करने एवं रोकने के लिए अत्यन्त उपयोगी माना गया है।

(v) परम्परागत बजट में पिछली मदों एवं कार्यक्रमों पर सामान्य रूप से धनराशियों का आवंटन किया जाता है तथा पिछली समयावधियों की योजनाओं को पूरा भी किया जाता है।

(vi) यह बजट सामान्य रूप से अधिकांश देशों द्वारा अपनाया जाता रहा है।

12.5 निष्पादन बजटिंग

आप इस खण्ड के अन्तर्गत निष्पादन बजटिंग के आषय समझने के बाद इसके मूलभूत आधारों को समझेंगे

12.5.1 निष्पादन बजटिंग का आशय

इस उपखण्ड के अन्तर्गत आप सामान्य बजट से अलग हटकर बजट की एक नयी अवधारणा से अवगत हो सकेंगे। निष्पादन बजटिंग का तात्पर्य ऐसी बजट प्रक्रिया से है जिसके अन्तर्गत बजट में शामिल कार्यक्रमों तथा योजनाओं का क्रियान्वयन इस प्रकार से किया जाय ताकि अपेक्षित तथा वास्तविक निष्पादन के मध्य कम से कम अन्तर हो तथा परियोजनाओं का क्रियान्वयन इष्टतम स्तर पर हो सके। इसके लिये यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि बजट के प्रत्येक चरण में अपेक्षित व्यय तथा अपेक्षित प्राप्तियों का एक नियोजित रूप रेखा तैयार की जाय तथा कार्यक्रमों का क्रियान्वयन एवं संचालन उच्च स्तर का हो सके तथा वांछित परिणामों को आसानी से प्राप्त किया जा सके।

बजट के क्रियान्वयन के लिए निर्मित कसौटियों के आधार पर सार्वजनिक व्यय में पूर्ण मितव्ययता बरती जाय तथा बजट का संचालन एक कुशल प्रबन्धतंत्र द्वारा किया जाय। इस प्रकार निष्पादन बजटिंग में कुशल प्रशासनिक कार्य तंत्र को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। क्योंकि कार्यक्रमों या योजनाओं का इष्टतम निष्पादन कुशल प्रशासनिक कार्यतंत्र पर ही पूर्ण रूप से आधारित होता है।

12.5.2 निष्पादन बजटिंग का आधार

निष्पादन बजटिंग निम्न लिखित मान्यताओं पर आधारिनत किया गया है जो इसके औचित्य को प्रकट करती है :–

(i) निष्पादन बजटिंग संसाधनों के अभाव एवं सीमितता पर आधारित किया गया है। इसीलिये इस बजट में कुशलतम क्रियान्वयन पर जोर दिया गया है।

(ii) निष्पादन बजटिंग के अन्तर्गत लागत–हित की अवधारणा को आधार बनाया गया है। इसके लिये बजट के क्रियान्वयन के प्रत्येक चरण के लिये एक समय–सारणी को आधार बनाया गया है जो योजनाओं एवं कार्यक्रमों के निष्पादन को बेहतर बना सकता

है। बिना समय–सारणी के बजट उद्देश्यों के प्रति पूर्ण रूप से सकारात्मक नहीं बनाया जा सकता है।

(iii) यह बजट विभिन्न विभागों एवं मंत्रालयों के मध्य सामंजस्य पर जोर देता है ताकि संसाधनों का कुशलतम प्रयोग सम्भव हो सके एवं वांछित प्राप्तियों का उच्च स्तर बनाया जा सके।

(iv) सरकार के पास कोई वित्तीय उपलब्धियेां का एक स्वचालित तंत्र नहीं है। मानवीय कुशलता ही बजटिंग का आधार है। इसके आधार पर ही अनुमान, क्रियान्वयन एवं निष्पादन की प्रक्रिया को प्राप्त किया जा सकता है।

(v) इस बजटिंग के अन्तर्गत किसी भी मद को तटस्थ रूप में नहीं छोड़ा जा सकता है क्योंकि इसका अन्य मदों पर प्रतिकूल प्रभाव होगा जो कार्यक्रमों के निष्पादन को प्रतिकूल दिशा में ही प्रभावित करेगा।

12.6 शून्य आधार बजटिंग

जैसा कि आपको इस अवधारणा के नाम से ही स्पष्ट है कि इस बजट के अन्तर्गत कोई पूर्व निर्धारित आधार नहीं होता है। अतः इस बजट के निर्माण के लिए पूर्ववर्ती मदों को शून्य मान लिया जाता है। अर्थात् इस बजट का निर्माण बिना किसी आधार के किया जाता है। यह बजट पूर्ण रूप से लेखा परीक्षण की पद्धति पर अधारित किया गया है। आपको यह समझना होगा कि शून्य आधार बजट में पूर्व में आवंटित राशि वाली मदों या कार्यक्रमों को आवश्यक रूप से स्थान नहीं दिया जाता है। चालू वित्तीय वर्ष के बजट के लिए नया आर्थिक आधार तैयार किया जाता है जो पूर्व के वित्तीय वर्ष में संचालित कार्यक्रमों या योजनाओं के आलोचनात्मक मूल्यांकन के आधार पर निर्धारित किया जाता है।

सामान्य रूप से शून्य आधार बजटिंग का मुख्य आधार कार्यक्रम या योजनाओं की लागत के बाद उसके परिणामों का आलोचनात्मक विश्लेषणा माना गया है। इस बजट में उसी मद को व्यय के लिए उचित ठहराया जाता है तो लागत–हित विश्लेषण के आधार पर पूर्ण रूप से खरी उतरती है। इस बजट में इस बात की कोई गारण्टी नहीं होती है कि एक बार में आवंटित होने वाली मद का आगामी वित्तीय वर्ष या बजट में यथास्थान बना रहेगा। किसी भी मद को बजट में उस समय तक स्थान नहीं दिया जाता है जब तक कि उस मद को लागत–हित विश्लेषण के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सके। शून्य आधार बजट में मदों एवं योजनाओं के आलोचनात्मक मूल्यांकन के आधार पर सार्वजनिक व्यय के अपव्यय को रोकने का प्रयास किया जाता है।

शून्य आधार बजटिंग बजट को अर्थशास्त्रियों द्वारा निम्नलिखित रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है।

पीटर पायरेर के अनुसार, ''शून्य पर आधारित बजटिंग एक संचालित नियोजन एवं बजटिंग प्रक्रिया है, जिसमें प्रत्येक मैनेजर के अपने सम्पूर्ण बजट प्रस्तावों का औचित्य शून्य से बताना होता है तथा प्रत्येक मैनेजर पर सबूत का भार डाल दिया जाता है कि उसे कोई धन क्यों व्यय करना चाहिये।''

जिमी कार्टर के शब्दों में, ''शून्य पर आधारित बजटिंग में बजट को इकाइयों में रखा जाता है जिसे 'निर्णय पैकेज' कहा जाता है और जो प्रत्येक स्तर पर मैनेजर द्वारा तैयार किये जाते हैं। यह पैकेज विभाग की विद्यमान या प्रस्तावित क्रियाओं को पूर्ण करते हैं।''

शून्य आधार बजटिंग की नयी अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम 1977 में अमेरिका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने अपने देश में अपनाया था। भारत में प्रथम बार 1986 में तत्कालीन वित्तमंत्री वी0पी0 सिंह ने अपनाना स्वीकार किया था। 1987–88 में केन्द्रीय सरकार के अनेक विभागों ने इस तकनीकी को अपनाया था।

12.6.1 शून्य आधार बजटिंग की विशेषताएँ

शून्य आधारित बतजटिंग की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित रूप में दी गयी हैं जो आपको शून्य आधार बजटिंग के विभिन्न आयामों तक पहुँचने में सहायक हो सकती हैं।

(i) शून्य आधार बजटिंग का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक व्ययों पर नियंत्रण करने से लगाया गया है ताकि सरकारी धन का अपव्यय न हो सके एवं उसका प्रयोग सार्वजनिक हित में हो सके।

(ii) शून्य आधार बजटिंग के अन्तर्गत पूर्ववर्ती कार्यक्रमों अथवा योजनाओं के आलोचनात्मक मूल्यांकन की व्यवस्था की गयी है जिसके आधार पर उस मद को बजट में यथास्थान दिलाया जा सके।

(iii) यह बजट लागत–लाभ विश्लेषण पर आधारित है। इसलिये यह प्रयास किया जाता है कि किसी कार्यक्रम या मद पर आने वाली–लागत तथा उस मद से प्राप्त होने वाले सामाजिक हित के मध्य कम से कम अन्तर हो।

(iv) शून्य आधारित बजटिंग में किसी कार्यक्रम या योजना को अनिवार्य रूप से भविष्य में बनाये रखना आवश्यक नहीं होता है।

(v) इस प्रकार की बजटिंग प्रणाली के संचालन के लिए कुशल एवं ईमानदार कर्मचारियों एवं अधिकारियों की आवश्यकता है जो सभी अर्थव्यवस्थाओं में प्रायः सम्भव नहीं है।

(vi) शून्य आधार बजटिंग के लिए बजट बनाते समय पूर्व में संचालित मदों की पूर्ण एवं सही जानकारी होनी चाहिए ताकि उस मद के औचित्य को सही रूप में प्रस्तुत किया जा सके।

12.6.2 शून्य आधार बजटिंग की कठिनाइयाँ

शून्य आधार बजटिंग के निर्माण एवं क्रियान्वयन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जिन्हें निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(i) शून्य आधारित बजट के अन्तर्गत कार्यक्रमों एवं योजनाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन उसी विभाग एवं मंत्रालय के अधिकारियों एवं प्रभारियों द्वारा किया जाना होता है जिसके अन्तर्गत यह कार्यक्रम या योजनायें संचालित हैं। ऐसी स्थिति में स्वमूल्यांकन उनके विरूद्ध नहीं जा सकता है। इसीलिये पूर्ववर्ती मदों को ही आधार बनाना आवश्यक हो जाता है जो शून्य आधार बजट की संकल्पना के अनुकूल नहीं है।

(ii) शून्य आधारित बजट के निर्माण एवं क्रियान्वयन के लिए ईमानदार एवं पूर्ण कुशल अधिकारियों एवं कर्मचारियों की आवश्यकता है जो प्रायः सभी देशों में सम्भव नहीं है। इसके साथ बजट का प्रत्येक चरण एक तकनीकी प्रशिक्षण पर आधारित होता है इसके लिये सम्बन्धित कर्मचारियों को पूर्ण प्रशिक्षण की आवश्यकता होगी जो स्वयं में ही एक समस्या बन जाती है।

(iii) शून्य आधारित बजटिंग मितव्ययता एवं पूर्ण नियंत्रणात्मक सार्वजनिक व्यय पर आधारित है जो प्रजातांत्रिक एवं सत्तालोलुप सरकारों द्वारा समभव नहीं हो सकता है। आपको यहाँ विदित हो कि प्रजातांत्रिक सरकारें जनता को खुश करने के लिये अपव्यय तथा गैर नियंत्रणात्मक व्ययों का सहारा लेती हैं।

(iv) विकाशील तथा पिछड़े देशों में शून्य आधारित बजटिंग की प्रणाली कारगर सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ पर बजट प्रणाली में लचीलापन अत्यन्त ही आवश्यक समझा गया है जो शून्य आधारित बजट के विपरीत है।

12.6.3 भारत में बजटिंग प्रक्रिया

भारत में बजट कार्यकारिणी सभा द्वारा तैयार किया जाता है। संघीय बजट को लोक सभा के केन्द्रीय मंत्रीमण्डल तथा राज्यों में विधानसभाओं की कार्यकारिणियों द्वारा तैयार किया जाता है। बजट का निर्माण करने से पूर्व निम्न मदों/शीर्षकों को दर्शाया जाता है।

1. पिछले वर्ष की वास्तविक आय तथा वास्तविक व्यय
2. चालू वर्ष से सम्बन्धित स्वीकृत आय तथा व्यय के अनुमान
3. चालू वर्ष के वास्तविक आय–व्यय के आंकड़े
4. आगामी वर्ष के बजट अनुमान
5. चालू वर्ष के संशोधित आय–व्यय के अनुमान

उपर्युक्त दस्तावेजों के साथ भारत में बजटिंग को अनेक महत्वपूर्ण प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, जिनको आप निम्न बिन्दुओं के आधार पर आसानी से समझ सकते हैं।

बजट की तैयारी करना : भारतीय बजट बनाने की शुरूआत प्रत्येक वर्ष अगस्त माह में कर दी जाती है। भारतीय वित्त मंत्रालय द्वारा विभिन्न मंत्रालयों द्वारा अनुमानित आय तथा व्यय के अनुमानित लेखे मांगे जाते हैं। अक्टूबर माह के प्रथम सप्ताह तक सभी मंत्रालयों द्वारा अपने–अपने अनुमानित आय तथा व्यय के अनुमान वित्त मंत्रालय को भेज दिये जाते हैं। भारत में संघीय तथा राज्जीय बजट की तैयारी केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा अलग–अलग की जाती है।

बजट को पेश करना : सम्बन्धित सभी मंत्रालयों तथा विभागों द्वारा अनुमानित आय तथा व्यय के अनुमान प्राप्त हो जाने के उपरान्त सम्पूर्ण बजट दस्तावेजों को संसद में प्रस्तुत किया जाता है। बजट प्रस्तुत करते समय वित्तमंत्री अपना बजट भाषण प्रस्तुत करता है जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था की आर्थिक समीक्षा होती है। बजट भाषण में नये कर लगाने तथा नये व्ययों को करने का उल्लेख किया जाता है।

नये करों को लगाने तथा नये व्ययों के उद्देश्यों को भी स्पष्ट किया जाता है। बजट के प्रकार तथा आवश्यकता पर प्रकाश डाला जाता है। बजट द्वारा सामान्य जनता पर पड़ने वाले प्रभावों का भी स्पष्टीकरण वित्तमंत्री द्वारा दिया जाता है। वित्त मंत्री द्वारा जो बजट भाषण सदन में दिया जाता है उसकी एक–एक प्रति सभी सदस्यों के मध्य अध्ययन हेतु वितरित कर दी जाती है। ताकि आगामी प्रक्रिया में सदस्य अपना तर्क–वितर्क दे सके।

सामान्य बहस का होना : बजट पेश करने के बाद बजट भाषण पूरा होने पर बजट का अध्ययन करने के लिए सदस्यों को सामान्यतः कुछ दिन का समय दिया जाता है तथा बजट भाषण पर बहस के लिये एक दिन निश्चित कर दिया जाता है। उस दिन बजट भाषण पर पक्ष तथा विपक्ष के सदस्यों द्वारा सामान्य रूप से चर्चा की जाती है। सदस्यों को

बजट से सम्बन्धित आय तथा व्यय की मदों की आलोचना एवं समीक्षा की जाती है तथा बजट के प्रकार तथा सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर पक्ष तथा विपक्ष द्वारा अनेक प्रश्न किये जाते हैं जिनका जबाव वित्तमंत्री द्वारा दिया जाता है। बजट सम्बन्धी अनेक आशंकाओं का समाधान सत्तापक्ष द्वारा किया जाता है। सामान्य बहस में बजट के सामान्य जनता के जीवन के विभिन्न पक्षों पर पड़ने वाले प्रभावों की आलाचेनात्मक समीक्षा की जाती है। सामान्य रूप से नये कर लगाने एवं कर की दरें बढ़ाने तथा गरीब जनता पर बजट के पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों की आलोचना की जाती है।

मतदान : बजट पर सामान्य बहस होने के बाद विभिन्न मंत्रालयों के मंत्री अपने–अपने विभागों के लिये अनुदान की मांग करते हैं तथा इन मांगों पर बहस होती है। व्यय की कुछ मदें अनिवार्य रूप की होती हैं जिन्हें संचित कोष से मांगा जाता है। इन मांगों पर सदस्यों को मतदान करकाने का अधिकार नहीं होता है। विभाग के प्रत्येक मंत्री को अपनी अनुदान मागों के औचित्य को स्पष्ट करना होता है।

अनुदानों मांगों पर बहस एक से अधिक दिनों तक भी चल सकती है। पहले दिन जब बहस पूरी नहीं होती है तब दूसरे दिन की बहस जारी रहती है। कुछ अनुदानों की मांगों में कटौती प्रस्ताव लाया जा सकता है। सामान्य रूप से कटौती प्रस्ताव का उद्देश्य अनुदान मांगों का मितव्ययपूर्ण होता है। कटौती प्रस्ताव पर वित्त मंत्री द्वारा स्पष्टीकरण दिया जाता है। फिर भी यदि सदस्यों के सन्तुष्ट न होने पर कटौती प्रस्ताव पर मतदान कराया जाता है। कटौती प्रस्ताव पारित भी हो सकता है तथा यह प्रस्ताव गिर भी जाता है। कटौती प्रस्ताव पारित होने पर प्रायः यह मान लिया जाता है कि सरकार अल्पमत में आ गयी है। लेकिन ऐसी स्थिति में सरकार को त्यागपत्र देने की कोई बाध्यता नहीं होती है। वित्तमंत्री द्वारा सदस्यों को संतुष्ट करने पर सदस्यों द्वारा कटौती प्रस्ताव वापिस ले लिया जाता है और मतदान नहीं होता है।

विनियोग विधेयक : बजट की माँगों पर सामान्य बसह के बाद सदन में विनियोग विधेयक लाया जाता है। यह विनियोग विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया जाता है। साधारण विधेयक की तर्ज पर विनियोग विधेयक सरकार द्वारा नये कर लगाने तथा पुराने करों की दरों में वृद्धि करने से सम्बन्धित होता है। इस विधेयक पर भी लोकसभा में सामान्य बहस होती है। इन कर सम्बन्धी परिवर्तनों के औचित्य को स्पष्अ किया जाता है जो करारोपण के लिए आवश्यक होता है। सदन द्वारा अधिक आपत्ति या विरोध करने पर विनियोग विधेयक में आवश्यक संशोधनों को सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है। विनियोग विधेयक के अन्तर्गत वित्त विधेयक तथा द्रात्यिक विधेयकों को शामिल किया जाता है। विनियोग विधेयक के पारित होने पर इसे राज्य सभा की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। विवादास्पद स्थिति में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला ली जाती है।

अनुपूरक माँगें : आपको यह भी स्पष्ट करना होगा कि कभी–कभी किसी वर्ष सरकार की व्यय राशि स्वीकृत तथा निर्धारित व्यय से अधिक हो जाती है तथा निर्धारित व्यय वर्ष की समाप्ति से पूर्व ही समाप्त हो जाता है। वर्ष की शेष अवधि के लिए और धनराशि की आवश्यकता होती है। इसके लिए सदन में अनुपूरक मांगे रखी जाती हैं। अनुपूरक मांगों पर सामान्य बहस के बाद पारित किया जाता है तथा बिल पारित होने पर उसे उच्च सदन की स्वीकृति के लिये भेज दिया जाता है।

सांकेतिक मांगे : सामान्य बजट अनुमानों को अर्थव्यवस्था की सामान्य स्थितियों के आधार पर लगाया जाता है। लेकिन कभी कभी अर्थव्यवस्था के सम्मुख ऐसी स्थितियाँ बन जाती हैं कि बजट से बाहर वाली मदों पर भी व्यय करना पड़ता है। जैसे युद्ध, अकाल, बाढ़ तथा कोई अन्य प्राकृतिक आपदा आदि के कारण सरकारी व्यय की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में सरकार एक रूपये का व्यय भी बिना सदन की स्वीकृति के नहीं कर सकती है। सांकेतिक मांगों को सामान्य बजट की तरह ही पारित किया जाता है।

बजट को क्रियान्वित किया जाना : आपको बजट निर्माण की प्रक्रिया भलीभांति समझ में आ गयी होगी। बजट के निर्माण तथा पारित होने के बाद बजट के क्रियान्वित करने के लिए अर्थव्यवस्था पर लागू किया जाता है। बजट का क्रियान्वयन 1 अप्रैल से आगामी वर्ष की 31 मार्च तक क लिये किया जाता है। बजट में प्रसंवित करों से प्राप्त आय को भारत के संचित कोष में जमा किया जाता है। बाद में इस राशि को आवश्यकतानुसार निकाला जाता है। इसी प्रकार बजट की व्यय राशि को उच्च अधिकारियों की अनुमति से सम्बन्धित अधिकारी खातों से निकालते हैं।

12.6.4 भारत में शून्य आधार बजटिंग

पिछले बिन्दुओं के अन्तर्गत आपने शून्य आधार बजटिंग की अवधारणा को समझने के साथ शून्य आधार बजटिंग की विशेषतायें तथा कठिनाइयों का भी अध्ययन किया। भारत में बजटिंग प्रक्रिया को भी आपने भली भांति समझ लिया होगा। प्रस्तुत बिन्दु के अन्तर्गत आप भारत में शून्य आधार बजटिंग से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

आपने शायद ध्यान दिया होगा कि भारत में सर्वप्रथम 1985–86 में शून्य आधार बजट की अवधारणा को स्वीकार किया गया था। केन्द्र सरकार द्वारा इस शून्य आधार बजट को अपनाने के लिए समस्त विभागों को निर्देश दिये गये थें वर्ष 1986–87 में केन्द्र सरकार के सभी विभागों ने शून्य आधार बजट को स्वीकार किया। सामान्यतः भारत में शून्य आधार बजट में अनुत्पादक व्यय तथा अधिकारियों की लापरवाही ने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पैदा की लेकिन अर्थशास्त्रियों का मानना है कि भारत में शून्य आधार बजट की अत्यन्त आवश्यकता थी। भारत में शून्य आधार बजट के लिये निम्नलिखित तथ्यों पर विशेष जोर दिया गया।

1. बजट की मदों पर लागत–लाभ विश्लेषण करना।
2. निष्क्रियता के स्थान पर सक्रिय मदों को स्थान देना।
3. उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयासों की सही–सही जानकारी प्राप्त करना।
4. विकल्पों की खोज के साथ मितव्ययता को महत्व देना।
5. निर्णय सम्बन्धी पैकेज का डिजाइन तैयार करना तथा उसे क्रमबद्ध करना।

12.7 सारांश

विभिन्न खण्डों के अन्तर्गत आपने बजटिंग से सम्बन्धित अनेक आयामों का अध्ययन किया। सामान्य रूप से बजटिंग एक ऐसी प्रक्रिया है जो लोकसत्ताओं की आय तथा व्यय के मार्ग को निर्धारित करती है तथा उस पर आवश्यक नियंत्रण लगाती है। बजट के अन्तर्गत सरकार द्वारा व्यय किये जाने वाली मदों के साथ व्यय के लिए आवश्यक धनराशि जुटाने के लिए आय की मदों को भी स्पष्ट किया जाता है। बजट को अनेक अर्थशास्त्रियों ने

अपने–अपने स्तर से परिभाषित कियाक है जिसमें शिराज, किंग, गैस्टन जेज, डॉल्टन, टेलर आदि की परिभाषाओं को महत्वपूर्ण माना गया है। बजट का किसी देश की राजकोषीय नीति से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। देश की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण उपकरण यदि कोई है तो उसे बजट ही कहा जायेगा। राजकोषीय नीति के निर्धारित उद्देश्यों को प्रापत करने के लिये एक अच्छे बजट की अत्यन्त आवश्यकता है। बजट का निर्माण तथा बजट का क्रियान्वयन दोनों के मध्य उचित समन्वय की अधिक आवश्यकता पायी जाती है।

परम्परागत बजटिंग के अन्तर्गत पूर्व में आवंटित मदों के आधार पर ही बजट का निर्माण किया जाता है। प्रायः परम्परागत बजट को संतुलित करने की धारणा प्रचलित रही है। परम्परागत बजटिंग को चालू खाता तथा पूँजीगत खाते में विभाजित करने की भी धारणा प्रचलित रही है। परम्परागत बजटिंग में आवश्यक सुधार करने के लिये अनेक देशों द्वारा निष्पादन तथा शून्य आधारित बजटिंग को अपनाना अधिक उपयोगी समझा। राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा अर्थव्यवस्थाओं की बदलती प्रवृत्तियों के कारण परम्परागत बजटिंग को अपनाये रखना जरूरी नहीं समझा गया। वर्तमान में वैश्वीकरण के प्रभाव तथा सरकारों के अपव्यय को रोकने के लिए निष्पादन बजटिंग तथा शून्य आधारित बजटिंग को अधिक महत्व दिया गया है। यद्यपि दोनों बजटिंग किसी देश की अर्थव्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक है फिर भी इस बजटिंग के मार्ग में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पैदा की गयी हैं।

12.8 शब्दावली

1. **राजकोषीय नीति** – सरकार की वह नीति जिसका सम्बन्ध राजकोष से लगाया जाता है।
2. **हीनार्थ प्रबन्धन** – सरकारी घाटे की पूर्ति के लिए अपनायी जाने वाली वह व्यवस्था जिसे नयी मुद्रा छाप कर या केन्द्रीय बैंक से उधार लेकर पूरी की जाती है।
3. **निष्पादन** – कार्य संचालन के बाद उद्देश्य प्राप्तियाँ।
4. **कसौटी** – योजनाओं/मदों की जाँच के लिए बनायी गयी नीतियाँ एवं उपकरण।
5. **लेखा–परीक्षण** – वित्तीय अभिलेखों की जाँच–पड़ताल
6. **स्वमूल्यांकन** – स्वयं द्वारा नियंत्रित एवं संचालित योजनाओं एवं कार्यक्रमों का स्वयं द्वारा समीक्षा करना।
7. **मितव्ययता** – उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए न्यूनतम आवश्यक व्यय की प्रवृत्ति।

12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्र.1 बजट को परिभाषित कीजिए?

प्र.2 ''बजट सरकार की मास्टर वित्तीय योजना है। .....'' यह कथन किस अर्थषास्त्री का है?

प्र.3 सही / गलत कथन का चयन कीजिए?

(i) शून्य आधार बजट का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिका में किया गया।

(ii) भारत में शून्य आधार बजट वर्ष 1986 में अपनाया गया।

(iii) भारत में परम्परागत बजटिंग की प्रणाली प्रचलित है।

(iv) निष्पादन बजट कार्यक्रमों/योजनाओं की प्रबन्ध कुषलता से सम्बन्धित है?

प्र.4 रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए?

(i) निष्पादन बजट को लागू करने की सिफारिष ———— आयोग द्वारा की गयी थी।

(ii) शून्य आधार बजट में पिछली ———— का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाता है।

(iii) बजट का सम्बन्ध सरकाकर की ———— तथा ———— से है।

(iv) निष्पादन बजट के अन्तर्गत ———— निष्पादन को प्रधानता दी गयी है।

(इष्टतम, आय–व्यय, कार्यक्रम/योजनाओं, हूबर)

प्र.5 निम्नलिखित तथ्यों को सुमेलित कीजिए?

	अ	ब
(i)	बजट की समयावधि	(i) मितव्ययता
(ii)	शून्य आधार बजटिंग	(ii) पूर्ववर्ती मद
(iii)	निष्पादन बजट	(iii) वित्तीय वर्ष
(iv)	परम्परागत बजट प्रणाली	(iv) लेखा परीक्षण प्रणाली

हल – प्र.3 (i) सही, (ii) सही, (iii) गलत, (iv) सही,

प्र.4 (i) हूबर, (ii) कार्यक्रम/योजनाओं, (iii) आय–व्यय, (iv) ईष्टम

प्र.5 (i) III, (ii) I, (iii) IV, (iv) II

12.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
2. पंत, जे0सी0 (2005), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
3. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997), ***राजस्व*** (Public Finance), साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, हास्पीटल रोड, आगरा।

12.11 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

1. सेठी, टी0टी0 (2005), ***मुद्रा बैंकिंग एवं लोकवित्त***, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक विक्रेता एवं प्रकाषन, आगरा।
2. दत्त एवं सुन्दरम (2010), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, एस0चन्द एण्ड क0लि0, नई दिल्ली।

3. मिश्र, जगदीष नारायण (2011), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, किताब महल पब्लिषर्स, हरिसदन अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

12.12 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 बजट से आप क्या समझते हैं? इसे परिभाषित करने हुए परम्परागत बजटिंग को समझाइये।

प्र.2 परम्परागत बजटिंग तथा शून्य आधार बजटिंग में क्या असमानतायें पायी जाती हैं? स्पष्ट कीजिए?

प्र.3 निष्पादन बजटिंग से आपका क्या आशय है? निष्पादन बजटिंग के मुख्य आधारों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिएत्र

प्र.4 शून्य आधार बजटिंग की विषेषताओं का वर्णन करते हुए इसकी मुख्य कठिनाइयों को समझाइये?

प्र.5 भारत में बजटिंग प्रक्रिया को समझाते हुए शून्य आधार बजट पर प्रकाष डालिए?

हल

1.प्रश्न संख्या 01 के हल के लिए बिन्दु 12.3, 12.3.1 तथा बिन्दु 12.4.1 का अवलोकन करें।

2.प्रश्न संख्या 02 के हल के लिए बिन्दु संख्या 12.4.2 तथा 12.6.1, 12.6.2 को देखें।

3.प्रश्न संख्या 03 के हल के लिए बिन्दु संख्या 12.5.1 तथा 12.5.2 का अवलोकन करें।

4.प्रश्न संख्या 04 के हल के लिए बिन्दु संख्या 12.6.1 तथा 12.6.2 का अवलोकन करें।

5.प्रश्न संख्या 05 के हल के लिए बिन्दु संख्या 12.6.3 तथा 12.6.4 का अवलोकन करें।

इकाई 13 लोक उद्यमों के प्रकार, महत्व एवं उपयोगिता

इकाई संरचना

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 लोक उद्यमों की अवधारणा

13.3.1 लोक उद्यमों के प्रकार

13.4 लोक उद्यम

13.4.1 लोक उद्यमों का महत्व

13.4.2 लोक उद्यमों की उपयोगिता

13.5 भारत में लोक उद्यम

13.6 सारांश

13.7 शब्दावली

13.8 अभ्यास प्रश्न

13.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

13.10 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

13.11 निबन्धात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

लोक उद्यम खण्ड के अन्तर्गत यह तेरहवी इकाई है जो लोक उद्यमों के प्रकार, महत्व एवं उपयोगिता से सम्बन्धित की गयी है। लोक उद्यम की अवधारणा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लोक सत्ताओं की आर्थिक व्यवस्थाओं से है जो किसी अर्थव्यवस्था के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी समझा गया है। प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत सर्वप्रथम आपको लोक उद्यम की अवधारणा से परिचित कराया जायेगा जिसके आधार पर इसके प्रकारों एवं महत्व सम्ब्न्धी विभिन्न तथ्यों को आप भली–भांति समझने का प्रयास करेंगे। विभिन्न आधारों पर लोक उद्यमों को अलग–अलग प्रकारों में विभाजित किया गया है जिसके आधार पर ही इन लोक उद्यमों के महत्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अलग–अलग स्वरूप तथा आकार वाली अर्थव्यवस्थाओं के लिये लोक उद्यमों का महत्व भी अलग–अलग स्तर पर निर्धारित किया गया है।

जहाँ तक लोक उद्यमों की उपयोगिता की बात है लोक उद्यमों की उपयेागिता को देशों की सरकारों द्वारा अलग–अलग दृष्टिकोणों से देखा तथा पहचाना गया है और इसी दृष्टिकोण के आधार पर लोक उद्यमों का संचालन एवं क्रियान्वयन सरकारों द्वारा किया जा सकता है। लोक उद्यमों की उपयोगता का वास्तविक सम्बन्ध इन उद्यमों में निहित क्षमताओं का उद्देय पूर्ण प्रयोग करने से जोड़ा जा सकता है। समान आकार तथा स्वरूप वाले लोक उद्यमों की उपयेागिता अलग–अलग सरकारों के लिए अलग–अलग स्तर पर आंकलित की गयी है। आइये इन सभी तथ्यों का विस्तार से अध्ययन करते हैं।

13.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप भली–भांति समझ सकते हैं कि :–

(i) लोक उद्यम क्या होते हैं तथा ये कितने प्रकार के होते हैं? इसके साथ आप विभिन्न प्रकार के लोक उद्यमों की मूलभूत विशेषताओं से भी आप भलीभांति परिचित हो सकेंगे।

(ii) किसी भी अर्थव्यवस्था के लिये लोक उद्यम कितने महत्वपूर्ण हैं तथा इनकी उपयोगिता के आधार पर इन देशों का विकास किस दिशा की ओर होगा।

(iii) भारत में लोक उद्यमों की क्या उपयेागिता है तथा अर्थव्यवस्था में इनका क्या स्थान निर्धारित किया गया है?

13.3 लोक उद्यमों की अवधारणा

सामान्य रूप से विचार किया जाय तो लोक उद्यमों से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्यमों से है जिन पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष से सरकार या लोक सत्ताओं का हस्तक्षेप विद्यमान पाया जाता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिन उद्यमों पर सार्वजनिक सत्ताओं या सरकारों, नगर पालिका या निगम अथवा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का स्वामित्व तथा प्रबन्ध होता है उन्हें लोक उद्यमों की श्रेणी में रखा जाता है।

लोक उद्यम की अवधारणा समाजवादी अर्थव्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रकाकर ऐसे उद्यम, लोक उद्यम कहलाते हैं जिनका नियन्त्रण एवं प्रबन्ध तथा संचालन का उद्देश्य सामान्य जनता से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा होता है। आपको यह ध्यान देना भी अत्यन्त आवश्यक है कि इन उद्यमों पर नियंत्रण एवं स्वामित्व

दोनों की अनिवार्यता नहीं पायी जा सकती है। नियंत्रण एवं स्वामित्व अलग–अलग संस्थाएँ कर सकती हैं लेकिन एक का प्रत्यक्ष रूप से सरकार या लोक सत्ताओं के हाथ में पाया जाना अति आवश्यक हो जाता है। दोनों की वास्तविक शक्ति अन्तः सरकाकर के अधीन ही पायी जाती है, चाहे तो सरकार इन उद्यमों की स्थापना, संचालन आदि के लिए निजी एवं अर्द्धसरकारी संस्थाओं का सहयोग ले सकती है।

13.3.1 लोक उद्यमों के प्रकार

लोक उद्यमों की अवधारणा को स्पष्ट करने के बाद अब आप लोक उद्यमों के प्रकारों से परिचित हो सकेंगे। विभिन्न आधारों पर लोक उद्यमों को अलग–अलग श्रेणियों में विभक्त किया गया है, जिनको निम्न रूप में समझाया जा सकता है।

अ. स्वामित्व एवं नियंत्रण के आधार पर लोक उद्यम
ब. उद्देश्यों के आधार पर लोक उद्यम
स. विभागीय आधार पर लोक उद्यम
द. प्रकृति के आधार पर लोक उद्यम
य. शासकीय आधार पर लोक उद्यम

अ. स्वामित्व एवं नियंत्रण के आधार पर नियंत्रण : लोक उद्यमों पर स्वामित्व एवं नियंत्रण के आधार पर ये निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं –

1. पूर्ण स्वामित्व एवं नियंत्रण वाले लोक उद्यम : ये लोक उद्यम वे उद्यम हैं जिस पर सरकार या सरकारी संस्थाओं का पूर्ण स्वामित्व तथा नियंत्रण होता है। इन उद्यमों को संचालन करने की पूर्ण जिम्मेदारी सरकार की ही होती है। ये उद्यम सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों एवं कार्यक्रमों के आधार पर संचालित किये जाते हैं।

2. अपूर्ण स्वामित्व एवं नियंत्रण वाले लोक उद्यम : इन उद्यमों पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण एवं स्वामित्व नहीं पाया जाता है। स्वामित्व एवं नियंत्रण का एक भाग अन्य निगम या संगठन के हाथ में होता है। लेकिन अन्तिम रूप से सरकार की प्रभावी मानी जाती है।

ब. उद्देश्यों के आधार पर लोक उद्यम : लोक उद्यमों को उनके उद्देश्यों के आधार पर वाणिज्यिक लोक उद्यम तथा गैर–वाणिज्यिक लोक उद्यम दो भागों में रखा गया है।

1. वाणिज्यिक लोक उद्यम : वाणिज्यिक लोक उद्यमों से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्यमों से है जो वाणिज्यिक / व्यापारिक क्रियाकलापों, कार्यक्रमों एवं नीतियों से सम्बन्धित होते हैं। इन लोक उद्यमों की स्थापना एवं संचालन वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिये किया जाता है तथा लाभ अर्जन को महत्व दिया जाता है।

2. गैर–वाणिज्यिक लोक उद्यम : इस श्रेणी में ऐसे लोक उद्यमों को शामिल किया जाता है जिनका उद्देश्य लाभ अर्जन न करके सार्वजनिक कार्यों के अन्तर्गत लोक–कल्याण को रखा गया है। शिक्षण संस्थाएँ, स्वास्थ्य संस्थाएँ, जल संस्थाएँ आदि को गैर–वाणिज्यिक लोक उद्यम की श्रेणी में रखा जाता है।

स. विभागीय आधार पर लोक उद्यम : विभागीय हस्तक्षेप के आधार पर लोक उद्यमों को निम्नलिखित दो भागों में रखा गया है।

1. विभागीय लोक उद्यम : विभागीय लोक उद्यमों से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्यमों से है जो सरकारी विभागों के अधीन संचालित होते हैं तथा इन सम्बन्धित विभागों की जबावदेयता सीधे सराकर के प्रति होती है। जो लोक उद्यम जिस क्षेत्र से सम्बन्धित होता है उस पर उसी कार्यक्षेत्र के सरकारी विभाग का स्वामित्व एवं नियंत्रण पाया जायेगा। ये विभागीय लोक उपक्रम पूर्ण रूप से सरकारी कानून एवं नियमों के अधीन ही क्रियान्वित होते हैं। सम्बन्धित विभाग स्वयं की रणनीति एवं योजना बनाने एवं उसे क्रियान्वित करने के लिये स्वतंत्र नहीं हो सकता। इसीलिये विभागीय लोक उद्यमों के संचालन में अधिकारी एवं कर्मचारी किसी भी जिम्मेदारी से बचना चाहता है।

2. गैर–विभागीय लोक उद्यम : सरकारी विभागों में व्याप्त अनियमितताओं एवं बुराइयों से बचने के लिए सरकार जब लोक उद्यमों की स्थापना, संचालन एवं स्वामित्व किसी अन्य निगम, सार्वजनिक संस्था या बोर्ड को सौंप देती है तब उन उद्यमों को गैर–विभागीय लोक उद्यम की संज्ञा दी जाती है। इन उद्यमों के संचालन के लिये सम्बन्धित निगम, संस्था या बोर्ड स्वतंत्रता के साथ कार्य कर सकता है तथा उद्यमों के विस्तार एवं विास के लिए रणनीति एवं योजनायें बना सकता है। सरकार एवं सरकारी विभाग का सीधा हस्तक्षेप नहीं पाया जाता है।

द. **प्रकृति के आधार पर लोक उ़द्यम :** लोक उद्यमों की प्रकृति के आधार पर सेवा उद्यमों तथा विनिर्माण उद्यमों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

1. सेवा उद्यम : इस प्रकार के लोक उद्यमों में वे उद्यम शामिल किये जाते हैं जिनकी स्थापना जनता को आवश्यक सेवायें उपलब्ध कराने के लिये की जाती हैं। रेल, सड़क, परिवहन, ऊर्जा, बैंकिंग, स्वास्थ्य संस्थायें, शिक्षण संस्थायें, पर्यावरण संस्थायें, जल निगम आदि उद्यम इस श्रेणी में शामिल किये जाते हैं। इन उद्यमों के अन्तर्गत पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन नहीं किया जाता है। सामान्य रूप से ये उद्यम सामाजिक व आर्थिक सेवाओं की उपलब्धता सुनिश्चित करते हैं।

2. विनिर्माण उद्यम : विनिर्माण लोक उद्यम से तात्पर्य ऐसे उद्यमों से लगाया जाता है जिसके द्वारा वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है चाहे उन वस्तुओं का प्रयोग सार्वजनिक कार्यों में हो या निजी कार्यों में। लोहा, कोयला, सुरक्षा सामग्री, खनन, कपड़ा, कागज, घड़ी, कार तथा अन्य वस्तुओं का सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत उत्पादन करने वाले उद्यम इस श्रेणी में रखे जाते हैं।

य. **शासकीय आधार पर लोक उद्यम :** शासकीय आधार पर लोक उद्यमों को निम्नलिखित दो प्रकारों के उद्यमों के अन्तर्गत रखा गया है।

1. आरक्षित लोक उद्यम : आरक्षित लोक उद्यमों के अन्तर्गत वे लोक उद्यम शामिल किये जाते हैं जो सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के लिये आरक्षित वस्तुओं एवं सेवाओं का ही उत्पादन कर सकते हैं जैसे सुरक्षा सामग्री, रेल, परमाणु ऊर्जा आदि के क्षेत्र में संचालित उद्यम इस श्रेणी में रखे जाते हैं। इन क्षेत्रों में निजी क्षेत्र वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन नहीं कर सकता है।

2. गैर–आरक्षित लोक उद्यम : गैर–आरक्षित लोक उद्यमों से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्यमों से है जो ऐसे क्षेत्रों में वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करते हैं जिन क्षेत्रों में

निजी क्षेत्र की वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन कर सकता है। ऐसा सरकार द्वारा निजी क्षेत्र के एकाधिकार को रोकने एवं उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करने के लिये किया जाता है।

13.4 लोक उद्यम

इस खण्ड के अन्तर्गत लोक उद्यमों के महत्व एवं उपयोगिता को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

13.4.1 लोक उद्यमों का महत्व

लोक उद्यमों की अवधारणा एवं इनके विभिन्न प्रकारों को आप भलीभांति समझ गये होंगे। इसके उपरान्त इस उपखण्ड के अन्तर्गत आप लोक उद्यमों के महत्व को आसानी से समझ सकेंगे। लोक उद्यम का महत्व किसी भी देश या अर्थव्यवसथा के लिये एक अलग रूप में ही देखा गया है। इसे निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

1. **अर्थव्यवस्था पर वास्तविक नियंत्रण** : लोक उद्यम तथा अर्थव्यवस्था पर वास्तविक नियंत्रण दोनों का अन्तर्सम्बन्ध अत्यन्त सीधा तथा जटिल भी है। सामान्य रूप से लोक उद्यम किसी अर्थव्यवस्था में होने वाले आर्थिक उतार चढ़ावों तथा अन्य मूल्यात्मक अप्रत्याशित परिवर्तनों पर पूर्ण नियंत्रण करने में अत्यन्त ही सार्थक सिद्ध हुए हैं। प्रायः निजी उद्यमों का उद्देश्य भी जनता को सामान्य रूप से जीवन यापन करने की व्यवस्थाओं से जुड़ा हुआ है। लोक उद्यमों का उत्पादन किसी भी स्तर पर अर्थव्यवस्था में आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न नहीं कर सकता जब तक कि निजी क्षेत्र द्वारा किसी भी प्रकार की अवरोधात्मक स्थितियाँ पैदा न की जायें।

   अर्थव्यवस्थाओं के मध्य निजी उद्यमियों एवं सरकार के मध्य आर्थिक स्तर पर सामंजस्य स्थापित हो सकता है लेकिन दोनों क्षेत्रों के उद्यमों के अन्तर्गत उद्देश्यों के मध्य एकरूपता पैदा नहीं की जा सकती। इसी लिये जिनी क्षेत्र द्वारा पैदा होने वाली विकृतियों को लोक उद्यमों के द्वारा ही नियंत्रित किया जा सकता है। जिसे आप सभी अर्थव्यवस्थाओं के मध्य सामान्य रूप से देख सकते हैं।

2. **सामरिक दृष्टि से औचित्यपूर्ण** : सामरिक सुरक्षा सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लोक उद्यमों के महत्व को औचित्यपूर्ण ठहराया जाता है। देशों की आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा की जिम्मेदारी एवं सम्बन्धित उद्योगों का संचालन प्राचीनकाल से ही सरकारों के नियंत्रण में रहा है। निजी क्षेत्र की लाभदयकता की लालसा तथा अति महत्वाकांक्षी प्रवृत्ति होने के कारण सामरिक सम्बन्धी क्षेत्र में इसका प्रवेश उचित नहीं ठहराया जा सकता है। इसके साथ किसी भी देश की सरकार युद्ध सामग्री, जैसे अस्त्र, शस्त्र, टैंक, वायुयान, जलयान, गोलाबारूद आदि के लिये निजी क्षेत्र के उद्यमों पर निर्भर रहकर राष्ट्र की सुरक्षा सम्बन्धी क्रियाकलापों का उचित संचालन नहीं कर सकती। देश की सुरक्षा सम्बन्धी नीतियों एवं कार्यक्रमों में गोपनीयता बनाये रखना भी अति महत्वपूर्ण है जो सार्वजनिक उद्यमों द्वारा ही सम्भव हो सकती है।

   इसके साथ यह भी तर्क दिया जा सकता है कि देश की सुरक्षा सम्बन्धी उपक्रमों पर भारी मात्रा में धनराशि व्यय तथा निवेश करनी पड़ती है तथा उसका प्रतिफल व्यक्तिगत हितों के लिये नहीं किया जा सकता है। इसीलिये इतनी बड़ी राशि का निवेश निजी क्षेत्र के उद्यमों में करना सामर्थ्य के अन्तर्गत नहीं आता है तथा

सरकारी नीयितों की गोपनीयता भी भंग होती है। आपको विदित हो कि पिछले गत वर्षों में सामरिक दृष्टि की रक्षा सामग्री के विक्रय–क्रय में निजी क्षेत्र की सहभागिता के प्रयासों के कारण अनेक प्रकार की वित्तीय अनियमितता पैदा हुईं। इसके साथ सामरिक मामलों में गुणवत्ता का भी ह्रास हुआ है। अतः सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के अन्तर्गत ऐसे उत्पादन का औचित्य ठहराया जा सकता है। देश की सुरक्षा का सम्बन्ध व्यक्तिगत न होकर आम जनता के हितों की रक्षा से है। अतः यहाँ पर आर्थिक लाभदायकता का तर्क भी नहीं दिया जा सकता है।

3. **प्राकृतिक सुरक्षा सम्बन्धी महत्व** : किसी भी देश के अन्दर लोक उद्यमों का महत्व इसलिये और बढ़ जाता है कि ये उद्यम प्राकृतिक दृष्टि से भी सुरक्षात्मक माने गये हैं। देश के अन्दर निर्मित एवं संचालित होने वाली नीतियों एवं कार्यक्रमों के अन्तर्गत देश में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा एवं प्राकृतिक वातावरण की अभिरक्षा को प्राथमिकता दी जाती है। यहाँ तक कि सरकारों के अनेक उपक्रम प्राकृतिक सुरक्षा सम्बन्धी उद्देश्यों के लिये ही स्थापित किये गये हैं तथा उनका संचालन पूर्ण रूप से सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत है। आपको यहाँ पर ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है कि निजी क्षेत्र के उद्यमों के सम्बन्ध में प्राकृतिक सुरक्षा के तर्क को प्राथमिकता नहीं दी जाती है। प्राकृतिक संसाधनों का विदोहन निजी क्षेत्र द्वारा जनता के हितों को देखकर नहीं किया जा सकता है। यहाँ पर केवल लाभ की दर तथा न्यूनतम लागत की अवधारणाओं को महत्व दिया जाता है।

   देश के अन्तर्गत प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध खनिज, वन, जल, मृदा आदि प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग पर सरकारी नियंत्रण को उचित ठहराया गया है ताकि इनका प्रयोग देश के हित में तथा दीर्घकालीन परिणामों को ध्यान में रखकर किया जा सके। देश में प्राकृतिक संसाधनों की सीमितता को देखते हुए यह भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि इन संसाधनों का प्रयोग मितव्ययतापूर्ण ही किया जाय। इन प्राकृतिक संसाधनों पर व्यक्तिगत नियंत्रण प्रदान किया जाय तो इनका संरक्षण अत्यन्त ही कठिन होगा तथा इनका दुरूपयोग व्यक्तिगत हितों के लिये किया जायेगा जिससे इसका लाभ आम जनता को एवं सार्वजनिक रूप से नहीं मिल सकेगा।

4. **आर्थिक असमानता कम करने में सहायक** : जहाँ एक ओर लोक उद्यम समाजवाद की ओर इंगित करता है वहीं आर्थिक असमानताओं को कम करने में लोक उद्यम महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। पूंजीवादी तथा मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं के अन्तर्गत निजी क्षेत्र निरन्तर विस्तार की ओर बढ़ा है जिससे पूँजीवादी ताकतों के पक्ष में धन या पूँजी का केन्द्रीयकरण हुआ है जिससे गरीबों तथा अमीरों के बीच अन्तर बढ़ा है। लोक उद्यम इस अन्तर को कम करने का एक साक्त माध्यम के रूप में देखा गया है। लोक उद्यमों काक संचालन सामाजिक हितों अथवा कल्याण की भावना पर आधारित किया गया है। इसके संचालन में गरीब एवं अमीर सभी वर्गों के सहयोग की आवश्यकता को महसूस किया गया है। इसके साथ लोकउद्यमों के संचालन से गरीब तथा निर्धन वर्ग को अनेक सुविधाएँ तथा वस्तुएँ उचित मूल्य पर रियायतों के साथ उपलब्ध सम्भव हो सकती हैं। लोक उद्यमों की उपस्थिति में वस्तुओं एवं सेवाओं का क्रत्रिम अभाव पैदा नहीं किया जा सकता है।

आपको पूर्व में विदित हो कि पूंजीवादी ताकतें अर्थव्यवस्था में एकाधिकाकर की प्रवृत्ति को बढ़ाती हैं जिससे अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार की बनावटी समस्याएँ पैदा की जाती हैं जिससे गरीब तथा मध्यम वर्ग के साथ शोषणात्मक अन्याय किया जाता है। एकाधिकारी शक्तियों पर नियंत्रण करके लोक उद्यम एक देश की जनता के हितों की रक्षा करने में सक्षम हो सकते हैं। वर्तमान में विकासशील तथा पिछड़े देश आर्थिक असमातनाओं का शिकार हैं जिससे इन देशों के सभी वर्गों के कल्याण के लिये लोक उद्यम की भूमिका महत्वपूर्ण रूप में अंकित की गयी है।

5. **निजी उद्यम की पहुँच से बाहर वाले क्षेत्रों में महत्व :** लोक उद्यमों का महत्व ऐसी स्थिति में और अधिक बढ़ जाता है जब कुछ क्षेत्रों में निजी क्षेत्र के उद्यमों का प्रवेश किसी भी स्थिति में न तो सम्भव है और न ही इसके प्रवेश की इजाजत दी जा सकती है। करेंसी, सिक्का निर्माण और टकसाल अनिवार्य रूप से सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत ही सम्भव है। इसी प्रकार रक्षा सम्बन्धी शोध कार्य एवं विकास सम्बन्धी कार्य को सार्वजनिक उद्यमों के अन्तर्गत ही कार्यशील किया जा सकता है। इसके अनतर्गत हानिकारक पदार्थों के उत्पादन एवं वितरण पर भी लोक उद्यमों का नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

   भारत के संदर्भ में आप देखते हैं कि सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली विकृतियाँ लोक उद्यमों के स्थान पर निजी उद्यमों के विस्तार एवं अनावश्यक महतव देने का परिणाम ही है। दूसरी ओ निजी उद्यम किसी भी सामाजिक हानियों की परवाह किये बिना लाभ अर्जन में पीछे नहीं रह सकता है। इसके साथ प्रशासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था तथा कानून व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में लोक उद्यमों की महत्ता को कम करके नहीं आंका जा सकता है। इन क्षेत्रों में निजी उद्यमों को बढ़ावा देने या महत्व देने से राष्ट्रीय सम्पत्ति या हितों की हानि की पूर्ण सम्भावना व्यक्त की गयी है।

6. **राजस्व प्राप्ति के तरीके :** यद्यपि लोक उद्यमों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये किया गया है लेकिन वृहद स्तर तथा कुछ विशेष स्तर के उद्यमों से सरकार को राजस्व की भी प्राप्ति होती है जिससे सरकार को सार्वजनिक कार्यों के क्रियान्वयन में सहायता मिलती है। यद्यपि भारत के संदर्भ में देखा जाय तो कुछ लोक उद्यम लाभ की स्थिति में हैं तथा कुछ का संचालन घाटे में है। रेलवे, बैंकिंग आदि लोक उद्यम सरकार को राजस्व प्राप्ति में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं जबकि परिवहन तथा सामाजिक सेवा सम्बन्धी उद्यम घाटे का सामना कर रहे हैं। सरकार को बजट के अन्तर्गत कर राजस्व तथा गैर कर राजस्व की प्राप्ति अनेक स्रोतों से करती है। लोक उद्यमों के द्वारा गैर–कर राजस्व मुख्यतः प्राप्त किया जाता है इसके साथ इन उद्यमों से सम्बन्धित उद्यमों तथा सेवाओं पर कर लगाकर कर–राजस्व की भी प्राप्ति करती है।

7. **आर्थिक विकास के लिये आधार :** आपको यहाँ पर यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि किसी भी देश के संतुलित एवं संतुलि विकास के लिये लोक उद्यम अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस प्रकार लोक उद्यमों /उपक्रमों को आर्थिक विकास का आधार कहा जा सकता है। लोक उद्यमों की स्थाप7प एवं संचालन उन क्षेत्रों में भी सम्भव है जहाँ पर निजी क्षेत्र की सुविधाओं का पहुँचना असम्भव है। निजी क्षेत्र में

उद्यमों की स्थापना एवं संचालन में लागत तथा आधारभूत सुविधाओं का ध्यान रखना होता है जबकि सार्वजनिक उद्यमों की स्थापना में उस क्षेत्र के निवासियों एवं क्षेत्र के भौतिक विकास के उद्देश्य को प्राथमिकता दी जाती है। वर्तमान में यह देखा जा सकता है कि निजी क्षेत्र के उद्यमों के विकास में लोक उद्यमों की सुविधाओं का प्रयोग एक बड़े स्तर पर किया जा रहा है। इस प्रकार लोक उद्यम देश के सर्वांगीण एवं संतुलित विकास के साथ निजी उद्यमों के लिये भी आधार का कार्य करता है। विद्युत, सड़क परिवहन, रेलपरिवहन, शुद्ध पानी, पर्यावरण तथा अन्य महत्वपूर्ण सुविधायें सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा निजी उद्यमों के लिये उपलब्ध करायी गयी हैं।

13.4.2 लोक उद्यमों की उपयोगिता

आपको यह भी स्पष्ट होना अत्यन्त आवश्यक समझा गया है कि लोक उद्यमों की क्या उपयोगिता है। लोक उद्यमों की उपयोगिता को निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर आसानी से समझाया जा सकता है।

1. जहाँ तक लोक उद्यमों की उपयोगिता का सम्बन्ध है, इन उद्यमों की उपयोगिता का पूर्ण एवं सही रूप में आंकलन करना इतना आसान नहीं है। इन उद्यमों की उपायोगिता का आंकलन इन उद्यमों की कार्यक्षमता तथा उत्पादन क्षमता की मात्रा पर निर्भर किया जाता है। यदि लोक उद्यमों का संचालन पूर्ण कुशलता के साथ किया जाये तो समाज के कल्याण को एक बढ़ी सीमा तक बढ़ाया जा सकता है तथा समाज इन उद्यमों के वास्तविक उद्देश्यों के नजदीक पहुँच सकता है। यहाँ पर आपको यह समझना अत्यनत आवश्यक होगा कि लोक उद्यमों की उपयोगिता का सम्बन्धकेवल वर्तमान समयावधि तक ही सीमित नहीं किया जा सकता बल्कि सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों की प्रकृति के आधार पर इन उद्यमों का क्रियान्वयन भविष्य के लिये भी सामाजिक एवं आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इसके विपरीत इन उद्यमों को सरकार की गलत नीतियों के साथ जोड़ा जाय तो राष्ट्रीय हितों के लिये उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते।
2. लोक उद्यमों की उपयोगिता का अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि इन उद्यमों का विभिन्न अवधियों में किसी देश के अन्दर जनता का किस रूप में विकास हुआ है। एक ओर इन उद्यमों के भौतिक निष्पादन के साथ इनकी उपयेागिता को जोड़ा जाता है वहीं अनेक ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जो लोक उद्यमों के बिल्कुल विपरीत होने पर भी उनकी सफलता लोक उद्यमों की उपयोगिता पर निर्भर करती है।
3. लोक उद्यमों की उपयेागिता का आंकलन इस बात से भी लगाया जा सकता है कि इनके उपयोगिता का प्रभाव प्रसरणात्मक होता है जिससे निजी क्षेत्र के उद्यम भी इन लोक उद्यमों की उपयेागिताओं का उपयोग करने में पीछे नहीं हैं। विकासशील तथा पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में भी लोक उद्यमों की उपयोगिता का उपयोग जनता के साथ पूंजीवादी वर्ग द्वारा भी सामान्य तथा अनिवार्य रूप से किया जा रहा है।
4. एक बार लोक उद्यमों की उपयोगिता का उपयोग करने के बाद नये विकसित सार्वजनिक तथा निजी उद्यमों को लोक उद्यमों के महत्व के विपरीत नहीं देखा जा सकता। भारत में पूँजीवादी ताकतों द्वारा न्याय, शान्ति, सुरक्षा एवं अन्य महत्वपूर्ण सुविधाओं का लाभ लेते हुए ही विदेशी एवं स्वदेशी पूँजीवादियों ने विभिन्न क्षेत्रों में सफलतायें प्राप्त की हैं।

5. सामान्य रूप से यह देखा गया कि लोक उद्यमों की उपयोगिता का प्रयोग उसी देश के लिये अधिक महत्वपूर्ण है। लोक उद्यमों की उपयोगिताओं का उच्च स्तर सरकार के आर्थिक तथा सामाजिक दवि को भी इंगित करता है। वर्तमान में विकसित तथा पिछड़े देशों में अनेक प्रकाकर की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं को देखा जा रहा है। लोक उद्यमों की उपयोगिता का अलग–अलग तथा विभिन्न दिशाओं में जो आंकलन किया गया है उसी के परिणाम स्वरूप अलग–अलग राष्ट्रों में विभिन्न प्रकार की समस्यायें विद्यमान हैं।

13.5 भारत में लोक उद्यम

भारत में लोक उद्यम की स्थिति को स्वतंत्रता के बाद से विस्तारात्मक रूप दिया गया है। 1956 की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत लोक उद्यमों के विकास एवं विस्तार के सार्थक प्रयास किये गये। प्रारम्भ में निजी क्षेत्र की उद्यम स्थापित करने एवं संचाति करने की क्ष्माता कम थी। इसके साथ जनता की आवश्यकताओं के आधार पर लोक उद्यम की महत्ता और बढ़ गयी थी। 1980 के दशक में लोक उद्यमों में पनपी बुराइयों ने लोक उद्यमों को एक झटका दिया तथा सरकार का ध्यान निजी क्षेत्र की सहभागिता की ओर गया। 1990–91 में आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के अन्तर्गत लोक उद्यमों के क्षेत्र, प्रकृति एवं दिशा को ही परिवर्तित कर दिया। स्वतंत्रता के बाद से सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की संख्या तथा विनियोग की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हुई। लेकिन सन् 90 के दशक में लोक उद्यमों का विनिवेश प्रारम्भ किया गया। वर्तमान में सुरक्षा, परमाणु जैसे महत्वपूर्ण 5 मदों को लोक उद्यमों के लिये आरक्षित किया गया है तथा अन्य अनारक्षित क्षेत्रों के अन्तर्गत लोक उद्यम संचालित हैं। जिन्हें निजी क्षेत्र के साथ स्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है, वहीं दूसरी ओर ये लोक उद्यम निजी क्षेत्र की एकाधिकारी शक्तियों को पनपने में सहायक सिद्ध हुए हैं। इसके साथ गरीबी, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, क्षेत्रीय असन्तुलन जैसी समस्याओं के निराकरण के लिये भी भारत में लोक उद्यमों की महत्ता वर्तमान में बनी हुई है।

लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास की जिम्मेदारी वहन करते हुए केन्द्रीय सरकार ने इन उद्यमों के विकास के लिए एक अलग विभाग की स्थापना की है। इस विभाग के निर्देशन और परामर्श के लिए एक अखिल भारतीय कुटीर उद्योग बोर्ड स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त सरकार ने इन उद्योगों को सरकारी सहायता और प्रोत्साहन सुलभ कराने के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की है। इनमें प्रमुख हैं – अखिल भारतीय हथकरघा एवं दस्तकारी बोर्ड, अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम, लघु उद्योग विकास बोर्ड, जिला उद्योग केन्द्र आदि। ये संस्थाएँ लघु एवं कुटीर उद्योगों की विविध तथा विशिष्ट जरूरतों को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ एवं दिशा निर्देश प्रदान करती हैं। प्रान्तीय सरकारों ने भी अपने–अपने क्षेत्रों में इन उद्योगों के विकास हेतु अनेक संस्थाओं की स्थापना की है।

लघु एवं कुटीर उद्योगों को पूँजी तथा अन्य आर्थिक सहायता प्रदान करने के क्षेत्र में भी सरकार ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राज्य सरकारों ने राज्य उद्योग सहायता अधिनियमों के अन्तर्गत इन उद्योगों के लिए ऋण सुविधाओं को काफी बढ़ा दिया है। अब इन उद्योगों को अपेक्षाकृत अधिक आसान शर्तों पर सहजता से राज्य सरकारों द्वारा ऋण उपलब्ध कराया जाने लगा है। आजकल इन संस्थाओं को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, राष्ट्रीय लघु उद्योग

निगम, राज्य वित्त निगम, सहकारी एवं व्यापारिक बैंकों तथा राज्य सरकारों द्वारा वित्तीय सुविधा उपलब्ध कराई जाती है। 1 जुलाई, 1990 से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा भी गारण्टी योजना लागू की गई है। इसके अतिरिक्त कुटीर एवं लघु उद्योगों को ऋण प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना की गई है।

कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के विपणन में भी सरकार सहायता करती है। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा विशिष्ट निगमों द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री के लिए स्थान–स्थान पर शोरूम अथवा इम्पोरियम स्थापित किये गये हैं। इनके माध्यम से देशी एवं विदेशी बाजारों में माल बेचे जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में सरकारी विपणन समितियों एवं विपणन संघों की स्थापना की गई है। एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की गई है जो इन उद्योगों से माल प्राप्त करके सरकार एवं अन्य सरकारी विभागों तथा समितियों को बेचती हैं। इससे उचित मूल्य पर वस्तुएँ उपभोक्ताओं तक पहुँच जाती हैं। 401 ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें सरकार केवल लघु उद्योगों से ही खरीदती है। इसके साथ ही यह राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम विदेशों से भी ऑडर्र प्राप्त करने का प्रयास करता है। देश–विदेश में लघु उद्योगों द्वारा तैयार किये गये माल की खपत बढ़ाने के अतिरिक्त यह निगम ऑर्डर के अनुसार माल बनाने के लिये लघु उद्योगों को पूँजी व तकनीकी सहायता देने की व्यवस्था करता है। यह लघु उद्योगों को सुविधाजनक एवं उदार शर्तों पर मशीनें एवं अन्य साज–सामान दिलाने का भी प्रबन्ध करता है। इसके साथ निगम प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करता है।

सरकार द्वारा लघु उद्योगों को पर्याप्त तकनीकी सहायता प्रदान की जाती है। इसके लिये वर्ष 1954 में लघु उद्योग विकास संगठन की स्थापना की गई है जिसके अन्तर्गत 30 लघु उद्योग सेवा संस्थान, 28 शाखा संस्थान तथा 4 क्षेत्रीय प्रशिक्षण केन्द्र, 7 फील्ड परीक्षक केन्द्र, 6 प्रक्रिया एवं उत्पाद विकास केन्द्र, 2 विशिष्ट प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये हैं। सरकार द्वारा विदेशों में प्रशिक्षण हेतु उद्यमियों को भेजा जाता है तथा विदेशी विशेषज्ञों को भी भारत में प्रशिक्षण देने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। केन्द्रीय लघु उद्योग संगठन द्वारा नियमित रूप से विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाये जाते हैं। इस संगठन ने लघु उद्योगों को विभिन्न औद्योगिक कार्यों के लिये वर्कशाप तथा माल की जांच के लिये प्रयोगशाला की सुविधायें देने का प्रबन्ध किया है।

13.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई लोक उद्यमों के प्रकारों, महत्व तथा उनकी उपयोगिता को भलीभांति समझाने के लिये अत्यन्त ही सार्थक रही है। लोक उद्यमों का तात्पर्य ऐसे उद्यमों से है जिन पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सरकार का स्वामित्व एवं नियंत्रण पाया जाता है। लोक उद्यमों को स्वामित्व एवं नियन्त्रण, उद्देश्य, विभाग, प्रकृति तथा शासकीय आधार पर अनेक प्रकारों में विभाजित किया गया है। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में लोक उद्यमों का महत्वपूर्ण स्थान है। पूँजीवादी देशों में वृहद आकार के लोक उद्यम सफलतापूर्वक संचालित हैं। लोक उद्यम अर्थव्यवस्था पर वास्तविक नियंत्रण करने तथा सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माने गये हैं। प्राकृतिक सुरक्षा तथा आर्थिक असमानता की समस्या का समाधान करने में भी लोक उद्यमों की भूमिका को कम नहीं आंका जा सकता है। ऐसे क्षेत्रों में भी लोक उद्यम महत्वपूर्ण भूमिका में हैं जहाँ निजी क्षेत्र की पहुँच दुर्लभ है। देश के सन्तुलित विकास एवं राजस्व

प्राप्ति में भी लोक उद्यम महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में लोक उद्यमों की उपयोगिता का आंकलन एवं उसका प्रयोग अलग–अलग स्तर पर किया गया है। भारत में लोक उद्यमों का विकास क्रमिक हुआ तथा कुछ महत्वपूर्ण कमजोरियों के आधार पर लोक उद्यमों के क्षेत्र तथा स्वरूप को सीमित किया गया है जिसे भारतीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता समझा गया है।

13.7 शब्दावली

1. **समाजवादी अर्थव्यवस्था** – वह अर्थव्यवस्था जिसमें उत्पत्ति के साधनों पर सरकार या लोकसत्ताओं का स्वामित्व होता है।
2. **पूंजीवादी अर्थव्यवस्था** – वह अर्थव्यवस्था जिसमें साधनों पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व होता है।
3. **उपयोगिता** – वस्तु एवं सेवा में निहित क्षमता जिससे व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति होती है।
4. **आर्थिक अस्थिरता** – अर्थव्यवस्था में आने वाले आर्थिक उतार–चढ़ाव।
5. **सामरिक** – युद्ध सम्बन्धी।
6. **प्राकृतिक संसाधन** – प्रकृति द्वारा प्रदत्त संसाधन जैसे – वायु, जल, मिट्टी, वृक्ष आदि।
7. **एकाधिकार** – उत्पादन पर एक फर्म या उत्पादक का अधिकार।

13.8 अभ्यास प्रश्न

प्र.1निम्नलिखित प्रष्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिए?

(i) लोक उद्यम किसे कहते हैं?

(ii) लोक उद्यम कितने प्रकार के होते हैं?

(iii) लोक उद्यम की चार उपयोगिता बताओ?

(iv) भारत में लोक उद्यमों के प्रमुख क्षेत्रों के नाम बताओ?

प्र.2निम्नलिखित वाक्यों में से 'सत्य' अथवा 'असत्य' का चयन कीजिए?

(i) लोक उद्यम पूंजीवाद के प्रतीक हैं।

(ii) भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए लोक उद्यम उपयोगी हैं।

(iii) लोक उद्यमों पर सार्वजनिक नियंत्रण पाया जाता है।

(iv) भारत के अधिकांष लोक कउद्यम घाटे का षिकार रहे हैं।

प्र.3निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त पूर्ति कीजिए?

(i) आरक्षित उद्योग ही ––––– के पूर्ण अधीन होते हैं। (सरकार/पूंजीपति)

(ii) वाणिज्यिक उद्यमों का सम्बन्ध ––––– से है। (लोकसत्ता/लाभार्जन)

(iii) लोक उद्योग सामरिक दृष्टि से ––––––– हैं। (औचित्यपूर्ण/अर्थहीन)

(iv) लोक उद्यम आर्थिक ––––– को कम करते हैं। (समानता/असमानता)

प्र.4नीचे दिये गये सूची स्तम्भों में सही जोड़ों का मिलान कीजिए?

	क	ख
(i)	आर्थिक सुधार	लोक सत्तायें
(ii)	युद्धसामग्री	सेवा उद्यम

(iii)	पर्यावरण सुरक्षा	आरक्षित
(iv)	षिक्षण संस्था	1990–91

प्र.5 भारत में लोक उद्यम तथा निजी उद्यमों की अलग–अलग सूचियाँ बनाइये?

13.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. दत्त, रुद्र एवं के0पी0एम0 सुन्दरम (2010), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, एस0 चन्द एण्ड कं0 लिमिटेड, नई दिल्ली।
2. भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
3. पंत, जे0सी0 (2005), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाषक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
4. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997), ***राजस्व*** (Public Finance), साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, हास्पीटल रोड, आगरा।

13.10 सहायक / उपयोगी ग्रन्थ

1. पुरी एवं मिश्रा (2011), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, हिमालय पब्लिषिंग हाउस, नई दिल्ली।
2. सेठी, टी0टी0 (2005), ***मुद्रा बैंकिंग एवं लोकवित्त***, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक विक्रेता एवं प्रकाषन, आगरा।
3. मिश्र, जगदीष नारायण (2010), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाषक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।

13.11 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 लोक उद्यमों से आपका क्या आषय है तथा ये कितने प्रकार के हो सकते हैं?

प्र.2 लोक उद्यमों का किसी अर्थव्यवस्था में क्या महत्व है? स्पष्ट कीजिए?

प्र.3 लोक उद्यम किस सीमा तक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं? स्पष्टीकरण दीजिए?

प्र.4 भारत में लोक द्यमों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए?

हल

1. प्रश्न संख्या 01 के हल के लिए बिन्दु संख्या 13.3 तथा 13.3.1 का अवलोकन करें।
2. प्रश्न संख्या 02 के हल के लिए बिन्दु संख्या 13.4.1 का अवलोकन करें।
3. प्रश्न संख्या 03 के हल के लिए बिन्दु संख्या 13.4.2 का अवलोकन करें।
4. प्रश्न संख्या 04 के हल के लिए बिन्दु संख्या 13.5 का अवलोकन करें।

इकाई 14 लोक उद्यमों की कीमत नीति, प्रबन्धित कीमतें एवं आधिक्य सृजन

इकाई संरचना

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 लोक उद्यमों की कीमत नीति

14.3.1 कीमत नीति के आधारभूत तत्व

14.3.2 कीमत नीति के मुख्य सिद्धान्त

14.4 लोक उद्यम एवं प्रबन्धित कीमतें

14.4.1 प्रबन्धित कीमत सम्बन्धी समस्यायें

14.5 लोक उद्यम एवं आधिक्य सृजन

14.6 सारांश

14.7 शब्दावली

14.8 अभ्यास प्रश्न

14.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

14.10 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

14.11 निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

लोक उद्यम खण्ड के अन्तर्गत यह चौदहवीं इकाई है जो 'लोक उद्यमों की कीमत, नीति, प्रबन्धित कीमतें एवं आधिक्य सृजन' पर आधारित की गयी है। इससे पूर्व की इकाई के अन्तर्गत आपने लोक उद्यमों के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन किया है। सामान्यतः यह देखा गया है कि अर्थव्यवस्था में लोक उद्यम तथा निजी उद्यम के सहअस्तित्व में दोनों ही प्रकार के उद्यमों के सामने कीमत सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इसके पीछे मुख्य तथ्य यह है कि दोनों ही प्रकारों के उद्यमों की स्थापना के उद्देश्यों में आधारभूत अन्तर पाया जाता है।

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत लोक उद्यमों की कीमत नीति को स्पष्ट किया गया है जो मुख्य रूप से अनेक प्रकार के सिद्धान्तों पर आधारित की जा सकती है। लोक उद्यमों को आवश्यकतानुसार लोक उद्यम वाली वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों को निर्धारित करने के साथ प्रबन्धित भी करना होता है जो सामाजिक न्याय एवं कल्याण के लिये अत्यन्त आवश्यक होती है। लोक उद्यमों की कीमतें प्रबन्धित करने के लिये अनेक प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। इसके साथ प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत लोक उद्यमों के अन्तर्गत आधिक्य सृजन को भी स्पष्ट किया गया है जो इन उद्यमों के आकार एवं प्रकृति पर निर्भर करती है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन आप आगे अलग–अलग खण्डों एवं उपखण्डों के अन्तर्गत कर सकेंगे।

14.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन आपके लिये अत्यन्त ही लाभदायक सिद्ध होगा। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे कि :–

(i) लोक उद्यमों की कीमत नीतियाँ क्या हैं तथा ये किसक प्रकार निर्धारित की जाती हैं। लोक उद्यमों की कीमत नीति के निर्धारण में किन तत्त्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(ii) लोक उद्यमों की कीमत नीति से सम्बन्धित मुख्य रूप से कौन–कौन से सिद्धान्त हैं जो इन उद्यमों की कीमत नीति का आधार बनाये जाते हैं।

(iii) लोक उद्यमों की प्रबन्धित कीमतें क्या हैं तथा इनकी क्या आवश्यकता होती है एवं इनके निर्धारण में क्या कठिनाइयाँ हैं जो सरकार को सहन करनी होती हैं।

(iv) लोक उद्यमों में आधिक्य सृजन किस प्रकार उत्पन्न होता है तथा इसकी अर्थव्यवस्था के लिये क्या प्रासंगिकता मानी गयी है।

14.3 लोक उद्यमों की कीमत नीति

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि लोक उद्यमों तथा निजी उद्यमों के उद्देश्यों में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। इसीलिये लोक उद्यमों को अपनी वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों का निर्धारण करते समय निजी क्षेत्र की कीमतों को भी ध्यान में रखना होता है।

लोक उद्यमों की कीमत नीति के अन्तर्गत इस तथ्य को स्वीकार किया जाता है कि लोक वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों का निर्धारण किस स्तर पर किया जाय ताकि लोक उद्यमों के निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता मिल सके। इसके साथ कीमत नीति में सरकार के उस प्रयास को भी शामिल किया जाता है कि लोक उद्यमों की वस्तुओं

एवं सेवाओं की कीमतों का स्तर समाज को न्यूनतम त्याग का अनुभव कराये तथा निजी क्षेत्र की कीमत नीति के साथ भी किसी भी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करने में सहायता मिल सके।

सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों का निर्धारण एक समय पर निजी वस्तुओं एवं सेवाओं क कीमतों के समान भी हो सकता है तथा किसी समय विशेष या परिस्थिति में निजी क्षेत्र की शोषणात्मक कीमत नीति के प्रभाव को कम करने के लिए भी किया जा सकता है। सामान्यतः लोक उद्यमों की कीमत नीति का निर्धारण करना कोई साधारण कार्य नहीं है। इसके निर्धारण में अनेक महत्वपूर्ण कारकों एवं तथ्यों को शामिल किया जा सकता है।

14.3.1 कीमत नीति के आधारभूत तत्त्व

लोक उद्यमों की कीमत नीति का निर्धारण करते समय जिन मुख्य आधारभूत तत्त्वों को ध्यान में रखा जाता है। उनके बारे में भी आपको पर्याप्त जानकारी होना आवश्यक है। लोक उद्यमों की कीमत नीति के निर्माण के आधारभूत तत्त्व निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किये जा सकते हैं :–

1. लोक उद्यमों कीमत नीति का आधारभूत मुख्य तत्त्व उस देश की बाजार व्यवस्था है। सम्बन्धित अर्थ व्यवस्था की प्रकृति कैसी है? विकसित देशों के अन्दर लोक उद्यमों कीमतें, विकासशील देशों के लोक उद्यमों की कीमत नीति में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इसके साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि उस अर्थव्यवस्था में निजी उद्यमों की क्या स्थिति है। सरकार का रवैया निजी उद्यमों के प्रति कैसा है तथा लोक उद्यमों की निजी उद्यमों से क्या समानतायें एवं असमानतायें हैं? यदि लोक उद्यम तथा निजी उद्यम में अधिक समानतायें हैं तो कीमत नीति निजी उद्यमों की कीमत नीति से काफी नजदीक होगी। यदि अर्थव्यवस्था में थोक उद्यमों की एकाधिकार की प्रवृत्ति है तो लोक उद्यमों की कीमत नीति स्वतंत्र रूप में निर्मित होगी जो निजी क्षेत्र की कीमत नीति से काफी भिन्न होगी। सामान्य रूप से माँग व पूर्ति को ध्यान में रखकर सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये ही लोक उद्यमों की कीमत का निर्धारण किया जाता है।
2. लोक उद्यमों की कीमत नीति के निर्धारण में लोक उद्यमों की कार्यकुशलता का भी पर्याप्त ध्यान रखा जाता है। सामान्य रूप से यह मान्यता दी जाती है कि लोक उद्यमों की अपेक्षा निजी उद्यमों की कार्यकुशलता अधिक होती है। लेकिन दोनों प्रकार के उद्देश्यों में अन्तर होने के कारण ऐसा पाया जाना सम्भव होता है। लोक उद्यम के अन्तर्गत कार्यरत कर्मचारियों एवं अधिकारियों की सामाजिक सुरक्षा एवं अन्य वित्तीय सुविधाओं एवं उनके शोषण उन्मूलन आदि का भी पर्याप्त ध्यान रखा जाता है जिसका लोक उद्यमों की कीमत नीति पर पर्याप्त प्रभाव होता है। इसके साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि लोक उद्यमों से प्रापत आय का प्रयोग किस सरकारी कार्य में किया जायेगा। सामाजिक व आर्थिक सेवाओं के क्षेत्र में स्थापित लोक कउद्यम की कीमत नीति तथा व्यापारिक एवं वाणिज्यिक उद्देश्यों से स्थापित लोक उद्यमों की कीमत नीति में पर्याप्त अन्तर पाया जायेगा।

3. लोक उद्यम नीति का एक अन्य महत्वपूर्ण आधार यह भी पाया गया कि वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग का सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा अनुमान लगाया जाता है तथा इसी अनुमान पर कीमत नीति का निर्धारण किया जाता है। इसके विपरीत निजी उद्यम द्वारा मांग का अनुमान लगाने के साथ मांग को पैदा करने का भी प्रयास किया जाता है। ऐसी स्थिति में दोनों क्षेत्रों के उद्यमों की कीमत नीति की तुलना करना एक निरर्थक प्रयास ही कहा जायेगा।
4. राजनैतिक सरकाकरों की प्राथमिकतायें एवं लक्ष्य भी लोक उद्यमों की कीमत नीतियों के एक भाग ही कहे जा सकते हैं। सरकाकरों की प्राथमिकताओं एवं लक्ष्यों में परिस्थितियों एवं समयानुसार आवश्यकत परिवर्तन होते रहते हैं जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा, चुनावी वातावरण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक गतिविधियाँ आदि की स्थितियाँ। इस प्रकार की गतिविधियों का लोक उद्यमों की कीमत नीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है जिसके कारण इन तथ्यों को कीमत नीति का आधार बनाया जाता है।
5. देश की सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं की दशाओं के आधार पर भी लोक उद्यमों की कीमत नीति को निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है। भारत जैसे देश में गरीब तथा बेरोजगार एवं मध्यमवर्ग को आवश्यक सुविधायें मुहैया कराने के लिये लोक उद्यमों की कीमत नीति को लचीला बनाया जाता है।
6. अर्थशास्त्रियों द्वारा लोक उद्यमों की कीमत नीति के निर्धारण में वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग–पूर्ति की लोच का भी ध्यान रखा जाता है। इसके साथ जनता में सन्तोष तथा असन्तोष आदि को भी प्राथकिकता के स्तर पर रखा जाता है। कीमत नीति में लचीलेपन के अभाव के कारण जनता में आन्दोलन तथा अविश्वास की भावना भी पैदा होने का डर रहता है। ये तत्त्व कीमत नीति को सीधे रूप से प्रभावित करते हैं।

14.3.2 कीमत नीति के मुख्य सिद्धान्त

लोक उद्यमों की कीमत नीति के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के बाद आप प्रो0 डाल्टन द्वारा दिये गये कीमत नीति के मुख्य सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। सामान्यतः डॉल्टन के तीन सिद्धान्तों को लोक उद्यमों की कीमत नीति का आधार माना जाता है।

1. **अनिवार्य सेवा लागत सिद्धान्त :** अनिवार्य सेवा लागत सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित किया गया है कि लोक उद्यमों द्वारा उपलब्ध करायी जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं पर उठायी गयी लागत को अनिवार्य रूप से उपभोक्ताओं द्वारा बसूल लेना चाहिये। इस सिद्धान्त में यह मान्यता की गयी है कि वस्तुओं एवं सेवाओं का उपयोग करने वाले उपभोक्ताओं के बारे में सरकार को पूर्ण जानकारी होती है। इसीलिये इन पहचान किये गये उपभोक्ताओं से सेवा की लागत को बसूल लिया जाता है। भले ही उपभोक्ता इस सेवा एवं वस्तुओं के उपभोग से दूर रहने की भले ही कोशिश करें। सरकार का तर्क यह रहता है कि सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं से जो व्यक्ति लाभान्वित होंगे उनको किसी भी आधार पर इन वस्तुओं एवं सेवाओं से अलग नहीं माना जा सकेगा। जैसे गली में रोशनी की व्यवस्था एवं सड़क पर प्रकाश की व्यवस्था के लिये वहाँ के निवासियों से उस पर आने वाले खर्च को बसूल लिया जाता है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार द्वारा सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं का उपभोग करने के लिये बाध्य किया जाता है।

2. **सामान्य कराधान सिद्धान्त :** डॉल्टन के सामान्य कराधान सिद्धान्त के अनुसार सरकार द्वारा जनता को वस्तुएँ एवं सेवायें निःशुल्क उपलब्ध करायी जाती हैं जिसके बदले सरकार द्वारा सामान्य रूप से करारोपण करके कर की बसूली की जातीहै। यह सिद्धान्त यह मान्यता करता है कि सरकार द्वारा लाभान्वित व्यक्तियों की पहचान कर ली गयी है लेकिन कर की बसूली करने के कारण वस्तुओं एवं सेवाओं की लागत को बसूल लिया गया होता है। इसीलिए पुनः सेवाओं की लागत को बसूलने की व्यवस्था सरकार द्वारा नहीं कीजाती है। इस सिद्धान्त को सामान्य रूप से शुद्ध सार्वजनिक वस्तुओं पर ही लागू किया जाता है।
3. **ऐच्छिक कीमत सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त को मुख्य रूप से कीमत नीति के साथ सम्बन्धित किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं के उपभोग के लिये उपभोक्ताओं को स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है। सरकार द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं का उपभोग करने वालों से कीमत बसूल कर ली जाती है तथा जो उपभोग नहीं करते उन्हें कीमत बसूली के बाहर रखा जाता है। सरकार द्वारा कीमत निर्धारित करने में सरकार को अनेक तथ्यों पर विचार करना होता है।

14.4 लोक उद्यम एवं प्रबन्धित कीमतें

प्रबन्धित कीमतों से हमारा तात्पर्य वस्तुओं एवं सेवाओं की ऐसी कीमतों से है जिन्हें सरकार अथवा सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रबन्धित किया जाता है। अर्थव्यवस्था को स्थिरता प्रदान करने एवं सट्टेबाजी जैसी क्रियाओं पर नियंत्रण करने के लिये अपने स्तर पर सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों को नियंत्रित एवं नियमित करती हैं। सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों को नियंत्रित एवं प्रबन्धित करने से निजी उद्यमों की वस्तुओं एवे सेवाओं की कीमतों पर भी प्रभाव पड़ता है। प्रबन्धित कीमतों का निर्धारण वस्तुओं एवं सेवाओं की पूर्ति में सरकारी स्तर पर वृद्धि एवं नियमन करके भी किया जाता है। यह इस तथ्य पर निर्भर करता है कि अर्थव्यवस्था में वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों में वृद्धि के लिये कौन से तत्त्व या कारक जिम्मेदार हैं।

सामान्यत रूप से जनोपयोगी वस्तुओं एवं सेवाओं जैसे– गैस आपूर्ति, बिजली, रेल परिवहन, डाक तथा जलापूर्ति जैसे क्रियाओं के सम्बन्ध में प्रबन्धित कीमतों की उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती है। प्रबन्धित कीमतों के निर्धारण में सरकार स्वयं कीमतों का निर्धारण करती है अथवा कीमत सम्बन्धी किसी प्राधिकरण का गठन करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी अर्थव्यवस्थाओं में कीमत अभिकरणों का सहारा बड़े स्तर पर लिया गया है। भारत जैसी अर्थव्यवस्थाओं में दोनों प्रकार के उपायों को अपनाया जाता रहा है।

आवश्यक वस्तुओं एवं सेवाओं की आपूर्ति के सम्बन्ध में निजी क्षेत्र के एकाधिकार की आवश्यकता नहीं है। इसके साथ सरकारी हस्तक्षेप की निजी उद्यम के समान कीमत का निर्धारण भी नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में सरकार द्वारा प्रबन्धित कीमतों का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

सरकार कतिपय वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों का निर्धारण बाजार की शक्तियों – मांग पूर्ति के आधार पर नहीं कर सकती। इसीलिये इन वस्तुओं एवं सेवाओं की अधिकतम कीमतें निर्धारित करके कीमतों को प्रबन्धित किया जाता है। सामान्य रूप से खुले बाजार

द्वारा निर्धारित कीमतों में वृद्धि को रोकने के लिये सरकार उच्चतम मूल्य/ कीमत तथा न्यूनतम कीमतों के निर्धारण के लिये बाध्य हो जाती है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कीमत–नियंत्रण एवं सरकार द्वारा कीमत–निर्धारण में अन्तर होता है। बिजली, परिवहन, तेल इत्यादि जैसे एकाधिकारात्मक एवं अल्पाधिकारात्मक उद्योगों में उपभोक्ताओं को शोषण से बचाने हेतु सरकार अक्सर कीमतें निर्धारित कर देती है। यह कीमत–निर्धारण कहलाता है। लेकिन कीमत–नियन्त्रण का अर्थ थोड़ा इससे भिन्न होता है। कीमत–नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार कतिपय वस्तुओं की निश्चिम कीमतें निर्धारित नहीं करती। व्यवहार में कीमत–नियन्त्रण से अभिप्राय यह होता है कि सरकार कुछ वस्तुओं की अधिकतम अथवा न्यूनतम कीमतें निर्धारित कर देती है। उपभोक्ताओं को ऊँची कीमतों से संरक्षण देने हेतु सरकार अधिकतम कीमतें निश्चित कर देती है। कीमत–नियन्त्रण से अभिप्राय अधिकतम कीमतों के निर्धारण से होता है। जब सरकार न्यूनतम कीमतें निर्धारित करती है तो उसे 'कीमत–समर्थन' कहा जाता है। इस प्रकार 'कीमत–नियन्त्रण' का अर्थ सरकार द्वारा अधिकतम कीमतें निर्धारित करना होता है, और 'कीमत–समर्थन' से अभिप्राय सरकार द्वारा न्यूनतम कीमतें निश्चित करने से होता है। लेकिन हम यहाँ पर 'कीमत–नियन्त्रण' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में करेंगे। दूसरे शब्दों में, हम यहाँ पर कीमत–नियन्त्रण के अन्तर्गत अधिकतम तथा न्यूनतम दोनों ही प्रकार की कीमतों का अध्ययन करेंगे।

सरकार द्वारा अधिकतम कीमतें प्रायः युद्धकाल में निर्धारित की जाती हैं। इसका कारण यह है कि यदि युद्धकाल में कीमतों का नियन्त्रण न किया जाय तो वस्तुओं के अभाव के कारण वे आकाश को चूमने लगेंगी। न्यूनतम कीमतें प्रायः मन्दीकाल में निर्धारित की जाती हैं। इसका कारण यह है कि मन्दीकाल में यदि न्यूनतम कीमतें निर्धारित न की जायें तो वस्तुओं की अत्यधिक पूर्ति के कारण कीमतें पाता तक नीचे गिर जायें। इस अर्थ में बहुत–से देशों में सन् 1930 की महान मन्दी के दौरान कीमत–नियन्त्रण लागू किया गया था।

अधिकतम कीमतें : किसी वस्तु की अधिकतम कीमत (maximum price) प्रायः उसकी सन्तुलन–कीमत (equilibrium price) से नीचे निर्धारित की जाती है। अधिकतम कीमत को निर्धारित करने की एक सामान्य विधि यह है कि किसी विशेष दिन बाजार में प्रचलित कीमत को ही अधिकतम कीमत घोषित कर दिया जाय। अधिकतम निर्धारित कीमत से अधिक कीमत देना अथवा वसूल करना सरकार द्वारा अपराध घोषित कर दिया जाता है।

आपको विदित हो कि युद्धकाल में वस्तुओं एवं सेवाओं की अधिकतम कीमतें इसलिए निर्धारित की जाती हैं क्योंकि देश में इनका भारी अभाव उत्पन्न हो जाता है। किसी वस्तु की अधिकतम कीमत निर्धारित करते समय सरकार को चाहिए कि वह उस वस्तु का उपभोक्ताओं में राशन कर दे। यदि सरकार ऐसा नहीं करती है तो उसके द्वारा निर्धारित अधिकतम कीमत प्रभावपूर्ण नहीं होगी। राशन–व्यवस्था के अभाव में इस बात की बहुत सम्भावना है कि उस दुर्लभ वस्तु का अधिकांश भाग धनी उपभोक्ताओं द्वारा खरीद लिया जायेगा और गरीब उपभोक्ताओं के लिए उसकी बहुत कम पूर्ति बच रहेगी। अधिकतम कीमतों का निर्धारण तथा राशनिंग व्यवस्था प्रायः साथ–साथ चलते हैं।

यदि राशनिंग व्यवस्था द्वारा सरकार इस दुर्लभता को दूर करने का कोई प्रयास नहीं करती तो कीमत नियन्त्रण असफल हो जायेगा और सरकाकर द्वारा निर्धारित अधिकतम कीमत अप्रभावी हो जायेगी। यही नहीं, उस वस्तु में काला बाजार उत्पन्न हो जायेगा।

प्रायः देखा जाता है कि उद्योग के लिये विभिन्न अधिकतम कीमतें निर्धारित की जाती है। कम–लागत वाले उत्पादकों के लिये कम कीमत तथा उच्च–लागत वाले उत्पादकों के लिये ऊँची कीमत निर्धारित की जाती है। यह नीति प्रायः सरकार द्वारा तब अपनायी जाती है जब वह वस्तु का बड़े पैमाने पर उत्पादन करवाना चाहती है। यहाँ तक कि उच्च–लागत वाले उत्पादकों की कम उत्पादन–मात्रा को भी उपभोक्ताओं के लिये अनिवार्य समझती है। दो अधिकतम कीमतों को निर्धारित करते समय सरकार का उद्देश्य कम–लागत वाले उत्पादकों को अत्यधिक लाभ कमाने से रोकना होता है।

न्यूनतम कीमतें : न्यूनतम कीमतों सरकार द्वारा प्रायः मन्दीकाल में निर्धारित की जाती हैं जबकि बाजार में कीमतें बहुत ही निम्न स्तर तक नीचे गिर जाती हैं। सरकार द्वारा वस्तु की निर्धारित की गयी न्यूनतम कीमत प्रायः सन्तुलित कीमत से ऊँची होती है। सन्तुलन–कीमत से अधिक कमत निर्धारित करने का प्राकृतिक परिणाम यह होता है कि उस वस्तु की पूर्ति में आधिक्य उत्पन्न हो जाता है। इस आधिक्य को प्रायः अति–उत्पादन कहा जाता है। वास्तव में, यह अति–उत्पादन न्यूनतम कीमत पर पूर्ति का माँग के ऊपर आधिक्य होता है। यह आधिक्यक न्यूनतम एवं सन्तुलन–कीमतों के अन्तराल एवं माँग तथा पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है। कृषि–फसलों की न्यूनतम कीमतें निर्धारित करने की प्रथा सन् 1930 से पश्चिमी देशों में निरन्तर चली आ रही है।

किसी वस्तु की न्यूनतम कीमत निर्धारित करते समय सरकार को चाहिए कि वह उसकी अतिरिक्त पूर्ति अथवा उसके आधिक्य को बाजर से दूर ही रखे अन्यथा न्यूनतम कीमत प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं होगी। एक उपाय तो यह है कि सरकार वस्तुओं को खरीदकर उनकी अतिरिक्त पूर्ति को अपने गोदामों में संचित कर ले। दूसरा उपाय यह है कि सरकार वस्तुओं के अतिरिक्त स्टॉक को खरीदकर उनका विदेशों को निर्यात कर दे। कभी–कभी तो सरकार अतिरिक्त स्टॉक को नष्ट कर देती है।

डॉ0 अभिजीत सेन ने उल्लेख किया : 'जो प्रमाण हमें प्राप्त हुए हैं वे पूर्णतया निश्चित नहीं हैं। आँकड़ों के विश्लेषण के आधार पर न तो यह कहना संभव है कि कृषि–वस्तुओं में वायदा बाजार के परिणामस्वरूप तत्क्षण बाजार (Spot market) या भौतिक बाजार में कीमतों में वृद्धि होती है, न ही यह कहना सम्भव है कि इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। समिति को इससे कुछ निष्कर्ष निकालना चाहिए था, परन्तु इसने एक तटस्थ दृष्टि अपनाने को तरजीह दी है। अभिजीत सेन समिति के विचारार्थ विषयों में उल्लेख किया गया, ''वायदा बाजार के वस्तुओं की कीमतों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना और इस प्रभाव को न्यूनतम करने के लिए उपायों का सुझाव देना। इस विचारार्थ विषय के आधीन अनिवार्य वस्तुओं के वायदा बाजार पर प्रतिबन्ध पर अपनी राय व्यक्त की जा सकती है कि क्या यह उपाय वायदा बाजार के अनिवार्य वस्तुओं की कीमतों पर पड़ने वाले प्रभावों को कम–से–कम कर सकता है।

सरकारी विभाग अनिवार्य वस्ुओं की कीमतों के नियंत्रण के बारे में अल–अलग विचार रखते हैं। सरकार की नीति तभी प्रभावी बन सकती है यदि कीमतों के नियंत्रण के

लिए सरकार एक स्पष्ट नीति तय कर ले। इसे आम आदमी की मुश्किलों को ध्यान में रखते हुए एक अल्पकालीन नीति तैयार करनी होगी और दीर्घकालीन उपायों पर भी विचार करना होगा ताकि अनिवार्य वस्तुओं विशेषकर खाद्य पदार्थों की आपूर्ति में वृद्धि हो सके। देश के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि एक बाजार सूचना प्रणाली का निर्माण किया जाय जो अनिवार्य वस्तुओं की कीमतों के बारे में फौरी जानकारी देती रहें, जो कि निम्न आय वर्गों के कुल व्यय का लगभग 60 प्रतिशत है। इसके लिये विभिन्न समितियों की सिफारिशों पर विचार करने के बाद कीमत सूचकांकों में संशोधन करना अनिवार्य है। सरकार को कृषि के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी। सरकार को ऐसे उपाय करने होंगे कि बहु–फसल भूमि का प्रयोग गैर–कृषि उद्देश्यों जैसे विशेष आर्थिक क्षेत्रों के लिये न किया जाय। अन्तिम, परन्तु कम महत्वपूर्ण नहीं, दूसरी हरी क्रान्ति के प्रारम्भ करने के प्रयास करने होंगे और इसका केन्द्र कृषि की दृष्टि से पिछड़े राज्य होने चाहिये।

इस सम्बन्ध में श्री प्रशान्त गोयल यह निष्कर्ष निकालते हैं, ''वर्तमान अव्यवस्था से बाहर निकलने का टिकाऊ मार्ग खाद्यान्न उत्पादन और उत्पादिता को बढ़ाना है जो बिना सही कीमतों से सफल नहीं हो सकता। यदि किसान को अपनी उपज के लिये लाभकारी कीमत (Remunerative price) प्राप्त नहीं होती तब ऋण माफी पैकेट भी अपना उद्देश्य प्राप्त नहीं कर सकता। देश में कृषि–योग्य भूमि के बड़े पैमाने पर उपलब्ध होने के साथ अनुकूल जलवायु के होते हुए और वैश्विक खाद्य कीमतों की वृद्धि को दृष्टि में रखकर, एक उचित नीति सम्बन्धी ढांचे द्वारा भारत को विश्व खाद्य भण्डार बनाना सुनिश्चित किया जा सकता है।''

भारतीय रिजर्व बैंक अपनी मौद्रिक नीति का प्रयोग उत्पादन में वृद्धि और सामान्य कीमत स्तर के नियंत्रण के बीच संतुलन बनाने के लिये करता है। सामान्यतः भारतीय रिजर्व बैंक रोक–आरक्षण अनुपात (Cash Reserve Ratio), कानूनी तरलता अनुपात (Statutory Liquidity Ratio) और खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा व्यापारिक प्रतिसार (Recession) के समय बैंक उधार और व्यापार–क्रिया का विस्तार करता है, परन्तु स्फीति के समय रिजर्व बैंक उधार का संकुचन करता है और व्यापार एवं सट्टेबाजी की क्रियाओं पर रोक लगाता है।

संभरण व्यवस्था का सम्बन्ध संभरण की मात्रा और इसकी वितरण प्रणाली से होता है। वस्तुओं के स्तर पर सरकार ने चावल, गेंहू, चीनी, गुड़ और जनोपभोग (Mass Consumption) की अन्य वस्तुओं के मूल्य नियंत्रित करने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

सरकार ने चीनी,, सीमेंट और कागज जैसे वस्तुओं के लिये द्वैध कीमत–प्रणाली (Dual Pricing System) लागू की ताकि कमजोर वर्गों को इन वसतुओं की एक निश्चित मात्रा नियंत्रित कीमतों पर उपलब्ध कराई जा सके। अन्य वर्ग इन वस्तुओं को खुले बाजार में ऊँची कीमत में क्रय कर सकते हैं। द्वैध कीमत प्रणाली अपने उद्देश्य में विफल रही, इससे बाजार में भ्रम पैदा हुआ और कीमत की गतिविधि में खलबली पैदा हो गईं द्वैत कीमत प्रणाली अब लगभग समान कर दी गयी है।

14.4.1 प्रबन्धित कीमत सम्बन्धी समस्यायें

यद्यपि सरकार सामाजिक कल्याण के लिये ही प्रबन्धित कीमतों का सहारा लेती है फिर भी इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की समस्यायें उत्पन्न होती है। निजीकरण के समय में प्रबन्धित कीमतों का निजी क्षेत्र की कीमतों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिससे निजी उद्योगपति

सरकार का विरोध करते हैं या दबाव बनाने लगते हैं। प्रबन्धित कीमतों में ठीक देने पर जनता को कष्ट होता है तथा गरीब वर्ग अपनी आवश्यकताओं को आसानी से पूरा नहीं कर पाता जिससे जनता में सरकार की छवि का प्रतिकूल प्रभाव होता है। इसके साथ प्रबन्धित कीमतों का सरकार के राजस्व पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिससे सार्वजनिक कार्यों के लिये अन्य उपायों से राजस्व की प्राप्ति का रास्ता निकाला जाता है।

प्रबन्धित कीमतों के सहारे निजी उद्यमियों एवं जनता द्वारा भी अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया जाता है जो अर्थव्यवस्था के कुशल संचालन में कठिनाई होती है। साथ में बाजार की शक्तियाँ स्वतंत्रता–पूर्वक कार्य नहीं कर पाती जिसका उत्पादन तथा वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना बनी रहती है। लालफीताशाही के कारण भी प्रबन्धित कीमतों का निर्धारण उचित रूप में नहीं किया जाता है।

14.5 लोक उद्यम एवं आधिक्य सृजन

इस बिन्दु के अन्तर्गत आप लोक उद्यमों में आधिक्य सृजन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेंगे। लोक उद्यमों में आधिक्य सृजन की विवेचना करने से पूर्व आधिक्य सृजन की अवधारणा को समझ लना अत्यनत आवश्यक है। आधिक्य सृजन की धाराणा का सम्बन्ध दीर्घकालीन एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के साथ लगाया जाता है। आधिक्य सृजन का अभिप्राय दीर्घकाल में आवश्यक उत्पादन तथा वास्तविक उत्पादन के मध्य किये गये उत्पादन से लगाया जाता है लेकिन यह उत्पादन धनात्मक रूप में ही होना चाहिये। आवश्यकता से कम उत्पादन की स्थिति को आधिक्य सृजन नहीं कहा जायेगा केवल इष्टतम उत्पादन पर वास्तविक उत्पादन की अधिकता को ही आधिक्य सृजन कहा जायेगा।

अब आपको इस आधिक्य सृजन को लोक उद्यमों के सम्बन्ध में देखना होगा। सामान्य रूप से कुछ वस्तुओं एवं सेवाओं पर सरकार का एकाधिकार पाया जाता है तथा कुछ सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं के लिये निजी क्षेत्र से एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का सामना करना होता है। प्रायः सरकारों का प्रयास रहता है कि समय रहते जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति कर ली जाय। सामान्य सन्तुलन की स्थिति में यदि किसी भी प्रकार का व्यवधान उत्पन्न हुआ तो अर्थव्यवस्था के लिये कठिनाई पैदा होगी। इसीलिये एकाधिकार की स्थिति में आधिक्य सृजन की स्थिति का पाया जाना कोई प्रतिकूल बात नहीं है। लेकिन एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत जनता के पास वस्तुओं एवं सेवाओं के अन्य विकल्प मौजूद रहते हैं जो आधिक्य सृजन की आवश्यकता को कम करते हैं।

एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत जैसे देश में बढ़ती जनसंख्या के कारण सार्वजनिक वस्तुओं एवं सेवाओं की बढ़ती मांग का ठीक–ठीक अनुमान लगाना भी सरकार के लिये आसान कार्य नहीं कहा जा सकता। ठीक इसके साथ यह भी तथ्य सामने रखना होगा कि क्या सार्वजनिक उद्यमों में आधिक्य सृजन न होने पर जनता की मांग की पूर्ति सरकार निजी उद्यमों से वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदकर कर सकती है लेकिन ऐसी स्थिति में सरकार की कीमत नीति किसी न किसी दिशा में प्रभावित होगी।

आधिक्य सृजन का एक उदाहरण रेल परिवहन एवं सड़क परिवहन द्वारा अच्छी तरह से दिया जा सकता है। भीषण गर्मी या सर्दी तथा असामान्य स्थितियों में रेलगाड़ी या बसों में सीटें खाली रहती हैं तथा हनरी न्यूनतम लागत को भी निकालना मुश्किल होता है। लेकिन इस क्षमता का प्रयोग सामान्य मौसम या विशेष पर्वों पर पूर्ण कर लिया जाता है तथा

आधिक्य सृजन से भी अधिक मांग उत्पन्न हो जाती है। गली एवं सड़कों पर दिन के समय में भी लाइटें चालू रहती हैं। सार्वजनिक गोदामों में गेहूँ सड़ने लगता है। सरकारी शिक्षण संस्थानों में कम प्रवेश के कारण सीटें रिक्त रह जाती हैं, आदि ऐसे उदाहरण हैं जो लोक उद्यमों की आधिक्य सृजन को भली–भाँति प्रकट करते हैं। एक अन्य अच्छा उदाहरण राजकीय नलकूप का लिया जा सकता है कि बिजली की व्यवस्था के होने पर भी इस नलकूप की पूर्ण क्षमता का प्रयोग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार आधार संरचना – सड़क, नहरें, आदि के सम्बन्ध में भी आधिक्य सृजन की स्थिति देखने को मिलती है।

14.6 सारांश

सरकार द्वारा लोक उद्यमों से सम्बन्धित कीमत, नीति का निर्धारण करना कोई सरल कार्य नहीं है। इसके लिये जनता के हितों के साथ निजी क्षेत्र की बाजार कीमतों को भी ध्यान में रखना होता है। लोक उद्यमों की कीमत नीति अर्थव्यवस्था की प्रकृति, जनसंख्या का आकार एवं वृद्धि, लोक वस्तुओं एवं सेवाओं की प्रकृति, मांग की कीमत, लोच, सरकार की प्राथमिकतायें तथा देश की आन्तरिक व बाह्य परिस्थितियों द्वारा एक बड़ी सीमा तक प्रभावित होती हैं। अतः सरकार द्वारा कीमत नीति के निर्धारण में इन तत्वों को ध्यान में रखना होता है। जिन पर कीमत नीति की सफलता निर्भर करती है। सरकार को आवश्यकता पड़ने पर लोक वस्तुओं एवं सेवाओं के लिये कीमतों पर नियंत्रण भी करना होता है तथा सरकारें अपने स्तर से इन वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण करती हैं। प्रबन्धित कीमतों के सामने भी अनेक प्रकार की समस्यायें पैदा होती हैं जिन्हें सरकार द्वारा दूर करने का प्रयास किया जाता है। जहाँ तक लोक उद्यमों में आधिक्य सृजन का सवाल है वस्तुओं की प्रकृति तथा जनता की रूचि एवं स्वभाव आदि के कारण लोक उद्यमों में आधिक्य सृजन किया जाता है तथा इस आधिक्य सृजन की पूर्ति भी कर दी जाती है। सरकार के सामने मुख्य समस्या जनता की मांग एवं इस आधिक्य सृजन के मध्य सामन्जस्य स्थापित करने की होती है।

लोक उद्यमों के अन्तर्गत आधिक्य सजन की क्षमता लोक उद्यमों की प्रकृति, आकार एवं सरकार की नीति पर निर्भर करती है। कुछ विशेष लोक उद्यमों के अन्तर्गत आधिक्य सृजन क्षमता समयानुसार बदलती रहती है जैसे सड़क परिवहन तथा रेल परिवहन व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ विशेष अवसरों पर सवारियों की न्यूनता तथा अन्य विशेष अवसरों पर सवारियों की अधिकता का बने रहना आधिक्य सृजन की समस्या पैदा करता है। वांछित मांग तथा इष्टतम उत्पादन का स्तर अर्थव्यवस्था के लिये एक आवश्यक एवं उपयोगी तथ्य है। अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत विद्यमान आर्थिक तत्त्वों के साथ–साथ सामाकि तत्व भी आधिक्य सृजन को प्रभावित एवं निर्धारित करते हैं। जनसंख्या की वृद्धि, व्यक्तियों का स्वभाव एवं रूचि, व्यापारियों क मानसिकता आदि तत्त्व सीधे तौर पर आधिक्य सृजन को निर्धारित करते हैं। आपने ध्यान दिया होगा कि आधिक्य सृजन के माध्यम से जहाँ अर्थव्यवस्था प्रतिकूल रूप में प्रभावित होती है वही अचानक अत्यधिक मांग वृद्धि सम्बन्धी समस्याओं को भी हल करने में सरकार को सहायता मिलती है।

14.7 शब्दावली

1. **सह–अस्तित्व** – निजी उद्यम तथा सार्वजनिक/लोक उद्यमों का किसी अर्थव्यवस्था में एक साथ क्रियान्वित किया जाना।

2. **नीतियाँ** – किसी मद या विषय के सम्बन्ध में क्या होना चाहिए? इसके लिए कार्यक्रम बनाना।
3. **आधिक्य** – आवश्यकता से अधिक।
4. **सामन्जस्य** – तालमेल पैदा करने की प्रक्रिया।
5. **सामाजिक सुरक्षा** – बीमा, पेंशन, भत्ता आदि की सुविधायें।
6. **आर्थिक विषमतायें** – जनता के मध्य धन का असमान वितरण।
7. **लचीलापन** – किसी वस्तु या मद के सम्बन्ध में संशोधन करने की प्रवृत्ति या नम्यता की प्रवृत्ति।
8. **सृजन** – पैदा करना या उत्पन्न करना।

14.8 अभ्यास प्रश्न

प्र.1 निम्नलिखित प्रष्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिए –

(i) कीमत नीति से आप क्या समझते हैं?

(ii) कीमत नीति के दो आधारभूत तत्त्व बताओ?

(iii) लोक उद्यम तथा निजी उद्यमों की कीमत नीति में एक अन्तर बताओ?

(iv) लोक उद्यमों में आधिक्य सृजन क्या है?

प्र.2 निम्नलिखित कथनों में से सत्य तथा असत्य का चयन कीजिए?

(i) लोक उद्यमों पर सरकार का नियंत्रण होता है।

(ii) लोक उद्यमों की कीमत बाजार की षक्तियों द्वारा तय होती हैं।

(iii) लोक उद्यमों में प्रबन्धित कीमतें पायी जाती हैं।

(iv) सार्वजनिक कउद्यमों में आधिक्य सृजन नहीं होता है।

(v) प्रो0 डाल्टन ने कीमत नीति पर तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं।

प्र.3 नीचे दिये गये 'क' तथा 'ख' स्तम्भों का सही मिलान कीजिए?

	क	ख
(i)	सरकार	निजी उद्यम
(ii)	बाजार कीमत	लोक उद्यम
(iii)	रेल परिवहन	मांग पूर्ति
(iv)	समाज कल्याण	अधिकतम कीमत

प्र.4 लोक तथा निजी उद्यमों की कीमत नीति में क्या अन्तर पाया जाता है?

प्र.5 डॉल्टन के अनिवार्य सेवा लागत सिद्धान्त को संक्षेप में स्पष्ट करो?

प्र.6 षुद्ध सार्वजनिक वस्तुएँ एवं सेवाओं से क्या तात्पर्य है?

प्र.7 प्रबन्धित कीमतों का मुख्य उद्देष्य बताओ?

प्र.8 नीचे दिये वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–

(i) लोक वस्तुओं एवं सेवाओं की बढ़ती मांग का सही–सही ––––– लगाना कठिन है।

(ii) रेल परिवहन –––––– की श्रेणी में आता है।

(iii) लोक उद्यमों में ––––– पाया भी जाता है।

(iv) लोक उद्यम की कीमत नीति बाजार षक्तियों से ––––– होती है।
(प्रभावित, लोक उद्यम, आधिक्य सृजन, अनुमान)

14.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
2. पंत, जे0सी0 (2007), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाषक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
3. दत्त, रुद्र एवं के0पी0एम0 सुन्दरम (2010), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, एस0 चन्द एण्ड कं0 लिमिटेड, नई दिल्ली।

14.10 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

1. वार्ष्णेय, जे0सी0 (2007), ***राजस्व***, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, हॉस्पीटल रोड, आगरा।
2. पुरी एवं मिश्रा (2011), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, हिमालय पब्लिषिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. सेठ, एम0एल0 (2006), ***माइक्रो अर्थषास्त्र***, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक विक्रेता एवं प्रकाषन, आगरा।

14.11 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 लोक उद्यमों की कीमत नीति को स्पष्ट कीजिए तथा इसके मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए?

प्र.2 लोक उद्यमों की प्रबन्धित कीमतों पर एक विस्तृत लेख लिखिए?

प्र.3 लोक उद्यमों की आधिक्य सृजन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए?

हल

1. प्रश्न संख्या 01 के हल के लिए बिन्दु संख्या 14.3 तथा 14.3.2 का अवलोकन करें।
2. प्रश्न संख्या 02 के हल के लिए बिन्दु संख्या 14.4 को देखें।
3. प्रश्न संख्या 03 के हल के लिए बिन्दु संख्या 14.5 का अवलोकन करें।

इकाई 15 लोक उद्यमों का कल्याणकारी प्रभाव एवं चुनौतियाँ

इकाई संरचना

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 लोक उद्यमों के कल्याणकारी प्रभाव

15.3.1 व्यक्तिगत प्रभाव

15.3.2 सामूहिक प्रभाव

15.4 लोक उद्यमों की चुनौतियाँ

15.4.1 लोक उ़म एवं सरकारी नीतियाँ

15.5 सारांश

15.6 शब्दावली

15.7 अभ्यास प्रश्न

15.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

15.9 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

15.10 निबन्धात्मक प्रष्न

15.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व की इकाई के अन्तर्गत आप लोक उद्यमों की कीमत नीति तथा प्रबन्धित कीमतों के बारे में अच्छी तरह से समझ गये होंगे। इसके साथ आपने लोक उद्यमों द्वारा आधिक्य सृजन का भी भली–भांति अध्ययन किया होगा।

प्रस्तुत इकाई लोक उद्यम ब्लाक की पन्द्रहवी इकाई है जो लोक उद्यमों के कल्याणकारी प्रभावों एवं चुनौतियों से सम्बन्धित है। लोक उद्यमों के कल्याणकारी प्रभावों का अध्ययन व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रभावों के अन्तर्गत किया गया है जो रोजगार संरक्षण, उपभोग स्तर, श्रम शोषण पर रोक, सामाजिक एवं आर्थिक न्याय तथा जीवन सुरक्षा से सम्बन्धित किये गये हैं।

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत लोक उद्यमों की चुनौतियों का भी विश्लेषण किया गया है जो इन उद्यमों की नवीन स्थापना, कुशल संचालन तथा पर्याप्त निष्पादन के मार्ग में बाधक के रूप में पाये गये हैं। लोक उद्यमों की चुनौतियाँ श्रमिकों की अकुशलता, अधिकारियों का गैर जिम्मेदाराना व्यवहार तथा वैश्वीकरण से सम्बन्धित की गयी हैं। लोक उद्यमों के कल्याणकारी प्रभावों एवं चुनौतियों से सम्बन्धित सरकारी नीतियों का भी विष्लेषण किया गया है।

15.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई 'लोक उद्यमों का कल्याणकारी प्रभाव एवं चुनौतियाँ' का अध्ययन करने के बाद आप भलीभांति समझ सकेंगे कि :–

(i) लोक उद्यमों द्वारा किसी देश की अर्थव्यवस्था पर सामूहिक रूप से तथा देश की जनता पर पड़ने वाले व्यक्तिगत प्रभाव किस सीमा तक कल्याणकारी हैं? इन कल्याणकारी प्रभावों से व्यक्तियों का जीवन स्तर किस दिशा में तथा किस स्तर तक प्रभावित हुआ है?

(ii) लोक उद्यम जनता के जीवन स्तर में सुधार एवं कल्याण में वृद्धि के साथ–साथ व्यक्तियों की जीवन रक्षा एवं सुरक्षा को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

(iii) लोक उद्यमों की स्थापना तथा पहले से स्थापित उद्यमों के कुशल संचालन एवं निष्पादन में क्या कठिनाइयाँ आती हैं तथा ये कठिनाई क्यों तथा किस प्रकार उत्पन्न होती हैं, इसके साथ में कठिनाइयाँ लोक उद्यमों को किस प्रकार नकाकरात्मक या प्रतिकूल रूप में प्रभावित करती हैं?

(iv) लोक उद्यमों के कल्याणकारी प्रभावों में सरकारी नीतियों की क्या भूमिका रही है तथा इन नीतियों का किस दिषा में प्रभाव पड़ रहे हैं?

15.3 लोक उद्यमों के कल्याणकारी प्रभाव

लोक उद्यम किसी देश की अर्थव्यवस्था को विभिन्न पक्षों को अनेक रूपों में प्रभावित करते हैं, वहीं इन उद्यमों का जनता पर ऐसा प्रभाव भी पड़ता है जो जनता के कल्याण में वृद्धि करता है। लोक उद्यमों के कल्याणकारी प्रभावों का अध्ययन दो भागों में बाँटकर करेंगे।

(i) व्यक्तिगत कल्याणकारी प्रभाव

(ii) सामूहिक कल्याणकारी प्रभाव

15.3.1 व्यक्तिगत कल्याणकारी प्रभाव

लोक उद्यमों द्वारा पड़ने वाले व्यक्तिगत कल्याणकारी प्रभावों की विवेचना निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर की जा सकती है :–

(i) **उपभोग स्तर में वृद्धि एवं परिवर्तन :** लोक उद्यमों को सामान्यतः लोकसत्ताओं के स्वामित्व एवं नियंत्रण से जोड़ा जाता है लेकिन इसके आन्तरिक पक्ष को गहराई से देखा जाय तो लोक उद्यम व्यक्ति के उपभोग स्तर को अनुकूल दिशा में प्रभावित करता है जिससे उसके उपभोग में वृद्धि होती है। लोक उद्यम व्यक्ति को उचित कीमत पर उपभाग की गुणवत्तापूर्ण वस्तुओं एवं सेवाओं को उपलब्ध कराने की क्षमता रखता है। गुणवत्तापूर्ण वस्तुएँ एवं उचित कीमत निजी उद्यम द्वारा एक साथ सम्भव नहीं हो सकती है। आपको यहाँ यह ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है कि लोक उद्यम अपने उत्पादन पर अनेक प्रकार की रियायतें देने में समर्थ हैं ताकि गरीब तथा मध्यम वर्ग आवश्यक वस्तुओं एवं सेवाओं का आवश्यकतानुसार उपभोग कर सकें। सामान्यतः मिश्रित अर्थव्यवस्था में व्यक्ति के उपभोग पर लोक उद्यमों का प्रभाव और अधिक महत्वपूर्ण होता है।

(ii) **आत्मनिर्भरता :** आत्मनिर्भरता को भी लोक उद्यमों के कल्याणकारी प्रभावों के रूप में देखा गया है। लोक उद्यमों की स्थापना एवं संचालन के पीछे यह तर्क बड़े आसानी से दिया जा सकता है कि लोक उद्यमों के द्वारा गरीब तथा मध्यमवर्ग व्यक्ति को आत्मनिर्भरता प्रदान की जाती है ताकि वह अपना तथा परिवार का जीवन आसानी से जी सके। शिक्षण तथा प्रशिक्षण संस्थाओं के प्रभावों को आत्मनिर्भरता के संदर्भ में देखा गया है। सार्वजनिक क्षेत्र में संचालित तथा निजी क्षेत्र में संचालित शिक्षण एवं प्रशिक्षण उद्यमों के मध्य इस आधार पर भी अन्तर दर्शाया गया है कि लोक उद्यम कम कीमत पर व्यक्ति को रोजगार परक शिक्षा एवं प्रशिक्षण देने में समर्थ है वही निजी क्षेत्र का उद्यम स्वयं के लाभ–अर्जन के साथ उच्च कीमत पर ही आत्मनिर्भरता प्रदान कर सकता है जो गरीब तथा मध्यम वर्ग के व्यक्ति की सीमा से बाहर हो जाता है।

आपको यह बड़े आसानी से देखने को मिलेगा कि निजी उद्यम स्थापित करने का क्षेत्र वह होता है जहाँ मांग की अधिकता हो तथा उनकी आय अर्जन की अधिक सम्भावना हो। जब कि लोक उद्यमों की स्थापना का क्षेत्र आत्मनिर्भरता प्रदान करने वाली सेवाओं से अभावग्रस्त क्षेत्र होता है। इसी प्रकाकर वित्तीय क्षेत्र के लोक कउद्यम भी शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता प्रदान करने के लिये प्रयासरत हैं। सरकार द्वारा ग्रामीण तथा शहरी विकास विभागों के अन्तर्गत संचालित अनेक कार्यक्रम आत्मनिर्भरता प्रदान करने के क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रहे हैं। सामान्य रूप से विकासशील तथा पिछड़े देशों में लोक उद्यम लोगों की आत्मनिर्भरता को विकसित करने का सशक्त माध्यम है।

(iii) **श्रम के शोषण पर रोक :** लोक उद्यमों के व्यक्तिगत कल्याणकारी प्रभावों के अन्तर्गत श्रम के शोषण को रोकने के प्रयासों को भी शामिल किया गया है। भारत जैसे विकासशील देशों के संदर्भ में आप देखते होंगे कि गैर सरकारी क्षेत्रों में कार्यरत श्रमिकों का अनेक प्रकार से शोषण किया जाता है। महिला तथा पुरुषों की मजदूरी में अन्तर, सामान्यस्तर से कम मजदूरी, कार्य के अधिक घण्टे, नैतिक तथा मानसिक

शोषण तथा सामाजिक स्तर या श्रमिक का बड़े स्तर पर शोषण किया जाता है। सरकार द्वारा संचालित लोक उद्यमों द्वारा इसके विरूद्ध पहल करते हुये सार्थक प्रयास किये हैं। लोक उद्यमों की स्थापना एवं विस्तार के माध्यम से निजी क्षेत्र द्वारा शोषित श्रम को लोक उद्यमों में सुरक्षा प्रदान की जाती है। इसके साथ लोक उद्यमों में कार्यरत श्रमिक एवं कर्मचारियों का किसी भी प्रकाकर का सामाजिक एवं आर्थिक स्तर पर शोषण किया जाना सम्भव नहीं है।

आपने भारत में सामान्य रूप से देखा होगा कि कुछ लोक उद्यम श्रमिकों के शोषण को रोकने के लिए ही स्थापित किये गये हैं या उन श्रमिकों को निजी उद्यमों से लोक उद्यमों की ओर लाया गया है। कही–कहीं निजी उद्यमों का ही राष्ट्रीयकरण करके लोक उद्यमों का दर्जा प्रदान किया गया जिससे उनके शोषण को रोका जा सका है।

15.3.2 सामूहिक कल्याणकारी प्रभाव

लोक उद्यमों के पड़ने वाले कल्याणकारी प्रभाव व्यक्तिगत जीवन के साथ सामूहिक रूप से भी प्रभावी होते हैं जिनको निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है :–

(i) सामाजिक न्याय एवं विकास : लोक उद्यमों का सामाजिक न्याय एवं विकास के रूप में कल्याणकारी प्रभाव देखने को मिलता है। लोक उद्यम बिना किसी सामाजिक भेद भाव के अपने प्रभावों को डालते है जो समाज के सभी व्यक्तियों को प्रभावित करते हैं। न्यायालयों की स्थापना एवं उनका सफलतापूर्वक संचालन सामाजिक न्याय दिलाने का सबसे महत्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है। इसके साथ अनेक विभागों के अन्तर्गत न्यायालय के समकक्ष अधिकारियों की नियुक्ति एवं बोर्डों का गठन करके समाज को सामाजिक न्याय दिलाया गया है। सामाजिक न्याय विकास के लिए एक आधार का कार्य करता है। सामान्य रूप से जिन क्षेत्रों में सामाजिक न्याय की उचित व्यवस्था नहीं है वहाँ पर उद्यमी अपना उद्यम स्थापित करने से पीछे रहता है। इस प्रकार सामाजिक न्याय प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से आर्थिक विकासक को प्रभावित करता है।

लोक उद्यमों से प्राप्त आय का प्रयोग तो उसी लोक उद्यम के विस्तार में किया जाता है या देश के विकास सम्बन्धी योजनाओं के लिए किया जाता है। इस प्रकार लोक उद्यमों से प्राप्त आय का पुनः निवेश करके देश के आर्थिक विकास को बढ़ाया जाता है।

(ii) रोजगार संरक्षण एवं सृजन : लोक उद्यमों का रोजगार के संरक्षण एवं सृजन पर प्रभाव पड़ता है। प्रथमतः रोजगार संरक्षण पर बात करें सार्वजनिक उद्यमों के अन्तर्गत कार्यरत श्रमिकों, कर्मचारियों एवं अधिकारियों के रोजगार को संरक्षित किया गया है। लोक उद्यमों के अन्तर्गत रोजगार पर अनेक प्रकार के सरकारी नियम तथा उपनियम लागू होते हैं जो रोजगार को संरक्षित होते हैं। निजी उद्यम रोजगार संरक्षण के बारे में कहीं पीछे नजर आते हैं। उद्यमियों को अधिक स्वायत्तता एवं अधिकार प्रदान करना तथा श्रमिकों को सरकारी कानूनों से बाहर रखकर रोजगार को पूर्ण रूप से संरक्षित नहीं किया जा सकता है। आपने सामान्य रूप से देखा होगा कि एक उच्चवर्ग का परिवार भी सरकारी नौकरी को येन–केन प्रकारेण प्राप्त करने का प्रयास करता है।

निजी क्षेत्र में आये दिन रोजगार छंटनी, श्रमिकों का शोषण के कारण कार्य छोड़ना जैसी घटनायें पायी जाती हैं।

रोजगार सृजन के प्रभावों को देखें तो आप पायेंगे कि लोक उद्यमों की स्थापना ही बेरोजगारी, गरीबी जैसी समस्याओं के निराकरण के लिये की जाती है। चाहे लोगों को सीधे रोजगार दिया जाय चाहे उन्हें स्वरोजगार के लिये आत्मनिर्भर बनाया जाय। इस प्रकार लोक उद्यम रोजगार संरक्षण एवं सृजन का महत्वपूर्ण साधन है। भारत में शिक्षा, स्वास्थ्य, अनुसन्धान, विकास विभाग, विनिर्माण क्षेत्र आदि उद्यम बड़े स्तर पर रोजगार सृजन करते हैं तथा इन उद्यमों में रोजगार पूर्ण रूप से संरक्षित भी किया गया है।

(iii) सामाजिक एवं जीवन सुरक्षा : लोक उद्यमों का अन्य सबसे महत्वपूर्ण कल्याणकारी प्रभाव समाज की सामाजिक एवं जीवन सुरक्षा पर पाया गया है। भारत जैसे विकासशील देश में तो सामाजिक एवं जीवन सुरक्षा के आधार पर लोक उद्यमों का एक बड़ा वर्ग संचालित किया जा रहा है। स्वास्थ्य संस्थाएँ समाज के जीवन को सुरक्षित ही नहीं करती बल्कि समाज के जीवन को एक नई दिशा भी प्रदान करती हैं। आये दिन सरकार स्वास्थ्य संस्थाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि कर रही है ताकि भारत की जनता स्वस्थ रूप से जीवन यापन कर सके। व्यस्ततापूर्ण जीवन में आये दिन तमाम ऐसी घटनाएँ होती हैं जो मानव जीवन के लिए खतरनाक हैं लेकिन उच्च स्तर की स्वास्थ्य संस्थाओं द्वारा उन्नत स्तर की चिकित्सा सुविधाओं द्वारा मानव जीवन को इस खतरे से बचाया जा सकता है। लोक उद्यमों द्वारा नई–नई चिकित्सा पद्धतियों को अपनाया जा रहा है। निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य संस्थाएँ भी जीवन की सुरक्षा के लिए कार्यरत हैं लेकिन गरीब तथा मध्यम वर्ग लोक स्वास्थ्य उद्यमों का पूर्ण लाभ ले रहा है। भारत सहित तमाम देशों में लोक उद्यमों की स्थापना सामाजिक सुरक्षा के लिए की गयी है। सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी बोर्ड, विभाग तथा सार्वजनिक क्षेत्र की बीमा कम्पनियाँ इस दिशा में सार्थक प्रयास कर रही हैं।

(iv)अन्य प्रभाव : स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के तीन दशकों के काल में हुए द्रुत औद्योगीकरण का मुख्य श्रेय सरकारी क्षेत्र को ही है। सरकार के औद्योगिक नीति प्रस्तावों में कुछ उद्योग–अणुशक्ति, अस्त्रशस्त्र एवं विस्फोटास्त्र, वायुयान आदि राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में सरकाकर के लिये रिजर्व कर दिये गये। सरकार ने कुँजी उद्योग अर्थात् कोयला, लौह एवं इस्पात, वायुयान, पोत–निर्माण आदि के विकास की भी जिम्मेदारी ली, शेष उद्योगों को गैर–सरकारी क्षेत्र के लिये छोड़ दिया गया। परन्तु चार योजनाओं के अनुभव से साफ जाहिर होता है कि गैर–सरकार क्षेत्र में कुछ अन्तर्निहित कठिनाइयाँ हैं और यह तेज औद्योगिक विकास भारतीय अर्थव्यवस्था को स्वयं स्फूर्त बनाने के लिए आवश्यक है। इसी कारण तो सरकार को मूल एवं सामरिक उद्योगों, पूँजी उद्योगों और कुछ हद तक उपभोग–वस्तुओं के विकास के लिए एक भारी कार्यक्रम तैयार करना पड़ा। इस उपलब्धि के लिए सार्वजनिक कक्षेत्र को श्रेय देना ही होगा। आर्थिक सुधारों को चालू करने के पश्चात भी यह अनुमान किया गया कि गैर–सरकारी क्षेत्र के निवेश में प्रत्याशित वृद्धि प्राप्त नहीं की जा सकी और यह सुझाव दिया जाता है कि आधारसंरचना के विकास के लिए तो सार्वजनिक क्षेत्र को ही दायित्व संभालना होगा।

सरकार क्षेत्र बहुत से विभिन्न प्रकार के उद्योगों एवं वस्तुओं में प्रवेश कर गया है। इसकी क्रियाएँ एक ओर तो मूल तथा पूँजी वस्तु उद्योगों अर्थात् इस्पात, कोयला, तांबा, जस्ता एवं अन्य खनिजों तथा भारी मशीनरी तक फैली हुई है और दूसरी ओर इसका कार्यक्षेत्र है औषधियाँ एवं रसायन, खाद, उपभोग वस्तुएँ जैसे सूती वस्त्र, होटल सेवाएँ, घड़ियाँ, डबल रोटी आदि। इसमें से अधिकतर उद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए क्रांतिक महत्व रखते हैं क्योंकि उनके अन्य उद्योगों के साथ गहरे सम्बन्ध हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे तांबा, सीसा, कोयला, पेट्रोलियम उत्पाद, जल एवं भाप टरबाइन, इंजन, रेलवे कोच आदि में सरकारी क्षेत्र का भाग 100 प्रतिशत है। बहुत–सी अन्य वस्तुओं में यह भाग 50 से 95 प्रतिशत के बीच है।

15.4 लोक उद्यमों की चुनौतियाँ

लोक उद्यमों के पड़ने वाले कल्याणकारी प्रभावों का अध्ययन करने के बाद आप लोक उद्यमों की स्थापना, संचालन एवं कुशल निष्पादन में आने वाली चुनौतियों की विवेचना कर सकेंगे। लोक उद्यमों की मुख्य चुनौतियों को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर विवेचना की जा सकती है :–

(i) राजनैतिक दुरुपयोग : प्रायः सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में लोक उद्यमों के सामने मुख्य चुनौतियाँ राजनैतिक दृष्टि से इन उद्यमों का दुरुपयोग करने की रही है। प्रायः देशों में राजनैतिक सत्तायें बदलती रहती हैं। प्रत्येक सरकार अपने स्वार्थपूर्ति एवं निहित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोक उद्यमों से सम्बन्धित नीतियाँ एवं दिशानिर्देश तय करती हैं जिससे पिछली सरकारों की नीतियों एवं दिशा निर्देशों में सामन्जस्य स्थापित नहीं हो पाता और लोक उद्यमों का कुशलतम संचालन एवं निष्पादन प्राप्त नहीं किया जा सकता। भारत जैसे देश में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के मध्य प्रायः मतभेदों की स्थितियाँ कायम रही है इसीलिए अधिकांश लोक उद्यमों का संचालन केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों के मतभेदों का शिकार हो गये हैं।

स्वतंत्रता के प्रारम्भ में लोक उद्यमों का अत्यधिक विस्तार किया गया लेकिन राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए लोक उद्यमों का विनिवेश की प्रक्रिया प्रारम्भ की गयी जिसका सामाजिक रूप से जनता पर अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ सका। वर्तमान में निजीकरण का बोलबाला चरम सीमा पर है।

(ii) कार्य अकुशलता : जब सरकार जनता के विकास एवं उत्थान के लिए प्रयास करे लेकिन जनता सरकारी तंत्र का दुरुपयोग करने की सोच रखे तब ऐसी स्थिति में अपेक्षित परिणामों को प्राप्त करना सम्भव नहीं हो सकता है। रोजगार सृजन, शोषण से सुरक्षा, सामाजिक सुरक्षा देने वाले लोक उद्यम के अन्तर्गत कार्यरत कर्मचारी कुशलता के साथ कार्य नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में लोक उद्यमों का क्रियान्वयन उचित स्तर पर नहीं किया जा सकता है। लोक उद्यमों के सामने दो प्रकार की कार्य अकुशलता सम्बन्धी चुनौतियाँ पायी गयी हैं। प्रथमतः जब कर्मचारी पूर्ण कुशल है लेकिन वह जानबूझकर कुशलता के साथ कार्य नहीं करता है ऐसी स्थिति भी लोक उद्यम के लिये खतरनाक साबित होती है। द्वितीयतः जब लोक उद्यम में अकुशल कर्मचारी की ही भर्ती की गयी है तब उसे कुशल बनाने के लिये अतिरिक्त समय एवं धन की आवश्यकता होगी। इसके साथ वह कुशल बनने की क्षमता रखता है या नहीं

यहाँ भी एक समस्या पैदा होती है। भारतीय लोक उद्यमों में दोनों प्रकार की कार्य अकुशलता विद्यमान है जिसके कारण ही लोक उद्यमों का निष्पादन उच्च स्तर का प्राप्त नहीं किया जा रहा है। जिन उद्यमों में कार्यकुशलता को प्राथमिकता दी गयी है वह उद्यम सफलतापूर्वक संचालित है जैसे भारतीय रेलवे।

(iii) अधिकारी एवं कर्मचारियों की गैर जिम्मेदारी : भारत जैसे देशों में लोक उद्यमों के घाटे में जाने का मुख्य कारण इन उद्यमों में नियुक्त अधिकारी एवं कर्मचारी जिम्मेदारीपूर्वक अपने दायित्वों एवं कर्तव्यों का निर्वहन न करना पाया गया है। आपने शायद देखा या सुना होगा कि सरकारी विभाग का अधिकारी अपने दायित्व का उचित निर्वहन करने की अपेक्षा अपने तबादले/ट्रान्सफर को वरीयता देने लगता है। पूर्व बिन्दुओं में हमने यह भी स्पष्ट किया है कि लोक उद्यम रोजगार का संरक्षण होता है। इसी क्रम में, लोक उद्यम में कार्यरत कर्मचारी या अधिकारी रोजगार के संरक्षण का नाजायज फायदा उठाते हैं। अधिकारियों एवं कर्मचारियों की लापरवाही लोक उद्यमों के सफल संचालन में बाधक हैं। उचित नीतियों का निर्धारण न होना, शासन के आदेशों का समयानुसार लागू न करना, कर्मचारियों में सामन्जस्य की कमी, समय से कार्यालय न आना, आवश्यकतानुसार कार्यक्षेत्र की उपेक्षा करना, उद्यमों की परिसम्पत्तियों की सही रूप में देखभाल न करना आदि ऐसे कार्य हैं जो गैर–जिम्मेदारी पूर्ण व्यवहार को प्रकट करते हैं जिससे लोक उद्यमों का उचित क्रियान्वयन नहीं किया जा सकता है। इसके पीछे एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह छिपा है कि अच्छे तथा जिम्मेदारीपूर्वक कार्य करने वाले अधिकारियों का तबादला भी राजनैतिक व्यक्तियों द्वारा अनुचित लाभ लेने के लिए करा दिया जाता है जिससे वह अधिकारी अपने ही जिम्मेदारी के प्रति घृणित होता है।

(iv) प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रभाव : वैश्विक परिदृश्य के चलते भी लोक उद्यमों को अनेक प्रकार की प्रतिस्पर्द्धात्मक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। विश्व के देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध उदारीकरण एवं निजीकरण से प्रेरित है। विकसित देशों के लोक उद्यम, विकासशील एवं पिछड़े देशों के लोक उद्यमों के लिए प्रतिस्पर्धात्मक चुनौतियाँ दे रहे हैं। लोक उद्यम समाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण है। विकासशील तथा पिछड़े देशों में लोक उद्यमों को व्यावसायिक तथा लाभ अर्जन करने के रूप में नहीं देखा जा रहा हैं विदेशी वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रति जनता की बढ़ती लुभावनी प्रवृत्तियाँ अपने ही देश के लोक उद्यमों के घातक बन गयी हैं। आर्थिक विश्लेषण के आधार पर उच्च स्तर का निष्पादन प्राप्त न हो लेकिन उद्यम संचालन एवं क्रियान्वयन के लिये न्यूनतम निष्पादन की प्राप्ति तो आवश्यक ही है। लोक उद्यमों के सामने विदेशी लोक उद्यम तथा निजी एवं स्वदेशी निजी उद्यम भी इस दिशा में प्रतिकूल प्रभाव डाल रहे हैं।

वैश्वीकरण के दौर में उद्यमों के मध्य प्रतिस्पर्द्धाओं के साथ उपभोक्ताओं के मध्य भी प्रदर्शन प्रभावों के मध्य स्पर्द्धा का दौर प्रारम्भ हो गया है। उनकी रुचियों एवं आवश्यकताओं में व्यापक परिवर्तन हुआ है जिसकी पूर्ति के लिए भारत जैसे देश के लोक उद्यमों में अचानक या अल्पकाल में पर्याप्त परिवर्तन करना सम्भव नहीं हो सकता है।

(v) नियंत्रणात्मक कठिनाइयाँ : लोक उद्यमों से सम्बन्धित कुछ चुनौतियों का अवलोकन करने के बाद अब आप इन उद्यमों में नियंत्रण से सम्बन्धित आने वाली कठिनाइयों को स्पष्ट कर सकेंगे। स्वतंत्रता के बाद भारत में लोक उद्यमों का तेजी से विस्तार एवं विकास हुआ। यह विस्तार इतना हुआ कि इन उद्यमों पर सरकार या सम्बन्धित संस्थाएँ कुशलतापूर्वक नियंत्रण नहीं कर सकीं। श्रम संघों की हड़ताले, प्रबन्धकीय अनियन्त्रण, अनावश्यक बाहरी नियंत्रण एवं आन्तरिक आसमन्जस्य आदि के कारण नियंत्रणात्मक कठिनाइयाँ पैदा हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि 1988 के दशक में लोक उद्यमों को आर्थिक सुधारों की परिधि में लाकर निजीकरण की प्रक्रिया में शामिल किया गया। हमारे देश की राजनैतिक व्यवस्थाएँ एक दूसरी सरकार को सहयोग करने की बजाय गलत रास्ते पर चलने को उचित मानती है ताकि उसका लाभ आगामी चुनाव में मिल कसे। लोक उद्यमों के विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों में अन्तर है जिससे इनके क्रियान्वयन में अन्तर पाया जाता है।

(vi) लागत–लाभ विश्लेषण सम्बन्धी मतभेद : भारतीय संविधान में समाजवादी अर्थव्यवस्था को महत्व दिया गया ताकि देश के विकास में सभी वर्ग की सहभागिता सुनिश्चित की जा सके तथा सभी को समान रूप से सामाजिक व आर्थिक लाभ उपलब्ध हो सके। लोक उद्यम की अवधारणा समाजवादी व्यवस्थाओं के अनुकूल ही मानी जाती है।

अर्थशास्त्रियों का मानना है कि लोक उद्यमों के निष्पादन का आंकलन लागत–लाभ विश्लेषण के आधार पर होना चाहिए तथा कुछ अर्थशास्त्री इस मत से सहमत नहीं हैं। लागत–लाभ विश्लेषण पूँजीवाद का द्योतक है। इससे आम जनता के कल्याण की बात नहीं कही जा सकती है। लोक उद्यमों के विनिवेश का निजीकरण की पहल इसी मतभेद का परिणाम है। इसी मतभेद के आधार पर भारत में लोक उद्यों के विकास की उचित नीतियों का निर्धारण नहीं हो सका। परिणामस्वरूप आर्थिक घाटे के आधार पर लोक उद्यमों के विरूद्ध बड़ी संख्या में वितर्क दिये गये। वर्तमान में भी लोक उद्यमों की नीतियों में लागत–लाभ विश्लेषण सम्बन्धी मतभेद स्पष्ट दिखाई देते हैं जो हमारे देश के लोक उद्यमों के लिए खतरनाक सिद्ध होंगे।

(vii) पूंजीवाद की ओर झुकाव : आपको यहाँ ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है कि दुनिया के सभी देश वृद्धि दर को उच्च स्तर पर ले जाने की बात करते हैं जिसके लिए भारी मात्रा में पूंजी का निवेश, बड़े–बड़े उद्योगों की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विदेशी पूँजी का प्रयोग आदि की दशाओं को आवश्यक माना गया है। ये सभी दशाएँ सामान्य रूप से पूँजीवाद की ओर इशारा करती हैं। पूँजीवादी ताकतों का यह हमेशा से ही प्रयास रहता है कि निजी क्षेत्र के विकास के लिए सरकारी सहायता का प्रयोग करो तथा सरकारी उद्यमों एवं संस्थाओं के विकास एवं संचालन में बाधा डालो जो भारत जैसी मिश्रित अर्थव्यवस्था के लोक उद्यमों के लिए अत्यन्त ही घातक सिद्ध होती है। दूसरी ओर पूँजीवादी ताकतों का सरकारों में प्रतिनिधित्व एवं हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है जिससे लोक उद्यमों की नीतियाँ प्रतिकूल दिशा में प्रभावित हुई हैं। भविष्य में भी पूँजीवादी ताकतें लोक उद्यमों के सफल संचालन में बाधक बनेगी।

15.4.1 लोक उद्यम एवं सरकारी नीतियाँ

6 अप्रैल, 1949 को तत्कालीन प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में भारत की पहली औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसमें कहा गया कि देश की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत विदेशी एवं देशी उपक्रमों के बीच भेदभाव नहीं किया जोयगा। विदेशी विनियोजकों द्वारा लगायी गयी पूँजी पर प्राप्त होने वाले लाभों को अपने देश में भेजने के लिए सभी आवश्यक सुविधाएँ दी जायेंगी। जो विदेशी उपक्रम इस समय देश में चल रहे हैं उन पर सरकार कोई भी ऐसा प्रतिबन्ध नहीं लगायेगी जो भारतीय उपक्रम पर नहीं लगाया गया है। सरकार की इच्छा विदेशीउपक्रमों को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाने की नहीं है, लेकिन यदि किसी कारण से किसी भी विदेशी उपक्रम का राष्ट्रीयकरण किया गया तो विदेशी उद्योगपतियों को उचित एवं न्यायपूर्ण क्षतिपूर्ति की जायेगी। विदेशी पूंजी पर नियंत्रण रखा जायेगा। इस नियन्त्रण का उद्देश्य इसका इस प्रकार उपयोग करना होगा कि देश के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। विदेशी उपक्रमों का नियन्त्रण भारतीय हाथों में होना चाहिए। धीरे–धीरे विदेशी विशेषज्ञों के द्वारा भारतीय कर्मचारियों को उचित प्रशिक्षण देने के लिये व्यवस्था की जायेगी।

1956 की औद्योगिक नीत में कहा गया कि सरकार देशी व विदेशी प्रतिष्ठानों में कोई मतभेद नहीं बरतेगी। उन्हें लाभ व पूँजी ले जाने की छूट होगी,, लेकिन यदि राष्ट्रीयकरण किया जायेगा तो उन्हें न्यायपूर्ण मुआवजा दिया जायेगा।

1991 के पश्चात उदार औद्योगिक नीति अपनाने पर उद्योगों के निजीकरण के संदर्भ में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का योगदान अत्यन्त महतवपूर्ण रहा है। हाल के वर्षों में भारत के अनेक औद्योगिक क्षेत्रों के लिए विदेशी कम्पनियों को प्रत्यक्ष निवेश की अनुमति दी गई है। विदेशी कम्पनियाँ भारतीय कम्पनियों के साथ मलकरक संयुक्त रूप से अनेक औद्योगिक क्षेत्रों में संयुक्त निवेश के समझौते सम्पन्न करती हैं। कुछ दशक पहले तक भारतीय कम्पनियों की इक्विटी–पूँजी में विदेशी कम्पनियों की भागीदारी केवल 40 प्रतिशत के आस–पास तक ही सीमित थी, जिसे अब विनिर्दिष्ट उद्योगों के लिए बढ़ाया जाता रहा है। औद्योगिक विकास को आगे बढ़ाने की दिशा में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की अहम भूमिका को स्वीकार कर लिया गया है। आर्थिक विकास की ऊँची दर प्राप्त करने के उद्देश्य से विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को प्रोत्साहन देना सर्वोत्तम उपाय माना जाने लगा है। पिछले बीस वर्षों में निजी औद्योगिक क्षेत्रों में अनेक नये उद्योग इसी आधार पर स्थापित एवं विकसित किये गये हैं। इसने अनेक प्रकार की सुविधाएँ देश के उद्योगों को प्रदान की हैं जैसे उन्नत प्रौद्योगिकी, विश्व स्तर की प्रबन्ध कुशलताएँ, प्राकृतिक एवं मानवीय साधनों के अनुकूलतम उपयोग के अवसर, निर्यात के नए बाजारों की खोज तथा उत्पादित माल एवं सेवाओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की गुणवत्ता, आदि। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के लिए उदारतापूर्वक प्रदान की गई सुविधाओं ने देश में उद्योगों के निजीकरण के लिए नए आयाम प्रदान किये हैं ऐसेविनिर्धारित उद्योगों (जिनमें विदेशी पक्ष की पूँजी की भागीदारी 51 से 74 प्रतिशत से अधिक नहीं हो) के लिए स्वतः अनुमोदन प्रदान करने का प्रावधान किया गया है।

निर्णय करने में स्वायत्ता का अभाव, निजी स्वार्थों को बढ़ाने के लिए सार्वजनिक उद्यमों का प्रयोग, मंत्रियों एवं बड़े अफसरों द्वारा राशियों की हेराफेरी के लिए सार्वजनिक उद्यमों का इस्तेमाल, निम्न कार्यनिष्ठा के परिणामस्वरूप कुशलता का निम्न स्तर, इन सभी कारणों के नतीजे के तौर पर ऐसी परिस्थितियाँ कायम हो गयीं जिसमें सार्वजनिक उद्यमों

की प्रत्याग दर बहुत ही कम थी या कुछ हालतों में नकारात्मक हो गयी। परिणामतः उदारीकरण के आन्दोलन को औचित्य प्राप्त हो गया और इस कारण भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी ने उल्लेख किया : ''सार्वजनिक क्षे? बहुत से ऐसे क्षेत्रों में फैल गया है जहाँ इसे नहीं होना चाहिए। हम अपने सार्वजनिक क्षेत्र का विकास उन कार्यों के लिए करेंगे जो निजी क्षेत्र नहीं रह सकता। परन्तु हम निजी क्षेत्र के लिए बहुत से बन्द क्षेत्रों को खोल देंगे ताकि इसका विस्तार हो सके और अर्थव्यवस्था अधिक स्वतन्त्र रूप में विकसित हो सके।''

अतः भारत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यभाग को कम करने पर विचार किया और निजी क्षेत्र के लिए बहुत से क्षेत्र खोल देने की प्रक्रिया चालू कर दी। 1991 की औद्योगिक नीति ने औद्योगिक लाइसेंस हटाने की प्रक्रिया चालू की और 18 उद्योगों को छोड़ अन्य सबसे औद्योगिक लाइसेंस हटा दिये गये। नयी औद्योगिक नीति बाजार–प्रक्रिया पर अधिक निर्भर करना चाहती थी। इस कारण इसके आधीन–विनियमन की प्रक्रिया आरम्भ की गयी ताकि प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा मिले और नई फर्मों को बाजार में प्रवेश करने के अवसर प्राप्त हो सकें। इसका मुख्य उद्देश्य लाइसेंस–परमिट राज को समाप्त करना था ताकि बाजार का शासन स्थापित हो सके। न केवल देशीय उद्यमकर्ताओं अथवा उद्योगपतियों के लिये बाजार को खोला गया बल्कि विदेशी पूंजी को भी 51 प्रतिशत हिस्सा–पूँजी तक बेरोकटोक प्रवेश की अनुमति दी गयी।

बाजार प्रक्रिया प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करती है और इस प्रकार यह कुशलता को बढ़ाती है जिससे उत्पादिता में वृद्धि होती है, परन्तु कई परिस्थितियों में बाजार–विफलता भी अनुभव की जाती है :–

सार्वजनिक वस्तुओं अर्थात् शिक्षा और स्वास्थ्य में भी बाजार–विफलता अनुभव की जाती है। इन क्षेत्रों में जब तक राज्य सरकार स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और हस्पताल स्थापित नहीं करती, तब तक कमजोर वर्ग की देखभाल करनी सम्भव नहीं।

बाजार विफलता आधार–संरचना के क्षेत्रों अर्थात् सिंचाई, सड़कों, रेलों, टेलीसंचार आदि में भी देखी जाती है। निजी क्षेत्र आधारसंरचना का प्रयोग तो करना चाहता है, परन्तु आधारसंरचना में विनियोग करना नहीं चाहता, विशेषकर दूरदराज के इलाकों में, जहाँ इसकी प्रत्यादर बहुत ही कम है। अतः सामान्यतः सार्वजनिक क्षेत्र से ही यह आशा की जाती है कि वह आधार–संरचना कायम कर ऐसा वातावरण स्थापित करें जिसमें प्रत्यक्ष विनियोग सुविधाजनक रूप से किया जा सके। बाजार–विफलताएँ राज्य–हस्तक्षेप को अनिवार्य बना देती हैं ताकि बाजार–प्रक्रिसा की अपूर्णताएँ ठीक की जा सकें।

15.5 सारांश

लोक उद्यमों के कल्याणकारी प्रभावों एवं चुनौतियों का अध्ययन करने के बाद पाया गया कि लोक उद्यमों का कल्याणकारी प्रभाव समाज को व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों ही रूप में पाया जाता है। व्यक्तिगत जीवन भी लोक उद्यमों के संचालन से प्रभावित हुआ है। लोक उद्यों से लोगों का जीवन स्तर उचित दिशा में सुधरा है तथा उनके रोजगार की दिशा में भी सार्थक प्रयास किये गये हैं। उनके शोषण को कम करने में सहायता मिली है। विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं एवं कार्यक्रमों से व्यक्तियों को आत्मनिर्भर बनाया गया है तथा

सामाजिक तथा आर्थिक स्तर पर न्याय भी दिलाया गया है। लोक उद्यम व्यक्तियों के जीवन को सुरक्षित करने में पर्याप्त सीमा तक सफल रहे हैं।

लोक उद्यमों के अनेक कल्याणकारी प्रभावों के बाद भी अनेक प्रकार की चुनौतियाँ इन उद्यमों के मार्ग में हैं जो इनके इन कल्याणकारी प्रभावों को कम करती है। ये चुनौतियाँ इन उद्यमों में आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही स्तर पर पायी जाती है जो अनेक तत्वों द्वारा पैदा की जाती है। भारत तथा इसी श्रेणी के अन्य देशों में लोक उद्यम अनेक चुनौतियों का आज भी सामना कर रहे हैं। लोक उद्यमों के सामने आने वाली अनेक प्रकार की चुनौतियाँ एवं उनकी असफलताओं के लिए सरकारी नीतियाँ भी एक बड़ी सीमा तक जिम्मेदार पायी गयी हैं। इस दिषा में यह अत्यन्त आवष्यक है कि सरकारी नीतियाँ एवं सरकार का दृष्टिकोण अत्यन्त ही स्पष्ट होना चाहिए।

15.6 शब्दावली

(i) **लोकसत्ता** – जनता द्वारा चुनी जाने वाली सरकारें।

(ii) **चुनौतियाँ** – कठिनाइयाँ या परेशानियाँ।

(iii) **मिश्रित अर्थव्यवस्था** – यह अर्थव्यवस्था जिसमें सरकारी तथा निजी दोनों ही क्षेत्रों का अस्तित्व पाया जाता है।

(iv) **कल्याणकारी** – जनता के कल्याण में वृद्धि करने वाले।

(v) **निजी उद्यम** – व्यक्तिगत लोगों द्वारा स्थापित एवं संचालित उपक्रम।

(vi) **प्रतिस्पर्द्धा** – प्रतियोगिता का सामना करना।

(vii) **वैश्विक** – विश्व की अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित।

15.7 अभ्यास प्रश्न

प्र.1 निम्नलिखित प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिए –

(i) कल्याणकारी प्रभाव क्या है?

(ii) लोक उद्यमों के दो कल्याणकारी प्रभाव बताओ?

(iii) लोक उद्यमों की तीन चुनौतियाँ कौन–कौन सी हैं?

(iv) लोक उद्यम के दो सामूहिक प्रभाव बताओ?

(v) जीवन रक्षा से सम्बन्धित किसी एक लोक उद्यम का नाम बताओ?

प्र.2 निम्नलिखित कथनों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए?

(i) लोक उद्यम रोजगार का ––––– करता है।

(ii) लोक उद्यम से ––––– का षोषण रूकता है।

(iii) भारत में लोक उद्यमों का ––––– किया गया।

(iv) लोक उद्यम ––––– में सहायक हैं।

(विकास, श्रम, संरक्षण, निजीकरण)

प्र.3 निम्न कथनों में से सत्य अथवा असत्य की पहचान करो?

(i) लोक उद्यमों में अनावश्यक राजनैतिक हस्तक्षेप पाया जाता है।

(ii) लोक उद्यम सरकार द्वारा नियंत्रित होते हैं।

(iii) शिक्षा तथा चिकित्सा सम्बन्धी लोक उपक्रम भारत में नहीं पाये जाते हैं।

(iv) लोक उद्यम समाजवाद के प्रतिकूल हैं।

प्र.4 सही जोड़ों का चयन करो।

	क	ख
(i)	पूंजीवाद	कल्याणकारी
(ii)	भारत	पूंजीवादी
(iii)	लोक उद्यम	मिश्रित अर्थव्यवस्था
(iv)	कार्य अकुशलता	निजी उद्यम

प्र.5 भारत में आर्थिक सुधारों की लहर कब से प्रारम्भ हुई?

प्र.6 भारत में प्रथम औद्योगिक नीति कब घोषित की गयी थी?

प्र.7 लोक उद्यमों के सामने आने वाली नीतिगत दो चुनौतियाँ बताओ?

15.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पंत, जे0सी0 (2007), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
2. भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
3. मिश्रा एवं पुरी (2011), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
4. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997), ***राजस्व***, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

15.9 सहायक / उपयोगी ग्रन्थ

1. सेठी, टी0टी0 (2005), ***मुद्रा बैंकिंग एवं लोकवित्त***, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक विक्रेता एवं प्रकाशन, आगरा।
2. दत्त, रुद्र एवं के0पी0एम0 सुन्दरम (2010), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, एस0 चन्द एण्ड कं0 लिमिटेड, नई दिल्ली।
3. जालान, विमल (2008) ***21वीं सदी में भारतीय अर्थव्यवस्था***, प्रभात प्रकाषन, आसफअली रोड, नई दिल्ली।

15.10 निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 लोक उद्यमों के अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले कल्याणकारी प्रभावों की व्याख्या कीजिए?

प्र.2 लोक उद्यमों के संचालन में आने वाली आन्तरिक चुनौतियों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए?

प्र.3 वैश्वीकरण के दौर में लोक उद्यमों के सामने पैदा होने वाली कठिनाइयों की विवेचना कीजिए?

प्र.4 लोक उद्यमों की असफलताओं के लिए सरकारी नीतियाँ कहाँ तक जिम्मेदार हैं?

हल

1. प्रश्न संख्या 01 के हल के लिए बिन्दु संख्या 15.3, 15.3.1 तथा 15.3.2 का अवलोकन करें।
2. प्रश्न संख्या 02 के हल के लिए बिन्दु संख्या 15.4.1 का अवलोकन करें।
3. प्रश्न संख्या 03 के हल के लिए बिन्दु संख्या 15.4.2 का अवलोकन करें।
4. प्रश्न संख्या 04 के हल के लिए बिन्दु 15.4.1 का अवलोकन करें।

इकाई – 16 लोक ऋण का अर्थशास्त्र एवं प्रकार Economics and Types of Public Debt

इकाई संरचना

16.1 प्रस्तावना

16.2 उद्देश्य

16.3 सार्वजनिक ऋण का अर्थ एवं प्रकृति

16.4 व्यक्तिगत या निजी तथा सार्वजनिक

16.5 सार्वजनिक ऋण बनाम कराधान

16.6 लोक ऋण में बृद्धि के कारण

16.7 सार्वजनिक ऋण का औचित्य

16.8 विकासशील देशों में सार्वजनिक ऋण का महत्व

16.8.1 आन्तरिक ऋण का महत्व एवं सम्भावना

16.8.2 बाह्य ऋण और विकासशील देशों का आर्थिक विकास

16.8.3 विदेशी ऋणों के उपयोग की शर्तें एवं सीमाएँ

16.9 लोक ऋण के प्रति दृष्टिकोण

16.10 लोक ऋण के प्रकार या वर्गीकरण

16.11 सारांश

16.12 परिभाषिक शब्दावली

16.13 अभ्यास प्रश्न

16.14 उपयोगी पाठ्य सामग्री

16.1 प्रस्तावना (Introduction)

अब तक के चार खण्डों के अध्ययन से आप लोक वित्त से सम्बन्धित अनेक विषयों यथा लोक वित्त से आशय, बजट, सार्वजनिक व्यय, राजकीय प्राप्तियाँ, करारोपण, राजकोषीय नीति से सम्बन्धित अनेक विषयों से परिचित हो गये होंगे। इस खण्ड पाँच के अन्तर्गत लोक ऋण से सम्बन्धित तीन इकाईयों क्रमशः इकाई 16 में लोक ऋण का अर्थशास्त्र एवं प्रकार; इकाई 17 में लोक ऋण के प्रभाव एवं भार तथा इकाई 18 में लोक ऋण भुगतान की विधियाँ एवं प्रबन्धन का अध्ययन करेंगे।

इकाई 16 के अन्तर्गत सार्वजनिक ऋण से सम्बन्धित प्राथमिक बातों यथा सार्वजनिक ऋण से तात्पर्य, सार्वजनिक ऋण तथा व्यक्तिगत ऋण में अन्तर, सार्वजनिक ऋण एवं कराधान, सार्वजनिक ऋण का औचित्य, विकासशील देशों में सार्वजनिक ऋण का महत्व, सार्वजनिक ऋण के प्रति दृष्टिकोण, सार्वजनिक ऋण के वर्गीकरण अन्य का अध्ययन करेंगे। सम्प्रति, सार्वजनिक ऋण न केवल विकासशील देशों की बल्कि विकसित देशों की भी आवश्यकता बन चुका है। यदि किसी देश के पास साधनों का अभाव है तथा वह विकास की प्रक्रिया में विश्व के विकसित देशों की बराबरी करना चाहता है तो उसे दोनों ही तरह के आन्तरिक तथा वाह्य ऋण लेने होंगे। आन्तरिक ऋण निष्क्रिय साधनों को सक्रिय बनाता है जबकि वाह्य ऋण विकास की गति तथा आवश्यकता की पूर्ति करता है।

16.2 उद्देश्य (Objectives)

लोक ऋण के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं :

- चालू व्यय की पूर्ति के अध्ययन हेतु।
- आकस्मिक स्थिति के अध्ययन हेतु ।
- उत्पादन कार्यों के सम्पादन के अध्ययन हेतु ।
- सुरक्षा तथा राजनीतिक उद्देश्यों के अध्ययन हेतु।
- उत्पादक उद्यमों के अध्ययन हेतु ।
- सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना एवं सार्वजनिक कार्यो के अध्ययन हेतु।
- अनुत्पादक सामाजिक सेवाओं के अध्ययन हेतु ।
- प्रशासनिक कार्यों की पूर्ति के अध्ययन हेतु ।
- आर्थिक स्थायित्व बनाएं रखने के अध्ययन हेतु ।
- बजट के अस्थायी घाटे को पूरा करने के अध्ययन हेतु।

16.3 सार्वजनिक ऋण का अर्थ एवं प्रकृति (Meaning and Nature of Public Debt)

सरकार जब सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करारोपण के द्वारा नहीं कर पाती है। (क्योंकि लोगों में एक निश्चित सीमा के बाद करारोपण की ऊँची दर असन्तोष को जन्म देगी तथा कार्य प्रेरणा को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करेगी) तथा घाटे की वित्त व्यवस्था का भी सहारा नहीं ले पाती है (क्योंकि उसे 'सुरक्षित सीमा' के भीतर ही रखना होता है, जिससे भयावह

मुद्रा स्फीति अर्थव्यवस्था को ध्वस्त न कर दें)। ऐसे समय वहाँ सरकार सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक आय के बीच के अन्तर को लोगों से उधार लेकर ऋण के माध्यम से पूरा करने का प्रयास करती है। यही सार्वजनिक ऋण है। इस तरह सार्वजनिक ऋण का अर्थ सरकार द्वारा लिए जाने वाले ऋण से है। सरकार द्वारा अपने देश के अन्दर तथा दूसरे देशों से लिये गये ऋण को लोक या सार्वजनिक ऋण कहते हैं। सार्वजनिक ऋण या तो आन्तरिक हो सकता है अथवा विदेशी सरकारों या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से लिया जा सकता है।

किसी अवधि में बजट घाटा (Budget deficit) राजस्व से व्यय आधिक्य (excess of spending over revenues) है। किसी दिए हुए समय में ऋण पिछले सभी बजट घाटे का जोड़ (sum of all over revenues) है। इस प्रकार ऋण पिछले राजस्व से पिछले व्यय का संचयी आधिक्य (cumulative excess) है। ऋण एक स्टॉक चर (stock variable) है, जिसकी माप समय के एक खास बिन्दु (at a point time) पर होता है। बजट घाटा एक प्रवाह चर (flow variable) है, जिसकी माप समय की एक अवधि (during a period of time) में होती है। उदाहरणार्थ, मान लें कि 2010 के दौरान सरकार को 25000 करोड़ रूपए का घाटा होता है, लोक ऋण के भण्डार में इस राशि का जोड़ दिया जाएगा। इसके विपरीत, मान लें कि 2008 में सरकार को 18000 करोड़ रूपये का अतिरेक (surplus) प्राप्त हुआ। लोक ऋण के भण्डार में इतनी राशि की कमी हो गई।

सम्प्रति, राज्य का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि सरकारें बिना ऋण के अपना कार्य नहीं चला सकतीं। सार्वजनिक ऋण को सार्वजनिक आय की दृष्टि से 'असाधारण वित्त' (Extraordinary Finance) कहा जाता है, क्योंकि सरकार द्वारा ऋण असाधारण आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु लिए जाते हैं। आजकल मुद्रा बाजार के विकास एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बृद्धि होने के कारण सार्वजनिक ऋण की प्रक्रिया काफी सुविधाजनक हो गई है। वर्तमान में, सार्वजनिक ऋण सरकार की आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत बन चुका है, किन्तु बहुत बड़ी मात्रा में सार्वजनिक ऋणों से आय स्रोत प्राप्त करना उचित नहीं है। बैस्टेबल के विचार से ''जिस प्रकार एक व्यक्ति हमेशा ऋण की सहायता से अपना काम नहीं चला सकता उसी प्रकार सरकार भी हमेशा ऐसे साधनों से काम नहीं चला सकती।'' वर्तमान में, सरकारें आन्तरिक ऋण अथवा बाह्य ऋण अथवा दोनों लेकर अपनी अनेक विकास योजनाओं को पूरा कर रही हैं।

सरकार जो राशि ऋण द्वारा किसी वर्ष प्राप्त करती है, वह उसकी उस वर्ष की आय का हिस्सा बन जाती है। यह आय स्थायी नहीं होती क्योंकि इसे कुछ समय के उपरान्त वापस करना होता है। अतः ऋण को सरकार की अल्पकालीन आय का साधन कहा जाता है। दीर्घकालीन दृष्टि से यह आय नहीं कही जा सकती। सरकार की आय में केवल उसी आय को सम्मिलित करना उचित होगा जो सदैव ही सरकार के उपयोग में रहे और जिसे सरकार को वापस लौटाना न पड़े। सार्वजनिक आय के विपरीत सार्वजनिक ऋणों पर एक निर्धारित अवधि तक ब्याज देना पड़ता है तथा ऋण की अवधि समाप्त होने पर ऋण राशि का भुगतान करना आवश्यक होता है। इस तरह सार्वजनिक ऋण की प्रकृति सार्वजनिक आय की प्रकृति से सर्वथा भिन्न होती है। प्रो0 जे0 के0 मेहता के अनुसार, ''सार्वजनिक आय वह प्राप्ति है जिसको, उसके भुगतान कर्त्ताओं को वापस लौटाना सरकार के लिए आवश्यक नहीं होता, जबकि इसके विपरीत सार्वजनिक ऋण के सम्बन्ध में सरकार इस बात के लिए बाध्य होती है कि उस धन को यह ऋणदाताओं के वापिस कर दें।''

वस्तुतः ऋण एक तरह का आर्थिक बोझ होता है, अतः सामान्य परिस्थितियों में ऋण लेना उचित नहीं समझा जाता।

सकल ऋण (Total Debt) तथा निवल ऋण (Net Debt) में अन्तर किया जाता है। निवल ऋण को जनता द्वारा धारण किया गया ऋण (debt held by the public) भी कहा जाता है, जिसमें स्वयं सरकार द्वारा धारण किए गए ऋण को शामिल नहीं किया जाता है। व्यक्ति या परिवार, बैंक, व्यवसायी, विदेशी तथा अन्य गैर–संघीय हस्तियां निवल ऋण के स्वामी होते हैं। सकल ऋण निवल ऋण तथा सरकार के स्वामित्व में बाण्ड का प्रयोग है। (Gross Debt = Net Debt + Bonds owned by the Government)

16.4 व्यक्तिगत या निजी तथा सार्वजनिक ऋण में अन्तर (Distinction Between Private and Public Debt)

सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत ऋणों के बीच अनेक समानतायें हैं, पर साथ ही कुछ असमानतायें भी हैं। जिन्हें निम्न प्रकार लिखा जा सकता है :

16.4.1 समानतायें :

(i) उद्देश्य – व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दोनों ही ऋण आकस्मिक समय में लिए जाते हैं। जब किसी कारण से आय की मात्रा व्यय की तुलना में कम पड़ जाती है, तभी व्यक्ति तथा सरकार द्वारा ऋण लिये जाते हैं।

(ii) ऋण की सीमा – व्यक्ति तथा सरकार दोनों की ही ऋण लेने की एक निश्चित सीमा होती है, जिसके बाद उन्हें ऋण नहीं प्राप्त होता है। यह सीमा उनकी ऋण तथा ऋण के ब्याज के भुगतान करने की क्षमता पर निर्भर करती है। यह बात दूसरी है कि व्यक्ति की ऋण क्षमता तथा साख दोनों कम होती है जबकि सरकार की क्षमता तथा साख दोनों अधिक होती है पर एक सीमा के बाद सरकार को भी उसी प्रकार ऋण नहीं मिल पाता है, जिस प्रकार व्यक्ति को।

(iii) भुगतान का दायित्व – दोनों ही ऋणो में ऋण के ब्याज तथा मूलधन के भुगतान के दायित्व के सम्बन्ध में समानता रहती है। दोनों के भुगतान के ढंग में अन्तर हो सकता है।

(iv) कोष का स्थानान्तरण – सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत दोनों ही ऋणों में एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में कोष का हस्तान्तरण होता है। व्यक्तिगत ऋण की स्थिति में हम यह पाते हैं कि ऋण से प्राप्त कोष का प्रयोग किसी साधन को प्राप्त करने के लिए किया जाता है, इस प्रकार एक प्रयोग के लिए दूसरे प्रयोग का त्याग करना पड़ता है। यही बात सार्वजनिक ऋण के भी सम्बन्ध में ठीक है। क्योंकि इसमें भी सरकार इस कोष के द्वारा कोई साधन प्राप्त करती है तथा इसमें व्यक्तिगत प्रयोग का त्याग करके सार्वजनिक प्रयोग में कोष को लगाया जाता है।

(v) ऋण का प्रयोग – व्यक्तिगत ऋण के सम्बन्ध में ऋणी यथा सम्भव प्रयास करता है कि ऋण का प्रयोग लाभप्रद उपयोगों में हो अन्यथा दायित्व का भुगतान नहीं किया जा सकता, ठीक यही बात सार्वजनिक ऋणों के भी सम्बन्ध में सही है, सरकार को भी यही प्रयास करना चाहिए।

16.4.2 असमानतायें :एक व्यक्ति की भाँति सरकार को भी ऋण लेना पड़ता है, लेकिन सरकार एवं जनता के द्वारा लिए गए ऋणों के उपयोग एवं ऋण की व्यवस्था में कुछ मौलिक अन्तर पाए जाते हैं, जो इस प्रकार है –

(i) **ऋण का उद्देश्य** – एक व्यक्ति अपने परिवार के हितों के लिए अथवा अपने निजी लाभ के लिए ऋण लेता है जबकि सरकार देश के कल्याण के लिए ऋण लेती है। कभी–कभी सरकार मुद्रा प्रसार की स्थिति को भी नियन्त्रित करने के लिए देश के लोगों से ऋण लेती है। सामान्यतया सरकार द्वारा लिए गए अधिकांश ऋण उत्पादक होते हैं, जबकि व्यक्तिगत ऋण उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं।

(ii) **ब्याज की दर** – सरकार की साख अधिक होने के कारण उसे कम ब्याज पर उधार मिल जाता है जबकि व्यक्तिगत ऋण प्रायः ऊँची ब्याज की दरों पर ही उपलब्ध हो पाता है।

(iii) **ऋण की मात्रा, अवधि तथा जमानत** – एक व्यक्ति की तुलना में सरकार अपनी ऊँची साख के कारण बड़ी मात्रा में तथा लम्बे समय के लिए ऋण ले सकती है और सरकार को जमानत देने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके विपरीत, व्यक्तिगत ऋणों की मात्रा एवं अवधि अपेक्षाकृत कम होती है और ऋण लेने के लिए प्रायः जमानत अथवा उचित धरोहर का होना आवश्यक समझा जाता है।

(iv) **ऋण प्राप्ति के रूप तथा स्रोत** – सरकार अपने देश के नागरिकों तथा विभिन्न संस्थाओं से ऋण लेने के साथ–साथ आवश्यकता पड़ने पर विदेशों से भी ऋण ले सकती है। इसके अलावा सरकार स्वयं भी ऋण का स्रोत उत्पन्न कर सकती है जबकि एक व्यक्ति या तो बैंक से अथवा अपने मित्रों एवं रिश्तेदारों से या साहूकार से ऋण ले सकता है। व्यक्ति के ऋण सम्बन्धी साधन अत्यन्त सीमित होते हैं और उसे प्रायः आन्तरिक ऋण ही उपलब्ध हो सकता है।

(v) **अनिवार्यता** – सरकार के पास राजसत्ता होती है। अतः वह आन्तरिक ऋण तो अपने अधिकारों का प्रयोग कर ले सकती है, जैसे आयकर दाताओं पर अनिवार्य बचत योजना लागू कर सरकार ने उनसे ऋण लिया था। किन्तु एक व्यक्ति इस प्रकार किसी शक्ति या अधिकार से ऋण नहीं ले सकता।

(vi) **ऋण भार** – व्यक्ति जब ऋण लेता है तो उसका भार उसी व्यक्ति पर पड़ता है या अधिकतम उसके परिवार के सदस्यों पर पड़ता है किन्तु सरकार द्वारा लिए गए ऋण का भार पूरे देश के लोगों पर पड़ता है क्योंकि ऋण चुकाने के लिए सरकार लोगों पर कर लगाती है। यही नहीं सार्वजनिक ऋण का भार वर्तमान पीढ़ी के साथ–साथ भावी पीढ़ी पर भी पड़ता है।

(vii) **साख का अन्तर** – सरकार की साख अधिक होने से सरकार को सरलता से तथा कम ब्याज पर ऋण मिल जाता है। इसी कारण सरकार द्वारा जारी ऋणपत्र हाथों–हाथ बिक जाते हैं, क्योंकि लोग सरकार को ऋण देना सुरक्षित विनियोग समझते हैं। किन्तु एक व्यक्ति को इतनी सरलता से ऋण नहीं मिलता साथ ही उसे ऊंची दर का ब्याज भी देना पड़ता है।

(viii) **ऋण का लाभ से सम्बन्ध** – जब व्यक्तिगत ऋण व्यय किया जाता है तो इससे ऋणदाता को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता किन्तु जब सरकार ऋण की राशि व्यय करती है तो देश के नागरिकों को लाभ प्राप्त होता है। इस लाभ में वे व्यक्ति भी शामिल होते हैं जो सरकार को ऋण नहीं देते हैं।

(ix) ऋण का परिशोधन – सरकार ऋण का भुगतान करने से इन्कार कर सकती है अथवा अपने ढंग से भुगतान करने का निर्णय ले सकती है किन्तु एक व्यक्ति लिए हुए ऋण का भुगतान करने से इन्कार नहीं कर सकता और यदि वह ऐसा करता है तो उस पर कानूनी कार्यवाही की जा सकती है। किन्तु सरकार भी अपनी साख को दृष्टि में रखते हुए ऋण का भुगतान करने से इन्कार नहीं करती।

(x) अवधि का अन्तर – व्यक्ति प्रायः अल्पावधि के लिए ऋण लेता है अथवा यह कुछ ही वर्षों के लिए होता है। इसके विपरीत, सरकार दीर्घकालीन योजनाओं के लिए दीर्घकालीन ऋण लेती है, जो 20–25 वर्ष या उससे भी अधिक की अवधि की हो सकती है।

(xi) गोपनीयता – व्यक्तिगत ऋण सामान्यतया गोपनीय रखे जाते हैं, जबकि सार्वजनिक ऋणों को गोपनीय नहीं रखा जाता। व्यक्ति अपनी साख व प्रतिष्ठा बचाए रखने के लिए ऐसा करता है। अधिकाधिक ऋणभार पड़ने पर भी वह अपनी स्थिति को छिपाए रखता है। इसके विपरीत, सरकार समय–समय पर ऋणों के लिए आँकड़ों को प्रकाशित करती रहती है, जिससे देश के नागरिकों के सामने स्थिति स्पष्ट रहे।

(xii) आवश्यकता का अन्तर– कोई ऋण तभी लेता है जब उसको धन की आवश्यकता होती है, परन्तु सरकार बहुत बार धन प्राप्त करने के दृष्टिकोण से नहीं वरन् अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने के लिए तथा उसमें आवश्यक परिवर्तन की दृष्टि से भी ऋण लेती है। यथा स्फीतिकाल में व्यक्तियों के पास क्रयशक्ति कम करने के उद्देश्य से सरकार जनता से ऋण लेती है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निजी ऋण एवं सार्वजनिक ऋण में अन्तर होता है।

16.5 सार्वजनिक ऋण बनाम कराधान (Public Debt vs. Taxation)

सार्वजनिक ऋण तथा करों दोनों में कुछ समानतायें हैं। ऋण तथा कर दोनों ही सरकार के आय के स्रोत हैं तथा दोनों जनता से लिये जाते हैं। जब सरकार देश की जनता से कर वसूल करती है अथवा ऋण लेती है तो देश में प्रचलित कुल मुद्रा की मात्रा स्थिर रहती है, केवल जनता के पास से मुद्रा का स्थानान्तरण सरकार को होता है।

किन्तु उपर्युक्त समानताओं के बावजूद इन दोनों में निम्न मौलिक भेद हैं :

(i) करारोपण आय का एक नियमित स्रोत है जो सरकार व्ययों की पूर्ति हेतु लेती है, जबकि सार्वजनिक ऋण साधारण एवं असाधारण दोनों ही प्रकार के व्ययों को पूरा करने के लिए जाता है।

(ii) करों का क्षेत्र ऋणों की तुलना में सीमित होता है। करों को केवल देश के अन्दर ही प्राप्त किया जा सकता है, जबकि ऋणों को देश व विदेश दोनों ही स्थानों से प्राप्त किया जा सकता है।

(iii) करों से प्राप्त आय सीमित होती है जिसे सरकार सोच–समझकर मिव्ययिता से व्यय करती है। जबकि सार्वजनिक ऋण धन–प्राप्ति का एक सुगम साधन होने के कारण मितव्ययिता को कम महत्व दिया जाता है।

(iv) करों से प्राप्त होने वाली धन–राशि का वापस भुगतान नहीं करना पड़ता जबकि सार्वजनिक ऋण सरकार पर बोझ होते हैं क्योंकि ऋण–राशि और उसके ब्याज का भुगतान सरकार द्वारा ऋणदाता को करना पड़ता है।

(v) कराधान का भार तथा लाभ दोनों ही वर्तमान पीढ़ी प्राप्त करती है और कर के रूप में त्याग भी इसी पीढ़ी को करना पड़ता है। इसके विपरीत, सार्वजनिक ऋणों का भार तथा उसका प्रतिफल भावी पीढ़ी को प्राप्त होता है क्योंकि अधिकांश ऋण दीर्घकालीन विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए खर्च किए जाते हैं।

(vi) कर का भुगतान प्रायः वर्तमान आय से किया जाता है जबकि सरकार को ऋण व्यक्ति प्रायः अपनी पूँजी में से देता है। साथ ही कर की राशि संग्रह करने में कुछ समय लगता है किन्तु सार्वजनिक ऋण शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं।

16.6 लोक ऋण में बृद्धि के कारण (Causes to Increase in Public Debt)

वर्तमान में प्रायः सब देशों में लोक ऋण की मात्रा में बृद्धि हुई है, विशेष रूप से विकासशील देशों में लोक ऋण की मात्रा तीब्र गति से बढ़ी है। लोक ऋण में बृद्धि के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

(i) कल्याणकारी राज्य होने से सरकार के कार्यक्षेत्र में बृद्धि होने से उसके व्यय में भारी बृद्धि हुई है। साथ ही सरकारों को युद्ध तथा युद्ध की तैयारी पर भारी व्यय करना पड़ता है, जो अनुत्पादक व्यय होता है। इस व्यय की पूर्ति हेतु सरकार को ऋण लेना पड़ता है।

(ii) आजकल सामान्यतया सरकारों द्वारा घाटे के बजट बनाए जाते हैं और बजट प्रस्तुत करते समय जिस व्यय को बिना पूर्ति के छोड़ दिया जाता है, बाद में उसकी पूर्ति लोक ऋण से की जाती है।

(iii) सम्प्रति, कल्याणकारी राज्यों (Welfare States) की स्थापना से तथा लोगों के आर्थिक कल्याण में बृद्धि करने के लिए सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर भारी व्यय करना होता है, जैसे – सड़कें, रेल, बाँध, नहरें, स्वास्थ्य एवं शिक्षा आदि। इसकी वित्तीय व्यवस्था काफी अंशों में ऋणों से की जाती है।

(iv) योजनागत् आर्थिक विकास की विभिन्न परियोजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता होती है। इसकी व्यवस्था लोक ऋण द्वारा की जाती है, जिससे लोक ऋण में बृद्धि होती है।

(v) देश में मुद्रा–प्रसार एवं आर्थिक मन्दी के कारण अर्थव्यवस्था में अस्थिरता पैदा हो जाती है, जिसका देश पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि देश में आर्थिक स्थिरता रहे। मन्दी को दूर करने के लिए सरकारी व्यय लोक ऋण द्वारा की जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट है कि लोक ऋण की मात्रा में बहुत अधिक बृद्धि हुई है।

16.7 सार्वजनिक ऋण का औचित्य (Justification of Public Debt)

लोक ऋण के औचित्य के बारे में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इस आधार पर लोक ऋण का विरोध किया कि इससे फिजूलखर्ची में बृद्धि होती है, युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है एवं राष्ट्रों की आर्थिक स्थिरता खतरे में पड़ती है। **एडम स्मिथ** का मत था ''बढ़ते हुए ऋण

वर्तमान में कष्ट पहुँचाते हैं और दीर्घकाल में सम्भवतः पूरे यूरोप के देशों को बरबाद कर देंगे।'' दूसरे शब्दों में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री सन्तुलित बजट नीति के समर्थक थे अर्थात् वे इस दृष्टिकोण के समर्थक थे कि सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक आय से अधिक नहीं होना चाहिए। यदि सरकार ऋण लेने के लिए बाध्य हो ही जाय तो केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण लेना चाहिए। कीन्सियन क्रान्ति ने सार्वजनिक ऋण की धारणा को एक नया मोड़ दिया तथा यह प्रतिपादित किया कि गुणक प्रभाव के क्रियाशीलन के कारण सार्वजनिक ऋण में बृद्धि राष्ट्रीय आय तथा रोजगार में बहुत अधिक बृद्धि लायेगी। कीन्स ने यह मत दिया कि सरकार को उत्पादक तथा अनुत्पादक (उपभोग) सभी प्रकार के उद्देश्यों हेतु ऋण लेना चाहिये तथा प्रभावोत्पादक माँग में बृद्धि करनी चाहिये। इस प्रकार कीन्स ने उपभोग के लिए भी सार्वजनिक ऋण पर बल दिया क्योंकि चाहे उत्पादक वस्तुओं में विनियोग के लिए अथवा उपभोग वस्तुओं में विनियोग के लिए ऋण लिया जाय, दोनों ही स्थितियों में प्रभावोत्पादक माँग में बृद्धि होगी।

प्रो0 हैन्शन सभी वित्तीय अस्त्रों में, सार्वजनिक ऋण को आर्थिक स्थिरता कायम रखने की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण तथा लोचदार अस्त्र मानते हैं। उनका यह मत है कि घाटे की वित्त व्यवस्था तो एक धार की तलवार है जो केवल अवसाद में लागू होती है, अभिबृद्धि की स्थिति में नहीं लागू होती है, पर इसके विपरीत सार्वजनिक ऋण एक प्रभावशाली अस्त्र है, जिसके द्वारा अवसाद की स्थिति में भी मुद्रा की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है तथा अभिबृद्धि की स्थिति में मुद्रा को बाहर भी निकाला जा सकता है। इसीलिए न केवल युद्धकाल में बल्कि आजकल सामान्य स्थितियों में भी सार्वजनिक ऋणों को सरकारी बजट में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अनेक देशों में ऋण का प्रयोग पूँजी–निर्माण तथा मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए किया जाता है। संक्षेप में, आधुनिक विचारकों का मत है कि राज्य के बढ़ते हुए कार्यों के कारण ऋण सरकार की सामान्य प्रक्रिया का अंग है और राज्य के नागरिकों की सेवा के लिए लिया गया ऋण विनियोग के समान है। यद्यपि कि उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोण चरम स्थिति के प्रतीक हैं।

वस्तुतः लोक ऋण की उपयोगिता उसके उद्देश्यों पर निर्भर रहती है। यदि ऋण के फलस्वरूप विकास की दर में बृद्धि होती है, देश में आय, बचत और विनियोग में बृद्धि होती है जिससे आत्म–स्फूर्ति–विकास की अवस्था को जल्दी प्राप्त किया जा सके तो ऐसे ऋणों का पूरा–पूरा औचित्य है। किन्तु यदि ऋण का प्रयोग अनुत्पादक कार्यों के लिए किया जाता है जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विकास और उत्पादकता में कोई सहायता नहीं मिलती तो ऐसे ऋण को भार ही माना जाएगा तथा उसका कोई औचित्य नहीं है। हाल के वर्षों में सार्वजनिक ऋण की मात्रा में बहुत तेजी से बृद्धि हुयी है जिसके प्रमुख कारण निम्न हैं :

(i) इन देशों में साधनों की कमी होती है, जिससे सार्वजनिक क्षेत्र की विनियोग सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती। क्योंकि करारोपण के कारण कार्य प्रेरणा हतोत्साहित होती है तथा घाटे की वित्त व्यवस्था से मुद्रा स्फीति का डर रहता है, इसलिए सार्वजनिक ऋणों पर विशेष बल दिया जाता है।

(ii) करारोपण समाज के ऊपर एक प्रत्यक्ष बोझ है, घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण भी बोझ आता है क्योंकि इसके कारण मूल्य में बृद्धि होती है और ऐसी स्थिति में गरीब तथा धनी के बीच किसी भी प्रकार का भेद नहीं होता। जबकि सार्वजनिक ऋण से उत्पन्न बोझ उक्त

दोनों की तुलना में सबसे कम होता है। डॉ0 भार्गव का कहना है कि सार्वजनिक ऋण के कारण करारोपण के बोझ को सहन करने की क्षमता बढ़ जाती है – क्योंकि इसके कारण उत्पादन क्षमता में बृद्धि होती है।

(iii) विकासशील देशों में मुख्य समस्या प्रभावोत्पादक माँग की कमी की नहीं है बल्कि उत्पादक क्षमता में बृद्धि की है। इसलिए आर्थिक विकास को पूरा करने के लिए वह वित्तीय तरीका अपनाया जाना चाहिये जो प्रभावोत्पादक माँग में कम से कम बृद्धि के साथ उत्पादन–क्षमता में बृद्धि लाये। घाटे की वित्त व्यवस्था की तुलना में सार्वजनिक ऋण द्वारा मुद्रा की पूर्ति में कम बृद्धि आयेगी।

(iv) सार्वजनिक ऋण आय सृजन (revenue genertor) तथा आर्थिक स्थिरता कायम करने वाला अस्त्र है, वित्तीय नीति के रूप में यह बचत का सृजन तथा गतिशीलता बनाये रखता है तथा मौद्रिक अस्त्र के रूप में यह आर्थिक स्थिरता को कायम रखने के लिए महत्वपूर्ण यन्त्र माना जाता है।

(v) सार्वजनिक ऋण सबसे अधिक लोचदार वित्तीय तथा मौद्रिक अस्त्र है। एक निश्चित सीमा के बाद कर नहीं लगाया जा सकता। अभिबृद्धि की स्थिति में घाटे की वित्त व्यवस्था असफल हो जाती है, पर सार्वजनिक ऋण सभी स्थितियों में व्यापार चक्रों के नियन्त्रण के अस्त्र के रूप में अपनाया जा सकता है।

16.8 विकासशील देशों में सार्वजनिक ऋण का महत्व (Importance of Public Debt in Developing Countries)

विकासशील देशों की मुख्य समस्या तेजी के साथ आर्थिक विकास करना है परन्तु इसके लिए पूँजी–संचय व पूँजी निर्माण की ऊँची दर का होना आवश्यक है। विकासशील देशों में निम्न उत्पादकता तथा कम आय के कारण बचतों का स्तर नीचा बना रहता है, जिससे आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नहीं हो पाती। अतः ऐसी दशा में प्रत्येक विकासशील देश की सरकार को ऋणों की सहायता लेनी पड़ती है भले ही वे आन्तरिक ऋण हों अथवा बाह्य ऋण। इन देशों में लगातार बढ़ते विकास व्यय के लिए वित्त जुटाना एक अत्यधिक कठिन समस्या है। वित्तीय साधनों को जुटाने के संदर्भ में ही कर की भूमिका पर बल दिया जाता है, किन्तु करारोपण की सीमाएँ हैं। इन सीमाओं के अतिक्रमण के पश्चात् आर्थिक प्रेरणा सम्बन्धी समस्याएं खड़ी हो जाती हैं, यथा, स्वैच्छिक प्रकृति या भुगतान की प्रत्याशा। इन्हीं कारणों से इसके सम्बन्ध में आर्थिक प्रेरणा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की कम सम्भावना रहती है। लोकव्यय के लिए ऋण को उपयुक्त इसलिए समझा जाता है, क्योंकि इसके द्वारा पूंजीगत वस्तुओं का सृजन होता है। लोक ऋण द्वारा ऐसी बचत को उत्पादक कार्यों के लिए जुटाया जा सकता है, जो इसकी अनुपस्थिति में संचय की जाती है या जमीन तथा बहुमूल्य धातुओं जैसे अनुत्पादक व्ययों पर खर्च की जाती है।

लोक ऋण द्वारा सार्वजनिक विनियोग के स्तर को ऊँचा किया जा सकता है। इस कारण कुल विनियोग का स्तर भी ऊँचा हो जाएगा जो सिर्फ करारोपण की स्थिति में सम्भव नहीं हो सकता। एक अन्य तरीके से भी लोक ऋण आर्थिक विकास में योगदान देता है। व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का एक भाग परिसम्पत्ति के रूप में रखना चाहता है, जिससे सुरक्षित आय प्राप्त हो। इसके आधार पर लोग स्थिर आय वाले सरकारी बाण्ड में विनियोग करने का मन बनाते हैं।

संक्षेप में विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था में लोक ऋणों का महत्व इस प्रकार है–

(i) यदि ऋणों का विवेकपूर्ण ढंग से प्रयोग किया जाय तो इससे उत्पादकता में बृद्धि होती है।

(ii) संकटकालीन स्थितियों का सामना करने के लिए लोक ऋण का महत्व निर्विवाद है।

(iii) विकासशील देशों में आर्थिक विकास के लिए लोक ऋणों का विशेष महत्व है, विशेष रूप से इसलिए कि इन सरकारों के पास पूँजी का अभाव रहता है।

(iv) एक देश की जनता को लोक ऋणों के माध्यम से विनियोग का अच्छा साधन मिल जाता है, क्योंकि सरकार को ऋण देना सुरक्षित रहता है।

(v) लोक ऋणों की सहायता से भुगतान का प्रतिकूल सन्तुलन ठीक किया जा सकता है।

(vi) लोक ऋणों की सहायता से युद्धों की वित्तीय व्यवस्था भी की जाती है।

उपर्युक्त महत्व के साथ लोक ऋणों के कुछ दोष भी हैं, जैसे, इसका देश की भावी पीढ़ी पर भार पड़ता है। सरकार ऋण राशि का अपव्यय करती है एवं विदेशी सरकार द्वारा ऋण लेने वाले देश की अर्थव्यवस्था में अनुचित हस्तक्षेप किया जाता है, साथ ही ऋण देने वाले देश अनुचित राजनीतिक दबाव भी डालते हैं। किन्तु जहाँ तक ऋणों के अपव्यय का प्रश्न है, सरकार यदि विवेकपूर्ण ढंग से व्यय करे तो इसे टाला जा सकता विदेशी ऋणों द्वारा अनुचित दबाव की शर्तों पर ऋण नहीं लेना चाहिए, जो उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं।

आन्तरिक तथा वाह्य ऋणों के महत्व एवं विदेशी ऋणों की शर्तों एवं सीमाओं को निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है :–

16.8.1 आन्तरिक ऋण का महत्व एवं सम्भावना (Importance and Possibility of Internal Debts) विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिए बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता की पूर्ति सार्वजनिक आय के नियमित स्रोतों से नहीं हो सकती, अतः विकास वित्त की दृष्टि से सरकार को लोगों से अधिकाधिक मात्रा में ऋण लेने पड़ते हैं। परन्तु आन्तरिक ऋण मनचाही मात्रा में नहीं प्राप्त किए जा सकते, क्योंकि ऋण सदैव बचतों में से दिया जाता है और इन देशों में लोगों की आय कम होने के कारण बचत की दर बहुत कम होती है। कुछ सीमा तक सरकार बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से ऋण प्राप्त कर सकती है, परन्तु इन देशों में मुद्रा एवं पूँजी बाजार कम विकसित होने के कारण यह स्रोत भी अधिक कारगर नहीं हो पाता। इस तरह, विकासशील देशों के आर्थिक विकास में आन्तरिक ऋणों के महत्व के बावजूद इसका क्षेत्र अत्यधिक सीमित बना रहता है।

16.8.2 बाह्य ऋण और विकासशील देशों का आर्थिक विकास (External Debts and Economic Development of Developing Countries) – आन्तरिक साधनों के अभाव में विकासशील देशों के सामने बाह्य के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह जाता। यद्यपि विकास वित्त की व्यवस्था हेतु कुछ लोग अतिरिक्त करारोपण तथा हीनार्थ प्रबन्धन का सुझाव देते हैं, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये दोनों ही उपाय मुद्रा प्रसार के रूप में विकास लागत को और बढ़ा देते हैं। अतः विदेशी ऋण अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास की एक अपरिहार्य शर्त है। विदेशी ऋण इन देशों में घरेलू बचत की दर तथा आवश्यक विनियोग की दर में पाए जाने वाले अन्तर को पूरा करके पूँजी निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक साधनों के विदोहन, आधारभूत उद्योगों की स्थापना, तकनीकी ज्ञान, विशिष्ट पूंजीगत उपकरणों तथा आर्थिक संरचना के विकास की दृष्टि

से भी विदेशी ऋणों का अपना एक विशेष महत्व है। संक्षेप में, विदेशी ऋण देश में उत्पादकता, आय तथा रोजगार को बढ़ावा देकर आर्थिक विकास को सम्भव बनाते हैं।

16.8.3 विदेशी ऋणों के उपयोग की शर्तें एवं सीमाएँ (Limitation and Conditions of the Use of Foreign Debt) – इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक विकास के लिए विदेशी ऋण काफी उपयोगी होते हैं, परन्तु इसके साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विदेशी ऋणों का वास्तविक एवं मौद्रिक भार आन्तरिक ऋणों की अपेक्षा बहुत अधिक होता है, क्योंकि ये विदेशी भुगतान की आर्थिक सीमाएँ उत्पन्न कर देते हैं। एक तो विदेशी मुद्रा के परिवर्तन में कठिनाई होती है, दूसरे विदेशी ऋणों का शोधन करने का अर्थ यह होता है कि इससे राष्ट्रीय आय में कमी आती है तथा देश में स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा के स्रोतों को क्षति पहुँचती है। अतः आवश्यक है कि विदेशों से ऋण बहुत सोच समझ कर प्राप्त किया जाय। विदेशी ऋणों का अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयास किया जाना चाहिए जिसके लिए आवश्यक है कि (1) विदेशी ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही प्रयोग किया जाय। (2) ऐसे ऋणों का उपयोग अधिकतर देश में प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक संबृद्धि को प्रोत्साहित करने के लिए ही किया जाना चाहिए जिससे राष्ट्रीय आय में बृद्धि हो तथा भविष्य में मूलधन तथा ब्याज का भुगतान सम्भव हो सके। (3) विदेशी ऋणों का विनियोग इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे भविष्य में भुगतान सन्तुलन अनुकूल बना रहे। (4) विदेशी ऋणों से अधिकत्तम् लाभ प्राप्त करने के लिए देश में पर्याप्त पूँजी अवशोषण–क्षमता का होना भी आवश्यक है। अन्य शब्दों में ऋण इतना लिया जाय कि ऋणी देश उसका पूरा–पूरा उपयोग करने की सामर्थ्य रखता हो। इन देशों को उस समय तक विदेशी ऋण प्राप्त नहीं करना चाहिए जब तक कि उनके आन्तरिक साधन अपर्याप्त न हों और जब तक देश इन ऋणों का समुचित उपयोग करने की स्थिति में न हो। सामान्यतया विकासशील देशों में टेक्नोलाजी का अभाव, कुशल व प्रशिक्षित श्रमशक्ति की कमी, श्रम की गतिशीलता में कमी, अधूरी आर्थिक संरचना, मुद्रास्फीति तथा प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन जैसे घटक पूँजी सोखने की क्षमता को सीमित कर देते हैं, इसलिए ऐसे देशों को अपनी क्षमता के अनुसार ही ऋण लेना चाहिए नहीं तो ऋण भार इतना बढ़ जाएगा कि वह देश को दिवालिया बना देगा।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि क्योंकि विकासशील देशों का उद्देश्य आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करना ही नहीं वरन् आर्थिक संबृद्धि प्राप्त करना भी है, अतः सरकार को ऋण, व्यय तथा ऋण के भुगतान के बीच समन्वय स्थापित करना चाहिए और विदेशी ऋणों को उसी समय प्राप्त करना चाहिए जब तक इसके बिना आर्थिक विकास सम्भव न हो।

16.9 लोक ऋण के प्रति दृष्टिकोण (Attitude towards Public Debt)

किसी देश की सरकार दो स्रोतों से आय करती है, यथा – लोक राजस्व तथा लोक ऋण। लोक राजस्व से तात्पर्य सरकार की उस प्राप्ति से है जिसके सम्बन्ध में सरकार का कोई नैतिक दायित्व नहीं है कि वह उसे उन लोगों को वापस करें, जिनसे वह ली गयी है। इसके विपरीत लोक ऋण के सम्बन्ध में सरकार का यह नैतिक दायित्व है कि वह मुद्रा उन लोगों को लौटा दे जिनसे ली गयी है। लोक ऋण के प्रति निम्न तीन दृष्टिकोण उल्लेखनीय हैं :

1. क्लासिकल विचारधारा (Classical Approach)

2. केन्सीय विचारधारा (Keynesian Approach)
3. केन्सोत्तर विचारधारा (Post – Keynesian Approach)

16.9.1 क्लासिकल विचारधारा – इस विचारधारा के अन्तर्गत उन्नीसवीं सदी के अर्थशास्त्रियों तथा उनके नव–क्लासिकल उत्तराधिकारियों के दृष्टिकोण शामिल हैं। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक ऋण को बोझ समझा जाता था। इसलिये सामान्यतः क्लासिकल लेखक लोक ऋण के विरूद्ध थे। उनकी यह मान्यता थी कि व्यक्तिगत उपभोक्ता तथा व्यवसायिक फर्में साधनों का अधिक कुशल उपयोग करते हैं। पूर्ण रोजगार की स्थिति में सरकार जिन साधनों को उधार लेती है वे निजी क्षेत्र में अधिक उपयोगी कार्य में लगे रहते हैं। एडम स्मिथ ने ऐसा ही विचार व्यक्त किया था। इसका यह अर्थ नहीं है कि क्लासिकल अर्थशास्त्री किसी भी प्रकार के सरकारी ऋण के विरूद्ध थे। वे न्यूनतम लोक व्यय का समर्थन करते थे।

एडम स्मिथ की पुस्तक 'Wealth of Nations' (1776) के प्रकाशन के नौ वर्ष पूर्व 1767 में जेम्स स्टुअर्ट (James Stuart) ने यह विचार व्यक्त किया कि लोक ऋण को अर्थव्यवस्था के साम्य चक्र (Balance Wheel) के रूप में कार्य करना चाहिए। अर्थव्यवस्था की स्थिति के अनुसार लोक ऋण का समायोजन किया जाना चाहिए। आर्थिक समृद्धि के काल में पूर्ण रोजगार के स्तर पर लोक ऋण का अर्थ होगा ब्याज दर में बृद्धि तथा वाणिज्य एवं व्यापार पर अनुचित प्रभाव। किन्तु, मन्दीकाल में जब व्यापार में ह्रास होता है, लोक ऋण द्वारा व्यय में बृद्धि करके आर्थिक क्रियाओं में बृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार लोक ऋण सन्तुलन चक्र पूरा हो जाता है। वस्तुतः कर तथा ऋण के मध्य चयन करने में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री निम्न कारणों से कर के पक्ष में विचार करते थे :

(i) घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण लोक ऋण में बृद्धि होती है। क्योंकि ऋण लोक व्यय की आसान वित्त व्यवस्था है, अतः ऐसी सम्भावना है कि सरकार फिजूलखर्च करे तथा दायित्वहीन हो जाये। फलतः लोक ऋण अर्थव्यवस्था पर निश्चित रूप से भार बन जाएगा।

(ii) लोक ऋण पर ब्याज के भुगतान तथा मूलधन की वापसी के लिए अतिरिक्त कर लगाने की जरूरत होगी। ऐसा कारारोपण कठिन हो सकता है क्योंकि सरकार की कर लगाने की क्षमता असीमित नहीं होती है।

(iii) घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण मुद्रा की पूर्ति काफी बढ़ सकती है तथा मुद्रा–स्फीति का सृजन हो सकता है।

परन्तु, उपर्युक्त के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि क्लासिकल अर्थशास्त्री सभी प्रकार के लोक ऋण के विरोधी थे। वे उत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेने के पक्ष में थे। कारण यह है कि ऐसी पूंजी परियोजनाओं (Capital Projects) द्वारा उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं को बेचकर जो रकम प्राप्त की जाएगी उससे मूलधन तथा ब्याज का भुगतान किया जा सकता है। अतः अतिरिक्त कर लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। इन्हें स्वयं परिसमापन परियोजनाएं (Self – liquidating Projects) कहा जाता है।

16.9.2 केन्सीयन विचारधारा – सामान्यतः प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा लोक ऋण के विरूद्ध विचार व्यक्त करने वाले समर्थकों की तुलना में लोक ऋण के पक्ष में समर्थकों की संख्या अपवाद स्वरूप मानी जाती है, जिससे ऐसे छुट–पुट विचार क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की प्रमुख विचारधारा के समुद्र में डूब गए। केन्स ने इस विचारधारा को पलट दिया। उसने यह स्वीकार नहीं किया कि हस्तक्षेप

की अनुपस्थिति में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाली पूंजीवादी अर्थव्यवस्था स्वयं ही पूर्ण रोजगार के साम्य पर पहुँच जाती है। उन्होंने बताया कि बड़े पैमाने पर अनैच्छिक बेरोजगारी के विद्यमान रहने पर भी अर्थव्यवस्था सन्तुलन में हो सकती है। यही केन्स की अर्ध रोजगार साम्य (Underemployment Equilibrium) की धारणा है। इस स्थिति में सरकार द्वारा यदि कोई कदम नही उठाया गया तो साधन काफी लम्बे समय तक निजी क्षेत्र में बेकार पड़े रह सकते हैं। अतः यदि लोक ऋण द्वारा सरकार अपने व्यय में वृद्धि करके बेकार पड़े मजदूरों तथा अन्य साधनों को रोजगार देती है, तो इस क्रिया से निजी क्षेत्र को साधनों से वंचित नहीं किया जाता है। इसके विपरीत, स्थिति यह होगी कि समग्र उत्पत्ति एवं आय में वृद्धि होगी। अतः यह कहना सही नहीं है कि लोक ऋण हमेशा अनुत्पादक, स्फीतिजनक तथा भार होता है।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक ऋण के बोझ से सम्बन्धित सामान्य क्लासिकल धारणा अतिवादी है जो इस तथ्य पर आधारित है कि सभी राजकीय व्यय अनुत्पादक होते हैं तथा सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत ऋण में भेद नहीं होता है। पर इनका दृष्टिकोण ठीक नहीं क्योंकि सभी राजकीय व्यय अनुत्पादक नहीं होते तथा सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत ऋणों में भेद होता है। व्यक्तिगत ऋण के सम्बन्ध में ऋणी अपने से सर्वथा भिन्न ऋणदाता को ब्याज तथा मूलधन का भुगतान करता है जबकि सार्वजनिक ऋण के सम्बन्ध से कर देने वाला सरकारी प्रतिभूतियों के धारक अर्थात् जिसने सरकार का ऋण दिया था, को ब्याज तथा मूलधन देता है। पर क्योंकि कर देने वाले तथा प्रतिभूतियों को धारण करने वाले दोनों एक ही समुदाय के हैं अतः समष्टि स्तर पर सार्वजनिक ऋण किसी भी प्रकार का बोझ नहीं उत्पन्न करता जबकि व्यक्तिगत ऋण के कारण व्यष्टि पर ऋणी के ऊपर बोझ उत्पन्न होता है।

16.9.3 केन्सोत्तर विचारधारा – 1930 की महान मन्दी तथा कीन्सियन क्रान्ति ने आधुनिक सिद्धान्त के लिए रास्ता तैयार किया। वे सभी अर्थशास्त्री जो कीन्स का अनुसरण करते हैं वे सार्वजनिक ऋण के आय सृजन प्रभाव को स्वीकार करते हैं तथा यह अस्वीकार करते हैं कि सार्वजनिक ऋण अर्थव्यवस्था पर बोझ होगा। हैरॉड जी0 मोल्टन यह मानते हैं कि सार्वजनिक ऋण राष्ट्रीय सम्पत्ति है दायित्व नहीं और देश की आर्थिक समृद्धि के लिए आवश्यक है। लर्नर जैसे अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि आन्तरिक सार्वजनिक ऋण एक जेब से दूसरी जेब अथवा दाहिने हाथ से बायें हाथ का हस्तान्तरण मात्र है, इसलिए यह बोझ नहीं है। ये अर्थशास्त्री अपना मत एक परिवार के तर्क के आधार पर देते हैं। जिस प्रकार से परिवार की सम्पत्ति परिवार के सदस्यों में ही ऋण के आदान–प्रदान के द्वारा कम नहीं होती उसी प्रकार पूरी अर्थव्यवस्था को यदि परिवार के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो चूँकि अर्थव्यवस्था में एक वर्ग या व्यक्ति लेनदार है तथा दूसरा देनदार इसलिए सार्वजनिक ऋण न तो किसी वर्ग को गरीब बनायेगा और न किसी को धनी।

लोक ऋण के विशाल आकार को देखते हुए अर्थशास्त्रियों ने इसके विषय में फिर से सोचना शुरू किया। इस चिन्तन के परिणामस्वरूप केन्सोत्तर अर्थशास्त्रियों ने लोक ऋण की पारम्परिक धारणा के अन्तर्गत केन्सीय अर्थशास्त्र द्वारा लाए गए अधिकांश सुधारों को स्वीकार किया, लेकिन लोक ऋण के प्रबन्ध तथा लोक ऋण एवं मुद्रा पूर्ति के अन्तर–सम्बन्धों पर विशेष ध्यान देने की बात कही। इनका मानना है कि– आन्तरिक ऋण के कारण कर तथा ऋण सेवा के रूप में हस्तान्तरण भुगतान कई क्रमों में होते हैं तथा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के ख्याल से वे एक–दूसरे को

निरस्त कर देते हैं। किन्तु, लोक ऋण के विशाल आकार को बिना किसी महत्व का बताकर टाला नहीं जा सकता। अनेक अर्थशास्त्रियों ने यह विचार व्यक्त किया कि आज का ऋण कल के लिए भार बन जायेगा। यदि हम स्वीकार भी कर लें कि लेनदार तथा देनदार दोनों ही एक बड़े परिवार के सदस्य हैं, तो भी आन्तरिक ऋण बोझ उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि इसके कारण एक वर्ग से दूसरे वर्ग को आय का हस्तान्तरण होगा, जिससे आय का वितरण प्रभावित होगा। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि जो ब्याज पाने वाला हो वही कर देने वाला भी हो। कर का ढाँचा इतना प्रगतिशील हो ही नहीं सकता है कि कर की पूरी राशि ब्याज प्राप्तकर्ता से ही प्राप्त कर ली जाय। रैचफोर्ड तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि ब्याज प्राप्त करने के ही अनुपात में कर दे दिया जाय तो भी आन्तरिक ऋण के कारण बोझ उत्पन्न होगा क्योंकि कर लगाना तथा उसे इकट्ठा करना घर्षण तथा असन्तुलन उत्पन्न करता है। डाल्टन भी इसे स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ''सार्वजनिक ऋण से कहाँ तक वास्तविक बोझ उत्पन्न होगा या वास्तविक लाभ उत्पन्न होगा, यह करदाता से सार्वजनिक लेनदार के हाथ में आय के हस्तान्तरण पर निर्भर करेगा। प्रारम्भिक रूप में यह बोझ या लाभ उत्पन्न करेगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि इसके कारण आय की असमानता में कहाँ तक बृद्धि या कमी होती है।'' यही नही विशाल मात्रा में लिया गया आन्तरिक ऋण कई समस्याओं को जन्म देता है। यह मौद्रिक नीति को जटिल बनाने के साथ–साथ प्रबन्ध की कठिनाइयों को भी जन्म देता है।

16.10 लोक ऋण के प्रकार या वर्गीकरण (Types or Classification of Public Debt)

लोक ऋण का वर्गीकरण निम्न 8 आधारों पर किया जा सकता है :

सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण

1. स्रोत के आधार पर	**2. उपयोग के आधार पर**	**3. प्रकृति के आधार पर**
(i) आन्तरिक ऋण	(i) उत्पादक ऋण	(i) ऐच्छिक ऋण
(ii) वाह्य ऋण	(ii) अनुत्पादक ऋण	(ii) अनिवार्य ऋण
4. अवधि के आधार पर	**5. भुगतान के आधार पर**	**6. ब्याज के आधार पर**
(i) अल्पकालीन ऋण	(i) प्रतिदेय ऋण	(i) ब्याज सहित ऋण
(ii) दीर्घकालीन ऋण	(ii) अप्रतिदेय ऋण	(ii) ब्याज रहित ऋण
7. विपणन के आधार पर	**8. मात्रा के आधार पर**	
(i) विपणन योग्य ऋण	(i) सकल ऋण	
(ii) विपणन अयोग्य ऋण	(ii) शुद्ध ऋण	

16.10.1 ऋण स्रोत के आधार पर – ऋण कहाँ से प्राप्त किया गया है, के आधार पर लोक ऋण दो प्रकार के हो सकते हैं : (i) आन्तरिक ऋण (ii) वाह्य अथवा विदेशी ऋण

(i) आन्तरिक ऋण (Internal Debt) – जब सरकार अपने देश में नागरिकों को प्रतिभूतियाँ बेचकर उनसे ऋण प्राप्त करती है तो इसे आन्तरिक ऋण कहते हैं। **प्रो. डाल्टन** के अनुसार, ''एक ऋण आन्तरिक है यदि वह उन व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा दिया जाता है जो उस क्षेत्र में रहते हैं, जिसे ऋण लेने वाली लोक सत्ता द्वारा नियन्त्रित किया जाता है।''

(ii) बाह्य ऋण (External Debt) – यदि लोक ऋण विदेशों में रहने वाले व्यक्तियों या संस्थाओं या सरकारों से प्राप्त किए जाते हैं तो उन्हें बाह्य ऋण कहते हैं। **डाल्टन** के अनुसार, ''ऋण उस समय वाह्य होगा, यदि वह उन व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा दिया जाता है, जो उस क्षेत्र से बाहर रहते हैं, जिसे ऋण लेने वाली लोक सत्ता द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जाता है।'' उदाहरणतः, भारत द्वारा अमेरिका, जापान, इंगलैण्ड, इत्यादि देशों से एवं विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ, आदि अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से जो ऋण लिया जाता है, वह वाह्य अथवा विदेशी ऋण है।

16.10.1.1 आन्तरिक और वाह्य ऋण में अन्तर – इन दोनों के अन्तर को निम्न तरह से स्पष्ट किया जा सकता है –

अ.आन्तरिक ऋण अपने देश की मुद्रा में लिया जाता है जबकि वाह्य ऋण विदेशी मुद्रा में प्राप्त होता है।

ब.आन्तरिक ऋणों की अदायगी अपने देश की मुद्रा में ही की जाती है जबकि वाह्य ऋणों की अदायगी विदेशी मुद्रा में की जाती है।

स.आन्तरिक ऋण में मुद्रा का हस्तान्तरण एक ही देश में नागरिकों से सरकार को होता है, जबकि वाह्य ऋण में यह हस्तान्तरण एक देश से दूसरे देश को होता है।

द.आन्तरिक ऋण ऐच्छिक या अनिवार्य हो सकते हैं, जबकि वाह्य ऋण केवल ऐच्छिक होते हैं अर्थात् विदेशी सरकारों की इच्छा के विरूद्ध ऋण प्राप्त नहीं जा सकता।

य. सरकार आन्तरिक ऋणों को प्राथमिकता देती है। किन्तु जब इनसे सरकार की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तो वाह्य ऋण लिए जाते हैं।

16.10.1.2 आन्तरिक ऋणों का भार :

जब सरकार देश के नागरिकों से ही ऋण लेती हैं तो इसमें लोगों के पास से क्रय–शक्ति का हस्तान्तरण सरकार को होता है अर्थात् साधनों का पुनर्वितरण होता है। आन्तरिक ऋणों से देश का धन देश के भीतर ही रहता है। इस प्रकार आन्तरिक ऋणों से देश के भीतर धन का पुनर्वितरण होता है, इसलिए इन ऋणों का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार नहीं पड़ता है। जहाँ तक वास्तविक भार का प्रश्न है वह इस बात पर निर्भर करता है कि ऋणों का उपयोग कैसे किया जा रहा है और उन्हें कहाँ से प्राप्त किया जा रहा है। यदि इनके प्रयोग से उत्पादकता में बृद्धि होती है एवं वितरण में समानता स्थापित होती है तो इन ऋणों का भार नगण्य होता है, किन्तु यदि ऋणों को अनुत्पादक कार्यों में प्रयुक्त किया जाता है तथा इनके भुगतान के लिए निर्धन व्यक्तियों पर कर लगाया जाता है तो इससे वितरण में असमानता बढ़ती है और लोगों पर इसका भार पड़ता है।

16.10.1.3 बाह्य ऋणों का भार :

आन्तरिक ऋण–भार की तरह बाह्य ऋण भार भी देश के नागरिकों को वहन करना पड़ता है। जब सरकार बाह्य ऋणों की वापसी करती है तो मूलधन और ब्याज की राशि देश के नागरिकों पर कर लगाकर वसूल की जाती है। इससे जो हानि देश के लोगों को होती है, वही इन ऋणों का प्रत्यक्ष वास्तविक भार है। यदि इन ऋणों के प्रयोग से उत्पादकता में बृद्धि होती है तथा देश की राष्ट्रीय आय बढ़ती है जिससे ऋण की अदायगी की जा सकती है तो देश के नागरिकों पर इन ऋणों का भार भी बहुत कम पड़ता है। यदि ऐसे ऋणों को चुकाने के लिए अमीर लोगों पर कर लगाया जाता है तो वास्तविक कर–भार कम होगा। इसके विपरीत, यदि निर्धनों से कर वसूल करके ऋण व

ब्याज का भुगतान किया जाता है तो वास्तविक कर भार अधिक होगा। कुछ लोगों का कहना है कि बाह्य ऋणों का वास्तविक भार बुरा नहीं है, क्योंकि वाह्य ऋणों की सहायता से बड़े पैमाने पर देश में आर्थिक विकास होता है, जिससे देश में उत्पादन व रोजगार में बृद्धि होती है। क्योंकि प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है, इसलिए लोगों की कर देय–क्षमता भी बढ़ती है। फलतः सरकार नागरिकों को मिलने वाले लाभ में से ही थोड़ी–थोड़ी राशि संग्रह करके ऋणों का भुगतान कर सकती है, ऐसी दशा में वास्तविक भार अधिक नहीं होता। यदि वाह्य ऋणों का उपयोग अनुत्पादक कार्यों के लिए होता है तो यह कहा जायेगा कि इससे रोजगार व उत्पादन में बृद्धि नहीं होगी। लोगों की कर देय–क्षमता भी नहीं बढ़ेगी और ऐसी दशा में वास्तविक भार बढ़ेगा।

16.10.1.4 बाह्य ऋणों के पक्ष में तर्क

वाह्य ऋणों के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं :

(i) युद्ध व्यय हेतु पर्याप्त संसाधन एकत्रित करने का वाह्य ऋण एक प्रमुख स्रोत है।

(ii) आर्थिक विकास की अनेक दीर्घकालीन परियोजनाओं के वित्त पोषण के लिए बाह्य ऋण संसाधनों की प्राप्ति के प्रमुख स्रोत हैं। वाह्य ऋणों का उत्पादकीय कार्यों में प्रयोग करके देश में पूंजी निर्माण की दर को आसानी से बढ़ाया जा सकता है।

(iii) दैवी विपदाओं एवं संकटकालीन परिस्थितियों में वाह्य ऋण आय का एक प्रमुख स्रोत है। वाह्य ऋणों की सहायता से संकटकालीन समस्याओं का निराकरण आसान हो जाता है।

(iv) अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए बाह्य ऋण आवश्यक होते हैं।

(v) वाह्य ऋणों द्वारा विदेशी विनिमय के संकट को दूर करने में सहायता मिलती है।

16.10.1.5 बाह्य ऋणों के विपक्ष में तर्क

(i) वाह्य ऋणों पर दिया जाने वाला ब्याज देश के सामने विदेशी विनिमय की प्रमुख समस्या उत्पन्न करता है। वाह्य ऋणों की अदायगी भी विदेशी मुद्रा में की जाती है जिससे विदेशी विनिमय संकट उत्पन्न होता है।

(ii) वाह्य ऋण ऋणभार को संचयी क्रम में बढ़ाता है, जिससे देश में मितव्ययिता के सिद्धान्त की उपेक्षा होती है।

(iii) वाह्य ऋणों की अधिकता दासता का मार्ग प्रशस्त करती है – ऋण देने वाला देश अथवा विदेशी संस्थायें देश की नीतियों में हस्तक्षेप करती हैं।

16.10.2 ऋण के उपयोग के आधार पर

ऋणों के उपयोग के आधार पर लोक ऋण को उत्पादक तथा अनुत्पादक ऋणों में विभाजित किया जा सकता है।

(i) उत्पादक ऋण (Productive Loans) – उत्पादक ऋण वे होते हैं जिनका प्रयोग ऐसे उत्पादक कार्यों में किया जाता है, जिनसे इतनी आय प्राप्त हो सके कि उससे ऋण के मूलधन और ब्याज राशि का भुगतान किया जा सके। इन्हें सक्रिय ऋण भी कहते हैं, क्योंकि उत्पादक ऋणों से देश में धन व उत्पादन की मात्रा, राष्ट्रीय लाभांश, जनता की कर दान क्षमता तथा सरकार की आय में बृद्धि होती है। **डाल्टन** के अनुसार, ''उत्पादक ऋण वह ऋण है जिसकी पूर्ति पूरी तरह समान मूल्य की सम्पत्ति के स्वामित्व से हो जाय।'' इसी तरह का विचार प्रो0 शिराज तथा प्रो0 मेहता भी दिये

हैं। **फिण्डले शिराज** के अनुसार, ''उत्पादक ऋण वे ऋण हैं जिनके फलस्वरूप बराबर या अधिक मूल्य की सम्पत्ति का निर्माण होता है और इसी सम्पत्ति की आय से ब्याज का भुगतान किया जाता है। **प्रो. जे. के. मेहता** के शब्दों में, ''उत्पादक ऋण वे हैं जिनसे प्राप्त राशि को ऐसे व्यवसायों में लगाया जाता है जिनकी आय से मूलधन और ब्याज की राशि को ऋण की परिपक्वता के बाद लौटाया जा सके।

उपर्युक्त दृष्टि से उद्योगों, सिंचाई, परिवहन, आदि के हेतु लिये गया ऋण उत्पादक माना जाता है।

(ii) अनुत्पादक ऋण (Unproductive Loans) – उन ऋणों को अनुत्पादक कहते हैं जिनके प्रयोग से सरकार को कोई आय प्राप्त नहीं होती अथवा बराबर सम्पत्ति का निर्माण नहीं होता। इन्हें निष्क्रिय ऋण भी कहा जाता है। **प्रो. डाल्टन** के अनुसार, ''वह ऋण अनुत्पादक होता है, जिसके पीछे कोई वर्तमान सम्पत्ति नहीं होती।'' इसे दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि युद्ध, बाढ़ अथवा अकाल इत्यादि पर व्यय के लिए जो ऋण लिया जाता है वह अनुत्पादक होता है।

यद्यपि कि उपर्युक्त वर्गीकरण सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भले ही सही हैं पर यदि सरकार ऋणों का प्रयोग विवेकपूर्ण तरीके से करती है तो किसी भी ऋण को अनुत्पादक नहीं कहा जा सकता। उदाहरणतः यदि युद्ध पर व्यय किया जाता है तो इससे देश की स्वतन्त्रता की रक्षा होती है और लोगों में कार्यक्षमता की बृद्धि होती है तथा देश में शान्ति और व्यवस्था का निर्माण होता है जो अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में सहायक होता है।

16.10.3 ऋण प्राप्ति की प्रकृति के आधार पर

इस आधार पर लोक ऋण को दो भागों में बांटा जाता है – (i) ऐच्छिक ऋण

(ii) अनिवार्य ऋण

(i) ऐच्छिक ऋण (Voluntary Debt) – ऐच्छिक ऋण से तात्पर्य ऐसे ऋण से है जिसे सरकार ऋण देने वालों की इच्छा से लेती है अर्थात् उन्हें ऋण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। बाह्य ऋण ऐच्छिक प्रकृति के होते हैं। सरकार देश के लोगों से भी ऐच्छिक ऋण लेती है। सरकार ऋण की अवधि, राशि, ब्याज आदि का विज्ञापन कर देती है तथा जिन व्यक्तियों की इच्छा होती है, वे ऋणपत्र खरीदते हैं।

(ii) अनिवार्य ऋण (Compulsory Debt) – जब सरकार देश के नागरिकों को ऋण देने के लिए बाध्य करती है तो ऐसे ऋणों को अनिवार्य ऋण कहते हैं। आन्तरिक ऋण ही अनिवार्य हो सकते हैं, बाह्य ऋण नहीं क्योंकि सरकार विदेशी नागरिकों या सरकारों को ऋण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए भारत में अनिवार्य जमा योजना अनिवार्य ऋण का उदाहरण है। **डाल्टन के अनुसार**, ''आधुनिक राजस्व में अनिवार्य ऋण का महत्व बहुत कम रह गया है।''

16.10.4 ऋण की अवधि के आधार पर

ऋण की अवधि के आधार पर भी लोक ऋण को दो भागों में बांटा जाता है – (i) अल्पकालीन या निश्चित कालीन अथवा अनिधिक ऋण, (ii) दीर्घकालीन या अनिश्चित कालीन अथवा निधिक ऋण।

(i) अल्पकालीन या निश्चित कालीन अथवा अनिधिक ऋण (Short Term or Unfunded Loan) – जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है कि ये ऋण अल्प अवधि के होते हैं। सामान्य रूप से इनकी अवधि

एक वर्ष की होती है। इन्हें सरकारें किसी विशेष उद्देश्य से नहीं वरन् अपने नियमित खर्च चलाने के लिए लेती हैं। सरकारें इन ऋणों की अदायगी के लिए किसी कोष की व्यवस्था नहीं करतीं, अतः इन्हें **अनिधिक ऋण** भी कहते हैं। राजकोषीय पत्र (Treasury Bills) के आधार पर लिये जाने वाले ऋण अल्पकालीन होते हैं ये 6 माह के भीतर शोधनीय होते हैं। अतः इन्हें अल्पकालीन ऋण हैं।

(ii) दीर्घकालीन या अनिश्चित कालीन अथवा निधिक ऋण (Long-term or Funded Debt) – ये ऋण लम्बी अवधि के लिए सरकार द्वारा लिए जाते हैं। इन ऋणों को लेते समय इनकी अदायगी, अवधि तथा अन्य शर्तों को निश्चित कर लिया जाता है। इनकी अदायगी के लिए अलग एक कोष की स्थापना की जाती है अतः इन्हें निधिक या स्थायी ऋण भी कहते हैं। क्योंकि सरकार इस कोष में प्रतिवर्ष एक निश्चिम रकम जमा करती रहती है इसी कारण इसे कोषित ऋण भी कहते हैं। इस प्रकार का ऋण प्रायः सरकार नहरें, सड़कें, रेल तथा अन्य उत्पादक एवं स्थायी निर्माण कार्यों के लिए लेती हैं। इसके विपरीत अल्पकालीन ऋणों के लिए सरकार किसी प्रकार के कोष का निर्माण नहीं करती और इन ऋणों का भुगतान अपनी चालू आय में से नए लिए गए ऋणों से करती हैं।

16.10.5 ऋण के भुगतान के आधार पर

भुगतान के आधार पर ऋणों का भुगतान निम्न दो प्रकार से किया जा सकता है – (i) प्रतिदेय अथवा शोध्य ऋण, (ii) अप्रतिदेय अथवा अशोध्य ऋण।

(i) प्रतिदेय अथवा शोध्य ऋण (Redeemable Debt) – प्रतिदेय ऋण वे ऋण होते हैं जिनका एक निश्चित अवधि के बाद भुगतान का चयन सरकार द्वारा किया जाता है। **प्रो. जे.के. मेहता** के अनुसार, ''प्रतिदेय ऋण वे ऋण हैं, जिसको सरकार द्वारा एक भावी तिथि पर भुगतान करने का वचन दिया जाता है।''

(ii) अप्रतिदेय अथवा अशोध्य ऋण (Irredeemable Debt) – अप्रतिदेय ऋण वे ऋण होते हैं जिनके मूलधन के भुगतान की कोई तिथि नहीं होती किन्तु ब्याज के भुगतान की गारण्टी सरकार द्वारा दी जाती है। इस ऋण को सार्वकालिक (Perpetual) ऋण अथवा बेमियादी ऋण भी कहते हैं।दूसरे शब्दों में, शोध्य ऋण वे होते हैं, जिनका भुगतान सरकार को ब्याज सहित एक निश्चित अवधि तक कर देना पड़ता है। इसके विपरीत अशोध्य ऋणों के सम्बन्ध में ऐसा कोई वादा सरकार नहीं करती। इस प्रकार अशोध्य ऋणों में सरकार केवल ब्याज का भुगतान करती है और मूलधन के भुगतान की चिन्ता नहीं करती है। इन ऋणों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

- **(i)** शोध्य ऋण की दशा में मूलधन तथा ब्याज दोनों का भुगतान किया जाता है जबकि अशोध्य ऋण में केवल ब्याज का भुगतान करना पड़ता है।
- **(ii)** अशोध्य ऋण उन व्यवस्थाओं हेतु लेना चाहिए जिनसे निरन्तर आय प्राप्त होती रहे, जबकि शोध्य ऋण किसी भी कार्य के लिए लिया जा सकता है।
- **(iii)** शोध्य ऋण समय के दृष्टिकोण से अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन होते हैं, जबकि अशोध्य ऋण सदैव के लिए अर्थात् कालरहित होते हैं।
- **(iv)** अशोध्य ऋणों का भार भावी पीढ़ी पर पड़ता है और शोध्य ऋण का भार केवल वर्तमान पीढ़ी पर।

(v) अशोध्य ऋणों का प्रचलन आजकल नहीं है क्योंकि इनका भार नागरिकों पर सदैव पड़ता रहता है। जब तक ऋण राशि का भुगतान नहीं हो जाता तब तक सरकार नियमित रूप से ब्याज का भुगतान करती रहती है और सरकार कभी भी इस ऋण से मुक्त नहीं हो पाती है।

शोध्य ऋणों के लाभ :

(i) संकट काल में अल्पकालीन आय स्रोतों को जब सरकार कर द्वारा पूरा नहीं कर पाती तो वह शोध्य ऋणों की सहायता लेती है क्योंकि ये ऋण अल्पकालीन ऋण के समान होते हैं।

(ii) शोध्य ऋणों में ब्याज की दर कम रहने की सम्भावना होती है, जिसके कारण इन ऋणों पर दिए जाने वाले ब्याज का भुगतान आसान हो जाता है।

(iii) शोध्य ऋण में ऋण लेने और देने की साख बनी रहती है, जिसके कारण ऋण सुगमता से सहज रूप में मिल जाते हैं।

शोध्य ऋणों की हानियाँ :

(i) शोध्य ऋण देश के पूंजीपतियों एवं धनी व्यापारियों से सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप लोगों की व्यक्तिगत पूँजी निजी विनियोग से निकलकर सरकार के हाथो में चली जाती है जिसका सरकार उत्पादकीय एवं अनुत्पादकीय दोनों ही प्रकार की क्रियाओं में प्रयोग करती है। निजी पूँजी के इस स्थानान्तरण का उत्पादन एवं विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(ii) शोध्य ऋणों की प्राप्ति सहज होने के कारण अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है जिससे अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति उत्पन्न होने का भय सदैव बना रहता है।

(iii) शोध्य ऋणों की अधिकता सरकार को ऋणों के दुष्चक्र में फंसा देती है और ऐसे ऋण दीर्घकालीन बन जाते हैं क्योंकि सरकार एक ऋण का भुगतान करने के लिए क्रमशः दूसरा ऋण लेती चली जाती है तथा अर्थव्यवस्था में ऋणों का बोझ कभी समाप्त नहीं होता।

(iv) शोध्य ऋणों को लेने की बारम्बारता अधिक होती है। सरकार द्वारा बार–बार ऋण लिए जाने के कारण सरकार की साख गिर जाती है जिसका प्रतिकूल प्रभाव विशेष रूप से बाहरी ऋणों पर पड़ता है।

अशोध्य ऋणों के लाभ :

(i) अशोध्य ऋणों का ऋण भार कम होता है क्योंकि इस भार को भविष्य के लिए टाला जा सकता है।

(ii) देश में दीर्घकालीन आर्थिक संकट उत्पन्न होने पर शोध्य ऋणों की तुलना में अशोध्य ऋण अधिक सहायक होते हैं क्योंकि अशोध्य ऋणों के भुगतान की अवधि बहुत लम्बी होती है और इस अवधि के दौरान देश अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार कर सकता है।

(iii) अशोध्य ऋणों के भुगतान की समस्या सरकार के सामने ज्वलंत रूप में नहीं होती क्योंकि इन ऋणों की अदायगी की कोई विशेष तिथि नहीं होती और सरकार आसानी से इन ऋणों के ब्याज का भुगतान करती रहती है।

(iv) अशोध्य ऋण प्रायः दीर्घकालीन होते हैं, जिनका प्रयोग आर्थिक विकास की दीर्घकालीन परियोजनाओं में किया जाता है। दूसरे शब्दों में अशोध्य ऋण आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन एकत्रित करने में सक्षम हैं।

अशोध्य ऋणों से हानियाँ :

(i) अशोध्य ऋणों में भुगतान की विशेष समस्या नहीं रहती जिससे फिजूलखर्ची को बढ़ावा मिलता है तथा मितव्ययिता के सिद्धान्त की उपेक्षा होती है।

(ii) अशोध्य ऋणों में व्यक्तियों का धन लम्बे समय तक सरकार के पास जमा रहता है, जिससे निजी क्षेत्र का विनियोग घट जाता है, जिसका पूंजी निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(iii) अशोध्य ऋणों में ब्याज की दर ऊंची होती है जिसके कारण भुगतान का भार न केवल वर्तमान पीढ़ी पर पड़ता है बल्कि भावी पीढ़ी को भी इस भार को वहन करना पड़ता है।

16.10.6 ब्याज के आधार पर :

ब्याज के आधार पर भी लोक ऋण को दो भागों में विभाजित किया जाता है–

(i) ब्याज सहित ऋण (ii) ब्याज रहित ऋण

(i) ब्याज सहित ऋण (Non-interest Bearing Debt) – जिस ऋण की अदायगी में मूलधन के साथ ब्याज का भुगतान भी किया जाता है उसे ब्याज सहित ऋण कहते हैं। सामान्य रूप से ऋणों की यही प्रकृति होती है।

(ii) ब्याज रहित ऋण (Non-interest Bearing Debt) – जिस ऋण की अदायगी के समय केवल मूलधन की वापसी की जाती है तथा ब्याज का भुगतान नहीं किया जाता है ऐसे ऋण को ब्याज रहित ऋण कहते हैं। ऋण लेते समय ही यह निश्चित कर लिया जाता है कि इस ऋण पर ब्याज नहीं लिया जाएगा। कुछ विशेष परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं द्वारा इस प्रकार के ऋण दिए जाते हैं।

16.10.7 विपणन योग्य और विपणन अयोग्य ऋण (Marketable and Non-Marketable Debt)

विक्रय योग्य अथवा विपणन योग्य ऋण वे हैं, जिनमें सरकारी प्रतिभूतियों को स्वतन्त्रतापूर्वक खरीदा व बेचा जाता है। आजकल अधिकांश ऋण इसी श्रेणी के हैं। ऐसे ऋण जिन्हें उन सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर प्राप्त किया गया हो, जिन्हें खुले बाजार में बेचा जा सकता है, जैसे – डाकखाने के बचत पत्र। परन्तु कुछ ऋण विपणन योग्य नहीं होते।

16.10.8 सकल ऋण एवं शुद्ध ऋण (Gross and Net Debt) – किसी समय विशेष में सरकार के जितने ऋण होते हैं, उन सबके योग को सकल ऋण कहा जाता है। यदि सरकार ऋणों का भुगतान करने के लिए कोई विशेष कोष एकत्र करती है तो उस कोष को कुल ऋण राशि में से निकाल कर जो कुछ शेष बचत है वह शुद्ध ऋण कहलाता है।

16.11 सारांश (Conclusion)

आप देख चुके हैं कि लोक ऋण से सम्बन्धित इस इकाई 16 में लोक ऋण के अर्थशास्त्र एवं वर्गीकरण को समझाया गया है। इस शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तावना, उद्देश्य, सार्वजनिक ऋण का अर्थ एवं प्रकृति, व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक ऋणों में अन्तर, सार्वजनिक ऋण बनाम कराधान, लोक ऋण में बृद्धि के कारण, सार्वजनिक ऋण का औचित्य, विकासशील देशों में सार्वजनिक ऋण का महत्व, लोक ऋण के प्रति दृष्टिकोण के अन्तर्गत क्लासिक विचारधारा, केन्सीयन विचारधारा तथा केन्सोत्तर विचारधारा के अध्ययन के साथ लोक ऋण का विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण दिखाया गया है। इस तरह इस इकाई शीर्षक के अन्तर्गत लोक ऋण से सम्बन्धित प्राथमिक बातों को स्पष्ट

किया गया है जिससे लोक ऋण का अर्थ समझने के साथ–साथ लोक ऋण के विचारधारा के इतिहास का प्रारम्भिक ज्ञान होता है। सार्वजनिक ऋण के वर्गीकरण को अनेक आधारों पर प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत आन्तरिक एवं वाह्य ऋण, उत्पादक एवं अनुत्पादक ऋण, ऐच्छिक एवं अनिवार्य ऋण, अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण, शोध्य तथा अशोध्य ऋण, ब्याज सहित तथा ब्याज रहित ऋण, विपणन योग्य एवं अयोग्य ऋण तथा सकल एवं शुद्ध ऋणों को समझाया गया है। आवश्यकतानुसार ऋणों के वर्गीकरण के अन्तर्गत आने वाले शीर्षकों के बीच अन्तरों को दिखाये जाने के साथ–साथ उनके महत्व को भी समझाया गया है। संक्षेप में, आप कह सकते हैं कि इस इकाई शीर्षक के अध्ययन से सार्वजनिक ऋण से सम्बन्धित प्राथमिक जानकारी प्राप्त होती है, जिसके द्वारा अगले इकाईयों लोक ऋण के प्रभाव एवं भार तथा लोक ऋण भुगतान की विधियों एवं प्रबन्धन को समझने में सुगमता होगी।

16.12 परिभाषिक शब्दावली

व्यय का आधिक्य	– Excess of Spending
संचयी आधिक्य	– Cumulative Excess
एक खास बिन्दु	– At a Point Time
प्रवाह चर	– Flow Variable
असाधारण वित्त	– Extra-ordinary Finance
आय सृजन	– Revenue Generator
आन्तरिक ऋणों का भार	– Burden of Internal Debt
वाह्य ऋणों का भार	– Burden of External Debt
ब्याज रहित ऋण	– Non-interest Bearing Debt
ब्याज सहित ऋण	– Interest Bearing Debt.

16.13 अभ्यास प्रश्न

1. सार्वजनिक ऋण क्या होता है ? व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक ऋण में भेद बताइये।
2. सार्वजनिक ऋण की परिभाषा दीजिए एवं उसके उद्देश्य और महत्व बताइए।
3. सार्वजनिक ऋण के महत्व व आवश्यकता की विवेचना कीजिए। कर की तुलना में ऋण की स्थिति स्पष्ट कीजिए।
4. सार्वजनिक ऋण क्या है ? इसके विभिन्न रूपों की व्याख्या कीजिए।
5. सार्वजनिक ऋण क्या होता है ? व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक ऋण का भेद बताइए। सार्वजनिक ऋण के उद्देश्यों का बताइये।
6. सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण कीजिए और बताइए कि आर्थिक विकास हेतु आन्तरिक ऋण या बाह्य ऋण में से किसे प्राथमिकता दी जाए।
7. निम्न पर टिप्पड़ी लिखें –
   अ. सार्वजनिक ऋण से अभिप्राय।
   ब. ऋण और कर में भेद।

स. लोक ऋण के प्रमुख उद्देश्य।
द. निजी ऋण तथा सार्वजनिक ऋण में भेद।
य. आन्तरिक एवं वाह्य ऋण मे अन्तर।
र. शोध्य एवं अशोध्य ऋण।

16.14 उपयोगी पाठ्य सामग्री

- पंत, जे0सी0 (2007), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
- भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिषिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
- मिश्रा एवं पुरी (2011), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
- वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997), ***राजस्व***, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

इकाई – 17 लोक ऋण के प्रभाव एवं भार **Effects and Burden of Publis Debt**

इकाई संरचना

17.1 प्रस्तावना

17.2 उद्देश्य

17.3 लोक ऋण के प्रभाव

17.3.1 उत्पादन पर प्रभाव

17.3.2 उपभोग पर प्रभाव

17.3.3 वितरण पर प्रभाव

17.3.4 विनियोग पर प्रभाव

17.3.5 व्यापार क्रिया और रोजगार पर प्रभाव

17.4 लोक ऋण भार की अवधारणा

17.5 सार्वजनिक ऋणों का भार

17.5.1 आन्तरिक ऋण का भार

17.5.2 बाह्य ऋण का भार

17.5.3लोक ऋण भार सम्बन्धी मौजूदा धारणा

17.6 लोक ऋण के भार का भावी पर स्थानान्तरण

17.7 लोक ऋण के भार का हस्तान्तरण एवं आर्थिक विकास

17.8 विकासशील देशों में लोक ऋण का महत्व

17.9लोक ऋण की सह्यता तथा इष्टतम लोक ऋण

17.10सारांश

17.11परिभाषिक शब्दावली

17.12 अभ्यास प्रश्न

17.13 उपयोगी पाठ्य सामग्री

17.1 प्रस्तावना : (Introduction)

पिछले इकाई 16 में आप लोक ऋण से तात्पर्य एवं लोक ऋण के प्रकारों का अध्ययन कर चुके हैं। जिसके अन्तर्गत लोक ऋण से सम्बन्धित सभी प्राथमिक बातें– लोक ऋण से तात्पर्य, लोक ऋ़ण के उद्देश्य, लोक ऋण एवं कर, लोक ऋण की उपयोगिता तथा विभिन्न आधारों पर लोक ऋण के वर्गीकरण को समझाया गया है। इस इकाई 17 में लोक ऋण के प्रभाव एवं भार का अध्ययन किया जायेगा। इस इकाई 17 के अन्तर्गत लोक ऋण के प्रभाव के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लोक ऋण का उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनियोग तथा व्यापार क्रिया एवं रोजगार पर प्रभाव स्पष्ट किया जायेगा। तत्पश्चात् लोक ऋण के भार की अवधारणा, आन्तरिक तथा वाह्य ऋण भार, राजा चेल्याह की मौजूदा अवधारणा के साथ–साथ लोक ऋण के भार का भावी पीढ़ी पर स्थानान्तरण बताया जायेगा। जिसमें रिकार्डो–पीगू प्रमेय, नव– क्लासिकल अवधारणा, BDK प्रमेय, वुकानन विश्लेषण तथा प्रो0 मसग्रेव के विचारों को समझा जायेगा। साथ ही लोक ऋण के भार के हस्तान्तरण एवं आर्थिक विकास को स्पष्ट करते हुए विकासशील देशों में लोक ऋण के महत्व को समझा जायेगा। तत्पश्चात् लोक ऋण की सह्यता एवं इष्टतम लोक ऋण की व्याख्या को स्पष्ट किया जायेगा।

17.2 उद्देश्य (Objectives)

लोक ऋण के प्रभाव एवं भार के अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1. लोक ऋण के प्रभाव एवं भार के अर्थ को समझने के साथ– साथ इनके बीच के अन्तर को समझना।
2. लोक ऋण के विभिन्न प्रभावों को समझना जिससे लोक ऋण की उपादेयता को ठीक से समझा जा सके।
3. लोक ऋण के आन्तरिक एवं वाह्य ऋण भार को समझते हुए इनके प्रभावों से अवगत् होना जिससे लोक ऋण के बावत् सही निर्णय लेना सम्भव हो सके।
4. लोक ऋण के भार का भावी पीढ़ी पर स्थानान्तरण एवं लोक ऋण तथा आर्थिक विकास के सम्बन्धों को समझना।
5. विकासशील देशों में लोक ऋणों के महत्व का ज्ञान प्राप्त करना।
6. लोक ऋण की सह्यता तथा इष्टतम लोक ऋण का ज्ञान ।

17.3लोक ऋण के प्रभाव (Effects of Public Debt)

करारोपण और सार्वजनिक व्यय के समान सार्वजनिक ऋण के भी आर्थिक प्रभाव होते हैं क्योंकि इसमें भी क्रय–शक्ति का हस्तान्तरण होता है। उदाहरण के लिए, जब सरकार ऋण लेती है तो सरकारी प्रतिभूति खरीदने वाले के पास से सरकार को मुद्रा का हस्तान्तरण होता है और विपरीत स्थिति में सरकार यह मुद्रा जिन व्यक्तियों पर व्यय करती है, उनके पास मुद्रा का हस्तान्तरण होता है। इस प्रकार सार्वजनिक ऋणों के प्रभावों का क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि जब सार्वजनिक ऋण प्राप्त किया जाता है तब उसके कुछ अलग

प्रभाव पड़ते हैं और जब सार्वजनिक ऋण की राशि को व्यय किया जाता है तब उसके अलग प्रभाव पड़ते हैं।

दूसरे शब्दों में, किसी देश का सार्वजनिक ऋण उस देश की अर्थव्यवस्था को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। सार्वजनिक ऋण न तो अपने में अच्छा है, न बुरा। जहाँ तक सार्वजनिक ऋणों के आर्थिक प्रभावों की मात्रा तथा स्वभाव का प्रश्न है वह अनेक तथ्यों पर निर्भर करता है जैसे ऋण निर्गमन का उद्देश्य, ऋण लेने की शर्तें तथा दशायें, ऋण का ढ़ाँचा, ऋण के विभिन्न स्त्रोत, सार्वजनिक ऋण नीति तथा देश की आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक स्थितियाँ। ऋण प्राप्त करते समय सार्वजनिक ऋण के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें सार्वजनिक आय और व्यय दोनों का ही सम्मिश्रण रहता है। अतः सार्वजनिक ऋण देश की अर्थव्यवस्था को दो प्रकार से प्रभावित करते हैं – (1) ऋण प्राप्त करते समय तथा (2) ऋण का उपयोग करते समय।

जब सरकार ऋण प्राप्त करती है तो उसका प्रभाव प्रायः करारोपण जैसा होता है और जब ऋण से प्राप्त राशि को व्यय करती है तो इसका प्रभाव सार्वजनिक व्यय के समान होता है। यदि हम सार्वजनिक ऋण व्यवस्था के संचालन को एक समुचित क्रिया मान लें तो हमें सार्वजनिक ऋण से होने वाले दोनों ही प्रकार को प्रभावों का अध्ययन करना होगा।

इसी तरह सार्वजनिक ऋण से उत्पन्न आर्थिक प्रभावों की व्याख्या को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला ऐसे प्रभाव जो सार्वजनिक ऋण की प्राप्तियों, निर्गमन तथा दूसरा प्राप्ति राशि के व्यय से सम्बन्धित हैं तथा ऐसे प्रभाव जो सार्वजनिक ऋणों के बने रहने से सम्बन्धित हैं। पहले प्रकार के प्रभाव को प्रक्रियात्मक या प्रारम्भिक प्रभाव (Processing or Preliminary Effects) तथा दूसरे प्रकार के प्रभाव को सम्पति प्रभाव (Asset Effect) तथा हस्तान्तरण प्रभाव (Transfer Effect) कहते हैं।

इस प्रकार प्रारम्भिक प्रभाव सार्वजनिक ऋण के निर्गमन तथा उससे प्राप्त धन के व्यय से सम्बन्धित है। यह प्रभाव मुख्य रूप से ऋण के स्वभाव तथा उद्देश्य पर निर्भर करता है। सार्वजनिक ऋण के प्रारम्भिक प्रभाव को दो भागों में बाँटा जा सकता हैः आय प्रभाव (revenue effect) तथा व्यय प्रभाव (expenditure effect)। जब सरकार सार्वजनिक ऋण के माध्यम से आय प्राप्त करती है तो इसके फलस्वरूप लोगों को अपनी बजट परिवर्तित करनी पड़ती है, यद्यपि इसके कारण प्रत्यक्ष रूप से उपभोग में कटौती नहीं होती क्योंकि सामान्यतया सार्वजनिक ऋणों में लोग संचित बचत से विनियोग करते हैं। पर इतना निश्चित है कि चाहे व्यक्तिगत उपभोग व्यय में कमी आये या नहीं पर जब सार्वजनिक ऋण के द्वारा मुद्रा प्राप्त की जाती है तो सम्पूर्ण व्यय में कमी अवश्य आती है। यही सार्वजनिक ऋण का आय प्रभाव है।

आय प्रभाव के साथ ही सार्वजनिक ऋणों से व्यय प्रभाव भी उत्पन्न होते हैं क्योंकि इसके फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय में बृद्धि होती हैं जिससे सभी लोग लाभान्वित होते है। व्यय प्रभाव का स्वभाव इस बात पर निर्भर करेगा कि सार्वजनिक ऋण का क्या उपभोग किया जा रहा है। जहाँ तक आय प्रभाव तथा व्यय प्रभाव अर्थात् प्रारम्भिक प्रभाव का प्रश्न है सार्वजनिक ऋण करारोपण से उत्पन्न होने वाले प्रभाव

के लगभग समान हैं, पर करारोपण की तुलना में सार्वजनिक ऋणों की विचित्रता इस बात में निहित है कि जब एक बार सार्वजनिक ऋण ले लिया जाता है तो जब तक इसका अन्तिम रूप से भुगतान नहीं कर लिया जाता है तब तक यह अर्थव्यवस्था में बना रहता है।

एच0सी0 मर्फी के अनुसार, करारोपण की तरह लोक ऋण उसी वितीय वर्ष में नहीं समाप्त हो जाता जिसमें ऋण लिया जाता है। लेनदारों (जिन्होंने सरकार को ऋण दिया है) के हाथ में यह एक स्थायी सम्पत्ति हो जाती है। सम्पत्ति होने के कारण जो प्रभाव सृजित होता है उसे हम सम्पत्ति या धन प्रभाव कहेंगे। सार्वजनिक ऋणों के सम्बन्ध में सरकार का यह दायित्व है कि वह ऋण पर ब्याज तथा उसके मूलधन का भुगतान करे जिसके फलस्वरूप आय का हस्तान्तरण होता है। यह सार्वजनिक ऋण का हस्तान्तरण प्रभाव है। इन सभी प्रभावों को ध्यान में रखते हुए अब हम उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनियोग तथा व्यापार क्रिया एवं रोजगार पर लोक ऋणों के प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

17.3.1 उत्पादन पर प्रभाव (Effect on Production)

सार्वजनिक ऋण का उत्पादन पर निम्न प्रभाव पड़ता है :

(i) कार्य करने एवं बचत करने की योग्यता पर प्रभाव (Effect on Ability to Work and Save) सार्वजनिक ऋण कार्य करने एवं बचत करने की योग्यता को दो प्रकार से प्रभावित करता है :

(अ)यदि सरकार ऋणों से प्राप्त राशि को ऐसी योजनाओं पर व्यय करती है जिससे उत्पादकता में बृद्धि होती है तो इससे लोगों की कार्य करने एवं बचत करने की शक्ति में बृद्धि होती है। यदि ऋणों को गरीबों की आय बढ़ाने पर खर्च किया जाता है तो इससे उनकी कार्यक्षमता में बृद्धि होती है। फलस्वरूप कार्य करने की शक्ति में बृद्धि होती है।

(ब)सार्वजनिक ऋण के प्रभाव को इस दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए कि मूलधन की अदायगी और ब्याज के भुगतान के लिए सरकार जो कर लगाती है, उसका क्या प्रभाव पड़ता है। यदि ऋण उत्पादक कार्यो पर खर्च किया जाता है तो कर लगाने की आवश्यकता ही नहीं है। पर यदि ब्याज का भुगतान करने के लिए कर लगाया जाता है अथवा सरकार ब्याज का भुगतान करने के लिए वह व्यय रोक देती है जिससे उत्पादन प्रोत्साहित होता तो इसका कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(ii) कार्य करने एवं बचत करने की इच्छा पर प्रभाव (Effect on Desire to Work and Save) - यदि समग्र रूप से देखा जाय तो सार्वजनिक ऋणों का कार्य करने एवं बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सम्भव है कि लोग सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदना एक सुरक्षित विनियोग समझें तथा अधिक बचत करने को प्रोत्साहित हों। किन्तु मूलधन और ब्याज के भुगतान के लिए जो कर लगाए जाते हैं, उनका निश्चित ही कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। क्योंकि लोगों को

ब्याज के रूप में एक निश्चित आय प्राप्त होती है, अतः सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदने वालों की कार्य करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(iii) साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव (Effect on Transfer of Resources)- सार्वजनिक ऋण का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव साधनों के स्थानान्तरण पर पड़ता है। जब सरकार ऋण लेती है तो निजी व्यक्तियों के पास से मुद्रा का हस्तान्तरण सरकार को होता है। यदि इस राशि को ऐसे उद्यमों पर व्यय किया जाता है जिससे उत्पादन बढ़ता है अथवा निजी व्यक्ति उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित होते हैं तो ऐसे सार्वजनिक ऋण को न्यायोचित कहा जा सकता है। किन्तु यदि चालू घाटे की पूर्ति अथवा शुद्ध व्यय के लिए ऋणों का प्रयोग किया जाता है तो ऐसे स्थानान्तरण से उत्पादन हतोत्साहित होता है।

संक्षेप में,सार्वजनिक ऋण के कारण कहाँ तक उत्पादन या उत्पादन क्षमता प्रभावित होगी यह दो शक्तियों पर निर्भर करेगी–सम्पत्ति प्रभाव जो एक लगान भोगी वर्ग को जन्म देगा तथा दूसरा हस्तान्तरण प्रभाव जिसके कारण ब्याज तथा मूलधन के भुगतान के दायित्व को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में कर लगाना होगा। प्रो0 कोल्डार का यह मत है कि सार्वजनिक ऋण के कारण कहाँ तक उत्पादन क्षमता प्रभावित होगी यह सार्वजनिक ऋण की मात्रा तथा ब्याज सम्बन्धी दायित्व के ऊपर निर्भर नहीं करेगी बल्कि राष्ट्रीय आय के अनुपात में ब्याज के दायित्व के ऊपर निर्भर करेगी। यदि राष्ट्रीय आय की तुलना में ब्याज की मात्रा अधिक तेजी से बढ़ रही हो तो उत्पादन क्षमता में कमी आयेगी। डोमर भी अपने सार्वजनिक ऋण के बोझ के सम्बन्ध में दिये गये दृष्टिकोण में यही प्रतिपादित करते हैं। इसके विपरीत यदि राष्ट्रीय आय के अनुपात में ब्याज दर में कमी हो रही है तो सार्वजनिक ऋण से उत्पादन क्षमता तथा उत्पादन बढ़ेगा।

17.3. 2 उपभोग पर प्रभाव (Effect on Consumption)

जब लोग सरकारी प्रतिभूतियाँ अपनी पिछली बचतों से क्रय करते हैं तो उनके वर्तमान उपभोग में कमी नहीं आती अर्थात् उनका वर्तमान उपभोग यथास्थिर रहता है। यदि लोग सरकारी प्रतिभूतियों की खरीद अपनी वर्तमान आय में से करते हैं तो उनका उपभोग व कार्यक्षमता कम हो जाएगी। इसी प्रकार, सरकार द्वारा ऋणों को चुकाने की दृष्टि से किए गए करारोपण का भी उपभोग पर बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि कर लगने से लोगों की आय व उपभोग का स्तर कम हो जाता है। स्मरण रहे, समृद्धिकाल में चुकाए गए ऋणों का उत्पादन व उपभोग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि इस काल में आय व कीमतें ऊँची होने के कारण ऋण का भार कम प्रतीत होता है।

दूसरे शब्दों में, हम अधिक स्पष्ट रूप में यह कह सकते है कि जहाँ तक अर्थव्यवस्था के उपभोग के ऊपर सार्वजनिक ऋण के पड़ने वाले प्रभावों का प्रश्न है यह सार्वजनिक ऋण के प्रारम्भिक प्रभाव, सम्पत्ति प्रभाव तथा हस्तान्तरण प्रभाव के संयुक्त प्रभाव के ऊपर निर्भर करेगा। सार्वजनिक ऋण के कारण वर्तमान उपभोग शायद ही प्रभावित हो क्योंकि जब कभी सरकार जनता से ऋण लेती है तो यह ऐच्छिक होता है, जो चाहे उधार दे या नहीं दे। सामान्यतया लोग बचत में से उधार देते हैं, उपभोग में कटौती

करके नहीं। उसी स्थिति में वर्तमान उपभोग में कमी आ सकती है, जब किसी आपातकालीन स्थिति में सरकार लोगों को ऋण देने के लिए बाध्य कर दे। सार्वजनिक ऋण वर्तमान उपभोग को तो शायद ही प्रभावित करता हो पर भविष्य के उपभोग को अवश्य प्रभावित करता है। इस प्रकार जहाँ करारोपण वर्तमान उपभोग को प्रभावित करता है, सार्वजनिक ऋण भावी उपभोग को प्रभावित करता है। क्योंकि सार्वजनिक ऋणों के कारण सम्पत्ति प्रभाव तथा हस्तान्तरण प्रभाव सृजित होता है और ये दोनों ही भावी उपभोग को प्रभावित करते हैं। सरकार ऋण के मूलधन तथा ब्याज के भुगतान के लिए उतरदायी होती है पर सरकार का दायित्व जनता का दायित्व है। कहने का अभिप्राय यह है कि सरकार मूलधन तथा ब्याज के भुगतान के लिए कर लगायेगी जिसके कारण उपभोग में कमी आयेगी। उपभोग में कहाँ तक कमी या बृद्धि होगी यह इस बात पर निर्भर करेगा कि कर किससे लिया जा रहा है तथा ब्याज के रूप में किसको दिया जा रहा है। यदि कर का ढाँचा ऐसा हो कि अधिकांश कर गरीबों से लिए जायें जिन्हें ब्याज के रूप में भी कुछ भी नहीं मिले तो उपभोग में कमी आयेगी। पर यदि कर अत्यन्त ही प्रगतिशील हो तो जिनको ब्याज के रूप में आय प्राप्त होगी, उनसे कर भी ले लिया जायेगा। उपभोग में कमी नहीं आयेगी।

उपभोग के ऊपर सम्पत्ति प्रभाव भी होता है। सम्पत्ति का उपभोग के ऊपर दो प्रकार का प्रभाव पड़ सकता है। पहला सार्वजनिक ऋण देने वाले के हाथ में एक सम्पत्ति है, जैसे– जैसे सम्पत्ति बढ़ती जाती है, उपभोग की प्रवृति बढ़ सकती है क्योंकि संपत्ति उसे सन्तुष्टि प्रदान करेगी। दूसरा यह कि सार्वजनिक ऋण देने वाले को एक निश्चित आय मिलती रहेगी फलस्वरूप लोगों में बचत की प्रवृति बढ़ सकती है। अर्थात् उपभोग की प्रवृति कम हो सकती है।

उपभोग के ऊपर व्यय का भी प्रभाव पड़ेगा क्योंकि जब सरकार सार्वजनिक ऋण के द्वारा प्राप्त राशि को व्यय करती है तो अर्थव्यवस्था में आय का सृजन होता है। गुणक प्रभाव के कारण उसमें और तीव्र वृद्धि होती है, फलस्वरूप उपभोग में वृद्धि होगी। इस प्रकार सार्वजनिक ऋण के कारण वर्तमान उपभोग तो अप्रभावित रहेगा पर भावी उपभोग में परिवर्तन हो सकता है जो सम्पत्ति प्रभाव, हस्तान्तरण प्रभाव तथा व्यय प्रभाव के स्वभाव पर निर्भर करेगा।

17.3.3 वितरण पर प्रभाव (Effect on Distribution)

सार्वजनिक ऋण के अन्तर्गत क्रय– शक्ति का एक समूह से दूसरे समूह को स्थानान्तरण होता है। यदि यह क्रय– शक्ति धनी वर्ग से निर्धन वर्ग के प्रति स्थानान्तरित होती है तो आय के वितरण में सुधार होता है यदि इसके विपरीत क्रय– शक्ति निर्धन वर्ग से धनी वर्ग की ओर स्थानान्तरित होती है तो इसका आय के वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। व्यवहार में सरकारी प्रतिभूतियाँ निर्धन वर्ग की अपेक्षा धनी वर्ग द्वारा अधिक खरीदी जाती हैं। अतः ऐसी दशा में ऋण का भुगतान करने के लिए सरकार द्वारा जो कर लगाए जाते हैं उनका भार निर्धन वर्ग पर अधिक पड़ता है। इस प्रकार सार्वजनिक ऋणों की सामान्य प्रकृति असमानता को बढ़ाने की होती है जिसे डाल्टन ने प्रत्यक्ष वास्तविक भार (Direct Real Burden) कहा है।

इस सम्बन्ध में फिण्डले शिराज का कहना है कि, ''सार्वजनिक ऋणों की प्रबृति आय को करदाताओं से ऋणदाताओं के पक्ष में हस्तान्तरण करने की होती है।'' यदि सरकारी ऋण का उपयोग उत्पादक कार्यों अथवा निम्न आय वर्ग के लोगों के आर्थिक कल्याण के लिए किया गया है तो इससे आय के समान वितरण को बढ़ावा मिलने लगता है। इसके विपरीत यदि सरकारी ऋण अनुत्पादक कार्यों यथा– युद्ध के संचालन तथा आकस्मिक संकटों के लिए प्राप्त किए गए हैं तो उनका भार अवश्य ही निर्धन वर्ग के लोगों को सहना पड़ेगा। यही नहीं यदि सार्वजनिक ऋण अधिक मात्रा में अल्प बचतों के माध्यम से लिया जाता है तो इससे जो ब्याज प्राप्त होता है वह अपेक्षाकृत कम आय वाले वर्ग को मिलता है क्योंकि वे ही लोग अल्प बचत में पैसा जमा करते हैं। इससे आय की असमानता कम होती है।

विकासशील देशों में अप्रत्यक्ष करों की प्रधानता होने के कारण ऋण के भुगतान का अधिक भार निर्धन वर्ग पर ही पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सार्वजनिक ऋण धन के वितरण को कई तरह से प्रभावित करते हैं परन्तु जब तक इस ऋण का कुल प्रभाव, धन के वितरण को निर्धन वर्ग के पक्ष में करने का नही होता है तब तक सार्वजनिक ऋण सामाजिक दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जा सकता।

युद्ध के लिए जो ऋण लिए जाते हैं, उनका भार करदाताओं पर अधिक पड़ता है। युद्ध के समय मूल्य–स्तर ऊँचा रहने से ऊँचे कर लगाए जाते हैं पर युद्ध के बाद भी करों की यही मात्रा रहती है, जबकि कीमतें गिर जाती हैं। किन्तु ब्याज की दर में कमी नहीं होती अतः इससे आय की असमानता बढ़ती है। संक्षेप में, यदि सार्वजनिक ऋण को उत्पादक कायां पर व्यय किया जाता है तो इसका वितरण पर प्रतिगामी (Regressive) प्रभाव नहीं पड़ता।

17.3.4 विनियोग पर प्रभाव (Effect on Investment)

सामान्यतया सार्वजनिक ऋण विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। सरकार सार्वजनिक ऋण निजी व्यक्तियों की बचतों से प्राप्त करती है जिसका निजी विनियोग पर विपरीत प्रभाव पड़ता है क्योंकि व्यक्तियों के पास संचित धन कम हो जाने से उनकी विनियोग की प्रेरणा हतोत्साहित होती है।

सरकार द्वारा नए बॉण्ड को जारी करने के कारण यदि ब्याज दर में वृद्धि होती है तो विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। ब्याज दर में जितनी अधिक वृद्धि होगी, विनियोग में उतनी ही अधिक कमी की आशा करनी चाहिए। किन्तु, यदि धन प्रभाव के कारण उपभोग में अत्यधिक वृद्धि होती हैं, तो विनियोग पर प्रतिबन्धक प्रभाव हल्का ही पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त जब सरकार बैंको से ऋण प्राप्त करती है तो बैंको की साख निर्माण की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। बैंकों से सरकार द्वारा लिया गया ऋण जनता की अतिरिक्त क्रय शक्ति और निजी विनियोग को प्रभावित नहीं करता किन्तु यदि ब्याज दर स्थिर है तथा बॉण्डों में ब्याज का विशेष आकर्षण नहीं है तो निजी विनियोग में कमी होने की सम्भावना न्यूनत्तम हो जाती है। दूसरे शब्दों में विनियोग पर साधारणतः सार्वजनिक ऋणों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। परन्तु ब्याज दर में परिवर्तन के

अतिरिक्त विनियोग पर अन्य प्रकार से भी प्रभाव पड़ते हैं। यदि सरकारी प्रतिभूतियाँ ऐसे वाणिज्य बैंकों तथा अन्य संस्थाओं को बेची जाती हैं जिनके पास अतिरिक्त रिजर्व नहीं है तो विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेंगे।

17.3.5 व्यापार क्रिया और रोजगार पर प्रभाव (Effect on Business Activity and Employment)

सरकार सार्वजनिक ऋणों के द्वारा देश में रोजगार एवं आर्थिक दशाओं में वांछित परिवर्तन ला सकती है। राज्य व्यापार तथा उद्योग, रोजगार तथा मूल्य स्तर को अपने व्यय द्वारा नियमित करती है और इस व्यय के लिए सार्वजनिक ऋणों द्वारा धन प्राप्त करने को अर्थव्यवस्था में विशेष स्थान तथा महत्व दिया जाता है।

जब सरकार गैर–बैंकिंग स्त्रोतों से ऋण लेती है तो इसका मुद्रा–स्फीति विरोधी (Anti-inflationary) प्रभाव होता है। यदि सरकार बैंकिंग स्त्रोतों से ऋण लेती है तो साख का विस्तार होता है तथा इसका वैसा ही प्रभाव होता है, जिस प्रकार अतिरिक्त मुद्रा निर्गमन का। जब सरकार देश के केन्द्रीय बैंक से ऋण लेती है तो देश में चलन की मात्रा बढ़ती है और यह घाटे की वित्त व्यवस्था का आधार बनता है। यदि इन कोषों को विवेकपूर्ण ढंग से व्यय किया जाता है तो इससे उत्पादन और रोजगार की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। यदि देश का केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय करता है तो इससे साख का विस्तार होता है।

मन्दीकाल में, जब चारो तरफ निराशा और उदासीनता का वातावरण छा जाता है, उत्पादन व आय का स्तर गिर जाता है, बेरोजगारी बढ़ जाती है, विनियोग कम होने लगते हैं, साख संस्थाओं की स्थिति खराब हो जाती है, उस समय सरकार ऋणों द्वारा सार्वजनिक निर्माण कार्यों को प्रारम्भ करके रोजगार के अवसर उत्पन्न करती है। इससे व्यक्तियों के पास धन पहुँचने से उनकी क्रय शक्ति बढ़ जाती है। माँग बढ़ने से मूल्य बढ़ने लगते है और व्यापार जगत में फिर से स्फूर्ति आ जाती है। इस प्रकार मंदी का प्रकोप समाप्त हो जाता है। कीन्स ने इसे 'नल विस्फोटक क्रिया (Pump Priming) कहा है और मन्दीकाल के लिए इसे बहुत महत्वपूर्ण बताया है। इसी तरह, मुद्रा स्फीति की दशा में सरकार लोगों से ऋण लेकर पास से क्रय शक्ति खींच लेती है जिससे वस्तुओ की मांग में कमी आने से मूल्य स्तर गिरने लगता है और सरकार अपने उद्देश्य में सफल हो जाती है।

17.4लोक ऋण भार की अवधारणा (Concept of the Burden of Public Debt)

लोक ऋण के भार से तात्पर्य उन लागतों या कठिनाइयों से है जो समाज को उस समय वहन करनी पड़ती है जब लोक व्यय की वित्त–व्यवस्था कर राजस्व के स्थान पर लोक ऋण द्वारा की जाती है।

लोक ऋण का भार एक अत्यन्त ही विवादास्पद विषय है। विवाद के प्रमुख मुद्दे दो हैं यथा, भार की धारणा तथा भावी पीढ़ी पर भार का स्थानान्तरण।

वाणिकवादी अर्थशास्त्रियों के ही समय से सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी व्याख्या सबसे विवादास्पद रही है। 1930 में कीन्सियन क्रान्ति के बाद ऐसा लगा जैसे यह विवाद समाप्त हो गया है पर 1958 में जेम्स

एम0 का बुकानन (James M Buchanan) की पुस्तक Principles of Public Debt के प्रकाशन ने इस समस्या को पुनः जीवित कर दिया है और अब भी हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं आ सके हैं।

लोक ऋण भार की समस्या पर विचार करने के पूर्व यह उचित होगा कि हम यह स्पष्ट कर दें कि सार्वजनिक ऋण के कारण उत्पन्न भार दो प्रकार का होता है–प्रारम्भिक या वितीय (Primary or Financial) भार तथा द्वितीयक या वास्तविक (Secondary or Real) भार। वित्तीय भार से आशय लोगों की आय की क्षति से है जो उस समय उत्पन्न होती है जबकि ऋण से सम्बन्धित व्ययों, ब्याज आदि को पूरा करने के लिए कर लगाया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय मौद्रिक आय का कितना भाग ब्याज के रूप में है, यह वितीय भार को स्पष्ट करता है। इस प्रकार के करारोपण के कारण लोगों की कार्य करने की इच्छा तथा क्षमता पर जो प्रभाव पड़ता है वही ऋण का वास्तविक भार है।

संक्षेप में, पारम्परिक विश्लेषण में यह मान लिया जाता है कि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर सन्तुलन में रहती है, वहीं केन्सीय विश्लेषण में यह मान लिया जाता है कि अनैच्छिक बेरोजगारी साम्यावस्था में भी रहती है। इसलिए केन्सीय धारणा यह मानकर चलती है कि प्रभावोत्पादक माँग सृजन के लिए जो लोक ऋण लिए जाते हैं वह समाज पर कोई भार नहीं डालते, क्योंकि ऐसे ऋण से निजी क्षेत्र में बेकार पड़ी बचत को क्रियाशील किया जाता है तथा आय एवं रोजगार का सृजन होता है। लर्नर ने भी ऐसा ही विचार प्रस्तुत किया। उनकी यह सलाह है कि स्फीति काल में ऋण का भुगतान किया जाना चाहिए। डोमर एक कदम और आगे जाते हैं तथा आर्थिक विकास के साथ केन्सीय विचारधारा को जोड़ देते हैं। डोमर के अनुसार लोक ऋण तभी भार बन सकता है जब अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर ऋण पर भुगतान किए जाने वाले ब्याज की बृद्धि दर से कम रहती है।

17.5 सार्वजनिक ऋणों का भार (Burden of Public Debt)

सार्वजनिक ऋण का भार इस बात पर निर्भर करता है कि ऋण किस स्रोत से लिया गया है। डाल्टन ने सार्वजनिक ऋण के भार को दो भागों में विभाजित किया है– 1. आन्तरिक ऋण का भार तथा

2. बाह्य ऋण का भार

17.5.1 आन्तरिक ऋण का भार (Internal Debt Burden)

आन्तरिक ऋण वह है जो किसी देश की सीमाओं के अन्दर रहने वाले व्यक्तियों या संस्थाओं से घरेलू मुद्रा में लिया जाता है। जिनका घरेलू मुद्रा में ही भुगतान एवं ब्याज की अदायगी करनी होती है। आन्तरिक ऋण का समाज पर सम्पूर्ण रूप में प्रत्यक्ष मौद्रिक भार नहीं पड़ता क्योंकि ब्याज और ऋण की अदायगियों के लिए लगाया गया कर एक वर्ग के व्यक्तियों की ओर से दूसरे वर्ग के व्यक्तियों की ओर क्रय शक्ति का केवल स्थानान्तरण करता है। आन्तरिक ऋण भार को प्रदर्शित करने वाले मुख्य बिन्दु हैं :

(1)यदि ऋणदाता और करदाता एक ही हैं तो समाज पर सामान्यतः कोई शुद्ध भार नहीं पड़ता परन्तु यदि ऋणदाता एवं करदाता विभिन्न आय वाले वर्गों से सम्बन्ध रखते हैं तो आन्तरिक ऋण भार समाज के विभिन्न वर्गों के बीच आय के वितरण को प्रभावित करता है।

(2)आन्तरिक ऋणों का प्रत्यक्ष वास्तविक भार कम पड़ता है यदि ऋण निर्धन वर्ग से लिये जाते हैं तथा उसके भुगतान के लिए सरकार धनी वर्ग पर कर लगाती है।

(3)आन्तरिक ऋणों का समाज पर कोई मौद्रिक भार नहीं पड़ता क्योंकि सरकार जनता से ही ऋण लेती है और जनता पर ही कर लगाकर प्राप्त आय से ऋणों की अदायगी करती है। इस प्रकार आन्तरिक ऋण में धन का पुनर्वितरण होता है।

(4)आन्तरिक ऋण भार अर्थव्यवस्था पर अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार उत्पन्न करता है और यह प्रभाव तब अनुकूल होता है जब ऋण राशि को विकासोन्मुख कार्यो में व्यय किया जाता है।

17.5.2 बाह्य ऋण का भार (External Debt Burden) - बाह्य ऋण की प्रकृति आन्तरिक ऋण से भिन्न होती है क्योंकि इन बाहरी ऋणों की अदायगी एवं ब्याज का भुगतान विदेशी मुद्रा में ही किया जाता है। बाह्य ऋण देश की सीमाओं के बाहर स्थित व्यक्तियों या संस्थाओं से प्राप्त होते हैं। आन्तरिक ऋण ऐच्छिक या अनिवार्य हो सकता है। बाह्य ऋण हमेशा ऐच्छिक होता है, केवल उन विशेष परिस्थितियों को छोड़कर जब सैनिक कार्यवाही के द्वारा दूसरे देश को उधार दने के लिए बाध्य किया जाए। आन्तरिक ऋण की स्थिति में देश के अन्दर सम्पत्ति का हस्तान्तरण होता है। बाह्य ऋण की हालत में पहले विदेश से देश से अन्दर सम्पत्ति का स्थानान्तरण होता है। बाद में, ऋण को वापस करते समय मूलधन मय ब्याज का भुगतान करने में विपरीत दिशा में स्थानान्तरण होता है। बाह्य ऋण भार से सम्बन्धित मुख्य बिन्दु निम्न हैं–

(i) बाह्य ऋणों का वास्तविक भार देश के आर्थिक कल्याण में कमी करता है। जब देश के नागरिकों को विदेशी भुगतान के बदले में देश की वस्तुओं और सेवाओं का परित्याग करके उन्हें निर्यात करना पड़ता है।

(ii) बाह्य ऋण उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। उत्पादन की इसी कमी के कारण अप्रत्यक्ष मौद्रिक एवं वास्तविक भार अधिक हो जाता है क्योंकि बाहरी ऋणों के शोधन के लिए भारी मात्रा में करारोपण किया जाता है जिसका कार्य करने, बचत करने एवं विनियोग करने की इच्छा एवं शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त बाहरी ऋणों के भुगतान के लिए सरकार सार्वजनिक व्ययों में अनेक कटौतियां करती है जिसका उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

17.5.3 लोक ऋण भार सम्बन्धी मौजूदा धारणा (Current Attitude of the Burden of Public Debt) – 1950 के दशक से लोक ऋण में वृद्धि को खतरनाक समझा जाने लगा। इसका कारण है लोक ऋण में वृद्धि के कारण निजी निवेश में कमी। किन्तु दूसरा एवं अधिक महत्वपूर्ण कारण यह मान्यता है कि लोक ऋण के वित्त पोषण के आधार पर किया गया अधिकांश लोक व्यय अनुत्पादक पाया गया है। 1987 में पोजनर (Michael Posner) ने स्पष्ट रूप से बताया कि मन्दी के समाधान के लिए अनुत्पादक पूँजी परियोजनाओं (unproductive capital projects) पर केन्स ने लोक व्यय में जिस असीमित वृद्धि की बात कहा वह सहने योग्य नहीं है। लोक ऋण का वह भाग चिन्ता का विषय है जिस पर ब्याज चुकाने के लिए पूर्ण रूप से या अधिकांश में कर राजस्व पर निर्भर करना पड़ता है। इसी सन्दर्भ में प्रो. डान्डेकर (V.M. Dandekar - Economic and Political Weekly, April 10, 1993, p. 69) का कहना है कि जब ब्याज का भुगतान उधार लेने की क्षमता को पार कर जाता है, देश ऋण जाल (debt trap) में फंस जाता है।

प्रो0 चेल्याह का कहना है कि निम्न उद्देश्यों के लिए लोक ऋण को उचित समझा जा सकता है :

(i) कर की दर के उतार–चढ़ाव को रोकने के लिए लोक ऋण की आवश्यकता हो सकती है। अलाभकर पूँजी निर्माण व्यय अक्सर भारी मात्रा में करना होता है। यदि ऐसे लोक व्यय का वित्त पोषण कर राजस्व से किया जाए तो कर की दर ऐसे पूँजी निर्माण व्यय के वर्ष में अधिक होगी तथा उस वर्ष में यह दर कम होगी जिस वर्ष ऐसा व्यय नहीं होगा। न केवल कर की दर ही कभी अधिक और कभी कम होगी, बल्कि ऊंची दर के वर्ष में ऐसी दर विकृति (distortion) पैदा करेगी। अतः ऐसी पूँजी निर्माण का वित्त पोषण लोक ऋण के माध्यम से करना उचित होगा। उचित यह भी होगा कि ऐसी परियोजना (Project) के जीवनकाल में ही ऋण का भुगतान कर दिया जाये। यदि ऐसा सम्भव नहीं हुआ तो ऐसी परिसम्पत्ति (asset) की फिर से स्थापना (replacement) के लिए पर्याप्त मूल्य–ह्रास (depreciation) का प्रावधान करना चाहिए।

(ii) आर्थिक स्थिरता के लिए औद्योगिक देशों में चक्रीय मन्दी या बेरोजगारी को समाप्त करने में घाटे के वित्त पोषण का उपयोग किया गया है। इसलिए लोक ऋण के माध्यम से लोक व्यय में बृद्धि करना उचित ठहराया जा सकता है।

(iii) युद्ध या अन्य संकटकालीन व्यय के वित्त पोषण के लिए भी लोक ऋण उचित समझा जा सकता हैं क्योंकि ऐसा नहीं करने पर कर में अत्यधिक बृद्धि करनी होगी।

(iv) चालू व्यय के वित्त पोषण के लिए भी लोक ऋण को उचित ठहराया जा सकता है जिससे किसी भौतिक पूँजी का निर्माण तो नहीं होता है, किन्तु मानवीय पूंजी का निर्माण होता है या जिसका पूँजी की उत्पादकता पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(v) लाभकर पूँजी निर्माण के लिए भी सरकार द्वारा ऋण लेना उचित ठहराया जा सकता है। निवेश के लिए उधार देने के लिए सरकार ऋण ले सकती है। अल्पविकसित देशों में पूँजी बाजार के विकसित न होने के कारण सरकार के लिए ऋण लेकर शेयर खरीदना भी उचित ठहराया जा सकता है।

प्रो0 चेल्याह ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इण्डियन इकानामी : प्राब्लम एण्ड प्रास्पेक्ट' में यह स्पष्ट किया है कि भारत जैसे विकासशील देशों के लिए आदर्श स्थिति वह होगी जहाँ कर एवं गैर–कर राजस्व से आर्थिक सहायता (subsidy), अन्य हस्तान्तरण व्यय (other transfer expenditures), ऋण का भुगतान तथा चालू व्यय के अधिकांश का वित्त पोषण होता है तथा लोक ऋण का उपयोग सरकार के अलाभकर पूँजी निर्माण, सामाजिक पूँजी तथा उत्पादकता में बृद्धि करने वाले व्यय तथा वित्तीय निवेश की आवश्यकता को पूरा करने के लिए होता है।

प्रो0 रचिर्ड गूड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक गवर्नमेन्ट फाइनेन्स इन डेवलपिंग कान्ट्रिज में माना है। कि आन्तरिक ऋण अधिकांशतः व्यावहारिकता (expediency) का परिणाम है क्योंकि सरकार कर लगाना ही अधिक पसन्द करती है, किन्तु ऐसा करना असुविधाजनक पाती है। पारम्परिक धारणा यह है कि निवेश व्यय का वित्त पोषण ऋण के द्वारा करना चाहिए, जबकि उपभोग व्यय (consumption or current expenditure), का नहीं। गूड कहते हैं कि यह पारम्परिक विचारधारा निजी उद्यम (private enterprise) के वित्त पोषण की गलत उपमा (analogy) पर आधारित है। सरकार को समष्टि आर्थिक आवश्यकता (macro-economic considerations) के अनुसार ही लोक ऋण के औचित्य को तय करना चाहिए। ऐसा मान लेना

उचित नहीं होगा कि विनियोग व्यय के वित्त पोषण के लिए लोक ऋण हमेशा बेहतर होता है। पारम्परिक धारणा की एक कमजोरी यह भी है कि वह मानकर चलती है कि विनियोग हमेशा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करता है तथा लोक उपभोग (public consumption) विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता डालता है। वास्तविकता यह है कि न तो सभी पूँजी व्यय आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करते हैं और न ही सभी चालू व्यय अनुत्पादक होते हैं। इसलिए लोक ऋण के सम्बन्ध में ऐसा कहना अधिक उचित होगा कि सरकार को उपभोग व्यय के लिए ऋण लेने से बचना चाहिए। ("Avoid borrowing to pay for government consumption expenditures.")

17.6लोक ऋण के भार का भावी पर स्थानान्तरण (Transfer of Public Debt Burden to Future Generation)

सामान्यता ऐसा माना जाता है कि वर्तमान लोक ऋण का भार भावी पीढ़ियों पर टाल दिया जाता है। इस अर्थ में राष्ट्रीय ऋण हमारे बच्चों पर अनुचित बोझ डालता है, हमारे फिजूलखर्च के लिए उन्हें भुगतान करना होता हैं ''लर्नर ऐसे विचार से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि ''बहुत कम लोगों को ऐसा बताने की जरूरत है कि यदि हमारे बच्चे या पोते–पोतियाँ राष्ट्रीय ऋण के कुछ अंश का भुगतान करते हैं तो ऋण का लाभ भी उन्हें मिलता है।''

वास्तव में, सार्वजनिक ऋण का भार भावी पीढ़ी पर पड़ता है अथवा नहीं, इस सन्दर्भ में अनेक विद्वानों ने परस्पर विराधी मत व्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों द्वारा व्यक्त किए गए विचार निम्नवत् हैं :

17.6.1 रिकार्डो–पीगू प्रमेय (Ricardo- Pigou Thesis) - रिकार्डो व पीगू की धारणा है कि यदि सरकार अपने व्यय को करों के माध्यम से सम्पन्न करती है तो पहली पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को मात्र कर रसीदें प्रदान करती है किन्तु यदि सरकार अपने व्यय को बॉण्ड जारी करके सम्पन्न करती है तो पहली पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को वसीयत के रूप में बॉण्ड प्रदान करती है। दूसरी पीढ़ी बॉण्ड प्राप्त करने के साथ–साथ भविष्य में राज्य द्वारा लिए गए ऋण के भुगतान के लिए करदान–क्षमता भी प्राप्त करती है। वस्तुतः द्वितीय पीढ़ी का कल्याण इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उसे पहली पीढ़ी से कर की रसीदें मिलीं अथवा बॉण्ड। वह तो इस बात पर निर्भर करता है कि उसे पूँजी–संग्रह के रूप में क्या मिलता है? यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि प्रथम पीढ़ी से सरकार ने साधन किस प्रकार लिए हैं। यदि सार्वजनिक व्यय की पूर्ति करों से होती है तो उससे उपभोग में कमी होगी तथा अधिक मात्रा में पूँजी दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होगी। यह कहा जा सकता है कि बाण्डों द्वारा साधन संग्रहित करने में उपभोग में कमी नहीं होगी व इस कारण द्वितीय पीढ़ी को कम मात्रा में पूंजी संचय प्राप्त होगा। रिकार्डो एवं पीगू का मत है कि सार्वजनिक ऋण का आगामी पीढ़ी पर इसी अर्थ में भार पड़ता है कि यदि सरकार अपने कार्यक्रमों को करारोपण के माध्यम से न सम्पन्न कर सार्वजनिक ऋण के माध्यम से करती है तो उन्हें पूँजी संचय कम मात्रा में उपलब्ध होता है। जिससे मसग्रेव भी अपनी सहमति प्रकट करते हैं।

17.6.2 नव क्लासिकल प्रमेय (New- Classical Thesis)- इस विचार के अनुसार जब पीढ़ियाँ परस्पर व्याप्त (Overlapping) नहीं है, तब पूँजी स्टॉक में कमी के बिना ऋण के भार को भावी पीढ़ियाँ पर टाला नहीं जा सकता है। यह नव–क्लासिकल विचारधारा है। इस विचारधारा (मॉडल) में इस बात पर बल दिया जाता है

कि जब सरकार किसी परियोजना (project) को शुरू करती है, तब निजी क्षेत्र से साधन सार्वजनिक क्षेत्र में स्थानान्तरित होते हैं, चाहे इसकी वित्त व्यवस्था कर द्वारा हो अथवा ऋण द्वारा। लोग सामान्यतः ऐसा मान लेते हैं कि जब परियोजना के लिए वित्त कर के माध्यम से आता है, तो करदाता अधिकांश कर राजस्व का भुगतान उपभोग में कटौती करके करते हैं। दूसरी ओर ऋण द्वारा वित्त प्राप्त करने की स्थिति में, इस फण्ड को व्यक्तियों तथा फर्मों के द्वारा अपनी परियोजनाओं के लिए माँगे गए फण्ड के साथ स्पर्धा करनी होती है। इसलिए ऐसा सामान्यतः मान लिया जाता है कि ऋण का अधिकांश प्रभाव निजी विनियोग पर पड़ता है। यह मान्यता जहाँ तक सही है, ऋण द्वारा लोक व्यय की वित्त व्यवस्था के कारण पीढ़ी को पूँजी का कम स्टॉक प्राप्त होता है। इसलिए भावी पीढ़ी की वास्तविक आय कम होगी। यही ऋण का इस पीढ़ी पर भार है। यह मान्यता कि लोक ऋण के कारण निजी विनियोग में कमी आती है, नव–क्लासिक विश्लेषण में काफी महत्व की है। इसे ही कभी–कभी ''भीड़ से बाहर निकालना प्रभाव'' (Crowding-out Effect) कहा जाता है। जब सार्वजनिक क्षेत्र निवेश के लिए जमा साधनों से फण्ड प्राप्त करता है, निजी निवेश को इस जमा से बाहर निकाल दिया जाता है। ऐसा ब्याज की दर में वृद्धि के द्वारा होता है। जब सीमित जमा से फण्ड प्राप्त करने के लिए सरकार भी प्रतियोगी हो जाती है, ब्याज दर बढ़ जाती है। इस स्थिति में निजी निवेश महंगा हो जाता है तथा इसकी मात्रा घट जाती है।

17.6.3 BDK प्रमेय (BDK Thesis) - इस प्रमेय के प्रो0 बॉवेन (W.G.Bowen,) प्रो0 डेविस (R.G Davis) तथा प्रो0 काफ (H.D Kopf) ने **अपने विचार लेख The Public Debt:** A Burden on Future Generation (American Economic Review, Vol.50,pp 701-06 and Vol 51, pp 141-43) में दिये हैं। इसीलिए इस सिद्धान्त को BDK प्रमेय (BDK Thesis) के नाम से जाना जाता है। इस प्रमेय के अनुसार ऋण व्यवस्था के फलस्वरूप समाज का उपभोग ऋण की मात्रा के बराबर कम हो जाता है। उपभोग में यह कमी उस वर्ष होती, है जब प्रथम बार ऋण लिया जाता है क्योंकि लोग उपभोग में कमी करके ही सरकार से बॉण्ड आदि क्रय करते हैं। इन लोगों ने एक–पीढ़ी का जीवन काल 44 वर्ष मानते हुए स्पष्ट किया कि 44 वर्ष के उपरान्त स्वतः ही समाज के एक समुदाय के उपभोग में कमी हुई थी। यह क्रिया प्रति 44 वर्ष बाद घटित होगी व उपभोग में बृद्धि पुरानी पीढ़ी द्वारा होगी व उपभोग में कमी नई पीढ़ी को होगी। इस तरह यदि प्रथम पीढ़ी उपभोग में कमी करे भी तो दूसरी पीढ़ी उपभोग में बृद्धि करेगी। दूसरी पीढ़ी जितनी मात्रा में उपभोग में बृद्धि करेगी, प्रथम पीढ़ी उतनी ही मात्रा में कमी। इसका अर्थ यह हुआ कि पहली पीढ़ी 43 वर्ष तक अपने उपभोग स्तर में कोई परिवर्तन नहीं पाएगी तथा सार्वजनिक व्यय का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि सरकार ऋण दूसरी पीढ़ी के जीवन काल में चुका देती व यदि सरकार से प्राप्त समस्त राशि सीधे उपभोग पर व्यय भी कर दी जाती तो भी दूसरी पीढ़ी को अपने जीवन काल में उपभोग में कमी सहन करनी पड़ती है, इस तरह बावेन, डेविस व कॉफ के अनुसार इस पीढ़ी पर भार पड़ेगा। उनके अनुसार, समाज के उपभोग में केवल एक बार कमी आती है व आगे वाले वर्षो में उपभोग स्तर पर या पूँजी की उपलब्धि पर किसी तरह का अन्तर नहीं आता। राज्य के व्यय करने या न करने पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके बावजूद भी दूसरी व तीसरी पीढ़ी पर ऋण का भार रहता है। उनका कथन है कि प्रारम्भिक वर्ष में उपभोग को स्थगित करने से पहली पीढ़ी के उपभोग स्तर में जो कमी आती है, अर्थात् प्रथम वर्ष से

44 वर्ष तक उपभोग को स्थगित करते रहना पड़ता है, यह त्याग इस पीढ़ी को सहन करना पड़ता है व इसकी क्षतिपूर्ति नहीं हो पाती। पीढ़ी को 44 वर्ष के अन्त में उपभोग स्तर बढ़ाने का मौका मिलता है तो वह तो प्रथम वर्ष में उपभोग में कमी करने प्रतिफल है किन्तु अन्य वर्षों में जो स्तर कम रहता है उसकी क्षतिपूर्ति कभी नहीं हो पाती। यही तर्क सभी पीढ़ियों के सम्बन्ध में लागू होता है व प्रत्येक पीढ़ी को भार वहन करना पड़ता है। जब तक राज्य द्वारा लिया गया ऋण भुगतान नहीं कर दिया जाता तब तक प्रत्येक पीढ़ी को उपभोग स्थगित करते रहने के रूप में त्याग करके भार वहन करना पड़ता है। उल्लेखनीय है कि दूसरी पीढ़ी यद्यपि पूँजी संचय में किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं करती तथापि वह भार वहन कर रही है। यही BDK प्रमेय है। वास्तव में, दूसरी पीढ़ी को कम मात्रा में पूँजी–'सचय मिलेगा, इसका कारण यह है कि यदि सरकार पहली पीढ़ी से ऋण लेकर व्यय नहीं करती तो इस पीढ़ी को 44 वें वर्ष में अधिक उपभोग प्रदान करने के नई पीढ़ी को अपने उपभोग में कमी करनी पड़ती व इस रूप में नई पीढ़ी को कम पूँजी संचय मिलेगा, उस स्थिति की तुलना में जिसमें कि राज्य कोई व्यय नहीं करता। इस तरह, बावेन डेविस व कॉफ के अनुसार भी नवीन पीढ़ी को वसीयत के रूप में कम पूँजी संचय उपलब्ध होगा। उनका कथन है कि ''चाहे ऋण व्यवस्था (उपभोग) को कम करे या (निवेश) को, यह भार पीढ़ी दर पीढ़ी अन्तरण में परिणत हो सकता है।''

संक्षेप में, इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत भार को विभिन्न पीढ़ियों के करदाताओं के जीवनकालीन उपभोग में कटौती के रूप में देखा जाता है। किसी भी समय समाज में अनेक पीढियों के लोग साथ–साथ रहते हैं। कर राजस्व के कुल भार से तात्पर्य होता है प्रत्येक पीढ़ी के करदाताओं के जीवनकालीन उपभोग में कमी। लोक ऋण की स्थिति में ऐसा सम्भव है कि पीढ़ी I उपभोग में होने वाली कटौती को भावी पीढ़ी II एवं III को कुछ अंश में टाल दे। ऋण लेने के समय भावी पीढ़ी II एवं III मौजूद नहीं थी, किन्तु भविष्य में ऋण सेवा के समय उपस्थित रहती है। जब ऋण को अदा किया जाता है, पीढ़ी I ऋण की रकम का उपयोग उपभोग पर करती है तथा पीढ़ी II एवं III ऋण सेवा के लिए कर भुगतान करती हैं। दूसरे शब्दों में, पुरानी पीढ़ी अपने उपभोग में बृद्धि करती है जबकि नयी पीढ़ियों के उपभोग में कमी होती है। कारण यह है कि ऋण की वापसी के समय पुरानी पीढ़ी सेवा मुक्त (retire) हो जाती हैः अतः इस पर कर नहीं लगाया जाता है। इस विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि उपभोग में कटौती के रूप में ऋण के भार को उन पीढ़ियों को वहन करना पड़ता है जो ऋण की वापसी के समय जीवित रहती है। इस पूरे विश्लेषण में विनियोग की दर में कटौती की कोई बात नहीं की जाती है।

17.6.4 प्रो0 बुकानन का विश्लेषण (Prof Buchanan Analysis) प्रो0 जे0 यम0 बुकानन ने अपना विश्लेषण अपनी पुस्तक Principles of Public Debt में 1958 में प्रस्तुत किया। वस्तुतः 1930 तथा 1940 के दशकों में ऋण के भार सम्बन्ध में वाद– विवाद भावी पीढ़ी पर पड़ेगा या नहीं के दो विपरीत विचारधाराओं के मध्य चलता रहा। एक विचारधारा यह मानती रही कि बेरोजगारी को कम करने के लिए बजट में होने वाले घाटे की वित्त व्यवस्था के लिए लिये गए ऋण का भार भावी पीढ़ी पर पड़ेगा। घाटे की वित्त व्यवस्था के समर्थक यह तर्क देते रहे कि ऐसा नहीं होगा।

प्रो0 बुकानन ने इस सम्बन्ध में मत व्यक्त करते हुए स्पष्ट किया है कि यदि सार्वजनिक व्यय का प्रबन्ध ऋण प्राप्त करके किया जाएगा तो इसका भार भावी पीढ़ी पर अन्तरित होगा। यदि यह व्यय कर व्यवस्था द्वारा किया जायेगा तो इसका भार अन्तरित नहीं होगा। यदि पूर्ण रोजगार की दशा में ऋण व्यवस्था द्वारा साधनों को निजी उपयोग से सार्वजनिक उपयोग के लिए अन्तरित किया जाएगा तो प्रारम्भ में तो किसी भी व्यक्ति को कोई भार अनुभव नहीं होगा। परन्तु जब इस ऋण का कर–व्यवस्था द्वारा भुगतान किया जाएगा तो प्रत्येक व्यक्ति को त्याग का अनुभव होगा। इससे किसी भी व्यक्ति को लाभ की अनुभूति नहीं होगी। बुकानन के अनुसार व्यक्ति ऋण को निजी पूँजी निर्माण में कमी करके प्रदान करते हैं। उनके अनुसार लोग स्वेच्छा से बॉण्ड खरीदते हैं। इससे किसी को कोई त्याग नहीं करना पड़ता परन्तु भावी पीढ़ी को कम पूँजी संचय प्राप्त होगा। इस तरह दूसरी पीढ़ी पर प्रथम पीढ़ी के निर्णय का प्रभाव पड़ेगा। यदि पहली पीढ़ी ऋण प्रदान करने की अपेक्षा उपभोग में कमी करने का निर्णय लेती है तो वह दूसरी पीढ़ी के लिए अधिक उत्तम होगा।

इस तरह बुकानन की धारणा है कि भावी पीढ़ी को ऋण का भार वहन करना होगा क्योंकि जब ऋण वापस किया जाएगा तो जिन्होंने कर दिया है, वे तो त्याग का अनुभव करेंगे ही किन्तु जिन्होंने बॉण्ड में विनिमय किया है, वे भी लाभ का अनुभव नहीं करेंगे क्योंकि उन्हें तो पूर्व में दिए गए ऋण के बदले में ही राशि मिलेगी।

बुकानन का यह विश्लेषण पीगू व रिकार्डो के विश्लेषण के काफी समीप मालूम पड़ता है क्योंकि यदि पहली पीढ़ी उपभोग में कमी करके धन संग्रह करेगी तो इससे भावी पीढ़ी को अधिक पूँजी संचय मिलेगा। इसके विपरीत जब यही साधन संग्रह ऋण व्यवस्था के माध्यम से किया जाएगा तो उससे पूँजी संचय कम मात्रा में होगा।

17.6.5 प्रो0 मसग्रेव का विश्लेषण (Prof. Musgrave Analysis) – प्रो. मसग्रेव ने ऋण के प्रभावों के सम्बन्ध में विभिन्न पीढ़ियों के मध्य (Intergeneration) समानता का विचार प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि यदि ऋण व्यवस्था द्वारा व्यय कार्यक्रम सम्पन्न किया जाएगा तो इनका भार सभी पीढ़ियों पर बँट जाएगा व उन पर समान भार पड़ेगा। कर व्यवस्था द्वारा यह सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें तो भार एक ही पीढ़ी को वहन करना पड़ेगा।

मसग्रेव की धारणा है कि भावी पीढ़ी की आर्थिक स्थिति पर पूर्व पीढ़ी के निर्णयों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्य शब्दों में, पूर्व पीढ़ी द्वारा भावी पीढ़ी को वसीयत के रूप में पूँजी–संचय प्रदान करने की बात को मसग्रेव ने अपने विश्लेषण में महत्व नहीं प्रदान किया है।

संक्षेप में, उपर्युक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूँजी संचय की वसीयत, ऋण व्यवस्था द्वारा सार्वजनिक व्यय सम्पन्न करने का एक महत्वपूर्ण पहलू है तथा यह निश्चित है कि प्रथम पीढ़ी के साधन संग्रह करने के निर्णयों का भावी पीढ़ी पर प्रभाव पड़ेगा। इस बात का विश्लेषण किए बिना

ऋण–भार का विश्लेषण अधूरा रहेगा। इस संदर्भ में यह स्पष्ट है कि रिकार्डो व पीगू के प्राचीन विचार अभी भी प्रासंगिक हैं। एक और महत्वपूर्ण तथ्य जो ऋण भार के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए, वह यह है कि ऋण से प्राप्त साधनों के व्यय का अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि सार्वजनिक ऋण से पूँजी का निर्माण होता है तथा उससे प्राप्त लाभ को ही ऋण प्रतिदान के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो इससे भावी पीढ़ी पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा व वर्तमान पीढ़ी भी अपने जीवन–काल में ब्याज सहित राशि वापस कर देगी।

17.7 लोक ऋण के भार का हस्तान्तरण एवं आर्थिक विकास

(Transfer Burden of Public Debt and Economic Development)

वर्तमान में अधिकांश देशों में लोक ऋण की मात्रा बढ़ती जा रही है। परन्तु ऋण के भार सम्बन्धी पारम्परिक विश्लेषण में ऋण की बढ़ती मात्रा को राष्ट्रीय आय की बृद्धि के साथ नहीं देखा जाता है। जब इसे आर्थिक विकास के सन्दर्भ में देखा जाता है तो हम नहीं कहते हैं कि प्रत्येक अगली पीढ़ी को ऋण के बढ़ते भार को वहन करना पड़ेगा। लोक ऋण के भार को अकसर राष्ट्रीय आय के उस प्रतिशत के रूप में देखा जाता है जिसकी जरूरत ब्याज के भुगतान के लिए पड़ती हैं। इस स्थिति में ऋण का भार बढ़ता है या घटता है, यह दो बातों के परस्पर सम्बन्ध पर निर्भर करेगा। एक है आर्थिक विकास अर्थात् राष्ट्रीय आय की बृद्धि दर तथा दूसरा ब्याज के भुगतान की बृद्धि दर। इस तरह देखने पर ऐसी सम्भावना भी हो जाती है कि ह्रासमान ऋण का भार बढ़ता जाए तथा वृद्धिमान ऋण का भार कम होता जाए। वस्तुतः विकासशील राष्ट्र में ऋण की समस्या मुख्य रूप से राष्ट्रीय आय में बृद्धि की दर में तेजी लाना है। राष्ट्रीय आय में बृद्धि के कारण सार्वजनिक ऋण पर ब्याज के भुगतान के लिए जिस कर राजस्व की आवश्यकता है उसका भार अर्थव्यवस्था पर असह्य नहीं होना चाहिये।

1.7.1 प्रो0 ई0 डी0 डोमर की व्याख्या– लोक ऋण के हस्तान्तरण एवं आर्थिक विकास सम्बन्धी अवधारणा को प्रो0 ई0डी0 डोमर ने अपने लेख 'The Burden of the Debt and National Income' में प्रस्तुत किया है। इस लेख में उन्होंने लोक ऋण के भार को राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में व्यक्त किया है। उन्होंने उन शर्तों को बताया है जिनके अनुसार हम जान सकते हैं कि भार में कब बृद्धि होगी और कब कमी। इसके लिए उन्होंने निम्न समीकरण दिये हैं:

$$t = i \times \frac{b}{G}$$

जहां t = राष्ट्रीय आय का अनुपात जिसे कर के रूप में लिया जाता है

i = ऋण पर ब्याज राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में

b = बजट का घाटा राष्ट्रीय आय अनुपात में

G = राष्ट्रीय आय की बृद्धि दर

उपरोक्त समीकरण के आधार पर यह बताया जा सकता है कि कब ऋण के भार में बृद्धि होगी तथा कब कमी। इसे समझने के लिए कुछ उदाहरण लें।

स्थिति 1

$$i = 3\%$$

$$G = 3\%$$

$$b = 3\%$$

ऋण सेवा के लिए t का मूल्य 3% होगा।

स्थिति 2

$$i = 3\%$$

$$G = 6\%$$

$$b = 3\%$$

यदि i तथा b स्थिर रहे, तो विकास की दर G के दूनी होने पर ऋण सेवा के लिए केवल 1.5 प्रतिशत t की आवश्यकता होगी।

स्थिति 3

$$i = 3\%$$

$$b = 3\%$$

$$G = 1.5\%$$

इस स्थिति में i तथा b के स्थिर रहने पर आर्थिक विकास की दर के आधा हो जाने पर 6 प्रतिशत t की जरूरत होती है, अर्थात ऋण का भार बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में, ऋण सम्बन्धी अवधारणा जिस बात को सुनिश्चित करता है वह यह है कि लोक व्यय इस अर्थ में उत्पादक है कि वह राष्ट्रीय आय की वृद्धि में योगदान करता है। इसलिए लोक ऋण में वृद्धि अपने आप चिन्ता का विषय नहीं है। देखना है लोक व्यय के मौजूद आबंटन को ताकि इसका अधिकांश भाग राष्ट्रीय आय की वृद्धि में योगदान करे। इस हेतु प्रो0 सैम्युलसन तथा प्रो0 नारडस ने भी बड़ी मात्रा में सार्वजनिक ऋण को अच्छा नहीं माना है। जिसकी व्याख्या आगे की गयी है।

17.7.2 लोक ऋण के भार तथा प्रभाव पर सैम्युलसन तथा नॉरडस के विचार (Concept of Samuelson and Nordhaus on the Burden and Effects of Public Debt.) - प्रो0 पाल ए0 सैम्युलसन तथा प्रो0 डब्लू डी0 नॉरडस ने लोक ऋण के भार तथा प्रभाव को समझाने के लिये सर्वप्रथम पहले लोक ऋण तथा बजट घाटे के अन्तर को समझाया है क्योंकि इनके अन्तर कभी–कभी उलझन पैदा कर देते हैं। इनके अनुसार ऋण टब के अन्दर जमा जल है, जबकि घाटा टब के अन्दर प्रवाहित होता जल। लोक ऋण (government or public debt) सरकारी दायित्व का भण्डार (stock of liabilities of govermnent) है। घाटा नए ऋण का प्रवाह है जिसका सृजन उस समय होता है जब सरकार राजस्व प्राप्ति से अधिक व्यय करती है। मान लें कि 2012 में भारत सरकार का घाटा 25,000 करोड़ रूपए था। लोक ऋण के भण्डार में यह राशि जुड़ जाएगी। इसके विपरीत मान लें कि 2010 में सरकार के बजट में 20,000 करोड़ रूपए का अतिरेक (surplus) था। उस वर्ष के लोक ऋण में इस राशि के बराबर कमी हुई।

युद्ध, आर्थिक मन्दी जैसी संकटकालीन परिस्थितियों में बजट में घाटा एक वास्तविक स्थिति है, किन्तु पिछले करीब तीन दशकों में शान्तिकालीन परिस्थितियों में बड़ी मात्रा में बजट घाटा आधुनिक आर्थिक इतिहास की एक अनोखी विशेषता है। इसलिए प्रायः सभी देशों में ऋण/सकल घरेलू उत्पाद अनुपात शान्ति काल में भी बढ़ रहा है।

इस हेतु कुछ लोगों का कहना है कि बड़े बजट घाटे के कारण भावी पीढ़ियों पर भार पड़ता है। कुछ अन्य लोगों का कहना है कि ब्याज दर या निवेश पर घाटे के प्रभाव का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। तीसरे वर्ग का कहना है कि घाटा अर्थव्यवस्था के लिए अनुकूल है, विशेषकर मन्दी के समय। इस संघर्ष का समाधान क्या है? सर्वप्रथम, हम ऐसा विश्वास करना छोड़ दें कि लोक ऋण बुरा है, क्योंकि इससे निजी ऋणकर्ता (कर्जदार) को सजा मिलती है। दूसरी ओर हमें यह स्वीकारना होगा कि लोक ऋण की बड़ी मात्रा के कारण वास्तव में समस्याएं उत्पन्न होती हैं तथा अल्प परिमाण में लोक ऋण से लाभ प्राप्त होते हैं।

प्रो0 सैम्युलसन तथा प्रो0 नॉरडस का मानना है कि बड़ी मात्रा में लोक ऋण का शायद सर्वाधिक गम्भीर परिणाम यह है कि देश की निजी सम्पत्ति के भण्डार में पूँजी का विस्थापन होता है। इस कारण आर्थिक विकास की गति धीमी पड़ जाएगी तथा लोगों के जीवन स्तर में गिरावट आ जाएगी।

यहाँ लोक ऋण सम्बन्धी यांत्रिकी विशेष महत्वपूर्ण है जिसके माध्यम से ऋण पूँजी को प्रभावित किया जा सकता है। लोग कई उद्देश्यों से धन का संचय करते हैं, जैसे अवकाश प्राप्ति के बाद जीवनयापन के लिए, बच्चों की शिक्षा के लिए, भवन निर्माण के लिए आदि। व्यक्तियों द्वारा धारण किए गए धन को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है (i) सरकारी ऋण तथा (ii) मकान, वित्तीय सम्पत्ति जैसे– शेयर आदि के रूप में जिन्हें निजी पूँजी कहा जा सकता है।

सरकारी ऋण का यह प्रभाव होता है कि लोग निजी पूँजी के स्थान पर सरकारी ऋण का संचय करते हैं। इससे निजी पूंजी का विस्थापन लोक ऋण द्वारा होता है। लोगों के कुल सम्पत्ति संचय की मात्रा

निश्चित (fixed) होती है। इसलिए वे जितनी अधिक मात्रा में सरकारी बॉण्ड खरीदेंगे उतनी ही मात्रा में कारखाने, मकान आदि निजी पूंजी की मात्रा में कमी होगी। यदि लोक ऋण में 100 इकाइयों की वृद्धि होती है, तो निजी सम्पत्ति में 100 इकाइयों की कमी होगी। यह निजी–पूंजी का शत प्रतिशत (100 प्रतिशत) विस्थापन कहलाता है। इसे ही दीर्घकालीन 100 प्रतिशत क्राउडिंग आउट (crowding out) कहा जाता है, किन्तु व्यवहार में 100 प्रतिशत विस्थापन नहीं होता है। बड़े पैमाने पर लोक ऋण के कारण ब्याज दर में बृद्धि हो सकती है तथा घरेलू बचत में बृद्धि के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हो सकता है। इनके अतिरिक्त, घरेलू पूंजी के स्टॉक को कम करने के स्थान पर सरकार विदेशों से ऋण ले सकती है। कितनी मात्रा में पूँजी का विस्थापन होगा, यह उत्पादन की स्थिति तथा घरेलू परिवारों एवं विदेशियों के बचत–सम्बन्धी आचरण पर निर्भर करेगा। इन तथ्यों को नीचे चित्र 17.1 में प्रस्तुत किया गया है।

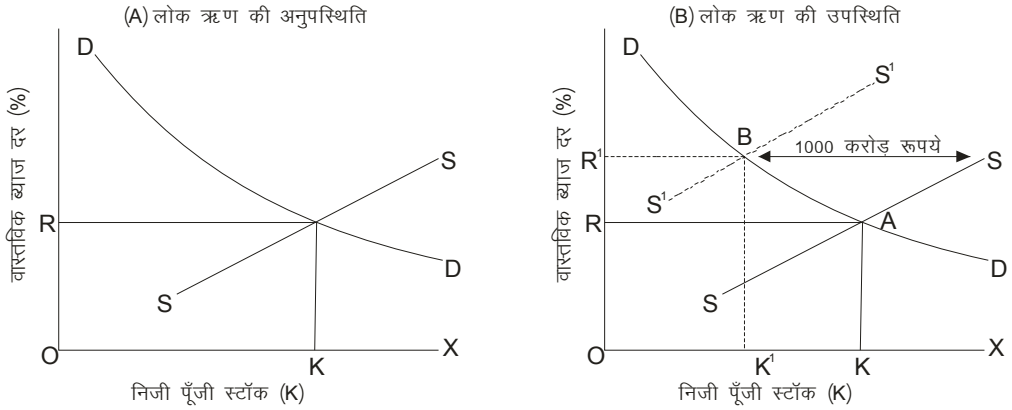

चित्र 17.1 लोक ऋण द्वारा निजी पूंजी का विस्थापन

DD पूँजी का माँग वक्र है, जबकि SS और S^1S^1 पूँजी की पूर्ति की रेखाएं हैं। फर्म के द्वारा पूँजी की माँग की जाती है जबकि व्यक्ति एवं परिवार निजी एवं लोक सम्पत्तियों में बचत करके पूंजी की आपूर्ति करते हैं। चित्र 17.1 (A) में लोक ऋण की अनुपस्थिति में सन्तुलन की स्थिति को दिखाया गया है। पूंजी का स्टॉक OK है तथा साम्य ब्याज दर OR रहती है।

चित्र 17.1 (B) में 1,000 करोड़ रूपए के लोक ऋण के प्रभाव को दिखाया गया है। ऋण के कारण शुद्ध पूंजी (net capital) वक्र बाई ओर खिसक जाती है। उसे S^1S^1 वक्र द्वारा दिखाया गया है। इस स्थिति में सन्तुलन बाई ओर खिसक जाता है – A से B की ओर। ब्याज दर ऊँची हो जाती है– OR से बढ़कर OR^1 तथा पूंजी का स्टॉक KK^1 मात्रा के बराबर कम हो जाता है। चित्र 17.1 एक संकेत मात्र है, क्योंकि ऐसा कहना सम्भव नहीं है कि पूंजी का विस्थापन ठीक–ठीक कितनी मात्रा में होगा।

17.7.3 लोक ऋण एवं आर्थिक विकास (Public Debt and Economic Development):– प्रो0 सैम्यूएलसन तथा प्रो. नॉरडॉस का कहना है कि बड़ी मात्रा में सार्वजनिक ऋण दीर्घकालीन आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव डालता है। इसके तीन प्रमुख कारण निम्न है:

(1) समय के साथ ऋण के परिणाम में बृद्धि होने पर निजी पूंजी का विस्थापन (displacement) होता रहता है। लोग (i) सरकारी ऋणपत्र (ii) मकान, शेयर, इक्विटी, बॉण्ड आदि खरीद कर बचत करते हैं। सरकारी ऋण में वृद्धि होने पर लोग सरकारी ऋणपत्र अधिक मात्रा में खरीदते हैं तथा निजी कम्पनियों के शेयर, इक्विटी, बॉण्ड आदि कम खरीदते हैं। इसलिए सरकारी ऋण में अधिक परिमाण में बृद्धि तथा निजी पूँजी स्टॉक में कमी होती हैं। इससे राष्ट्रीय आय की बृद्धि दर घट जाती है।
(2) बड़े पैमाने पर ऋण ब्याज चुकाने तथा मूलधन की वापसी के लिए अतिरिक्त कर लगाने की आवश्यकता होती है। कर में बृद्धि का क्षमता तथा योग्यता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे भी राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर धीमी पड़ जाती है।
(3) बाह्य ऋण में बृद्धि का भी बुरा प्रभाव राष्ट्रीय आय पर पड़ता है क्योंकि राष्ट्रीय उत्पति का बड़ा हिस्सा विदेशी ऋण पर ब्याज तथा मूलधन चुकाने के लिए चला जाता है। इससे राष्ट्रीय आय में कमी होती है। इसलिए सैम्युलसन तथा नॉरडस का कहना है कि ''इन सभी प्रभावों को एक साथ लेने पर यही कहा जायेगा कि उत्पत्ति तथा उपभोग की वृद्धि धीमी पड़ जायेगी। ऐसा बड़ी मात्रा से सरकारी ऋण तथा घाटा की अनुपस्थिति मे नहीं होगा।''

इस स्थिति की व्याख्या चित्र 17.2 में की गई है। चित्र में ठोस रेखाएं पूँजी तथा उत्पत्ति की बृद्धि की उस स्थिति में दर्शाती है जब सरकारी बजट सन्तुलित रहता है तथा कोई ऋण नहीं लिया जाता है, जब सरकारी बजट में घाटे के कारण ऋण लिया जाता है, निजी पूंजी का विस्थापन होता है, साथ ही ऋण पर ब्याज चुकाने के लिए अतिरिक्त कर लगाये जाते हैं। जिनसे सक्षमता में ह्रास होता है और राष्ट्रीय आय का एक भाग विदेशी ऋण पर ब्याज अदा करने के लिए देश के बाहर चला जाता है। इसलिए कुल पूंजी के स्टॉक में बृद्धि नहीं होती है। इसे चित्र में टूटी रेखा के द्वारा दिखाया गया है। इसी के अनुकूल टूटी रेखा उत्पति के ह्रास को दर्शाती है। इस प्रकार बड़ी मात्रा में सरकारी ऋण आर्थिक विकास के लिए हानिकारक है।

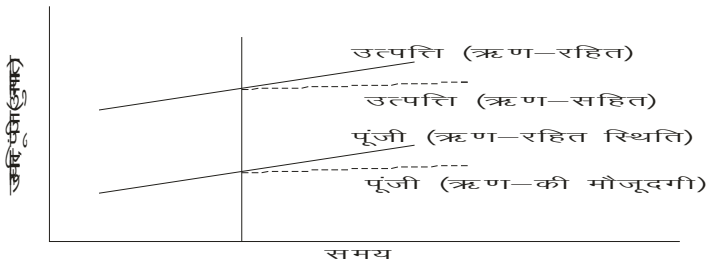

चित्र 17.2 ऋण एवं उत्पत्ति, पूंजी अनुपात

उपरोक्त विश्लेषण में यह मान लिया गया है कि उत्पत्ति की मात्रा पूंजी के स्टॉक से निर्धारित होती है। अधिक पूंजी अधिक उत्पत्ति तथा कम पूंजी कम उत्पत्ति। उत्पत्ति के घटने के दो कारण हैः (1) अधिक ऋण के कारण पूंजी का विस्थापन। (2) ऋण पर ब्याज के भुगतान के लिए करों में वृद्धि करने से कार्यकुशलता में कमी आती है। इससे उत्पत्ति घट जाती है।

17.8 विकासशील देशों में लोक ऋण का महत्व (Importance of Public Debt in Developing Countries)

विकासशील देशों में लगातार बढ़ते विकास व्यय के लिए वित्त जुटाना एक अत्यधिक कठिन समस्या है। वित्तीय साधनों को जुटानें के सन्दर्भ में ही कर की भूमिका पर बल दिया जाता है। किन्तु, करारोपण की भी सीमाएं हैं। इन सीमाओं के अतिक्रमण के पश्चात् आर्थिक प्रेरणा सम्बन्धी गम्भीर समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। इसलिए वित्तीय साधनों को जुटानें के सिलसिले में लोक ऋण के उपयोग की बात कही जाती है। लोक ऋण की दो विशेषताएं हैं– स्वैच्छिक प्रकृति तथा भुगतान की प्रत्याशा। इन्हीं कारणों से इसके सम्बन्ध में आर्थिक प्रेरणाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की कम सम्भावना रहती है। एक विकासशील देश में अपने आप बिना सरकारी समर्थन के पूर्ण रोजगार की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए विकासशील देशों में लोक ऋण का क्षेत्र काफी विस्तृत है। लोक ऋण द्वारा ऐसी बचत को उत्पादक कार्यों के लिए जुटाया जा सकता है जो इसकी अनुपस्थिति में संचय कर ली जाती है या जमीन तथा बहुमूल्य धातुओं जैसे अनुत्पादक व्यय पर खर्च कर दी जाती है।

लोक ऋण द्वारा सार्वजनिक विनियोग के स्तर को ऊँचा किया जा सकता है। इस कारण कुल विनियोग का स्तर भी ऊँचा हो जाएगा जो सिर्फ करारोपण की स्थिति में सम्भव नहीं हो सकता।

एक अन्य तरीके से भी लोक ऋण आर्थिक विकास में योगदान देता है। व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का एक भाग परिसम्पत्ति के रूप में रखना चाहता है जिससे सुरक्षित आय प्राप्त हो। इसके आधार पर विनियोगकर्ता जोखिमपूर्ण व्यवसाय में अधिक धन लगा सकते हैं। स्थिर आय प्रदान करने वाले सरकारी बॉण्ड में विनियोग के कारण जो विश्वास पैदा हुआ उसी ने ब्रिटेन तथा अमेरीका में हिस्सा पूंजी (equity capital) के विस्तार में सहायता पहुँचायी।

लोक ऋण के स्तर का निर्धारण जिन कारकों से होता है वे हैं व्यक्तियों तथा व्यवसायियों के उधार देने की योग्यता एवं इच्छा तथा सरकार की कर लगाने की शक्ति तथा इच्छा। निम्न समीकरण द्वारा ऋण के उच्चत्तम स्तर को बताया जा सकता है :

$$D = \frac{Y_1 - C}{r}$$

जहां D = राष्ट्रीय ऋण की अधिकत्तम मात्रा, C = साधारण सरकारी क्रियाओं पर स्थिर व्यय, t = कर की दर तथा राष्ट्रीय आय (Y) का उच्चतम अनुपात तथा r = सरकारी ऋण पर ब्याज दर।

17.9 लोक ऋण की सह्यता तथा इष्टतम लोक ऋण (Sustainability of Public Debt and Optimal Public Debt)

लोक ऋण सीमा के अन्दर नहीं रहने पर घाटे के वित्त पोषण की प्रत्येक विधि से समष्टि असन्तुलन (macro economic imbalance) का सृजन हो सकता है। एक–सीमा के पश्चात् मुद्रा को छापने पर

मुद्रास्फीति की सृष्टि होगी, विदेशी विनियम के उपयोग से विदेशी विनियम संकट का सृजन होगा जो विदेशी ऋण संकट को जन्म दे सकता है। आन्तरिक ऋण उस समय विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर सकता है, जब ब्याज की वास्तविक दरें (real interest rates) बढ़ते लगती है जिस कारण ऋण पर ब्याज का बोझ बढ़ने लगता है। ऋण पर ब्याज के बढ़ते भार के कारण और अधिक ऋण लेना पड़ेगा जो स्थिति को विस्फोटक बना देगा।

1. स्टैनले फिशर (Stanley Fishcher) का एवं विलियम इस्टरली (William Easterly) का कहना कि घाटा सहने योग्य है या नहीं, यह दो बातों पर निर्भर है–घाटे के आकार तथा अर्थव्यवस्था की विकास दर। विकास की दर में तीब्रता आने पर घाटे के आकार में बृद्धि हो सकती है। इस तर्क के आधार पर इसकी व्याख्या की जा सकती है कि क्योंकि भारत, मलेशिया, पाकिस्तान, तथा थाइलैण्ड जैसे देशों में जहाँ 1980–86 के मध्य विकास दर 5 प्रतिशत या उससे अधिक थी, बड़ी मात्रा में बजट घाटे को एक अंक में स्फीति के साथ कायम रखा जा सका। इसके विपरीत, अर्जेन्टीना तथा ब्राजील जैसे देशों में जहाँ विकास की दर प्रायः शून्य थी, बजट घाटे के कारण मुद्रास्फीति की दर चार अंको में रही। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उन देशों में जहाँ विकास की दर ऊंची रहती है, बजट घाटे के आकार का कोई महत्व नहीं है। निष्कर्ष यह निकालना चाहिए कि जब तक आर्थिक विकास की दर ऊंची रहती है, बजट घाटे की मात्रा अधिक हो सकती है।

अंततः फिशर तथा इस्टरली अपने लेख में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऋण की सह्यता वास्तविक ब्याज दर तथा विकास की वास्तविक दर के साथ–साथ कर तथा लोक व्यय की कुशलता (effciency) पर भी निर्भर करती है। उन्होंने यह भी बताया कि ऐसा कहना सही नहीं होगा कि हर स्थिति में बजट घाटे से बचना चाहिए। संयत (moderate) मात्रा में बजट घाटे का वित्त पोषण ऊंची दर पर स्फीति, विनिमय संकट या ऋण में विस्फोटक वृद्धि की अनुपस्थिति में सम्भव है, लेकिन बड़ी मात्रा में बजट घाटा आर्थिक विकास तथा समष्टि आर्थिक स्थिरता के लिए खतरा है।

यहाँ ऋण–शोध क्षमता (solvency) तथा ऋण– सह्यता (sustainability) में अन्तर करना आवश्यक होगा। राष्ट्रीय आय की तुलना में आन्तरिक ऋण का उच्च स्तर या निर्यात आय की तुलना में बाह्य ऋण का ऊँचा स्तर तथा सरकारी बजट में लगातार बड़ी मात्रा में घाटे के कारण ऋणदाता के मन में सरकार तथा अर्थव्यवस्था की ऋण– शोध क्षमता के प्रति ऐसा सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि वे ऋण दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकेंगे। सन्देह की यह स्थिति संकट को जन्म दे सकती है तथा ऋण के द्वारा घाटे का वित्त पोषण असह्य हो सकता है, क्योंकि सरकारी बाण्ड बाजार में बिकेंगे ही नहीं।

इसी तरह प्रो0 मिहिर रक्षित (Mihir Rakshit) ने अपने लेखों 'Economics of the Government Budget Constraint' एवं 'Budget Deficit Sustainability, Solvency and Optimality' में लोक ऋण की सह्यता (sustainability) तथा उसके उच्चतम स्तर (optimality) का विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि क्योंकि लोक नीति (Public policy) का उद्देश्य सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों को प्रोत्साहित करना होता है, इसलिए बजट कार्यक्रम को इस आधार पर चुनना होगा कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर

इसका योगदान बना रहे। दूसरे शब्दों में, लोक वस्तुओं का सिद्धान्त सरकारी उपभोग व्यय की अधिकतम कल्याणकारी मात्रा के निर्धारण के नियम को प्रतिपादित करता है।

सामान्यता लोक ऋण की सह्यता सम्बन्धी शर्तों का सम्बन्ध दीर्घकाल से होता है। अल्पकाल में अशिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं के अभाव, बाजार सुविधाओं की कमी तथा परिवहन और संचार अवरोधों को दूर करने के लिए सरकार को बड़ी मात्रा में व्यय करने की जरूरत होती है। अल्प एंव मध्यम काल में, इस व्यय के एक बड़े भाग का वित्त पोषण लोक ऋण द्वारा ही होगा। रक्षित का कहना है कि जिस अर्थव्यवस्था में माँग–अपर्याप्तता (demand- deficiency) रहती है, वहाँ ऋण द्वारा लोक व्यय का वित्त पोषण आवश्यक है। ऐसे लोक व्यय से निजी निवेश की मात्रा बढ़ेगी (crowd in private invesment) इसलिए प्रकार निजी निवेश का बाहर जाना (crowding out) तथा ऋण सहायता दोनों ही सामान्यतः पूर्ण रोजगार प्राप्त अर्थव्यवस्था की ही समस्या है। रक्षित इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत जैसे विकाशील देशों के लिए अल्प एवं मध्यम कालीन ऋण लेना सामान्यतः इष्टतम होगा। लेकिन जैसे–जैसे आर्थिक ढाँचा अधिक सन्तुलित हो जाये तथा विकास की गति बढ़े लोक निवेश का अनुपात सघउ (GDP) में घटना चाहिये। दीर्घकालीन सह्यता के साथ–साथ राजकोषीय नीति को धीरे–धीरे समाप्त करना (phasing out) भी आवश्यक है।

17.10 सारांश (Conclusion)

इस इकाई 17 के विश्लेषण से आप जान चुके हैं कि लोक ऋण के प्रभाव एवं भार की व्याख्या करते समय अर्थशास्त्रियों में मतैक्य नहीं है। निश्चित रूप से युद्ध, आर्थिक मन्दी, अन्य संकट कालीन स्थितियों में सरकार अपने कर, शुल्क, व्यवसायिक आय जैसे स्त्रोतों से अपना भारी व्यय पूरा नहीं कर सकती जिससे उसे घाटे का बजट बनाना पड़ता है। इस व्यय को पूरा करने हेतु आन्तरिक तथा वाह्य ऋण लेना पड़ता है। चूंकि सार्वजनिक व्यय को मय ब्याज चुकाना पड़ता है अतः इसका प्रभाव एवं भार करों के प्रभाव एवं भार से अलग होता है।

प्रस्तुत इकाई 17 में, लोक ऋण के प्रभाव एवं भार की व्याख्या अनेक शीर्षकों के अन्तर्गत की गयी है। प्रस्तावना, उद्देश्य, लोक ऋण के प्रभाव के अन्तर्गत उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनियोग तथा व्यापार क्रिया एवं रोजगार पर प्रभावों की व्याख्या की गयी है। तत्पश्चात् लोक ऋणों के भार की व्याख्या के अन्तर्गत ऋणभार की अवधारणा, आन्तरिक तथा वाह्य ऋण भार को स्पष्ट करते हुये प्रो0 राजा चेल्याह द्वारा दी गयी लोक ऋण भार सम्बन्धी मौजूदा धारणा को समझाया गया है। पुनः लोक ऋण के भार का भावी पीढ़ी पर स्थानान्तरण, सम्बन्धी रिकार्डो–पीगू प्रेमय, नव क्लासिकल प्रमेय, BDK प्रमेय, प्रो0 बुकानन एवं प्रो0 मसग्रेव के विश्लेषणों को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात लोक ऋण एवं आर्थिक विकास सम्बन्धी प्रो0 डोमर के समीकरणों को स्पष्ट करते हुए प्रो0 सैम्युलसन तथा प्रो0 नारडस के विचारों को बताया गया है। इस तरह लोक ऋण के आर्थिक विकास पर प्रभावों को समझाया गया है। तत्पश्चात् विकाशील देशों में लोक ऋण के महत्व की गणितीय व्याख्या करने के साथ–साथ लोक ऋण की सह्यता तथा इष्टतम लोक ऋण की फिशर एवं इस्टरली तथा प्रो0 रक्षित की व्याख्या स्पष्ट की गयी है।

संक्षेप में, यह पाया गया है कि विकासशील देशों में सार्वजनिक ऋण एक सामान्य प्रक्रिया है परन्तु आर्थिक ढाँचा जैसे–जैसे सन्तुलित होता जाये तथा विकास की गतिशीलता बढ़ते क्रम में हो, लोक निवेश का अनुपात सकल घरेलू उत्पादन (सघउ-GDP) में घटना चाहिये। दूसरे शब्दों में, लोक ऋण सह्यता की सीमा से आगे नहीं होना चाहिये अन्यथा लोक ऋण बढने पर विकास की गति धीमी होती जायेगी। जिससे अन्ततः अर्थव्यवस्था में मन्दी की दशा आ जायेगी।

17.11 परिभाषिक शब्दावली

प्रक्रियात्मक या प्रारम्भिक प्रभाव	–	Processing or Preliminary Effects
सम्पत्ति प्रभाव	–	Asset Effect
हस्तान्तरण प्रभाव	–	Transfer Effect
आय प्रभाव	–	Revenue Effect
व्यय प्रभाव	–	Expenditure Effect
स्फीति विरोधी	–	Anti - Inflationary
नल विस्फोटक क्रिया	–	Pump Priming
वाह्य प्रभाव	–	External Effect
स्थापन	–	Replacement
व्यावहारिकता	–	Expediency Effect
भीड़ से बाहर निकालना प्रभाव	–	Crowding- Out Effect
सरकारी दायित्व का भण्डार	–	Stock of Liabilities of Government
विस्थापन	–	Displacement
समष्टि आर्थिक असुन्तलन	–	Macro Economic Imbalance
सह्यता	–	Sustainability
ऋण–शोध क्षमता	–	Debt Solvency
माँग– अपर्याप्तता	–	Demand Deficiency

17.12 अभ्यास प्रश्न

1. अर्थव्यवस्था पर लोक ऋण के प्रभावों की विवेचना करें।
2. लोक ऋण के भार से आप क्या समझते है? आन्तरिक ऋण के विभिन्न प्रकार के भार की विवेचना करें।
3. क्या लोक ऋण का भार भावी पीढ़ी पर टाला जाता है ? इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारों की विवेचना करें।
4. भार के हस्तान्तरण तथा आर्थिक विकास के मध्य के सम्बन्ध की जांच करें।
5. विकासशील देशों में लोक ऋण की भूमिका की विवेचना करें।
6. आन्तरिक लोक ऋण के विभिन्न प्रभावों का परीक्षण करें।
7. लोक ऋण की सह्यता तथा इष्टतम लोक ऋण सम्बन्धी वर्तमान विचारधारा की विवेचना करें।
8. सार्वजनिक ऋण का उत्पादन एवं वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट कीजिये।
9. लोक ऋण के आर्थिक प्रभावों पर एक निबन्ध लिखिए।
10. निम्न पर टिप्पणी लिखें।

(अ) सार्वजनिक ऋण एवं कार्य करने की योग्यता पर प्रभाव।

(ब) सार्वजनिक ऋण का उपभोग पर प्रभाव।(स) लोक ऋण भार की अवधारणा।

(द) लोक ऋण भार की मौजूदा अवधारणा या राजा चेल्याह के विचार।

(य) लोक ऋण भार का भावी पीढ़ी पर स्थानान्तरण।(र) BDK प्रमेय।

(ल) लोक ऋण भार पर सैम्युलसन तथा नारडस के विचार।(व) ऋण एवं आर्थिक विकास।

17.13 उपयोगी पाठ्य सामग्री

- डॉ. एस. के. सिंह ,लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- डॉ. जे.सी. पन्त एवं प्रो. चन्द्रशेखर जोशी लोक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा
- डॉ. एस.के. सिंह एवं डॉ. जे.पी. मिश्र ,राजस्व एवं रोजगार के सिद्धान्त, साहित्य भवन आगरा
- प्रो. एस.एन. लाल एवं एस.के. लाल ,लोक वित्त, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद
- डॉ. जे.पी. मिश्र ,लोक वित्त एवं रोजगार सिद्धान्त विजडम बुक्स, वाराणसी

इकाई – 18 लोक ऋण भुगतान की विधियाँ एवं प्रबन्धन
Methods of Payment and Management of Public Debt

इकाई संरचना

18.1 प्रस्तावना

18.2 उद्देश्य

18.3 लोक ऋण के भुगतान या शोधन की विधिया

18.4 सार्वजनिक ऋण के स्रोत

18.5 विकासशील देशों में विदेशी ऋण का महत्व

18.6 सार्वजनिक ऋण में लघु बचतों का महत्व

18.7सार्वजनिक ऋणों की सीमाएं

18.8 लोक ऋण का प्रबन्धन

18.9 लोक ऋण प्रबन्धन के सिद्धान्त

18.10 ऋण प्रबन्धन एवं मौद्रिक नीति

18.11 ऋण प्रबन्धन की समस्याएं

18.12 अल्पविकसित देशों में ऋण प्रबन्ध की समस्यायें

18.13 सारांश

18.14 पारिभाषिक शब्दावली

18.15 अभ्यास प्रश्न

18.16. उपयोगी पाठ्य सामग्री

18.1 प्रस्तावना

आप पिछली इकाई 16 में लोक ऋण का अर्थशास्त्र एवं प्रकार तथा इकाई 17 में लोक ऋण के प्रभाव एवं भार को जान चुके हैं। इस इकाई 17 में लोक ऋण भुगतान की विभिन्न विधियाँ एवं प्रबन्धन का अध्ययन करेंगे। इसके अन्तर्गत लोक ऋण भुगतान की विभिन्न विधियाँ – बजट अतिरेक, ऋण परिशोधन कोष, पूँजीकर, अवधिक वार्षिकी, ब्याज दर में ह्रास, ऋण अस्वीकृति, मुद्रा स्फीति द्वारा लोक ऋण का त्याग तथा ऋण रूपान्तरण का अध्ययन करते हुए इसके पक्ष विपक्ष का अध्ययन करेंगे। तत्पश्चात् ऋण से सम्बन्धित आन्तरिक तथा वाह्य ऋणों के विभिन्न स्रोतों को समझते हुए उनके महत्व को समझेंगे। मुख्यतः विकासशील देशों में लघु बचत के महत्व को समझने के साथ सार्वजनिक ऋण के वाह्य तथा आन्तरिक सीमाओं को समझेंगे। पुनः ऋण प्रबन्धन से सम्बन्धित धनात्मक, तटस्थ तथा ऋणात्मक प्रबन्धन को समझते हुए अल्पविकसित देशों में लोक ऋण प्रबन्धन का अध्ययन करेंगे।

18.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं :

1. लोक ऋण भुगतान की विभिन्न विधियों को समझना।
2. वास्तविक ऋण भुगतान तथा ऋण परिवर्तन एवं ऋण निषेध के अन्तर को समझते हुए इनके द्वारा भुगतान से उत्पन्न समाज की विभिन्न प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करना।
3. आन्तरिक तथा वाह्य ऋण स्त्रोतों का अध्ययन करना।
4. विकासशील देशों में वाह्य तथा आन्तरिक ऋण के महत्व को समझना।
5. विकासशील राष्ट्रों में आन्तरिक ऋणों के अन्तर्गत लघु बचतों द्वारा समता मूलक विकास की अवधारणा का अध्ययन करना।
6. सार्वजनिक ऋणों की सीमाओं का अध्ययन करना।
7. ऋण प्रबन्धन का अर्थ समझते हुए इससे सम्बन्धित प्रो0 टेलर तथा प्रो0 राल्फ के विचारों का अध्ययन करना।
8. ऋण प्रबन्धन से सम्बन्धित धनात्मक, तटस्थ तथा ऋणात्मक ऋण प्रबन्धन को समझना।
9. ऋण प्रबन्धन की समस्याओं से अवगत् होना।
10. विकासशील राष्ट्रों में ऋण प्रबन्धन की समस्याओं से अवगत होना।

18.3 लोक ऋण के भुगतान या शोधन की विधियाँ (Methods of payment or Redemption of Public Debt)

सामान्यतया सरकार जब ऋण लेती है तो उसी समय यह भी निश्चित कर लिया जाता है कि ऋण का भुगतान किस तरह से किया जायेगा। लोक ऋणों का भुगतान इसलिये भी जरूरी है, क्योंकि इस पर सरकार की साख निर्भर रहती है और ऋणों का भुगतान जब तक नहीं हो जाता तब तक उनका भार वर्तमान तथा भावी पीढ़ी पर निरन्तर पड़ता रहता है।

सामान्यतया वाह्य अथवा विदेशी ऋण का भुगतान केवल आवश्यक विदेशी विनिमय अर्थात् विदेशी मुद्रा द्वारा अथवा सम्बन्धित देश को निर्यात बढ़ा कर ही किया जा सकता है। इसका देश के आंतरिक करारोपण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि विदेशी ऋणों का उपयोग उन उद्योगों में किया जाय जिनकी उत्पादन क्षमता अधिक हो तथा जिनसे निर्मित माल का निर्यात किया जा सके। निर्यात योग्य माल का अतिरेक उन वस्तुओं का होना चाहिए जिन्हें सुगमतापूर्वक विदेशों में बेचा जा सके। पुराने विदेशी ऋणों का भुगतान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय एजेन्सियों तथा अन्य स्रोतों से भी ऋण प्राप्त किया जा सकता है, जबकि आन्तरिक ऋणों का भुगतान देश के अन्तर्गत देश की मुद्रा में करना होता है। लोक ऋण के भुगतान प्रमुख विधियाँ निम्न है :

18.3.1 बजट अतिरेक (Budget Surplus)

सरकार अपने ऋणों का भुगतान करने के लिए बजट आधिक्य या बजट अतिरेक कर प्रयोग कर सकती है। बजट में आधिक्य तब होता है जब सरकार अपनी आय के मुकाबले व्यय कम करे और इस प्रकार होने वाली बचत को ऋण के भुगतान में प्रयोग करे। आजकल सरकारों के बजट में आधिक्य या बचत के स्थान पर घाटा होने की अधिक सम्भावना होती है। अतः ऋण शोधन की यह विधि अधिक कारगर नहीं सिद्ध हो पाती।

18.3.2 निक्षेप निधि अथवा ऋण परिशोधन कोष (Sinking Fund)

सरकार द्वारा नियोजित ढंग से ऋण में शोधन करने का यह सबसे उत्तम तरीका है। इस विधि के अन्तर्गत जब कोई ऋण निर्गमित किया जाता है तो उसके भुगतान के लिए सरकार एक कोष का निर्माण कर लेती है, जिसे ऋणशोधन कोष कहते हैं। इस कोष में सरकार प्रतिवर्ष निश्चित राशि जमा करती जाती है और अन्त में जब ऋण का भुगतान करना हो तो इस कोष से धन निकाल कर ऋण का भुगतान कर देती है। इस प्रकार के ऋण कोषों का निर्माण सरकार कर, ऋण, विनियोग से प्राप्त मौद्रिक आय तथा नये नोटों के निर्गमन के द्वारा कर सकती है, पर इसमें नोटों के निर्गमन तथा ऋणों के द्वारा ऋण कोष का निर्माण करना ठीक नहीं। ऋण के द्वारा कोष का निर्माण करना तथा उससे भुगतान करना तो ऋण का वास्तव में भुगतान नहीं हुआ बल्कि एक ऋण के स्थान पर दूसरे ऋण का निर्गमन ही हुआ। यह विधि तो हीनार्थ प्रबन्धन ही है, जिससे अर्थव्यवस्था में मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति आ जाती है। इसके स्थान पर यदि सरकार अपनी राजकीय आय में से कुछ बचाकर कोष में डालती जाय तो यह विधि अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी।

प्रो0 डाल्टन ने शोधन कोषो को दो भागों में बांटा है – (1) निश्चित शोधन कोष (2) अनिश्चित शोधन कोष। निश्चित कोष वह है, जिसमें सरकार अपने वार्षिक आय में से एक निश्चित रकम प्रतिवर्ष जमा करती रहती है। इसके विपरीत अनिश्चित कोष उसे कहते हैं, जिसमें डाली जाने वाली धनराशि अनिश्चित और अनियमित होती है। अनिश्चित कोष का आकार अर्थात् उसमें जमा होने वाली राशि इस बात पर निर्भर करती है कि सरकार के बजट में अतिरेक कितना है। यदि बजट में बचत अधिक होती है तो कोष में अधिक राशि डाल दी जाती है और बचत के न होने पर उस वर्ष कोष में कुछ भी नहीं डाला जाता।

18.3.2.1 ऋण परिशोधन कोष की स्थापना के आधार (Bases of Debt Sinking Fund)– इस कोष की स्थापना मुख्यतः तीन आधारों पर की जाती है :

(1) ऋण के भुगतान की अवधि – ऋण के भुगतान का समय जितना कम होता है आर्थिक दृष्टि से वह उतना ही अच्छा समझा जाता है, क्योंकि इससे सरकार व समाज पर पड़ने वाला भार जल्दी समाप्त हो जाता है। उल्लेखनीय है कि अनुत्पादक ऋणों जैसे युद्ध सम्बन्धी ऋणों की भुगतान अवधि कम से कम होनी चाहिए। इसी प्रकार उत्पादक ऋणों का भुगतान, पूँजीगत वस्तुओं के जीवनकाल अर्थात् उनके नष्ट होने तक अवश्य हो जाना चाहिए।

(2) परिशोधन कोष के भुगतानों का वितरण – अवधि को तय करने का बाद यह निश्चित करना पड़ता है कि भुगतान का ढंग क्या रखा जाए अर्थात् भुगतान कोषों को इस अवधि पर किस प्रकार फैलाया जाय? भुगतान की तीन विधियाँ हो सकती हैं – (i) बढ़ते हुए वार्षिक भुगतान (ii) निश्चित या समान भुगतान तथा (iii) घटते हुए वार्षिक भुगतान। इन तीनों विधियों में से अन्तिम विधि सबसे अच्छी समझी जाती है क्योंकि ऋण की जितनी अधिक मात्रा प्रतिवर्ष कम होती जायेगी, कोष में जमा की जाने वाली रकम और ऋण–भार दोनों घटते जाएंगे। इसका एक लाभ यह भी होता है कि इन कोषों का वित्तमंत्री द्वारा अन्य कार्यों के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकेगा, जिसका खतरा प्रायः बना रहता है।

(3) विभिन्न प्रकार के ऋणों के भुगतान की व्यवस्था – परिशोधन–कोष का प्रयोग किसी ऋण विशेष के लिए अथवा विभिन्न प्रकार के ऋणों के भुगतान के लिये भी किया जा सकता है। चूँकि सभी प्रकार के ऋण एक–सी प्रकृति के नहीं होते, अर्थात् उनकी अवधि, भुगतान की विधि तथा ब्याज दर में अन्तर पाया जाता है। इसलिये जब कभी सरकार को एक समय में कई ऋणों का एक–साथ भुगतान करना पड़ता है, तब सरकार के सामने तीन विकल्प हो सकते हैं – (i) परिशोधन कोष को बिल्कुल स्वतंत्र छोड़ दें, या (ii) उसे किसी ऋण–विशेष के लिये निश्चित कर दें अथवा (iii) कोष का कुछ भाग किसी ऋण–विशेष के लिये निर्धारित कर दें और शेष भाग को स्वतंत्र छोड़ दें, अर्थात् इस भाग का उपयोग सरकार अपनी इच्छानुसार कर ले। वास्तव में तीसरा तरीका ही सबसे अच्छा है। क्योंकि इसमें एक तरफ सरकार कोष का सर्वोपयुक्त ढंग से उपयोग कर सकती है, तो दूसरी तरफ उसे मनमानी करने की पूरी स्वतंत्रता भी नहीं मिल पाती। यदि सरकार को कोष के प्रयोग के लिए पूर्णतः स्वतंत्र छोड़ दिया जाये तो कोष का सही उपयोग कभी भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि सरकार को विश्व का सबसे खर्चीला प्राणी माना जाता है।

18.3.3 पूँजी कर (Capital Levy)

सरकार अपने अत्यधिक बढ़े ऋणों के भुगतान हेतु कोई विशेष कर या पूँजी कर लगा सकती है। इस कर का आशय वास्तव में जल्दी से जल्दी ऋण भार से मुक्ति पाना है, जिसके लिए सामान्य करारोपण के अलावा अलग से कर लगाये जाते हैं। यह कर व्यक्तियों की सम्पत्ति तथा आय के ऊपर लगाया जाता है, जिसका आधार प्रगतिशील होता है। सर्वप्रथम सम्पत्ति की न्यूनतम कर रहित सीमा निर्धारित की जाती है और इस सीमा के ऊपर वाले प्रत्येक व्यक्ति पर बढ़ती दर से करारोपण किया जाता है। रिकार्डो व उसके अनुयायी पूँजी कर के प्रबल समर्थक थे, जिसका समर्थन करते हुए डाल्टन कहते हैं कि ''ऋण को सरलतापूर्वक निपटाने हेतु पूँजी कर अपने गुणों के कारण सबसे अच्छी नीति है। वह (डाल्टन) इसे 'ऋण परिशोधन कर' भी कहते हैं। यह कर सभी तरह की पूँजी पर लगाया जा सकता है। यह कर संभवतः एक पीढ़ी पर एक बार लगाया जाता है तथा इससे प्राप्त आय से ऋण का भुगतान किया जाता है। हाब्सन, पीगू, एजवर्थ अन्य इसके समर्थक थे, जबकि जोशिया स्टाम्प अन्य इसके प्रबल विरोधी थे। प्रथम विश्व–युद्ध के बाद इंगलैण्ड में इस कर का प्रस्ताव रखा गया था किन्तु इसने काफी विवाद को जन्म दिया। परन्तु बाद में जर्मनी, इटली तथा अन्य देशों में पूँजी कर लगाया गया।

18.3.3.1 पूँजी कर के पक्ष में तर्क – पूँजी कर के पक्ष में निम्न तर्क दिए जाते हैं :

(i) युद्धकाल में उद्योगपति, व्यवसायी, व्यापारी, आदि जैसे धनी वर्गों को कीमत वृद्धि के कारण विशाल लाभ प्राप्त होता है। इसलिए युद्धोत्तर काल में इन वर्गों पर प्रगतिशील पूंजी कर लगाकर युद्धकालीन ऋण का भुगतान करना चाहिए।

(ii) युद्धकाल में लोक ऋण की मात्रा में बहुत अधिक बृद्धि होती है। युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् यदि इसे तुरन्त वापस नहीं कर दिया जाए तो इसका भार असहनीय हो सकता है। तुरन्त वापसी का एक ही तरीका है, प्रगतिशील पूँजी कर।

(iii) पूँजी कर के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क दिया जाता है कि इससे करों के भार में कमी होगी तथा इसके फलस्वरूप करारोपण में कमी होगी।

(iv) पूँजी कर के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि यह करदान योग्यता पर आधारित है अतः इससे आय के वितरण में समानता मिलेगी।

18.3.3.2 पूँजी कर के विपक्ष में तर्क – पूंजी कर के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं :

(i) यह कहा जाता है कि पूँजी कर से देश की कार्यशील पूँजी का ह्रास होता है, अतः व्यापार एवं उत्पादन कर का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, किन्तु यह तर्क पूर्ण रूप से सही नहीं है, क्योंकि इसमें सम्पत्ति के अंश का हस्तान्तरण निजी व्यक्तियों से सरकार को होता है। अतः इसे पुनर्वितरण कहा जा सकता है न कि पूँजी का ह्रास।

(ii) पूँजी कर की सम्भावना को देखते हुए लोग पूँजी देश के बाहर रख सकते हैं। इस कदम से देश के आर्थिक विकास को नुकसान पहुँच सकता है।

(iii) यह भी कहा जाता है कि पूँजी कर से बचत और मितव्ययिता हतोत्साहित होती है। परन्तु इस तर्क में भी वजन नहीं है, क्योंकि पूँजी कर सिर्फ एक ही बार लगाया जाता है, बार–बार नहीं। अतः इससे बचत में अधिक अवरोध पैदा नहीं होता।

18.3.4 अवधिक वार्षिकी (Terminable Annuity)

ऋण शोधन की इस विधि का सबसे अधिक समर्थन ग्लैडस्टोन ने किया। इसके अन्तर्गत ऋण की अवधि में देय मूलधन तथा ब्याज की राशि को किश्तों में बॉट दिया जाता है तथा प्रतिवर्ष इसका भुगतान कर दिया जाता है। इस रीति के अन्तर्गत ऋण का भार प्रति वर्ष कम होता रहता है और अवधि के समाप्त होने पर ऋण का शोधन पूरा हो चुका होता है। इससे सरकार पर ऋण का भार इकट्ठा नहीं हो पाता तथा सरकार की साख अच्छी बनी रहती है। यह विधि सामान्यतया स्थायी तथा दीर्घकालीन ऋणों के लिए अपनायी जाती है।

18.3.5 ब्याज दर में ह्रास (Reducing the Rate of Interest)

वित्तीय संकट के समय सरकार कभी–कभी कानून का सहारा लेकर ब्याज की दर में कटौती की एकतरफा घोषणा कर सकती है। इससे ब्याज की मात्रा घट जाएगी और ऋण का भार घट जाएगा। साधारण परिस्थिति में ऐसी विधि की सहायता नहीं ली जाती है। इसे ऋण के भुगतान की असामान्य (extraordinary) विधि के रूप में ही समझना चाहिए।

18.3.6 ऋण अस्वीकृति (Debt Repudiation)

ऋण के भुगतान का यह सबसे अधिक आसान तरीका है। इस विधि के अन्तर्गत सरकार ऋण तथा ब्याज का भुगतान करने से अस्वीकार कर देती है। इस तरीके को सामान्य परिस्थितियों में अपनाया नहीं जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर सरकार की साख समाप्त हो जाती है तथा भविष्य में उसे ऋण प्राप्त नहीं हो सकता। इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब सरकार ने विदेशी ऋण को वापस करने से इनकार कर दिया है। कम्युनिस्ट क्रान्ति के पश्चात् 1917 में रूस ने इसी विधि को अपनाया। डाल्टन इसे ऋण शोधन के तरीके के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उनके अनुसार यह ऋण के शोधन का तरीका नहीं हैं, बल्कि जबरदस्ती ऋण को नष्ट करना है या किसी दूसरे की सम्पत्ति को हड़पना है इस प्रकार के ऋण शोधन के तरीके का प्रयोग सरकार ही कर सकती है क्योंकि वह एक प्रभुता सम्पन्न संस्था है, कोई व्यक्ति नहीं कर सकता है सामान्यतया कोई भी सरकार ऋण शोधन के इस तरीके का प्रयोग नहीं करती है क्योंकि इससे सरकार से जनता का विश्वास उठ जाता है।

यद्यपि कि ऋणशोधन का यह तरीका सरल तो है पर अन्यायपूर्ण है। विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए तो इस रीति को नहीं अपनाया जा सकता है क्योंकि कभी–कभी ऐसी स्थिति में युद्ध तक छिड़ जाते हैं। रूस की क्रान्ति के बाद वहाँ की साम्यवादी सरकार ने इस रीति का प्रयोग किया था जबकि उसने जार की सरकार द्वारा लिए गये ऋणों का भुगतान करने से इन्कार कर दिया। जिसके फलस्वरूप रूस को बाद में बहुत सी आर्थिक हानियाँ उठानी पड़ी थी।

18.3.7 मुद्रा स्फीति द्वारा लोक ऋण का त्याग (Debt Repudiation Through Inflation)

कभी–कभी सरकार मुद्रा–स्फीति के कारण छिपे रूप में ऋण की अदायगी करती है। यह इस पर निर्भर करता है कि ऋण जारी करने के समय स्फीति का पूर्वानुमान किया गया था या नहीं तथा इस पूर्वानुमान को मौद्रिक ब्याज दर में शामिल किया गया था या नहीं। अल्पकालिक ऋण की स्थिति में स्फीति को ब्याज में शामिल कर लिया जाता है। दीर्घकालिक ऋण में इसकी सम्भावना कम रहती है। यदि किसी देश के लोक ऋण का अधिकांश अल्पकालिक ऋण हो तो स्फीति ऋण अदायगी का महत्वपूर्ण माध्यम नहीं हो सकती है।

18.3.8 ऋण रूपान्तरण (Debt Conversion)

ऋण परिवर्तन ऋण शोधन की सबसे प्रचलित विधि है। इस नीति के अन्तर्गत सरकार वर्तमान ऋणों को वास्तविक रूप में भुगतान नहीं करती बल्कि पुराने ऋणों को नये ऋणों में परिवर्तित कर देती है। सरकार इस नीति का प्रयोग विशेष रूप से तब करती है, जब ऋण को चुकाने की तिथि तो निकट आ जाती है परन्तु सरकार ऋण का भुगतान करने में असमर्थ रहती है। इस प्रक्रिया को ऋण का नवीनीकरण भी कहा जा सकता है। सामान्यतया यह देखा जाता है कि सरकार ऋण परिवर्तन को एच्छिक कर देती है अर्थात् छूट देती है कि जो चाहे वह ऋण को दूसरे ऋण में परिवर्तित करे और जो न चाहे अपने ऋण को भुगतान नकद रूप में प्राप्त कर ले। व्यूहलर के अनुसार, ''साधारण ब्याज की दरों में आयी कमी से लाभ उठाकर, अपने ब्याज के भार को कम करने के उद्देश्य से वर्तमान ऋणों को नए ऋणों में बदलने को ही ऋण परिवर्तन कहते हैं।''

ऋण शोधन की यह विधि अत्यन्त ही सरल तथा उत्तम है। विशेष रूप से उन अर्थव्यवस्थाओं में जहाँ एक ओर पूँजी तथा कर–आय की कमी हो तथा दूसरी ओर मुद्रा स्फीति की प्रवृत्ति अत्यन्त ही बलवती हो। नए करारोपण के मौद्रिक तथा मनोवैज्ञानिक बोझ तथा आय के वितरण में उत्पन्न होने वाली

विषमता से जनता बच जाती है। यह कहा जाता है कि यह ऋण शोधन का ढंग नहीं बल्कि ऋण के भुगतान को स्थगित करना मात्र है।

18.3.9 ऋण पुनः शोधन (Debt Refunding) – सामान्यतया लोग ऋण परिवर्तन तथा ऋण–पुनः शोधन के बीच भेद नहीं करते हैं पर यह ठीक नहीं है। ऋण परिवर्तन की स्थिति में ऋणदाता के ऋण का भुगतान उसी को नयी प्रतिभूति (ऋण–पत्र) देकर किया जाता है, इस प्रकार यह तो ऋण का नवीनीकरण है, जबकि ऋण पुनः शोधन के अन्तर्गत सरकार नयी राजकीय प्रतिभूतियों को पहले बाजार में निर्गमित करती है तथा उसकी विक्रय प्राप्ति से पुराने ऋणों का भुगतान कर देती है। इस स्थिति में यह कोई आवश्यक नहीं है कि पुराना ऋणदाता, ऋणदाता के रूप में बना रहे; यदि उसने भुगतान के लिए निर्गमित नयी प्रतिभूतियों को न खरीदा हो, पर ऋण परिवर्तन में ऋण–शोधन के बाद भी वही ऋणदाता बना रहता है। प्रायः नये ऋण कम ब्याजदर पर निर्गमित किये जाते हैं और प्राप्त राशि से ऊँची ब्याज दर वाले ऋणों का भुगतान कर दिया जाता है। ऋण शोधन की यह विधि इस दृष्टि से तो ठीक है कि इसमें ऋण के भुगतान के लिए करारोपण का सहारा नहीं लेना पड़ता पर यह विधि ठीक नहीं क्योंकि इससे सरकार के ऋणदायित्व में कमी नहीं आती। इस प्रकार यह भी ऋण का स्थगन हुआ, शोधन नहीं। यह विधि ऋण परिवर्तन–विधि से इस दृष्टि से उत्तम है कि इसमें सामान्तया ब्याज दर या ब्याज की कुल देय राशि में कमी आ जाती है। इसके अन्तर्गत सामान्तया ऋणपत्र अपेक्षाकृत कम ब्याजदर पर निर्गमित किये जाते हैं परन्तु इसमें यह भय बना रहता है कि इसके कारण स्फीतिक प्रवृत्ति बल पकड़ सकती है। यदि नयी निर्गमित प्रभूितियों को जनता ने न खरीदा हो बल्कि केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों ने खरीदा हो, पर इस प्रकार का भय परिवर्तन विधि में नहीं है।

उपरोक्त ऋण भुगतान की विधियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 1 से 4 तक की विधियों (1. बजट अतिरेक, 2. निक्षेप निधि अथवा ऋण परिशोधन कोष; 3. पूँजी कर, 4. अवधिक वार्षिकी) के अन्तर्गत ऋणों का वास्तविक तथा ब्याज एवं मूलधन का तय दर पर भुगतान होता है। जबकि 5वीं विधि में ब्याज दर में ह्रास से ऋणदाता को नुकसान होता है। 6वीं विधि ऋण अस्वीकृति से ऋणदाता को कुछ भी प्राप्त नहीं होता तथा सरकार की साख बहुत गिर जाती है। 7वीं मुद्रा स्फीति विधि में भी ऋणदाता को हानि होती है जबकि 8वीं एवं 9वीं विधि (क्रमशः ऋण रूपान्तरण तथा ऋण पुनः शोधन) में सामान्तया ऋण का नया रूपान्तरण तथा स्थगन होता है। परन्तु ऋण चुकाने की उपरोक्त विधियों में से कौन सी विधि अपनायी जानी चाहिए, इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह बात ऋण का भुगतान करने वाले देश की परिस्थितियों पर निर्भर करती है। जिस देश में जैसी परिस्थिति होगी वह उसी के अनुरूप ऋण शोधन की विधि अपनाएगा।

18.4 सार्वजनिक ऋण के स्रोत (Sources of Public Debt)

सार्वजनिक ऋण को स्रोतों के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–(अ) आंतरिक ऋण तथा (ब) बाह्य ऋण।

1.4.1 (अ) आंतरिक ऋण के स्रोत

(i) व्यक्तियों द्वारा–राज्य बाण्डों (बन्ध पत्रों) व प्रतिभूतियों के माध्यम से व्यक्तियों से ऋण प्राप्त करता है। इसके फलस्वरूप साधन निजी उपभोग से हटकर सार्वजनिक उपभोग में चले जाते हैं। जब व्यक्ति राज्य को ऋण प्रदान करते हैं तो सामान्तया इसका प्रभाव उनकी आय के उस भाग पर पड़ता है जिसे वे बचाते हैं। राज्य जब सार्वजनिक ऋण के माध्यम से लोगों की बचत को एकत्रित कर निवेश करता है तो इससे व्यक्तियों व समाज दोनों को लाभ होता है। व्यक्तियों को ब्याज प्राप्त हो जाता है तथा अर्थव्यवस्था

की उत्पादकता बढ़ती है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में सामान्तया निम्न स्तर पर बचत करने वाले लोगों की बचतें निष्क्रिय पड़ी रहती हैं। उन्हें एकत्र कर निवेश करने का समुचित प्रयास नहीं किया जाता। इस हेतु राज्य साधन संग्रह में सफलता हेतु कई छोटी बचत योजनायें लागू करता है।

(ii) गैर–बैंकिंग वित्तीय संस्थाएं–गैर – बैंकिंग वित्तीय संस्थायें जैसे–बीमा कम्पनियाँ, यू0टी0आई0, डाकघर आदि भी राज्य के लिए ऋण प्राप्त करने के स्रोत हैं। यद्यपि इन संस्थाओं द्वारा निजी क्षेत्र में भी निवेश किया जा सकता है किन्तु उनकी कम विश्वसनीयता के कारण ये संस्थाएं सरकारी बाण्ड तथा प्रतिभूतियाँ क्रय करना अधिक सुरक्षित समझती हैं। इन संस्थाओं को सरकारी बाण्ड व प्रभूतियों पर यद्यपि ब्याज अपेक्षाकृत कम प्राप्त होता है फिर भी जोखिम से बचने के लिए ये संस्थाएं सरकार को ही ऋण देना पसंद करती हैं। यही नहीं इन कम्पनियों की सरकारी प्रतिभूतियाँ की अधिक क्रय मात्रा लोगों में इनकी विश्वसनीयता बढ़ाती है।

(iii) व्यापारिक बैंक–व्यापारिक बैंकों द्वारा भी सरकार को ऋण उपलब्ध हो सकता है। ऋण प्रदान करने के लिए व्यापारिक बैंक साख–निर्माण का कार्य करते हैं तथा अपने नकद–कोष के आधार पर राज्य से प्रतिभूतियाँ आदि क्रय करते रहते हैं। जब तक बैंकिंग व्यवस्था से नकद धनराशि नहीं निकाली जाती, बैंकों के खातों में घटा–बढ़ी मात्र होती रहती है क्योंकि चेकों के माध्यम से भुगतान होता रहता है। यदि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की दशा विद्यमान है तो अतिरिक्त मुद्रा निर्माण से स्फीति की दशा उत्पन्न होने का भय बना रहता है।

(iv) केन्द्रीय बैंक–केन्द्रीय बैंक सरकारी ऋण प्राप्ति का सबसे प्रमुख स्रोत है। सरकारी प्रतिभूति के आधार पर केन्द्रीय बैंक सरकार को ऋण प्रदान करता है। क्योंकि केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंक के रूप में कार्य करते हैं। अतः सरकार के खाते में ऋण के रूप में दी गयी राशि जमा कर दी जाती है। केन्द्रीय बैंक से लिए गए ऋण का अर्थव्यवस्था पर स्फीतिकारी प्रभाव पड़ता है जिस पर प्रभावकारी नियंत्रण रखना आवश्यक होता है।

इस तरह, ऋण के उपरोक्त स्रोतों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है–बाजार ऋण तथा गैर बाजार ऋण। बाजार ऋण के अन्तर्गत उन ऋणों को रखा जाता है जो जनता से विनिमय साध्य सरकारी प्रतिभूतियों अथवा बिलों को बेचकर प्राप्त किया जाता है। इन्हें मुद्रा तथा पूँजी बाजार में बेचा जाता है तथा इनकी बाजार कीमत का उल्लेख किया जाता है। जबकि वे ऋण जिन्हें गैर–विनिमय साध्य स्रोतों से प्राप्त किया जाता है जिन्हें बाजार में खरीदा अथवा बेचा नहीं जा सकता उसको गैर–बाजार ऋण कहा जाता है। ऐसे ऋण के उदाहरण हैं–राष्ट्रीय बचत प्रमाण पत्र तथा डाकघर के बचत खाते में जमा राशि।

तैरता अथवा अस्थायी (Floating or Temporary) ऋण वह होता है जिसका भुगतान ऋण जारी होने के 12 महीने के अंदर ही किया जाता है। सामान्यतया अनिधिक ऋण (Unfunded Debt) को तैरता ऋण कहा जाता है। स्थायी अथवा निधिक (Permanent or Funded) ऋण वे होते हैं जिनका भुगतान ऋण जारी करने की तिथि से 12 महीने बाद होता है। इस तरह के ऋण दो प्रकार के हो सकते हैं–निश्चित अवधि के लिए या अनिश्चित अवधि के लिए। पहले को समाप्य निधिक ऋण (Terminable Funded - Debt) तथा दूसरे को असमाप्य निधिक ऋण (Interminable Funded-Debt) कहा जाता है।

मुद्रा तथा पूँजी बाजार एवं आर्थिक दशाओं में भिन्नता के फलस्वरूप विभिन्न विकासशील देशों में ऋण प्राप्त करने की भिन्न–भिन्न तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। सामान्यतया वित्तीय संस्थाओं तथा

आम जनता से ऋण प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। कभी–कभी सरकारें कुछ विशेष परिस्थितियों में अनिवार्य ऋण ले सकती हैं अथवा अनिवार्य बचत योजना लागू कर सकती हैं।

1.4.2 (ब) वाह्य या अन्तर्राष्ट्रीय ऋण के स्रोत

आधुनिक आर्थिक विकास की प्रकृति व तीव्र–गति से आर्थिक विकास की आवश्यकता तथा आंतरिक साधनों की सीमितता के कारण बाह्य ऋण विकासशील देशों के लिए एक अनिवार्यता है। इनके बिना ये देश अपना वांछित विकास नहीं कर सकते। यही कारण है कि विकासशील अर्थव्यवस्थाएं उपलब्ध आंतरिक स्रोतों के साथ–साथ भारी मात्रा में अंतर्राष्ट्रीय स्रोतों से भी ऋण प्राप्त करने का प्रयास करती हैं।

विकासशील देशों की सरकारें अपने विकास कार्यक्रमों हेतु विकसित देशों की सरकारों से ऋण प्राप्त करती हैं, साथ ही अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं भी इन देशों को ऋण उपलब्ध कराती हैं। ये संस्थाएं हैं–अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्वबैंक, अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम, अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ आदि। इनके अतिरिक्त कुछ विशेष क्षेत्रों के विकास हेतु भी संस्थाओं जैसे–एशियन विकास बैंक आदि से भी ऋण प्राप्त किया जा सकता है।

18.5 विकासशील देशों में विदेशी ऋण का महत्व (Importance of Foreign Debt in Developing Countries)

विकासशील देशों में विदेशी ऋणों का निम्न महत्व हो सकता है :

1. युद्ध के समय पर्याप्त आन्तरिक ऋण प्राप्त नहीं हो सकते हैं, इसलिए बाह्य ऋणों की सहायता ली जाती है। संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसने युद्ध के संचालन हेतु ऋण न लिया हो। द्वितीय विश्वयुद्ध में इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि अनेक देशों ने विदेशी ऋण लेकर युद्ध का संचालन किया था। आज भी युद्धों के संचालन के लिए विदेशी ऋणों की माँग बढ़ती जा रही है।

2. प्राकृतिक प्रकोपों जैसे भूकम्प, बाढ़, सूखा तथा तूफान के कारण देश में अपार जन–धन की हानि होती है। देश में इस क्षति की पूर्ति के लिए साधनों का अभाव रहता है। लोगों में इतनी सामर्थ्य नहीं रह जाती है कि वे स्वयं अपनी क्षतिपूर्ति कर सकें। स्वयं सरकार भी ऐसी दशा में अपने देश के नागरिकों से ऋण प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकती। तब उसके समाने बाह्य ऋणों को प्राप्त करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं रह जाता।

3. आर्थिक विकास की समस्या विकसित देशों की अपेक्षा विकाशील देशों में अधिक है। ये देश में कृषि की प्रधानता, अधिक जनसंख्या, बचत व पूँजी की कमी, अशिक्षा, बीमारी व परम्परागत व्यापार के कारण साधनों के अभाव में अपने बलबूते पर अपना आर्थिक विकास नहीं कर सकते हैं। इसलिए बाह्य ऋणों की सहायता के बिना इन देशों का आर्थिक विकास सम्भव नहीं है। चूँकि इन देशों को धन के अतिरिक्त वैज्ञानिक, तकनीशियन, यन्त्र व मशीनों आदि को भी विदेशों से आयात करना होता है, ऐसी दशा में न चाहते हुए भी इन्हें विदेशी ऋण लेना आवश्यक होता है।

4. जब विकासशील देशों में मन्दी आती है तब इन देशों में बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तथा मुद्रा की मात्रा में कमी आ जाने से दीर्घकालीन विनियोगों को पूरा नहीं किया जा सकता है। इसलिए क्रयशक्ति को बढ़ाने वाले उद्योग–धन्धों के विकास के लिए विदेशी ऋणों का महत्व बढ़ जाता है।

5.विनाशकारी घटनाओं के घटने के कारण देश के सामने पुनर्निर्माण की समस्या उत्पन्न होती है, इसकी क्षतिपूर्ति के लिए देश को बहुत बड़े पैमाने पर धन व्यय करना पड़ता है। जैसे युद्ध के समय हवाई पट्टियों व रेलवे लाइनों की तोड़–फोड़, बन्दरगाहों के विनाश, बाँध व कल–कारखानों के ऊपर किये गये हवाई हमलों से देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ ही टूट जाती है। ऐसी दशा में बाह्य ऋणों का बहुत महत्व होता है।

6.विकासशील देशों में तकनीकी यन्त्रों का काफी अभाव होता है इसलिए विदेशी ऋणों की सहायता से इन यन्त्रों को आसानी से आयात किया जा सकता है।

7.विदेशी विनिमय के लिए भी बाह्य ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। जिस देश में निर्यातों की अपेक्षा आयात अधिक होते हैं, वह देश आयातों का भुगतान करने के लिए ऋणों की सहायता लेता है।

विकासशील देशों के लिए विदेशी ऋणों का महत्व तो है परन्तु लगातार विदेशी ऋणों पर निर्भरता देश के लिए घातक हो सकती है, क्योंकि इससे विदेशी हस्तक्षेप बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष ब्याज के रूप में बहुत बड़ी राशि का भुगतान करना पड़ता है। अतः लम्बे समय तक विदेशी ऋणों पर निर्भर रहना अच्छा नहीं है। अतः विदेशी ऋणों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए :

(i) ऋणों का प्रयोग शीघ्र उत्पादक क्षेत्रों में किया जाना चाहिए। साथ ही देनदार देश को निर्यात बढ़ाने तथा आयात को घटाने का प्रयास करना चाहिए।

(ii) निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में कमी का समय इस तरह व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि मूलधन व ब्याज का निर्धारित अवधि में शोधन हो जाय।

(iii) ऋण से सम्बन्धित व्यय (service charges) अधिक नहीं होना चाहिए अन्यथा उनके शोधन में राष्ट्रीय आय की वृद्धि का एक बड़ा भाग देश से बाहर चला जाएगा।

इस तरह, बाह्य के पक्ष व विपक्ष में तर्कों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रायः ऋणों को लेना अनुचित नहीं है, क्योंकि लाभ और हानियाँ तो होती ही रहती हैं, परन्तु बाह्य ऋणों की हानियाँ की अपेक्षा लाभ अधिक है। इसलिए बाह्य ऋणों को त्यागा नहीं जा सकता।

18.6 सार्वजनिक ऋण में लघु बचतों का महत्व (Importance of Small Savings in Public Debt)

विकासशील देशों के आंतरिक ऋणों में लघु–बचतों का विशेष महत्व होता है। ''वास्तव में, विकासशील देशों में लघु–बचतें वह नींव है जिस पर आंतरिक सार्वजनिक ऋण आधारित होता है।'' भारत जैसे विकासशील देश में आज की वर्तमान प्रवृत्तियां यह इंगित करती हैं कि यहाँ कुल राष्ट्रीय आय की तुलना में लघु बचतों की राशि में वृद्धि होती जा रही है। यहाँ गाँवों एवं छोटे–छोटे नगरों तथा उपनगरों में बैंकों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं की शाखाओं का विस्तार किया जा रहा है ताकि ग्रामीणों एवं अन्य कम–आय वर्ग के लोगों के यहाँ जो निष्क्रिय बचतें पड़ी हुई हैं, उनका देश के विकास में प्रयोग किया जा सके। लोगों को तरह–तरह से प्रोत्साहित किया जा रहा है जिससे लोग डाकघरों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के लघु–बचत अभियान में भाग लेकर आर्थिक विकास में सहयोग करें।

यही नही, अल्प बचतों का वितरणात्मक महत्व भी है। यदि सरकार पूंजीपति वर्ग से ऋण प्राप्त करती है तो इससे धन की असमानता बढ़ती है क्योंकि ब्याज का भुगतान धनी वर्ग को किया जाएगा।

इससे धनी वर्ग की आय बढ़ेगी। अल्प बचतों से ऋण प्राप्त होने पर धनी वर्ग को ब्याज नहीं मिल पाएगा। इसके अतिरिक्त छोटी बचतों के मध्यम एवं कम आय वर्ग से प्राप्त होने पर इस वर्ग की बचतों पर जो ब्याज दिया जाता है उस ब्याज के लिए धनिकों पर करारोपण किया जा सकता है। इस प्रकार ब्याज के रूप में दिए जाने वाले धन का हस्तान्तरण धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की ओर होगा जिससे धन के वितरण की असमानता कम होगी।

छोटी बचतों को संगठित रूप से जुटाए जाने का एक अन्य लाभ भी है। इससे वस्तुओं की कीमतों को स्थिर रखा जा सकता है। जिस सीमा तक लोगों में छोटी बचत करने की आदत पड़ती है, उस सीमा तक मुद्रास्फीति के दुश्चक्र एवं ऊँची कीमतों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। यही कारण है कि आज लगभग सभी विकासशील देशों में छोटी बचतों का बढ़ावा देने के लिए तरह–तरह के कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं तथा लोगों को प्रेरित किया जा रहा है।

18.7 सार्वजनिक ऋणों की सीमाएं (Limitations of Public Debts)

किसी भी देश की सरकार को मनमाने ऋण लेने की छूट नहीं होती है। ऋणों की भी एक सीमा होती है। यदि इस सीमा से बाहर जाने का प्रयत्न किया गया तो इसके परिणाम घातक हो सकते हैं। सार्वजनिक ऋणों के तीन स्रोत होते हैं– (अ) वाह्य ऋण (ब) आन्तरिक ऋण तथा (स) घाटे की वित्त व्यवस्था।

इन स्रोतों की अपनी–अपनी सीमा होती है। सार्वजनिक ऋणों की सीमाओं को निम्नवत् व्यक्त किया जा सकता है :

(अ) वाह्य ऋण की सीमा – प्रायः यह कहा जाता है कि विदेशी ऋणों की सीमा सीमित होती है क्योंकि ऋण देने वाला राष्ट्र ऋण लेने वाले राष्ट्र को मनमाना ऋण नहीं दे सकता। ऋण देने से पूर्व ऋण देने वाले राष्ट्र की आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति का सही–सही मूल्यांकन करेगा और यह देखेगा कि जो ऋण माँगा जा रहा है, वह किस प्रयोजन से माँगा जा रहा है और उसका उपयोग कहाँ किया जा रहा है। यदि ऋण का उपयोग उत्पादक कार्यों में किया जाता है, तब अधिक ऋण मिल सकता है। यदि ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए लिया जा रहा है या ऋण देने वाले राष्ट्र के मित्र–राष्ट्र के साथ युद्ध करने के लिए लिया जा रहा है, तो ऋण देने वाला कम ऋण देगा या ऋण नहीं देगा।

(ब) आन्तरिक ऋणों की सीमा – आन्तरिक ऋण अपने देश के नागरिकों से प्राप्त किए जा सकते हैं। यदि देश में प्रजातन्त्र न हो और हम ऐसी कल्पना कर लें कि देश में निरंकुश शासक है, तब यह कहा जा सकता है कि आन्तरिक ऋणों को मनमाने ढंग से वसूला जा सकता है परन्तु प्रजातान्त्रिक देशों में तो ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अतः आन्तरिक ऋण की मात्रा निम्नलिखित परिस्थितियों पर निर्भर करेगी :

(i) यदि देश के लोगों की बचत करने की शक्ति अच्छी है तब ऋण–प्राप्ति की सीमा ऊँची होगी। यदि बचत कम हो रही है तो ऋण प्राप्ति की सीमा कम होगी क्योंकि जो लोग ठीक ढंग से अपना ही भरण–पोषण नहीं कर पा रहे हों उनसे ऋण पाना आसान नहीं है।

(ii) ऋण की सीमा सरकारी नीति के ऊपर भी निर्भर करती है। यदि सरकार की नीति सार्वजनिक ऋणों को उत्पादन कार्यों में व्यय करने की है तो ऋण पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है। इसके विपरीत, यदि सार्वजनिक ऋणों का उपयोग अनुत्पादक कार्यों में किया जाता है तो ऋण की सीमा न्यूनतम होगी।

(iii) जिस देश की सरकार की साख अच्छी होगी, उसकी ऋण प्राप्त करने की सीमा ऊँची होगी। यदि कोई सरकार पुराने ऋणों का ही भुगतान नहीं कर सकी है तो उसे नये ऋण भी नहीं मिलेंगे।

(iv) जिस देश में राजनीतिक अस्थिरता रहती है उसे ऋणों को प्राप्त करने में असुविधा होगी। जहाँ स्थिर सरकार होती है और वह सही अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व करती है, उस सरकार को आसानी से ऋण मिलेंगे।

(v) राजनीतिक स्थिरता के साथ कुशल प्रशासन का भी ऋण–प्राप्ति की सीमा पर प्रभाव पड़ता है। यदि देश में कुशल प्रशासन है, समय पर ऋण व ऋण का ब्याज लौटाया जा रहा है तो ऋण अधिक मात्रा में मिल सकते हैं।

(स) घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमा – वर्तमान समय में बजट घाटे बढ़ने लगे हैं, इसकी पूर्ति नोट छाप कर की जाती है जिसे हम 'हीनार्थ प्रबन्धन' (Deficit Finance) कह सकते हैं। समय–समय पर संसार के प्रत्येक राष्ट्र के द्वारा इस उपाय से अपने व्ययों की पूर्ति की गयी है। जब सरकार को अपने व्ययों की पूर्ति हेतु अन्य स्रोतों से आय तथा ऋण उपलब्ध नहीं होता है, तब वह स्वयं से भी ऋण ले लेती है, और इस ऋण की पूर्ति नोट छापकर कर ली जाती है। उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि राज्य चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, वह मनमाने ढंग से ऋण प्राप्त नहीं कर सकता है ऋणों के प्राप्ति की भी एक निश्चित सीमा होती है।

18.8 लोक ऋण का प्रबन्धन (Public Debt Management)

सम्प्रति, प्रत्येक विकासशील देश तीव्र आर्थिक विकास की लालसा से लोक ऋणों के परिमाण और संरचना में लगातार वृद्धि करता जा रहा है। इन देशों को आर्थिक विकास की अन्य समस्याओं के साथ–साथ ऋण के प्रबन्ध की समस्या का भी सामना करना पड़ रहा है। वास्तविकता यह है कि विकास के प्रारम्भिक चरणों में इन देशों ने आंतरिक व बाह्य दोनों ही प्रकार के ऋण भारी परिमाण में ले लिए तथा जब ऋणों के भुगतान का समय आया तो ये देश बड़ी विकट स्थिति में फँस गए क्योंकि इन देशों ने ऋण प्रबन्धन उचित ढंग से नहीं किया था। वस्तुतः आर्थिक विकास के लिए प्राप्त ऋणों का उपयुक्त प्रबंध करना प्रत्येक देश के लिए आवश्यक होता है। लोक ऋण के प्रबंध से तात्पर्य यह है कि सरकार द्वारा ऋण प्राप्त करने तथा ऋणों का शोधन करने की नीतियों का देश की आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए बल्कि इससे स्थिरता के साथ आर्थिक विकास में सहायता मिलनी चाहिए।

तकनीकी भाषा में, लोक ऋण के प्रबन्ध से तात्पर्य ट्रेजरी की उन क्रियाओं से है जिनके माध्यम से लोक ऋण को कायम रखा जाता है। ऋण प्रबन्ध की समस्या उस समय भी उठेगी जब लोक ऋण में कोई शुद्ध वृद्धि (net increase) नहीं होती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि ऋण प्रबन्ध की समस्या इसलिए उठती है क्योंकि ऋण स्थायी नहीं होते हैं, बल्कि उन्हें वापस करना होता है। चूंकि ऋण अस्थायी होते हैं इसलिए पुराने ऋण के भुगतान तथा नए ऋण को प्राप्त करने का प्रश्न उठता है। वापसी (returning), प्रवर्तन (floatation) तथा निवृत्ति (retiring) के कार्य इस प्रकार किए जाने चाहिए जिससे अर्थव्यवस्था को अधिकतम आर्थिक लाभ मिले या न्यूनतम आर्थिक हानि हो। ऐसी सावधानी बरतने का कारण है कि बुरे ऋण प्रबन्धन के आर्थिक प्रभाव काफी गम्भीर हो सकते हैं।

दूसरे शब्दों में, ऋण की प्राप्ति, वापसी का कार्य इस प्रकार किया जाना चाहिए कि अर्थव्यवस्था को अधिकत्तम आर्थिक लाभ प्राप्त हो अथवा न्यूनत्तम आर्थिक हानि हो। यदि सरकार सार्वजनिक ऋणों की वापसी हीनार्थ प्रबंधन की सहायता से करती है तो इसके प्रभाव स्फीतिजनक हो सकते हैं। ऊँचे

करारोपण भी कीमतों में वृद्धि करते हैं। अतः ऐसी परिस्थितियों में ऋण का प्रबंध इस तरह किया जाना चाहिए जिससे अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति अथवा मुद्रा अवस्फीति की दशा न उत्पन्न हो तथा समाज पर कर का भार कम से कम पड़े। इसके लिए ऋण की संरचना, परिपक्व ऋणों के भुगतान अवधि, दी जाने वाली ब्याज की दर आदि पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इस तरह, सार्वजनिक ऋण –प्रबंधन सार्वजनिक ऋणों की संरचना सम्बन्धी विशेषताओं के निर्धारण से है।

18.9 लोक ऋण प्रबन्धन के सिद्धान्त (Principles of Public Debt Management)

लोक ऋण प्रबन्धन से सम्बन्धित अनेक विद्वानों ने अपने–अपने विचार दिये हैं। कुछ प्रमुख विद्वानों के विचार निम्न हैं:

18.9.1 प्रो0 फिलिप ई. टेलर (Prof. Philip E. Taylor)–प्रो0 टेलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Economics of Public Finance में लोक ऋण प्रबन्धन के निम्न तीन मुख्य सिद्धान्त दिये हैं :

(i) लोक ऋण प्रबन्धन इस तरह होना चाहिए जिससे सरकार को बाजार से ऋण की आवश्यक राशि प्राप्त हो जाए और ऐसा करते समय बाजार पर अनावश्यक दबाव भी न पड़े। साथ ही, ब्याज के रूप में लागत न्यूनतम हो।

इस सिद्धान्त के अनुसार ऋण का प्रबन्ध इस तरह होना चाहिए कि सरकार को आवश्यक ऋण राशि भी प्राप्त हो जाय तथा इस राशि पर ब्याज की दर भी कम से कम देना पड़े। ऋण पर ब्याज का भुगतान सरकार अपने बजट से करती है जिसके लिए अतिरिक्त कर लगाना पड़ता है। इस तरह के भुगतान में आय सृजन की क्षमता कम रहती है, अतः आर्थिक विकास की दर घट जाएगी। अच्छे ऋण प्रबंध के अंतर्गत ब्याज की दर न्यूनतम रहती है साथ ही ब्याज दर की संरचना लोगों के अधिमान ढाँचे के भी अनुकूल रहती है। इसके लिए कुल ऋण की मात्रा को समान रखते हुए सरकारी ऋण की एक ही समय में खरीद तथा बिक्री की जाती है। इस क्रिया से निवेशकर्ताओं के विभिन्न वर्गों की आवश्यकताएं पूरी हो जाती है। इसका एक अन्य लाभ यह भी है कि ऋण एक ही वर्ग के हाथों में केन्द्रित नहीं हो पाता। इस नीति के माध्यम से सरकार को अधिक अनुकूलतम् ब्याज दर प्राप्त करन में सुविधा होती है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए भी मूल्य स्थायित्व जरूरी है। मूल्य वृद्धि से सरकारी बॉण्ड का वास्तविक मूल्य घट जाएगा और वे लोगों को आकृष्ट नहीं कर सकेंगे। इस स्थिति में सरकार को ऋण प्राप्त करना कठिन हो जाएगा।

(ii) लोक ऋण प्रबन्धन स्थिर आर्थिक विकास के उद्देश्य को सफल बनाने में सहायक होना चाहिये, अवरोधक नहीं। स्थिर आर्थिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति हेतु किए जाने वाले ऋण प्रबंध में अत्यधिक लोच होनी चाहिए। मंदी काल में जब बड़े पैमाने पर बेरोजगारी विद्यमान रहती है, सरकार को इस तरह ऋण प्राप्त करना चाहिए जिससे इसका वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग पर संकुचनकारी प्रभाव न पड़े। अन्य शब्दों में, उन लोगों से ऋण नहीं लेना चाहिए जिनकी सीमांत उपभोग प्रवृत्ति ऊँची रहती है। ऐसे समय उचित यह होगा कि बैंकों से ऋण लिया जाय। इसके विपरीत, स्फीतिकाल में बैंकों से कम से कम ऋण लेना चाहिए।

(iii) ऋण की संरचना ऐसी होनी चाहिए जिससे असुविधाजनक स्थिति में सरकार को ऋण लेने की कम से कम आवश्यकता पड़े। अनुपयुक्त अवसर के समय ऋण की आवश्यकता को कम करने के लिए यह उचित होगा कि ऋण के भुगतान की अवधि बढ़ा दी जाय। इसका सबसे अच्छा उदाहरण ब्रिटिश कन्सोल्स (British Consols) हैं। कन्सोल्स के भुगतान की तिथि नहीं निर्धारित होती, इस पर एक निश्चित दर से ब्याज का भुगतान किया जाता है। ऐसे ऋण की वापसी अथवा पुराने ऋणों को नए ऋणों में बदलने की प्रक्रिया सरकार अपनी सुविधा के अनुसार तय करती है।

यद्यपि कि उपरोक्त विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि यदि इन सिद्धान्तों पर अलग–अलग विचार किया जाता है तब किसी तरह की कठिनाई उपस्थित नहीं होती परन्तु यदि इन्हें एक साथ लागू करने का प्रयास किया जाता है तब काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अल्पकालीन ऋण सस्ते होते हैं परन्तु इन ऋणों की सहायता से स्थिर विकास के उद्देश्य को पूरा करना कठिन होगा, विशेषकर समृद्धिकाल में। मंदी काल में ऐसे ऋणों से बेरोजगारी को दूर करने में सहायता अवश्य मिल सकती है।

18.9.2 प्रो0 राल्फ (Rolph Earl R. – 'Principles of Debt Management') ने लोक ऋण हेतु निम्न पाँच सिद्धान्तों को आवश्यक माना है :

(i) प्रतिदेय ऋण का अनुकूलतम् आकार–प्रतिदेय ऋण की संरचना एवं आकार तब अनुकूलतम होता है जब प्रत्येक ऋण साधन की सीमांत उपयोगिता उसी सीमांत लागत के अनुपात में होती है।

(ii) ऋण की उपयोगिता में परिवर्तन–प्रत्येक प्रतिदेय ऋण की उपयोगिता व्यापार क्रिया के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। यदि व्यापार की गतिविधि में तेजी है तो ऋण की उपयोगिता बढ़ेगी। इसके विपरीत मंदी की दशा में ऋण की उपयोगिता घट जाएगी।

(iii) ऋण की भुगतान अवधि–ऋण की औसत भुगतान अवधि को ऋण की संरचना में कमी लाकर घटा दिया जाय तो इसके कारण निजी व्यय में वृद्धि होगी। इसके विपरीत, यदि ऋण की औसत भुगतान अवधि को उसकी संरचना में परिवर्तन लाकर बढ़ा दिया जाय तो इससे निजी व्यय में कमी होगी। इसके लिए निम्न दो शर्तों का होना आवश्यक है–

(क) यदि प्रतिभूतियों की अवधि कम है तो उनमें नकदी या तरलता का गुण अधिक होना चाहिए।

(ख) नकदी अथवा तरलता की सीमांत उपयोगिता धनात्मक होनी चाहिए।

उपरोक्त दोनों शर्तों के पूरा होने पर राज्य द्वारा ऋण की औसत भुगतान अवधि को घटाने पर निजी व्यय में वृद्धि होगी।

(iv) ऋण की मात्रा–यदि सार्वजनिक ऋण की संरचना को बदले बिना उसकी मात्रा घटा दी जाय तो निजी व्यय बढ़ जायेगा। इसके विपरीत, यदि उसकी संरचना को बिना बदले ऋण की मात्रा बढ़ा दी जाय तो इससे निजी व्यय घट जाएगा। इस तथ्य को रेखाचित्र 18.1 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

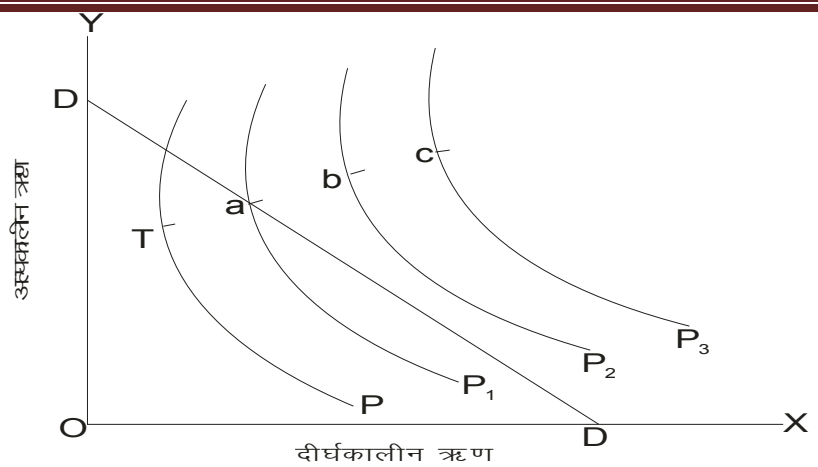

चित्र 18.1

चित्र में OX-अक्ष पर दीर्घकालीन ऋण तथा OY –अक्ष पर अल्पकालीन ऋण को प्रदर्शित किया गया है। DD रेखा निरंतर ऋण रेखा है। चित्र में P, P_1,P_2 तथा P_3 निजी आय को व्यक्त करने वाली सम आय रेखाएं हैं जो दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन ऋण के संयोग को प्रकट करती हैं। चित्र में पुराना ऋण पूर्व निर्धारित है।

मान लिया P_1 सम आय वक्र पर a बिन्दु पुराने ऋण को व्यक्त करता है जो कि पहले से था। अब यदि सरकार ऋण की संरचना में कमी किए बिना ऋण में कमी कर देती है तो उससे निजी व्यय बढ़ जाएगा। मान लीजिए अब ऋण में कमी करने के कारण दीर्घकालीन और अल्पकालीन ऋण का संयोग T बिन्दु द्वारा प्रदर्शित होता है। यह स्पष्ट है कि P वक्र P_1 से अधिक निजी व्यय को व्यक्त करता है। इसी तर्क के आधार पर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि b तथा c बिन्दु क्रमशः और भी कम निजी व्यय को व्यक्त करते हैं।

(v) बैंकों के आरक्षित कोष का प्रभाव– यदि व्यापारिक बैंकों को आरक्षित कोष कम मात्रा में रखना है तो अन्य बातें समान रहने पर, ऋण की कमी के कारण अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी प्रवृत्ति अधिक प्रभावी होगी। अतः सरकार द्वारा अधिक मात्रा में लिया गया ऋण अधिक उपयोगी होगा। इस तरह, बैंकों के आरक्षित कोष का भी ऋण की दीर्घकालीन या अल्पकालीन प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है।

18.9.3 मुख्य बातें (Main Points) – संक्षेप में ऋण प्रबन्धन के सभी सिद्धान्तों की मुख्य बातों को निम्न रूप से लिखा जा सकता है :

(i) निवेशकर्त्ताओं की आवश्यकताओं की संतुष्टि होनी चाहिये। जिससे प्रत्येक स्थिति में उनका विश्वास बना रहे तथा राष्ट्र विकास की तरफ अग्रसर हो सके।

(ii) लोक ऋण की ब्याज सेवा लागत न्यूनत्तम होना चाहिए। जिससे सरकार को कम ब्याज पर ऋण उपलब्ध हो सके। साथ ही ऋणदाताओं को भी ऋण देने हेतु आकर्षित करना होगा।

(iii) आवश्यकतानुसार अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों का आपस में परिवर्तन सहज रूप में सम्भव हो सके तथा ऋणी एवं ऋणदाता ब्याज दर से सहमत हो सकें। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दीर्घकालीन ऋण उस परिस्थिति में अच्छे होंगे जब ब्याज दरों के घटने की संभावनाएं न हों तथा ब्याज दर के घटने

की उम्मीद रहने पर अल्पकालीन ऋण ही उचित होंगे। इसलिए मसग्रेव ने कहा है कि, ''ऋण प्रबंध एक बारीक कला है जिसके लिए काफी पहले ही बाजार प्रत्याशा का समझदारी से मूल्यांकन करना पड़ता है।''

(iv) लोक ऋण नीति का राजकोषीय नीति एवं मौद्रिक नीति के साथ समन्वय होना चाहिए क्योंकि सब मिलकर देश की आर्थिक नीति का निर्धारण करते हैं। भारी मात्रा में लिए गए सार्वजनिक ऋण के कारण मौद्रिक एवं राजस्व नीति का प्रभाव घट जाता है। अतः इनका आपस में समन्वय होना चाहिए। सार्वजनिक ऋणों की वापसी, चालू ऋणों का रूपांतर (conversion) तथा वे शर्तें जिन पर नवीन ऋण पत्रों का विक्रय किया जाता है–सभी को आर्थिक स्थिरता तथा प्रगति में योगदान देना चाहिए।

(v) यदि कुल ऋण का एक बड़ा भाग अल्पकालीन ऋणों के रूप में है जो अधिकांशतया बैंक द्वारा लिया जाता है तो ऐसी दशा में ऋण की बड़ी मात्रा नकद रूप में बनी रहने की संभावना रहती है। ऐसी स्थिति में मुद्रा–स्फीतिजनक स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इस तरह ऋणों की अत्यधिक तरलता मुद्रास्फीति के नियंत्रण को कठिन बना देती है। ऐसे ऋणों की खरीद भी मुद्रा स्फीति विरोधी उपाय के रूप में अधिक प्रभावशाली नहीं होगा।

(vi) ऋण प्रबंध स्थिर आर्थिक विकास के उद्देश्य को सफल बनाने में सहायक होना चाहिए। स्थिरता के साथ विकास के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ऋण प्रबंध में लोचशीलता का होना आवश्यक होता है। मंदी काल में जब बड़े पैमाने पर बेरोजगारी विद्यमान रहती है तब सरकार को इस तरह ऋण लेना चाहिए कि इसका वस्तुओं एवं सेवाओं की निजी मांग पर संकुचनकारी प्रभाव न पड़े। अतः ऋण उन लोगों से नहीं लेना चाहिए। जिनकी सीमांत उपभोग प्रवृत्ति ऊँची रहती है, ऐसे समय पर बैंकों से ऋण लिया जाना उचित होगा। मुद्रा स्फीति के समय विपरीत नीति अपनायी जानी चाहिए। ऐसे समय में बैंकों से ऋण न लेकर अधिक व्यय करने वालों से ऋण लिया जाना चाहिए।

18.10 ऋण प्रबन्धन एवं मौद्रिक नीति (Debt Management and Monetary Policy)

ऋण प्रबन्धन एवं मौद्रिक नीति के अंतर्गत ट्रेजरी के ऋण प्रबन्ध तथा केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति के मध्य समन्वय स्थापित की जाती है। रैचफोर्ड (Ratchford), आल्विन हान्सेन (Alvin Hansen), मीड (Meade) तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी यह तर्क प्रस्तुत किया कि बड़े परिमाण में लोक ऋण के कारण मौद्रिक नीति का प्रभाव घट जाता है। उदाहरण के लिए यदि मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए बैंक दर में बृद्धि की जाती है तो इससे बाण्ड की कीमत घट जाएगी। भविष्य में बाण्ड पर पूँजी हानि के रूप में और अधिक घाटा न हो, इसलिए बाण्ड के धारक इसे बेच कर मुद्रा प्राप्त कर लेगें। इससे दीर्घकालीन बॉण्ड के बाजार पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। इससे बचने के लिए केन्द्रीय बैंक को स्फीतिविरोधी उक्त नीति का परित्याग करना पड़ेगा ताकि बॉण्डों की कीमत घट न सके। लेकिन रूसा (Roosa) ने भिन्न तर्क प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि जब लोक ऋण सभी प्रकार के लोगों से लिया जाता है तब लोक ऋण एवं मौद्रिक नीति में कोई विरोध नहीं रहता है। बैंक दर के बढ़ने पर बाण्ड को बेचकर मुद्रा प्राप्त नहीं की जाएगी क्योंकि बैंक अपने लेखा में पूँजी हानि (capital loss) दिखाना नहीं चाहेंगे। यदि कुछ व्यक्ति ऐसा करते भी हैं तो भी पूँजी हानि के कारण उपभोग पर अधिक खर्च नहीं करेंगे। इससे मौद्रिक नीति का प्रभाव बढ़ जाएगा, घटेगा नहीं।

मौद्रिक नीति एवं लोक ऋण नीति के मध्य विरोध है अथवा नहीं, इस समस्या की चाहे जो भी स्थिति हो, वास्तव में लोक ऋण प्रबंधन तथा आर्थिक स्थायित्व के उद्देश्य के मध्य समन्वय स्थापित होना आवश्यक है। इस हेतु निम्न तीन नीतियों का सुझाव दिया जा सकता है।

(1) सकारात्मक या धनात्मक प्रबन्धन (Positive Management)

(2) तटस्थ प्रबन्ध (Neutral Management)

(3) नकारात्मक या ऋणात्मक प्रबन्ध (Negative Management)

18.10.1 सकारात्मक या धनात्मक प्रबन्ध

रेडाक्लफ कमेटी (Radcliffe Committee) तथा मुद्रा एवं साख पर अमेरिकी आयोग (U.S. Commission on Money and Credit) ने मत व्यक्त किया है जब कम्पनी क्षेत्र (Corporate Sector) बड़ी मात्रा में बाण्ड क्रय करती है तो वह केन्द्रीय बैंक दर के माध्यम से इस क्षेत्र के आचरण को प्रभावित कर सकता है ऐसे बाण्ड की अनुपस्थिति में यह क्षेत्र केन्द्रीय बैंक के प्रभाव से स्वतंत्र रह जाएगा क्योंकि यह क्षेत्र ऋण पूंजी पर निर्भर नहीं करता है।

इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत ट्रेजरी इन तथ्य को स्वीकारता है कि लोक ऋण प्रबन्ध नीति अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकती है। अतः वह केन्द्रीय बैंक द्वारा अनुसरण की गयी मौद्रिक नीति का समर्थन करता है। इसके अन्तर्गत स्फीतिकाल में अतिरिक्त साख को हतोत्साहित करने के उद्देश्य से अल्पकालीन प्रतिभूतियों को दीर्घकालीन प्रतिभूतियों में परिवर्तन किया जाता है। इसके विपरीत मंदीकाल में ऋणों को अल्पकालीन ऋणों में परिवर्तित किया जाता है।

यह नीति लोक प्रबन्धन के प्रथम उद्देश्य के प्रतिकूल है, क्योंकि स्फीति काल में ब्याज दर में वृद्धि होती है। (सामान्यतः दीर्घकालीन बिल पर ब्याज अल्पकालीन प्रतिभूतियों की अपेक्षा ऊँची रहती है) अतः इस नीति के अन्तर्गत ब्याज के रूप में लोक ऋण का भार अधिकतम होगा, न्यूनत्तम नहीं।

18.10.2 तटस्थ प्रबन्धन – इस नीति के अंतर्गत ट्रेजरी मूल्यनीति को ध्यान में रखकर लोक ऋण का प्रबंध नहीं करती है। स्थायित्व (stabilization) की नीति केन्द्रीय बैंक के जिम्मे रहती है जबकि लोक ऋण प्रबंध ट्रेजरी के अधिकार क्षेत्र में होता है। ट्रेजरी अपनी नीति का निर्धारण तटस्थ भाव से करती है।

वस्तुतः, किसी भी सरकार के लिए वास्तविक तटस्थ नीति का अनुसरण करना कठिन है। यह आशा की जा सकती है कि लोक प्रबन्ध के कारण मुद्रा एवं साख बाजार पर न तो स्थिर और न ही अस्थिर प्रभाव पड़ेगा। ऐसा तभी होगा जब पुराने ऋण की जगह नए ऋए इस प्रकार लिए जाएं कि सभी पुराने ऋणों का भुगतान हो जाए। यदि ब्याज दरों में कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है तो इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए ब्याज दर की संरचना में कोई परिवर्तन करना पड़ेगा। ब्याज दर में परिवर्तन की स्थिति में ब्याज दर संरचना में न्यूनत्तम परिवर्तन करना होगा।

18.10.3 नकारात्मक या ऋणात्मक प्रबन्धन

इस नीति के अन्तर्गत ट्रेजरी का एक ही उद्देश्य होता है, ब्याज की दर को न्यूनत्तम रखना। जिससे राष्ट्रीय ऋण की लागत न्यूनत्तम रहे। अतः वह इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास करती है। जब मुद्रा एवं साख में कमी के कारण ब्याज दर में वृद्धि होती है तब ट्रेजरी दीर्घकालीन ऋण नहीं लेगी,

जबकि मंदीकाल में इसके विपरीत की ही नीति अपनाई जाएगी क्योंकि इस अवधि में ब्याज की दर घटती है। यह नीति निम्न दृष्टिकोणों से अनुपयुक्त माना जाता है :

(i) केन्द्रीय बैंक एवं ट्रेजरी सम्भवतः विपरीत दिशाओं में चलेंगे।

(ii) न्यूनत्तम ब्याज लागत ही जब ऋण प्रबन्ध का उद्देश्य हो जाता है तब सर्वोत्तम तरीका यही होगा कि सम्पूर्ण ऋण का मुद्रीकरण (monetization) कर दिया जाए अर्थात् ऋण के स्थान पर मुद्रा स्थापित कर दी जाए।

18.11 ऋण प्रबन्धन की समस्याएं (Issues of Debt Management)

ऋण प्रबन्धन की मुख्य समस्यायें निम्न हैं :

18.11.1 दीर्घकालीन बनाम अल्पकालीन ऋण (Long term vs Short Term Loan) – दीर्घकालीन ऋण के अन्तर्गत सामान्यतया ब्याज की एक निश्चित दर रहती है तथा सरकार इन्हें सुविधानुसार लौटाती है। इस ऋण की अवधि पूरी होने पर उसे नए ऋण में बदल दिया जाता है जबकि अल्पकालीन ऋण के फलस्वरूप बड़ी मात्रा में वापसी (Refunding) क्रिया की बार–बार आवश्यकता होती है। दीर्घकालीन ऋण का स्फीतिजनक प्रभाव कम पड़ता है। इसके अतिरिक्त ऐसे ऋण को बड़े पैमाने पर बार–बार वापस करने की जरूरत नहीं पड़ती है, लेकिन इस प्रश्न का उत्तर कि लोक ऋण दीर्घकालीन हो या अल्पकालीन, वापसी क्रिया को वार्षिक मात्रा के आधार पर नहीं किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि ऋण की भी मियाद संरचना (term structure) का चयन ब्याज को न्यूनतम करने के ख्याल से निर्धारित करना चाहिए। परिपक्वता (maturity) के अनुसार बॉण्ड पर ब्याज दर में अन्तर पाया जाता है। अतः वैसे बॉण्ड को चुनना चाहिए, जिन्हें विनियोगकर्ता खरीदने को तत्पर दीखें।

यद्यपि कि कई बार अल्पकालीन ब्याज दरें दीर्घकालीन ब्याज दरों से उपर भी दिखी हैं। अतः यह जरूरी नहीं है कि दीर्घकालीन ऋण ही उचित है क्योंकि अधिक दिन (वर्ष) व्यतीत होने के पूर्व ही ब्याज की दर घट सकती है, इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दीर्घकालीन ऋण उस परिस्थिति में अच्छे होंगे, जब ब्याज दरों के घटने की संभावनाएं न हों तथा ब्याज दर घटने की उम्मीद रहने पर अल्पकालीन ऋण ही उचित होंगे। इसलिए मसग्रेव महोदय ने ऐसा विचार व्यक्त किया है कि ''ऋण प्रबन्ध एक बारीक कला है, जिसके लिए काफी पहले ही बाजार प्रत्याशा का समझदारी से मूल्यांकन करना पड़ा है।'' (''Debt management, therefore, is a fine art which requires a shrewd appraisal of market prospects for a considerable time ahead.'')

18.11.2 तरलता (Liquidity) – तरलता का प्रश्न सरकार की मुद्रापूर्ति की नियंत्रण शक्ति पर निर्भर होती है जिसके आधार पर सरकार ब्याज दर का नियमन करती है। सरकार लोक ऋण को मुद्रा में बदल सकती है, यानि ऋण नोट छापकर या केन्द्रीय बैंक से प्राप्त किया जा सकता है। इसे ऋण का मुद्रीकरण (debt monetization) कहा जाता है। ऋण का यह सबसे सस्ता माध्यम है, क्योंकि ऐसे ऋण पर ब्याज देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

ऋण मुद्रीकरण के विरूद्ध कई तर्क दिए जाते हैं–(1) यह आय प्राप्त करने का सबसे ही सरल तरीका है। अतः इसका दुरूपयोग सम्भव है। ऋण की मात्रा उपयुक्त सीमा के ऊपर जा सकती है। (2) स्फीतिकाल में यह तरीका (मुद्रीकरण) उपयुक्त नहीं माना जा सकता। ऋण की अवधि जितनी छोटी होगी, उसका प्रसार सम्बन्धी प्रभाव उतना ही अधिक होगा। स्पष्ट है कि मुद्रीकरण अर्थात् ऋण का

मुद्रा–सृजन प्रभाव सर्वाधिक प्रसारकारी होगा। इसका कारण यह है कि ऋण की अवधि जितनी लम्बी होगी, ब्याज दर उतनी ही अधिक ऊँची होगी। इसे चित्र 18.2 में दिखाया गया है।

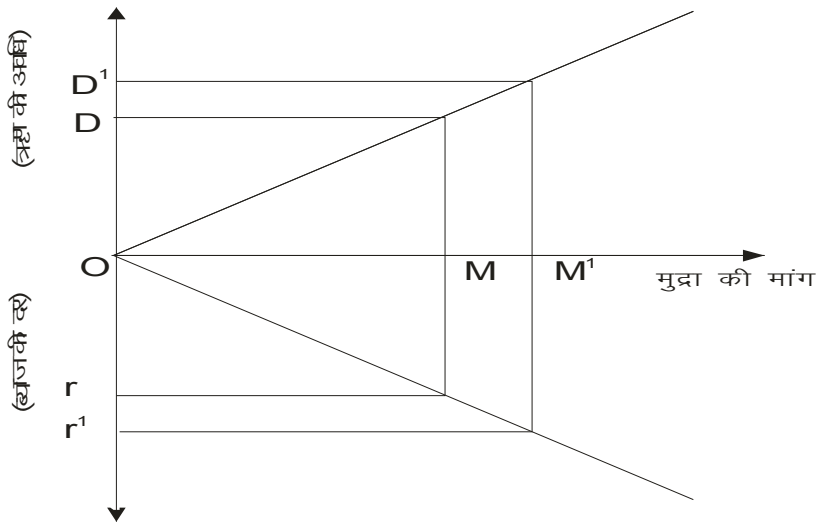

चित्र 18.2

चित्र से स्पष्ट है कि ऋण की अवधि जब OD से बढ़कर OD^1 हो जाती है तो मुद्रा की मांग OM से बढ़कर OM^1 हो जाती है, इस कारण ब्याज की दर Or से बढ़कर Or^1 हो जाती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मुद्रा के स्थान पर ऋण ग्रहण करने का अर्थ है, गैर–तरलता (illiquidity) को ग्रहण करना।

विनियोगकर्ता अपनी परिसम्पत्ति के पोर्टफोलियो (Portfolio of Assets) में गैर–तरलता में वृद्धि करने के लिए तभी तैयार होंगे जब उन्हें अधिक व्याज दिया जाएगा, लेकिन ऊँची ब्याज पर निजी विनियोग की मांग घट जाती है। इसे स्फीतिकाल में उचित ही समझा जाएगा, लेकिन अत्यधिक दीर्घकालीन ऋण वित्तीय ढाँचे को अत्यन्त लोचहीन बना देता है। साथ ही, यह अर्थव्यवस्था में तरलता की मात्रा को घटा देता है। यह उपयुक्त नहीं समझा जा सकता। बेरोजगारी के समय ऋण की अवधि को कम करना उचित होगा।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अल्पकालीन स्थायित्व नीति ही ऋण प्रबन्ध पर निर्णयात्मक प्रभाव डालती है। ("It is the short-run stabilization policy which may act as the decisive factor in determining debt management policy.'')

18.11.3 स्थिर क्रय शक्तिवाले बाण्ड (Constant Purchasing-Power Bond)– बाण्डों के मूल्यों को स्थिर बनाये रखने हेतु 1950 के कोरिया युद्ध से उत्पन्न स्फीतिजनक स्थिति में यह प्रस्ताव रखा गया था कि ऐसे बाण्ड जारी किए जाएं जिनके मूल्य स्थिर रहें। अतः ऐसे बाण्ड का भुगतान मूल्य (Redemption value) जीवनस्तर सूचकांक में परिवर्तन के साथ–साथ बदलता रहेगा। ऐसा बॉण्ड स्फीति के कारण क्रयशक्ति में होने वाले ह्रास से विनियोगकर्ता को बचाता है, निजी बचत को प्रोत्साहित करता है तथा स्फीति को हतोत्साहित करता है। इजरायल, फ्रांस, आस्ट्रिया और फिनलैण्ड में इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित बाण्ड जारी किए गए हैं।

ब्याज दर सम्बन्धी इन विवादों के मध्य उचित नीति यह जान पड़ती है कि मुद्रा प्रसार के समय अल्पकालीन ऋण पर कम से कम भरोसा करना चाहिए। मन्दीकाल में ऋण नीति ऐसी होनी चाहिए ताकि पुनरूद्धार के लिए अपनायी गयी आसान साख नीति का निम्न दीर्घकालीन ब्याज नीति के साथ संघर्ष न हो।

18.11.4 ऋण प्रबन्धन की नयी तकनीक (New Technology of Debt Management)–

वर्तमान में, स्फीति की स्थिति व्याप्त है और कोशिश होती है कि ऋण की अवधि को लम्बा किया जाए। इसके लिए अग्रिम वापसी (advance refunding) नामक नयी तकनीक की सहायता ली जाती है। परिपक्वता की तिथि के पूर्व ही पुरानी प्रतिभूतियों के स्थान पर नयी प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए कहा जाता है। नयी प्रतिभूतियां ऐसी होती हैं जिनसे दोनों को लाभ होता है। इस क्रिया का मुख्य उद्देश्य अल्प एवं मध्यकालीन प्रतिभूतियों को दीर्घकालीन में बदलना होता है।

ऋण प्रबन्ध की एक और नयी तकनीक के अन्तर्गत बॉण्ड पर अधिकतम ब्याज दर निर्धारित कर दी जाती है, लेकिन यह स्थायित्व नीति (stabilization policy) को लागू करने में अनावश्यक सीमा डाल देती है।

18.12 अल्पविकसित देशों में ऋण प्रबन्ध की समस्यायें (Problems of Debt Management in Developing Countries)

विकसित देशों का लक्ष्य मुख्यतः विकास में स्थिरता बनाये रखना है। अतएव इस हेतु विकसित देशों में लोक ऋण प्रबन्धन के उद्देश्य निम्न होते हैं:

(i) सरकार द्वारा पर्याप्त धन आकृष्ट करना।

(ii) ब्याज के रूप में कम लागत।

(iii) परिपक्वता की उपयुक्त संरचना को बनाए रखना तथा

(iv) आर्थिक स्थायित्व को कायम रखना।

जबकि विकासशील देशों में इन उद्देश्यों में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता होती है। पूर्ण विकसित मुद्रा एवं पूँजी बाजार की अनुपस्थिति में न्यूनतम ब्याज लागत के उद्देश्य को पूरा करना कठिन हो सकता है। रोजगार को ऊँचे स्तर पर कायम रखने के लिए कुल मांग को पर्याप्त रखने का अल्पकालीन उद्देश्य विशेष महत्व नहीं रखता। अधिक उपयोगी नीति आर्थिक विकास की दर में तेजी लाती है।

यद्यपि कि विकसित देशों में प्रयुक्त होने वाला ऋण प्रबन्धन तकनीक विकासशील देशों में भी प्रयोग की जा सकती है परन्तु उनमें लचीलापन कम रहता है। विकसित देशों में केन्द्रीय बैंक प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा एवं पूँजी बाजार में क्रय–विक्रय के माध्यम से अर्थव्यवस्था में तरलता की स्थिति, ब्याज की दर तथा सार्वजनिक ऋण के ढाँचे में उचित परिवर्तन कर सकता है। अल्पकालीन ऋण के अनुपात में वृद्धि होने से बैंकिंग व्यवस्था की तरलता में वृद्धि होती है। विकासशील देशों में भी केन्द्रीय बैंक इन क्रियाओं को सम्पन्न कर सकती है, परन्तु ऐसे देशों में राष्ट्रीय ऋण का आकार प्रायः छोटा होता है तथा मुद्रा एवं पूँजी बाजार तथा वित्तीय संस्थानों की स्थिति अल्पविकसित एवं कमजोर होती है। इन दशाओं में मौद्रिक नीति के यंत्र के रूप में सार्वजनिक ऋण प्रबंधन अधिक प्रभावी नहीं होता।

अल्पविकसित देशों में न्यूनतम ब्याज लागत नीति के साथ पर्याप्त मात्रा में ऋण आकृष्ट करने की नीति के साथ उचित सामंजस्य नहीं पाया जाता। न्यूनत्तम लागत नीति के लिए सस्ती मुद्रा नीति की आवश्यकता होती है जबकि ऋण की धनराशि को आकर्षित करने के लिए बाण्डों एवं प्रतिभूतियों पर ब्याज की दर में बढ़ोत्तरी करना आवश्यक होता है।

18.13 सारांश (Conclusion)

इस इकाई 18 के अन्तर्गत प्रस्तावना तथा उद्देश्यों के साथ–साथ लोक ऋण के भुगतान की विधियों तथा प्रबन्धन से सम्बन्धित अनेक बातों को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है।

जैसा कि आप देख सकते हैं कि इकाई के प्रथम मुख्य शीर्षक लोक ऋण के भुगतान की विधियाँ के अन्तर्गत बजट अतिरेक, ऋण परिशोधन कोष, पूँजी कर, अवधिक वार्षिकी, ब्याज दर में ह्रास, ऋण अस्वीकृति, मुद्रा स्फीति द्वारा लोक ऋण का त्याग, ऋण अस्वीकृति, ऋण रूपान्तरण, ऋण पुनः शोधन को स्पष्ट किया गया है। इसी तरह सार्वजनिक ऋण के आन्तरिक स्रोतों के अन्तर्गत व्यक्तियों, गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं, व्यापारिक बैंकों, केन्द्रीय बैंक तथा बाह्य ऋणों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों की व्यापक चर्चा की गयी है।

विकासशील देशों में विदेशी ऋण के महत्व को स्पष्ट करने हेतु युद्ध संकट की स्थिति में आर्थिक विकास करने, मन्दी दूर करने, पुनर्निर्माण हेतु नयी तकनीक प्राप्त करने एवं विदेशी विनिमय की कमी की स्थितियों को समझा गया है। तत्पश्चात् आन्तरिक ऋण हेतु विकासशील राष्ट्रों में लघुबचत के महत्व को स्पष्ट करते हुए सार्वजनिक ऋण की सीमाओं को समझाया गया है।

इस इकाई शीर्षक के दूसरे भाग में लोक ऋण प्रबन्धन के अर्थ को स्पष्ट करने के साथ लोक ऋण प्रबन्धन के प्रो0 टेलर तथा प्रो0 राल्फ के सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हुए ऋण प्रबन्धन से सम्बन्धित सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या की गयी है। तत्पश्चात् ऋण प्रबन्धन एवं मौद्रिक नीति से सम्बन्धित धनात्मक, तटस्थ एवं ऋणात्मक प्रबन्धन, ऋण प्रबन्धन की समस्याओं के अन्तर्गत दीर्घकालीन बनाम अल्पकालीन ऋण प्रबन्धन, तरलता द्वारा स्थिर क्रय शक्ति वाले बाण्ड एवं ऋण प्रबन्धन की नयी तकनीक तथा अल्पविकसित देशों में ऋण प्रबन्धन की समस्याओं को बताया गया है। इस प्रकार शीर्षक से सम्बन्धित बिन्दुओं को क्रमवार स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

18.14 पारिभाषिक शब्दावली

शोधन	–	Redemption
पूँजीकर	–	Capital Levy
अवधिक वार्षिक	–	Terminal Annuity
परिवर्तन	–	Conversion
पुनः शोधन	–	Refunding
तैरता अथवा अस्थायी	–	Floating or Temporary
परिपक्वता एवं वितरण	–	Maturity and Distribution

मुद्रीकरण	–	Monetization
गैर–तरलता	–	Illiquidity
परिसम्पत्ति के पोर्ट फोलियो	–	Portfolio of Assets

18.15 अभ्यास प्रश्न

1. सार्वजनिक ऋण के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए तथा सार्वजनिक ऋण के भुगतान के तरीके बताइए।
2. लोक ऋणों के भुगतान की विभिन्न विधियाँ कौन–कौन सी हैं? स्पष्ट कीजिए।
3. सार्वजनिक ऋण क्या है ? सार्वजनिक ऋण के शोधन की विभिन्न रीतियों को समझाइए।
4. सार्वजनिक ऋण के स्वरूप कौन–कौन से हैं? इसके भुगतान की विभिन्न विधियों का विवेचन कीजिए।
5. सार्वजनिक ऋण प्रबंध पर एक लेख लिखिए।
6. लोक ऋण के प्रबंध के कौन–कौन से सिद्धान्त हैं ? क्या सभी की पूर्ति एक साथ सम्भव है ?
7. लोक ऋण के प्रबंध तथा मौद्रिक नीति के मध्य सम्बन्ध की विवेचना कीजिए।
8. लोक ऋण के प्रबंध से आप क्या समझते हैं? लोक ऋण के प्रबंध के कौन–कौन से सिद्धांत हैं? विकासशील देशों में लोक ऋण प्रबंध की समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
9. एक विकासशील अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक ऋण के महत्व की विवेचना कीजिए। सार्वजनिक ऋण में लघु बचत के महत्व को बतलाइए।
10. **टिप्पणी लिखें**

    अ. सार्वजनिक ऋण का कार्य करने की योग्यता पर क्या प्रभाव होता है?

    ब. सार्वजनिक ऋण का उपभोग पर प्रभाव स्पष्ट करें।स. आन्तरिक ऋण भार से क्या समझते हैं?

    द. सार्वजनिक ऋणों के लाभ बताइए।य. ऋण परिशोधन कोष से क्या समझते हैं?

    र. सार्वजनिक ऋण का उत्पादन पर प्रभाव।ल. सार्वजनिक ऋण का वितरण पर प्रभाव।

18.16. उपयोगी पाठ्य सामग्री

- डॉ. एस. के. सिंह ,लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- डॉ. जे.सी. पन्त एवं प्रो. चन्द्रशेखर जोशी लोक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा
- डॉ. एस.के. सिंह एवं डॉ. जे.पी. मिश्र ,राजस्व एवं रोजगार के सिद्धान्त, साहित्य भवन आगरा
- प्रो. एस.एन. लाल एवं एस.के. लाल ,लोक वित्त, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद
- डॉ. जे.पी. मिश्र ,लोक वित्त एवं रोजगार सिद्धान्त विजडम बुक्स, वाराणसी

इकाई -19 संघीय वित के सिद्धांत एवम् समस्याऐं

इकाई संरचना

19.1 प्रस्तावना

19.2 उददेश्य

19.3 संघीय वित

19.3.1 एकात्मक वित्त (unitary Finance)

19.3.2 संघीय वित्त (Federal Finance)

19.4 संघीय वित के सिद्धांत

19.4.1स्वतन्त्रता का सिद्धांत

19.4.2 स्वतन्त्रता पर्याप्त एवं लोच का सिद्धांत

19.4.3 स्वतन्त्रता एकरूपता का सिद्धांत

19.4.4 स्वतन्त्रता प्रशासनिक कुशलता का सिद्धांत

19.5 संधीय वित्त की समस्याऐं

19.5**.1** कार्यो का विभाजन वित्तीय संसाधनों के अनुरूप किया जाना

19.5**.2** कार्यो एवं साधनों के मध्य संतुलन में बाधा जिसका कारण सामाजिक एवं तकनीकी परिवर्तन है

19.5.3 अन्य राज्यों की अपेक्षा कुछ राज्यों का आर्थिक दृष्टि से दुर्बल होना

19.6 सारांश

19.7 शब्दावली

19.8 सन्द्रर्भ ग्रन्थ सूची

19.9 सहायक उपयोगी अध्ययन सामग्री

19.10 निबंधात्मक प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

आप पिछली इकाई 18 में लोक ऋण के प्रभाव एवं भार ,लोक ऋण भुगतान की विभिन्न विधियाँ एवं प्रबन्धन को जान चुके हैं। इस इकाई 19 में आप संघीय वित के प्रकार- एकात्मक वित्त एवं संघीय वित्तए संघीय वित के सिद्धांत और संधीय वित्त की समस्याऐं जाना सकेगें।

19.2 उददेश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि-

- संघीय वित का क्या आशय है।]
- संघीय वित के प्रमुख प्रकार क्या है।
- संघीय वित के सिद्धांत कौन कौन से है।
- संधीय वित्त की समस्याऐं क्या-2 है।

19.3 संघीय वित

सर्वप्रथम यह जान लें कि संघात्मक राज्य में सरकार दो सत्ताओं में विभाजित होती है।

1. केन्द्रीय सरकार जिसे संघीय सरकार भी कहते हैं तथा

2. राज्य सरकार।

- केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के बीच कार्यो का विभाजन होता है। विभाजन का मुख्य आधार यह होता है कि जो कार्य सम्पूर्ण देश के लिए महत्वपूर्ण होते है या जिन्हें पूरे देश के लिए प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है वह केन्द्र के पास होते है।

दूसरी तरफ जो कार्य क्षेत्रीय आधार पर भली भांति सम्पन्न हो उन्हें राज्यों को सौप दिया जाता है।

उदाहरण: विदेशी मामले प्रतिरक्षा, संचार साधन, विदेशी व्यापार तथा करेंसी केन्द्रीय सरकार के विषय हैं क्योंकि इनका राष्ट्रीय महत्व है।

सामान्यतः शिक्षा , स्वास्थ्य, चिकित्सा तथा कृषि इत्यादि राज्य सरकारों के विषय है।

ध्यान रहे: केन्द्र एवं राज्य सरकार के कार्यो के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है। कुछ बातों में संघ सरकार तथा राज्य सरकारों का संयुक्त प्रशासन भी हो सकता है जैसे श्रम तथा कानून इत्यादि।

सामान्यत: जहां तक कार्यो व अधिकार क्षेत्र का सम्बन्ध है सत्ताओं के दोनों वर्ग स्वतन्त्र होते है।

- केन्द्र व राज्य की शासन व्यवस्था के इस विभाजन के आधार पर वित्त व्यवस्था भी दो भागों या वर्गो में बांटी जा सकती हैः

1. **एकात्मक वित्त (Unitary Finance)**
2. **संघीय वित्त (Federal Finance)**

19.3.1 एकात्मक वित्त (unitary Finance)

एकात्मक वित्त के अर्न्तगत देश की सम्पूर्ण मदो पर केवल केन्द्र सरकार ही व्यय करती है चाहे उस मद का सम्बन्ध पूरे देश के हो या किसी क्षेत्र से। सरल रूप में व्यय केन्द्र सरकार करती है।

समस्त स्रोत्रो से जो आय प्राप्त होती है वह केन्द्रीय सरकार के कोष में जमा होती है।

19.3.2 संघीय वित्त (Federal Finance)

एकात्मक वित्त व्यवस्था के विपरीत संघीय वित्त व्यवस्था में आय एवं व्यय की समस्त मदों को (i) केन्द्रीय सरकार (ii) राज्य सरकारों तथा (iii) स्थानिक निकायों में बांट दिया जाता है।

ध्यान रहे इन तीनों इकाइयों को अपनी अपनी मदों पर आय प्राप्त करने तथा व्यय करने की स्वतन्त्रता होती है।

डॉ0 आर0एन0 भार्गव (Dr, R. N. Bhargw) के अनुसार संघीय वित्त का तात्पर्य संघीय तथा राज्य सरकारों के वित्त तथा उन दोनों के मध्य समन्वय से होता है।

Federal Finance means the finance. of the federal as well as the start government and the relationship between the two.

19.4 संघीय वित्त के सिद्धांत ; Principles of Federal Finance

सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि संघीय वित्त का ढांचा कुछ सिद्धांतों पर आधारित होता है । जिनके पीछे कुछ विशिष्ट अवधारणाऐ होती है जैसे कि स्वतन्त्रता, पर्याप्त संसाधन, आय के संसाधनों का लोचशील होना, राज्य द्वारा समान रूप से हितकारी कार्यो का चयन, प्रशासन की कुशलता इत्यादि । इनके आधार पर संघीय वित्त के सिद्धांत सामान्यः निम्न हैः

- स्वतन्त्रता का सिद्धांत
- पर्याप्त एवं लोच का सिद्धांत
- एकरूपता का सिद्धांत
- प्रशासनिक कुशलता का सिद्धांत

19.4.1 स्वतन्त्रता का सिद्धांत

स्वतन्त्रता के सिद्धांत के अधीन केन्द्र राज्य तथा स्थानिक निकाय अपने अंतरिक वित्तीय मामलों में पूर्ण स्वतन्त्र इकाई के रूप में रहते है। सरल रूप से वह अपनी इच्छा के अनुसार कर लगा सकते हैं तथा जरूरत पड.ने पर ऋण भी ले सकते है। प्राप्त आय को व्यय करने की भी उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

उदाहरणः भारत में आयकर केन्द्र सरकार का विषय है तो मनोरंजन कर राज्य सरकार का।

केन्द्र व राज्य एक दूसरे के आय संसाधनों में कोई हस्तक्षेप नही कर सकते ।

व्यवहार में: केन्द्र व राज्य सरकार की पूर्ण स्वतन्त्रता कई कारणों से संभव नहीं बन पाती। राज्य सरकार को संघ या केन्द्र सरकार की दया पर निर्भर रहना पड.ता है।

पूर्ण स्वतन्त्रता न होने के कारणः मुख्य कारण निम्न है-

1.केन्द्र सरकार के पास आय के महत्वपूर्ण व लोचदार स्रोत होते है जबकि राज्य सरकार के स्रोत अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होते है

2.केन्द्र सरकार के पास आय के कुछ ऐसे साधन या स्रोत होते है जिन्हें खण्ड अथवा टुकडो में बांटा जाना संभव नहीं होता। ऐसे में वह उस आय मे से एक निश्चित प्रतिशित राज्यों में बांट देती है।

3.विशेष परिस्थितियों में केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को वित्तीय सहायता प्रदान करती है तथा राज्य सरकारों को वित्तीय सहायता प्रदान करती है तथा राज्य सरकारों का कार्य इस सहायता के बिना चल पाना सभव भी नहीं हो पाता।

प्रश्नः संघीय राज्य में स्वतन्त्रता के सिद्धांत को समझाइये।

19.4.2 पर्याप्तता एवं लोच का सिद्धांत

यह सिद्धांत इस मूल विचार पर आधारित है कि आय के साधन पर्याप्त एवं पूर्णतः लोचदार होने चाहिए। अर्थात सरकार के द्वारा जिन कार्यो को पूरा किया जाना है उसके लिए सरकार के पास साधन उपलब्ध होने आवश्यक हैं। नहीं बल्कि भविष्य के संदर्भ में भी पूर्ण हो।

उदाहरणः किसी भी अनिश्चितता के समय में जैसे कि युद्ध आपदा अकाल, सूखा, दुर्भिक्ष, महामारी के समय में भी सरकार को पर्याप्त आय प्राप्त हो सके, ऐसी वित्त व्यवस्था 'पर्याप्तता' का 'लोच' के अधीन देखी जाएगी।

परिभाषाः डॉ0 भार्गव ने पर्याप्तता और लोच के सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए कहा कि, 'साधनों के विभाजन की योजना एक लोचपूर्ण प्रणाली द्वारा स्थापित होनी चाहिए क्योंकि कोई भी योजना भले ही वह कितनी ही अच्छी क्यों न हो, सब समयों के लिए अच्छी नहीं हो सकती।

यदि देश की परिस्थितियों में बदलाव आ जाए तो पहले से चली आ रही व्यवस्था काम नहीं कर पायेगी जब तक कि उसमें लोचशीलता का गुण न हो। इस कारण संसाधनों के बटवारे या आवण्टन में ऐसे परिवर्तनों की व्यवस्था हो जिन्हें देश के हित हेतु क्रियान्वित किया जाना संभव बने।

व्यवहार में: व्यावहारिक रूप से यह देखा जाता है कि राज्यों को ऐसे आय के साधन दिए जाते हैं जो बेलोच होते है। ऐसे में आय की अपेक्षा बढते हुए व्ययों को समायोजित करना संभव नहीं बन पाता दूसरी ओर केन्द्र सरकार के पास आय आय के लोचदार साधन विद्यमान होते है।

उदाहरण: राज्य सरकार शिक्षा , चिकित्सा, कृषि पर व्यय करती है जो प्रति वर्ष बढते ही जाते हैं जबकि इनके द्वारा राज्य सरकार को प्राप्त होने वाली आया में सापेक्षिक वृद्धि नहीं हो पाती।

19.4.3 एकरूपता का सिद्धान्त

सरकार ऐसे कुछ महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। जो समान रूप से राज्य के लिए भी आवश्यक एवं अनिवार्य होते है। इन कार्यो को सम्पन्न करने के लिए केन्द्र द्वारा राज्यों को समान संसाधनों का वितरण किया जाना चाहिए।

एकरूपता के के सिद्धान्त का मूल विचार यह है कि कार्यो के निष्पादन हेतु संघ की प्रत्येक इकाई द्वारा संघ सरकार को समान अंशदान देना चाहिए।

केन्द्र सरकार वित्त नीतियों का संचालन इस प्रकार करे कि राज्य सरकारों के लिए इसके व्यवहार में एकरूपता रहे। इस हेतु उसे राज्य सरकारों के समस्त नागरिकों पर समान दर से बिना किसी भेदभाव अथवा पक्ष पात के कर लगाना चाहिए।

व्यवहार मे: एकरूपता के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप से लागू करना इस कारण कठिन हो जाता है क्योंकि प्रत्येक राज्य की करदेय क्षमता समान नहीं होती। साथ ही प्रत्येक राज्य की आर्थिक स्थिति एवं जनसंख्या भी असमान होती है।

उदाहरणः विशिष्ट आन्तरिक एवं सुरक्षा कारणों से सरकार जम्मू कश्मीर न पूर्वोत्तर राज्यों को अधिक संसाधनों का आवण्टन करती है। जबकि गुजरात, महाराष्ट्र जैसे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राज्य उत्तराखण्ड, झारखण्ड या पूर्वोत्तर राज्यों की तुलना में सरकार को अधिक भार पड.ता है। प्रायः जिसे वह सहन नहीं कर पाते।

19.4.4 प्रशासनिक कुशलता का सिद्धांत

प्रशासनिक कुशलता के सिद्धांत का मुख्य विचार यह है कि सरकार की वित्त योजना ऐसी हो जिसमें कर वचन एवं घोखे की संभावना न हो साथ ही दोहरे कर से भी बचा जाए।

इसी कारण प्रो0 सैलिगमैन का कथन है कि चाहे कोई योजना कितनी भी सुविचारपूर्ण क्यों न हो एवं यह न्याय के अमूर्त सिद्धांतो से कितना भी मेल क्यों न रखे परन्तु जब तक प्रणाली प्रशासनिक दृष्टि से ठीक काम नहीं करती इसकी सफलता पर संदेह बना रहेगा।

प्रशासनिक कुशलता के सिद्धांत को डॉ0 आर0एन0 भार्गव ने कार्य कुशलता का सिद्धांत कहा है।

प्रो0 अडारकर ने प्रशासनिक कुशलता के सिद्धांत पर अधिक बल दिया है।

सार कम में वित्तीय योजना ऐसी हो जिसमें कर वचना एवं धोखे की गूंजाइश न हो और न ही दोहरे कर की संभावना।

उदाहरणः प्रशासनिक कुशलता के सिद्धांत के अर्न्तगत जो कर अन्तर्राज्यीय स्वरूप का है उसका प्रबंध केन्द्र सरकार को करना चाहिए तथा राज्य सरकार क्षेत्रीय महत्व के करों का प्रबंध करे। अर्थात केन्द्र सरकार आय कर, सीमा-शुल्क तथा उत्पादन शुल्क एकत्रित करे एवं राज्य सरकार मनोरंजन कर, सिचाई कर व स्थानीय निकाय चूंगी एवं भवन कर का दायित्व संभाले।

सावधानीः प्रबंधकीय कुशलता हेतु आवश्यक होगा कि जो राज्य जिस कर को लगाए वही उसको व्यय करे।

19.5 संधीय वित्त की समस्याऐं

संघीय वित्त की मुख्यतः तीन समस्याऐं है।

1. वित्तीय साधनों के अनुरूप कार्यो का विभाजन सम्भव न बन पाना
2. वित्तीय साधनों व कार्यो के मध्य संतुलन में गड़बड़िया उत्पन्न होना
3. अन्य राज्यों की अपेक्षा कुछ राज्यों का आर्थिक दृष्टि से दुर्बल होना।

उपर्युक्त की व्याख्या निम्न है-

19.5.1 कार्यो का विभाजन वित्तीय संसाधनों के अनुरूप किया जाना

संघवाद का मुख्य तत्व यह है कि केन्द्र व क्षेत्रीय सरकार/राज्य सरकार व स्थानीय निकाय संविधान द्वारा सुनिश्चित कार्यो में लगभग एक दूसरे से स्वतन्त्र होते है।

अतः आवश्यक है कि संविधान में जब कार्यो के वितरण को सुनिश्चित किया जाय तब उन कार्यो को सुनिश्चित करने के लिए वित्तीय बटवारा भी निश्चित हो। ऐसे बटवारे में मुख्य बात यह ध्यान में रखी जाए कि प्रत्येक इकाई अर्थात् केन्द्र, राज्य व स्थानिक निकाय को पर्याप्त संसाधन प्रदान किए जाऐं जिससे उन कार्यो को सुचारू रूप से किया जा सकें जिन्हें प्रत्येक इकाई को सौपा गया है।

सारः- संघीय वित्त की समस्या यह है कि कार्यो के अनुरूप वित्तीय संसाधन हो। एक उचित व अनुकूल वित्तीय प्रणाली वह कहीं जाएगी जिसमें संघ, राज्य तथा स्थानिय निकाय अपनी आय प्राप्त करने व व्यय करने में एक दूसरे से स्वतन्त्र हो तथा आय के साधनों में पर्याप्तता का गुण भी विद्यमान हो।

आलोचनाः- किसी भी संघ में केन्द्र व राज्य सरकारों के मध्य निरपेक्ष रूप में स्वतन्त्रता तथा समन्वित स्तर बन नहीं पाता। इसलिए कार्यो का विभाजन स्वतन्त्र रूप् से संभव नहीं हो पाता।

19.5.2 कार्यो एवं साधनों के मध्य संतुलन में बाधा जिसका कारण सामाजिक एवं तकनीकी परिवर्तन है

यह प्रवृति हम स्पष्ट कर चुके है कि संघीय राज्यों में आयः यह देखा जाता है कि केन्द्रीय सरकार के साधनों में धीरे-धीरे कर्मिक वृद्धि होती जाती है परन्तु राज्य सरकारों के साधन अपर्याप्त ही नही रहते बल्कि अपनी स्वतन्त्रता भी खो देते है। चूंकि सरकार के कार्य कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में निहित हैं इसलिए सरकार के दायित्वों का बढते रहना मुख्य प्रवृत्ति बन जाती है ऐसे में व्यय भी बढते जाते है जिसके लिए अधिक धन या पूंजी की आवश्यकता बनी रहती जाते है। जिसके लिए अधिक धन या पूंजी की आवश्यकता बनी रहती है। यदि आय के स्रोत अपर्याप्त हो तो बढे हुए कार्यो के सापेक्ष संतुलन बन पाना संभव नहीं होता।

इस समस्या के सन्दर्भ में प्रो0 डी0आर0 गाडगिल का कथन है कि, 'संघीय राज्यों में आरंभ में प्रायः यह प्रयत्न किया जाता है कि प्रत्येक सत्ता को कार्यो के अनुरूप साधन प्राप्त हो परन्तु समय बीत जाने पर इस बात की कोई गारन्टी नहीं है कि कार्यो के व्यापक अर्थ लगा लेने पर उत्तरदायित्व का विस्तार आय के निर्धारित साधनों को लोच के अनुरूप हो।' अतः एक ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता होती है जो बदलती हुई परिस्थितियों में साधनों का पुर्नवितरण व समन्वय कर सके।

उदाहरण:- साधनों का पुर्नवितरण एवं समन्वय करने के लिए संतुलनकारी उपायो जैसे करों से प्राप्त् आय को राज्यों के साथ बटवारा करके, क्षेत्रीय सरकारों को अनुदान की व्यवस्था करके तथा समवर्ती शक्तियों की व्यवस्था द्वारा संभव है।

व्यावहारिक रूप से भारत के संविधान में संतुलन की ऐसी व्यवस्था के लिए करों से आय को संघ एवं राज्यों के मध्य बांट कर तथा धारा 275 के अधीन केन्द्रीय अनुदानों को प्रदान करते हुए की गई है। जिसकी सिफारिश तित्त आयोग द्वारा समय समय पर की जाती है।

19.5.3 अन्य राज्यों की अपेक्षा कुछ राज्यों का आर्थिक दृष्टि से दुर्बल होना

संघीय ढांचे के अधीन सभी राज्य आर्थिक विकास की दृष्टि से एकरूप नहीं होते। कुछ राज्यों में आर्थिक वृद्धि की दरें उच्च होती है तो कुछ राज्य पीछे रह जाते है। ऐसी असमानता से अनेक समस्योऐ उत्पन्न होती है। प्रत्येक संघ में ऐसी विषमताओं को कम करने का प्रयास किया जाता है। इस हेतु संघ द्वारा पिछड़े राज्यों को अनुदान दिए जाते है।

उदाहरण- भारत में राज्यों के मध्य दिख रही असमानता को दूर करने के लिए वित्त आयोग कर-आय विभाजन की तथा राज्यों को अनुदान देने की संस्तुति प्रदान करता है।

19.6 सारांश

इस अध्याय में हमने यह स्पष्ट किया है वित्त व्यवस्था दो प्रकार की होती है 1. एकात्मक वित्त तथा 2. संघीय वित्त। एकात्मक वित्त के अर्न्तगत देश की सम्पूर्ण मदों पर केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय किया जाता है जबकि संघीय वित्त के अधीन आय-व्यय की समस्त मदों को केन्द्र, राज्य व स्थानिक निकायों में बाट दिया जाता है।

संघीय वित्त के सिद्धांत मुख्यतः चार आधारभूत अवधारणाओं पर आधारित रहता है जिन्हें स्वतन्त्रता, पर्याप्तता एवं लोच, एकरूपता व प्रशासनिक कुशलता में बांटा जाता है संघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धांतों एवं संघीय वित्त की समस्याओं पर विचार किया। संक्षेप में संघीय वित्त के चार सिद्धान्त है।

1. स्वतन्त्रता का सिद्धांत
2. पर्याप्तता व लोच का सिद्धांत
3. एकरूपता का सिद्धांत
4. प्रशासनिक कुशलता का सिद्धांत

संघीय वित्त की समस्याऐ मुख्यतः वित्तीय साधनों के अनुरूप कार्यो के विभाजन कार्यो व साधनों के बीच संतुलन में भावी सामाजिक व तकनीकी परिवर्तनों के कारण विघ्न उत्पन्न होना तथा कुछ राज्यों का अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक निर्धन होना है।

19.7 शब्दावली

लोक व्यय- सरकारों द्वारा किये जाने वाला व्यय ही सामान्य रूप से लोक व्यय कहा जाता है। यह धनराशि जनता से प्राप्त की जाती है तथा जनता पर ही खर्च की जाती है।

लोक सत्ता- लोक सत्ता से सामान्य तात्पर्य राष्ट्र या राज्यों की सरकारों से है जिनका चयन या चुनाव जनता द्वारा किया जाता है।

19.8 सन्द्रर्भ ग्रन्थ सूची

- डॉ. एस. के. सिंह ,लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- डॉ. जे.सी. पन्त एवं प्रो. चन्द्रशेखर जोशी लोक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा
- डॉ. एस.के. सिंह एवं डॉ. जे.पी. मिश्र ,राजस्व एवं रोजगार के सिद्धान्त, साहित्य भवन आगरा
- प्रो. एस.एन. लाल एवं एस.के. लाल ,लोक वित्त, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद

● डॉ. जे.पी. मिश्र ,लोक वित्त एवं रोजगार सिद्धान्त विजडम बुक्स, वाराणसी

19.9 सहायक उपयोगी अध्ययन सामग्री

- भाटिया, एच0एल (2006)–लोक वित्त (Public Finance), विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0 जंगपुरा, नई दिल्ली।
- पंत, जे0सी0 (2005)–राजस्व (Public Finance),लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
- 3. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997)– राजस्व, साहित्य भवन पब्लिकेशन हास्पीटल रोड, आगरा।
- सिंह, एस0के0 (2013)–लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

19.10 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. केन्द्र सरकार व राज्य सरकार के बीच कार्यो के विभाजन का आधार क्या है?

प्रश्न 2. एकात्मक वित्त व संघीय वित्त को समझाऐ।

प्रश्न 3. संघीय वित्त की परिभाषा दें।

प्रश्न 4. पर्याप्तता एवं चोच के सिद्धांत का स्पष्ट करे।

प्रश्न 5. प्रशासनिक कुशलता के सिद्धांत को संक्षेप में समझाऐं।

प्रश्न 6.प्रशासनिक कुशलता के सिद्धांत किन दशाओं में सार्थक होगा?

प्रश्न 7. केन्द्र राज्य व स्थानिक स्तर पर प्रशासनिक कुशलता के सिद्धांत के अधीन कौन से कर लगाने उचित रहेंगे।

प्रश्न 8. सामाजिक व तकनीकी करणों से आय-व्यय के असंतुलन में समायोजन के उपाय क्या है? संक्षेप में समझाएं।

प्रश्न 9. संघीय वित्त में कार्यो का विभाजन वित्तीय साधनों के अनुरूप क्यों नहीं होता। संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

प्रश्न 10. संघीय वित्त के मुख्य सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 11. आर्थिक असमानता के निवारण हेतु संघीय वित्त द्वारा कौन सा उपाय सर्वप्रचलित है? बतलाइये।

इकाई 20 संघीय वित्त का विभाजन एवं कार्यकरण

इकाई संरचना

20.1 प्रस्तावना

20.2 उददेश्य

20.3 संघीय वित्त का विभाजन एवं कार्यकरण

20.4 कर साधनों की पृथकता तथा कर आय को केन्द्र व प्रान्तों में विभाजित करने की व्यवस्था

20.5 वित्तीय समायोजन की आवश्यकता

20.6 केन्द्र व राज्य सरकारों के आय के स्रोत

20.7 संतुलन के घटक

20.8 वित्त आयोग की आवश्यकता

20.9 कर आय का विभाजन

20.10 अनुपूरक कर

20.11 केन्द्र को राज्यों के अनुदान

20.12 संघीय अनुदान

20.13 सारांश

20.14 शब्दावली

20.15 सन्द्रर्भ ग्रन्थ सूची

20.16 सहायक उपयोगी अध्ययन सामग्री

20.17 निबंधात्मक प्रश्न

20.1 प्रस्तावना

आप पिछली इकाई 19 में आप संघीय वित के प्रकार- एकात्मक वित्त एवं संघीय वित्तए संघीय वित के सिद्धांत और संधीय वित्त की समस्याओं को जान चुके हैं। इस इकाई 20 में आप संघीय वित्त का विभाजन एवं कार्याकरण, वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता,कर साधनों की पृथकता तथा कर आय को केन्द्र व प्रान्तों में विभाजित करने की व्यवस्था एवं वित्तीय समायोजन की आवश्यकता और केन्द्र व राज्य सरकारों के आय के स्रोत, वित्त आयोग की आवश्यकता को जानेगें।

20.2 उददेश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि-

- संघीय वित्त का विभाजन एवं कार्यकरण का क्या आशय है।
- वित्तीय समायोजन की आवश्यकता को समझ सकेगें।
- वित्तीय समायोजन की आवश्यकता को जान पायेगें।
- कर आय का विभाजन को समझ सकेगें।
- अनुपूरक कर और केन्द्र को राज्यों के अनुदान को जान पायेगें।

20.3 संघीय वित्त का विभाजन एवं कार्यकरण

केन्द्र एवं राज्यों के मध्य वित्तीय साधनों का विभाजन अत्यंत महत्वपूर्ण है। संघीय वित्त का विभाजन एक कठिन समस्या है। भारतीय संविधान में इस समस्या का समाधान केन्द्र एवं प्रान्तों के वित्तीय सम्बन्ध 1935 के एक्ट के अनुरूप रख कर किया गया।इस प्रतियप या मॉडल के अनुसार संविधानने केन्द्र एवं राज्यों के वित्तीय साधनों में जितनी पृथकता लाई जा सकती थी उतनी लाने का प्रयत्न किया। 1935 के एक्ट की भांति भारत के संविधान में कर साधनों की पृथकता तथा कर आय बडे केन्द्र तथा प्रान्तों में बटवारे दोनों की व्यवस्था की गयी। इस अध्याय में हम संघीय वित्त के विभाजन व कार्य करण को समझेगे।

20.3.1 साधनोंका बटवारा:केन्द्र व राज्य सरकारों को विकास कार्यो के हेतु वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता होता है। संघीय शासन प्रणाली के सामने यह समस्या आती है कि कौन से साधन संघ सरकार के पास रहे तथा कौन से साधन राज्य सरकार के पास।

एक विकल्प यह हो सकता है कि समस्त साधन संघ सरकार के पास ही रहे तथा वह इन संसाधनों से प्राप्त आय का कुछ भाग राज्यों को दे दे। परन्तु ऐसा होने पर वित्तीय मामलों में स्वतन्त्रता सामप्त हो जाएगी तथा राज्य सरकारे पूरे तरीके से केन्द्र पर आश्रित हो जाऐंगी।

समस्या का समाधान तभी हो सकता है जबकि केन्द्र व राज्य सरकारों को जो आय के साधन सौपे जाऐं उनका मुख्य आधार सामान्य तथा वैसा ही होना चाहिए जैसा कि उनके कार्यो का विभाजन होता है।

20.4 कर साधनों की पृथकता तथा कर आय को केन्द्र व प्रान्तों में विभाजित करने की व्यवस्था

जैसे कि हमने पहले ही स्पष्ट किया है कि संघीय वित्त का विभाजन एक कठिन समस्या है। जिसका समाधान भारतीय संविधान में 1935 के एक्ट के अनुरूप किया गया। अर्थात् 1935 के एक्ट के अनुरूप किया गया।

अर्थात् 1935के एक्ट की भांति भारत के संविधान में कर साधनों की पृथकता तथा कर आय को केन्द्र तथा प्रान्तों में बटवारे दोनो की ही व्यवस्था है।

राज्यों के अधिकार में करों की सूची कुछ नए करों के संघ लगभग वही है जैसे कि 1935 में थी। इसके साथ ही जैसा 1935 के एक्ट में था उसी प्रकार संविधान,आयकर तथा संघीय उत्पादन शुल्क से प्राप्त आय को केन्द्र व प्रान्तों में बांटने की व्यवस्था करता है परन्तु दो महत्वपूर्ण अंतर विद्यमान हैं।

पहला अंतर यह कि 1935 के एक्ट में अवशिष्ट शक्तियों के बंटवारे को गर्वनर-जनरल को सौप दिया गया था, संविधान ने इसे केन्द्र को सौप दिया।

दूसरा अंतर यह कि ,संविधान में वित्त आयोगकी व्यवस्था की गई जब संविधान निर्माता सभा के द्वारा स्वतन्तत्र भारत के संविधान को अंतिम रूप दिया जा रहा था तभी विभिन्न रियासते भी भारतीय संघ में सम्मिलित हो गई । संविधाननिर्माताओं ने केन्द्र व राज्यों के मध्य वित्तीय संसाधनों के बटवारे पर विशेष ध्यान दिया।

एक ओर सुदृढ केन्द्र की इच्छा थी तो दूसरी ओर राज्यों की स्वायत्तता भी महत्वपूर्ण थी। इस पक्ष को के 0 संघानम व विश्वनाथ दास ने प्रमुख्ता से सामने रखा।

20.5 वित्तीय समायोजन की आवश्यकता

संघीय शासन व्यवस्था में यह प्रयास किया किया जाता है कि संघ तथा राज्य के मध्य आय के साधनों का वितरण इस प्रकार किया जाय कि प्रत्येक इकाई आत्मनिर्भर बन जाए तथा अपनी आवश्यकता के अनुरूप आय की प्राप्ति करे। परन्तु वित्तीय साधनों को इस प्रकार विभाजित करना कठिन होता है कि वह प्रत्येक इकाई की आवश्यकता के अनुरूप हो।

व्यवहार में सरकार की आवश्यकता व वित्तीय साधनों में संतुलन नही हों पाता। प्राय यह देखा जाता है कि एक इकाई के पास वित्त की अधिकता हो तो दूसरे को वित्त प्राप्ति में कठिनाइयों का सामना करना पडे।

राज्यों की सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में अन्तर होता है इसलिए एक ही आगम स्रोत से एक राज्य अधिक आय प्राप्त कर लेता है तो दूसरा इसके सापेक्षे कम आय प्राप्त कर पाता है।

फिर यह भी दृष्टव्य है कि संघ सरकार अपने पास आय के लोचदार साधन रखती है जबिक व्यय की लोचपूर्ण मदें राज्य सरकारो के पास होती है। इन सब कारणों से वित्तीय साधनों में समायोजन आवश्यक होती है।

प्रश्न :- राज्य के मध्य वित्तीय साधनों में समायोजन की आवश्यकता के कारण बललाइये।

20.6 केन्द्र व राज्य सरकारों के आय के स्रोत

1935 के एक्ट के अनुसार

1. केन्द्रीय सरकार के आय स्रोत :- सामान्यत: केन्द्र सरकार के आय स्रोत आरम्भ में 12 कर साधन नियत किए गए। लेकिन इनमें से कुछ ही ऐसे है जिनकी आय केवल केन्द्र को प्राप्त् होती है।

(1) आय कर (कृषि आय को छोड कर)

(2) सीमा शुल्क (जिसमें निर्यात शुल्क शामिल है)

(3) उत्पादन शुल्क (शराब, अफीम को छोड कर)

(4) निगम कर

(5) आस्ति कर (कृषि भूमि को छोड कर अन्य सम्यक्ति।
(6) पूंजी कर
(7) उत्तराधिकार कर
(8) रेलो द्वारा लो जाए गए सामान व यात्रियों पर सीमांत कर
(9) स्टाक एक्सचेंज में लेने- देने पर स्टाम्प शुल्क
(10) विनिमय पत्र, चैक इत्यादि पर स्टाम्प शुल्क
(11) समाचार पत्रों के क्रय विक्रय एवं प्रकाशित विज्ञापनों पर कर,, तथा
(12) समाचार पत्रों को छोड कर अन्तर-राज्य व्यापार में हो।
2. राज्य सरकारों के आय के स्रोत निम्नांकित कर-साधन राज्यों के अधिकार में रखे गए:
(1) मालगुजारी
(2) कुषि आय पर कर
(3) कृषि –भूमि के उत्तराधिकार पर शुल्क
(4) कृषि –भूमि के संदर्भ में अस्त्रि कर
(5) भूमि –भवन कर
(6) खनिज अधिकारों पर कर
(7) शराब, अफीम इत्यादि मादक पदार्थो पर उत्पादन कर
(8) स्थानीय क्षेत्र में उपभोग अथवा बिक्रीहेतु आई वस्तुओं पर कर
(9) बिजली के उपभोग पर कृषिक्रमी व विक्री पर कर
(10) समाचार पत्रों को छोड कर अन्य वस्तुओ की बिक्री पर कर,
(11) सड़क अथवा आंतरिक जल-परिवहन के द्वारा ले जाए गए माल अथवा यात्री पर कर
(12) सड़को पर चलने वाले वाहनों पर कर
(13) जानवरों तथा नावों पर कर
(14) चुंगी (toll)
(15) व्यवसाय कर
(16) विलासिता कर (जिनमें मनोरंजन कर, जुआकर सम्मिलित है)
(17) प्रलेखों पर स्टाम्प शुल्क ,तथा
(18) कोर्ट फीस के अतिरिक्त राज्य के अन्य कार्यो के लिए फीस
उपर्युक्त सूची से निम्न तथ्य स्पष्ट होते है।
(i) केवल सीमा शुल्क जिसमें (निर्यात शुल्क शामिल है) निगम कर, एवं पूंजी कर ही ऐसे कर हैं जिनकी सम्पूर्ण आय के केन्द्र सरकार के पास रहती है।
(ii)आय कर केन्द्र सरकार लगाती तथा वसूल करती है। इस कर से प्राप्त आय को केन्द्र व राज्यों में बांटा जाता है। उत्पादन कर (राज्यों द्वारालगाए जाने वाले उत्पादन कर को छोडकर) केन्द्र सरकार द्वारा लगाया जाएगा तथा राज्यों को भी इसका एक मांग प्राप्त होगा, यदि संसद ऐसा करना सुनिश्चित करे।

(iii) कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें केन्द्र के द्वारा लगाया एवं एकत्रित किया जाता है परन्तु इनसे प्राप्त सम्पूर्ण आय को संसद द्वारा नियमानुरूप राज्यों में वितरित कर दिया जाताहै इन करों में मुख्य हैं।

(a) आस्ति कर

(b) उत्तराधिकार कर

(c) यात्रियों तथा सामान पर सीमांत कर

(d) रेल भाडे पर कर

(e) स्टाक एवसचेंज में लेन-देन पर लगे स्टाम्प शुल्क को छोड कर अन्य कर

(f) समाचार पत्रों के क्रय विक्रय पर कर तथा

(g) अर्न्तराज्यीय व्यापार पर कर

(iv) ऐसे कर जो केन्द्र द्वारा लगाए जाते है परन्तु राज्यों द्वारा एकत्रित किए जाते हैं व रख लिये जाते हैं जैसे स्टाम्प शुल्क एवं औषधीय एवं प्रसाधन सामग्री पर उत्पादन शुल्क ।

20.7 संतुलन के घटक

संविधान निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से ध्यान में रखा कि राज्यों के पास सामाजिक सेवा व कल्याणकारी कार्यो का उत्तरदायित्व है जिन्हें पूर्ण करने के लिए उनके पास साधन अपर्याप्त होंगे। अत: निम्न व्यवस्था की गई।

(अ) कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय पर लगने वाले करों व संघीय उत्पादन करों से प्राप्त आय को संघ व राज्य सरकारों में वितरित करने की व्यवस्था है।

(ब) केन्द्र सरकार की ओर से राज्य सरकारों को सहायक अनुदान देने की व्यवस्था की गई है ये अनुदान उन राज्यों को प्रदान किये जाते है जिन्हें सहायता की आवश्यकता होती है। अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए भी अनुदान दिए जाते है।

(स) संघ सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह अधिभार लगाकर ऐसे किसी भी कर में वृद्धि कर सकती है जिससे प्राप्त आय का कुछ माग राज्यों में वितरित होता है। इन अधिकारों से प्राप्त संपूर्ण आय का उपभोग करने का अधिकार संघ सरकार को दिया गया है।

20.8 वित्त आयोग की आवश्यकता

साधनों का बटवारा उनके कार्यो तथा दायित्वों के अनुकूल कर पाना प्राय: किसी भी संघ द्वारा संभव नहीं होता। संघ तथा राज्यों के बीच बंटवारें की विशद एवं व्यापक व्यवस्था को देखते हुए संविधान निर्माताओं ने महसूस किया कि संसाधनों का बंटवारा सब परिस्थितियों व सब समयों में संतोषजनक नहीं रह सकता।

इस बात को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान के एक स्वतन्त्र एजेंसी की स्थापना की गई जिसकी सिफारिश पर संघीयसाधनों के कुछ भाग को राज्यों को दिया जाना संभव बने । यह एजेंसी ही वित्त प्रयोग (finance Commission) है।

वित्त आयोग एक ऐसी संस्था है जिसे आय कर तथा संघीय उत्पादन कर की आप के विभाजन के अतिरिक्त , राज्यों को सामान्य तथा विशिष्ट अनुदानों की सिफारिश करने का भी अधिकार प्राप्त है। स्पष्ट है कि वित्त आयोग के प्रावधान का अभिप्राय राज्यों को आश्वस्त करने के लिये किया गया था कि वितरण की योजना संघ द्वारा स्वेच्छा

से नहीं बनाई जाएगी वरन एक स्वतन्त्र आयोग द्वारा बनाई जाएगी जो राज्यों की बदलती हुई आवश्यकताओं को आंकेगा।

वित्त आयोग की संरचना व कार्य करण को इकाई 20 में विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

वित्तीय समाजयोजन का विभाजन एवं कार्यकरण: वित्तीय सवायोजन निम्न प्रकार किया जाता है।

1. कर आय का विभाजन
2. अनुपूरक कर
3. केन्द्र को राज्यों के अनुदान
4. संघीय अनुदान।

उपर्युक्त विभाजन एवं कार्यकरण के स्वरूप की व्याख्या निम्नांकित है:

20.9 कर आय का विभाजन

संघीय वित्त के सिद्धांत एवं समस्याओं का अध्ययन करते हुए हमने स्पष्ट किया कि कुछ कर सुविधा की दृष्टि से केन्द्र सरकार द्वारा लगाए एवं एकत्रित किये जाते है परन्तु प्राप्त आय का कुछ भाग राज्य सरकारों को प्रदान किया जाता है। इस विधि को तब अपनाया जाता है जब किसी कर साधन से प्राप्त आय काफी अधिक हो।

उदाहरण: भारत में आय कर केन्द्र अगाया एवं एकवित्त किया जाता है परन्तु उसकी आय का एक भाग राज्यों में बांट दिया जाता है।

राज्यों के मध्य कर आय का वितरण अनेक आधारों पर किया जा सकते है। जिनमें मुख्य निम्न है।

(i) राज्य की जनसंख्या
(ii) राज्य से एकत्रित धनराशि
(iii) राज्य की कर देय क्षमता
(iv) राज्य की औद्योगिक प्रगति
(v) राज्य का क्षेत्रफल

कर आय का विभाजन उपर्युक्त में से एक अथवा अधिक आधारों पर किया जा सकता है।

व्यावहारिक कठिनाइयां : सामान्य रूप से यह विभाजन काफी सरल प्रतीत होता है परन्तु इसे लागू करने में कई व्यावहारिक कठिनाइयां आती है जो निम्नांकित हैं।

1. यदि सरकार द्वारा मात्र करों को प्राप्त किया जाय व प्राप्त आय को राज्यों में बांट दिया जाय तो वह करों को एकत्रित करने में रूचि नहीं लेगी।
2. यदि प्राप्त कर आय में उसका भाग पूर्व निश्चित हो तब उसकी रूचि और कम हो जाएगी।
3. संघ द्वारा एकत्रित धनराशि में से अधिकाधिक हिस्सा प्राप्त करने के लिए राज्यों में प्रतिस्पद्धी बढ जाती है।
4. कर आय के विभाजन में चाहे कोई भी आधार लिया जाए कुछ राज्य हमेशा इस वितरण से असंतुष्ट रहेंगे। जिन राज्यों में जनसंख्या का आधिक्य है वह जनसंख्या को आधार बनाना चाहेंगे जबकि विकसित राज्य हर राज्य में वसूल की जानी वाली धनराशिको आधार बनाना चाहेगे।

निष्कर्ष: प्रत्येक राज्य को न्याय संगत भाग की प्राप्ति हो, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ओर स्थायी आधार वांछनीय है तो दूसरी ओर ऐसी व्यवस्था को अपनाना आवश्यक है जिसके द्वारा सामाजिक व आर्थिक

परिस्थितियों के बदल जाने पर समायोजन किया जा सके। भारत में यह व्यवस्था वित्त आयोग के द्वारा संभव बनाई गई है।

20.10 अनुपूरक कर

समायोजन को दूसरी विधि अनुपूरक कर है। कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाए जाते है परन्तु राज्य सरकारअपने उपयोगके लिए उन पर कुछ अतिरिक्त कर लगा देती है। इस प्रकारराज्य कुछ अतिरिक्त साधन प्राप्त् कर लेते हैं। करदाता भी केन्द्र व राज्य को अलग-अलग कर अदा नहीं करता बल्कि एक साथ ही कर देता है।

20.10.1 अनुपूरक कर की दुर्बलता: अनुपूरक कर की विधि की दुर्बलता यह है कि कर का आधार तो एक हो रहता है परन्तु जब कर एक से अधिक लगते है तो कर का भारत अधिक हो जाता है। कर भार अधिक होने का बुरा प्रभाव उत्पादन, बचत एवं वितरण पर पडताहै। जिससे अंतत: उत्पादकता व आय प्रभावित होती है।

20.11 केन्द्र को राज्यों के अनुदान :- संघीय वित्त के क्रियान्वयन की तीसरी पद्यति यह है कि राज्य केन्द्र को अंशदान दे। भारत में 1919के संविधान में केन्द्र सरकार हेतु प्रान्तीय अंशदानों की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में केन्द्र सरकार अपनी आय के बडे हिस्से के लिए राज्यों पर आश्रित होती।

दुर्बलता:- केन्द्र सरकार जब अपनी आय के बहुल भाग हेतु राज्यों पर निर्भर रहे तब यह संभावना बनी रहती है कि अनेक राष्ट्रीय कार्यो हेतु वित्त की कमी से जूझना पडे। संकट काल जैसे युद्ध तथा अन्य आपदाओं में यह व्यव्स्था जोखिम पूर्ण हो सकती है इसलिए यह व्यावहारिक नहीं है।

प्रश्न:- केन्द्र को राज्यों के अनुदान पर निर्भरता जोखिम पूर्ण है। क्या इस कथन से आप सहमत है।समझाइये।

20.12 संघीय अनुदान

संघीय वित्त के विभाजन में संघीय अनुदानकी पद्यति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। व्यवहार में यह देखा गया है कि आय की महत्वपूर्ण व लोचदार मदें राज्य सरकार के पास। ऐसे में यह उचित है कि संघ सरकारों को दिए गए अनुदान से राज्यों के पास अपर्याप्त आय की समस्या का निराकरण होता है। इस प्रकार उनकी वित्त व्यवस्था में सुधार आता है।

केन्द्र द्वारा दिए गए अनुदान दो प्रकार के होते है:

1. शर्त सहित एवं शर्त रहित।
2. स्थिर अथवा अस्थिर।

1. शर्त सहित या सशर्त अनुदान केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को किसी विशेष योजना के लिए प्रदान किए जाते है। दूसरी तरफ शर्त रहित अनुदान का उदाहरण है पिछडे राज्यों को शिक्षा सडक परिवाहन नहर व सिचाई के अन्य साधनों,अन्तर्सरचना, कृषि व उद्योग इत्यादि के लिए प्रदान किए जाने वाली सहायता।

केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य के दी गई अनुदानराशि के व्यय का नियंत्रण एवं निरीक्षण किया जाता है जिसका उद्देश्य धन के दुरूपयोग पर नियंत्रण लगाने है।

20.12.1 कठिनाई:- शर्त रहित अनुदान प्रदान करने में केन्द्र सरकार के सम्मुख यह कठिनाई आती है कि विभिन्न राज्यों के हिस्से का निर्धारण किस प्रकार किया जाए।

20.12.2 समाधान:- विभिन्न राज्यों के हिस्से के निर्धारण के लिए आवश्यक मापदण्ड जैसे जनसंख्या , सामूहिक सम्पत्ति, क्षेत्रों का पिछडापन व राज्यो की आवश्यकता को मुख्यत: ध्यान में रखा जाए। इन सभी तत्वों को आधार बनाना तो जटिल है इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से एक या दो मापदण्डों को आधार बनाया जाता है।

20.13 सारांश

इस खण्ड में हमने संघीय वित्त के विभाजन एवं कार्यकरण के विषय में जानकारी प्राप्त की। हमने स्पष्ट रूप से समझा कि संघीय वित्त में संसाधनों के बटवारेकी समस्या महत्वपूर्ण है। इसके लिए वित्तीय समायोजन की आवश्यकता पडती है। 1935 के एक्ट एवं संविधान के अर्न्तगत केन्द्रीयसरकार व राज्य सरकारोंके आय के स्रोत निर्दिष्ट किए गऐ। संतुलन बनाए रखने के लिए उपयुक्त व्यवस्था की गई। भारतीय संविधानसे एक स्वतन्त्र एजेंसी की स्थापना की गई जिसकी सिफारिश पर संघीय साधनों के कुछ भाग को राज्यों को दिया जा सके। इसका संस्थागत रूप वित्त आयोग है।

वित्तीय समायोजन के चार मुख्य तरीके है पहला कर-आय का विभाजन, दूसरा अनुपुरक कर तीसरा केन्द्र को राज्यों के अनुदानव चौथा संघीय अनुदान।

20.14 शब्दावली

- वितरणीय असमानताएँ - समाज के मध्य राष्ट्रीय आय का असमान वितरण।
- संसाधनों का आवंटन - उत्पादन कार्य के लिए साधनों को उचित रूप में बँटवारा करना।
- कर राजस्व - करारोपण के उपरान्त प्राप्त धनराशि को कर राजस्व कहा जाता है

20.15 सन्द्रर्भ ग्रन्थ सूची

- डॉ. एस. के. सिंह ,लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- डॉ. जे.सी. पन्त एवं प्रो. चन्द्रशेखर जोशी लोक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा
- डॉ. एस.के. सिंह एवं डॉ. जे.पी. मिश्र,राजस्व एवं रोजगार के सिद्धान्त, साहित्य भवन आगरा
- प्रो. एस.एन. लाल एवं एस.के. लाल ,लोक वित्त, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद
- डॉ. जे.पी. मिश्र ,लोक वित्त एवं रोजगार सिद्धान्त विजडम बुक्स, वाराणसी

20.16 सहायक उपयोगी अध्ययन सामग्री

- भाटिया, एच0एल (2006)-लोक वित्त , विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0 जंगपुरा, नई दिल्ली।

- पंत, जे0सी0 (2005)राजस्व ,लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
- वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997)-राजस्व, साहित्य भवन पब्लिकेशन हास्पीटल रोड, आगरा।
- सिंह, एस0के0 (2013)-लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

20.17 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न:- 1 अनुपूरक कर से क्या तात्पर्य है। संक्षेप में स्पष्ट करे।

प्रश्न:-2 अनुपूरक कर की दुर्बलताऐं या दोष क्या है ? समझाऐं।

प्रश्न: 3 संघीय वित्त के विभाजन एवं कार्यकरण की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न:4 वित्तीय समायोजन किस प्रकार संभव है ? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न:5 संघीय वित्त की मुख्य समस्या साधनों का बंटवारा है। इसे किस प्रकार सुलझाया जाता है।

प्रश्न:6 कर आय का विभाजन राज्यों के मध्य किन आधारों पर किया जाता है?

प्रश्न:7 कर आय के वितरण की व्यावहारिक परेशानियां का है ? संक्षेप में समझाऐ।

इकाई 21 वित्त आयोग संरचना एवं कार्यकरण

इकाई संरचना

21.1 प्रस्तावना

21.2 उददेश्य

21.3 वित्त आयोग की स्थापना

21.4 वित्त आयोग की संरचना

21.5 वित्त आयोग की कुछ कार्य प्रवृतियां

21.6 अब तक गठित वित्त आयोग

21.7 वित्त–आयोग की भूमिका

21.8 वित्त–आयोग की कार्य–प्रणाली

21.9 वित्त आयोग की सिफारिशों का क्रियान्वयन

21.9.1 आयकर के सन्दर्भ में वित्त आयोग की सिफारिशें

21.9.2 केन्द्रीय उत्पाद कर और सम्पदा शुल्क के सन्दर्भ में वित्त आयोग की सिफारिशें

21.10 वित्त आयोग के संगठन और कार्यात्मकता में विभिन्न तरह की कमियां

21.11वित्त आयोग को बेहतर प्रभावी बनाने के संबंध में सुझाव

21.12 सारांश

21.13 शब्दवली

21.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

21.15 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

21.14 निबन्धात्मक प्रश्न

21.1 प्रस्तावना

आप पिछली इकाई 19 में संघीय वित ,उसके प्रकार एवं संघीय वित के सिद्धांत को जाना । इकाई 20 में संघीय वित्त का विभाजन एवं कार्यकरण , कर साधनों की पृथकता तथा कर आय को केन्द्र व प्रान्तों में विभाजित करने की व्यन्वस्था ,वित्तीय समायोजन की आवश्याकता को जाना।

इस इकाई 21 में वित्त आयोग की स्थापना, संरचना कार्य ,प्रवृतियां और अब तक गठित वित्त आयोग उनकी सिफारिशों को जानेगें। वित्त आयोग के संगठन और कार्यात्मकता में विभिन्न तरह की कमियां उनको बेहतर प्रभावी बनाने के संबंध में सुझाव दे सकेगें।

21.2 उददेश्य

इस इकाई के अध्ययन के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं –

- वित्त आयोग की स्थापना, संरचना कार्य ,प्रवृतियों को जानना।
- वित्त–आयोग की कार्य–प्रणाली को बता सकेगें।
- अब तक गठित वित्त आयोग की भूमिका, कार्य–प्रणाली और सिफारिशों के क्रियान्वयन को समझ सकेगें ।
- वित्त आयोग के संगठन और कार्यात्मकता में विभिन्न तरह की कमियां उनको बेहतर प्रभावी बनाने के संबंध में सुझाव को जान सकेगें ।

21.3 वित्त आयोग की स्थापना (Establishment of Finance Commission)

भारतीय संविधान की धारा 280 के अन्तर्गत वित्त आयोग के गठन की व्यवस्था है। धारा 280 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद या यदि आवश्यक हो तो इसके पहले, राष्ट्रपति वित्त आयोग का गठन करेंगे। जिसमें एक अध्यक्ष के अतिरिक्त 4 सदस्य होने चाहिए। धारा 280 (3) के अन्तर्गत सामान्यतया वित्त आयोग निम्नांकित बातों के सन्दर्भ में राष्ट्रपति को अपनी संस्तुति देगा–

(अ) संविधान के द्वारा निर्धारित केन्द्र तथा राज्यों के बीच वितरित किए जाने वाले करों एवं वितरित किए जा सकने वाले करों की निवल प्राप्ति के बंटवारे के सन्दर्भ में संस्तुति करना।

(ब) भारतीय समेकित निधि में से राज्यों को दिए जाने वाले सहायता अनुदान के सन्दर्भ में संस्तुति करना।

(स) एक अच्छी सुदृढ़ वित्त के हित में अन्य विषय जिस पर राष्ट्रपति वित्त आयोग की संस्तुति प्राप्त करना चाहे, संस्तुति देना।

21.4 वित्त आयोग की संरचना

वित्त आयोग की संरचना निम्नवत है–

1. अध्यक्ष ऐसे व्यक्तियों में से चुना जाता है, जिसको लोक कार्यों का अनुभव हो ।
2. एक सदस्य ऐसे व्यक्तियों में से चुना जाता है, जो कि उच्च न्यायालय का न्यायधीश रहा हो या उच्च न्यायालय का न्यायालय में न्यायधीश नियुक्त किए जाने योग्यता रखता हो।

3. वित्त और लेखा की विशेष जानकारी रखने वाला व्यक्ति हो।
4. एक सदस्य वित्तीय विषय और प्रशासन का अनुभव रखने वाला व्यक्ति।
5. एक सदस्य अर्थव्यवस्था और अर्थशास्त्र की जानकारी रखने वाला होगा।

यदि व्यय के सम्बन्ध में और राज्यों को ऋण देने के सम्बन्ध में एक निष्पक्ष और स्वतंत्र आधार पर बेहतर विशेषज्ञता पूर्वक इनका अध्ययन किया जाए तो यह अनुदान और ऋण सम्बंधी अनुमतियां बेहतर निष्पक्ष रूप से राज्यों को दी जा सकती है।

राष्ट्रीय वित्त आयोग और राष्ट्रीय नियोजन तत्रं दोनो को ही बेहतर रूप से प्रशासनिक और विशेषज्ञ तंत्र देते हुए इनके आपसी संर्पक को बेहतर बनाया जाना आवश्यक है।

वित्त आयोग में अध्यक्ष और अन्य सदस्यो की नियुक्तियों के सबंध में उपर्युक्त आर्हता और विशेषज्ञता को ध्यान में रखा जाना आवश्यक और राजनीतिक कारकों को कम किया जाना या हटाया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त राज्य की सरकारों को स्थानीय संस्थाओं को धन उपलब्ध कराना होता है। अतः राज्य हमेशा धन की कमी महसूस करते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि राज्य सरकारें अपने वित्तीय साधनों का अचित दोहन नहीं करती हैं। इसलिए राज्य सरकारें प्रायः वित्तीय संकट से ग्रस्त रहती हैं और आर्थिक सहायता के लिए केन्द्र पर निर्भर रहती हैं। अतः केन्द्र और राज्यों में आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए वित्त–आयोग की स्थापना एक आनिवार्यता थी। वित्त–आयोग केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के वित्तीय संसाधनों को नियमित, समन्वित एवं एकीकृत करने का महत्वपूर्ण संगठन है। निस्सन्देह इस दिशा में आयोग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

वित्त–आयोग को अधिक प्रभावी बनाने के लिए सरकारिया आयोग ने सुझाव दिया है कि योजना आयोग में वित्त–आयोग प्रकोष्ठ स्थापित किया जाना चाहिए तथा उसे मजबूत बनाया जाना चाहिए। आयोग के सुझाव के अनुसार यदि प्रकोष्ठ योजना आयोग के वित्तीय संसाधन प्रभारी के अधीन कार्य करता है तो योजना और वित्त–आयोग के बीच अधिक समन्वय हो सकेगा। इसके अतिरिक्त वित्त–आयोग को देश के विभिन्न भागों में विशेषज्ञ नियुक्त करने चाहिए।

73वें संविधान संशोधन के द्वारा यह प्रावधान बनाया गया कि राष्ट्रीय वित्त आयोग, राज्य वित्त आयोग की सिफारिशों को ध्यान में हुए यह सुझाव दे कि राज्यों की संचित विधि को कैसे सुदृढ़ किया जाए ताकि राज्य में ग्रामीण तथा स्थानीय सरकारों की वित्तीय व्यवस्था एवं स्थिति को सुदृढ़ बनाया जा सके।

74वें संविधान संशोधन के द्वारा यह प्रावधान बनाया गया कि राष्ट्रीय वित्त आयोग राज्य वित्त आयोगों की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए यह सुझाव दे कि राज्य के संचित निधि को कैसे सुदृढ़ किया जाए ताकि शहरी स्थानीय सरकारों की वित्तीय स्थिति को बेहतर बनाया जाए।

21.5 वित्त आयोग की कुछ कार्य प्रवृतियां

वित्त आयोग की कार्य प्रवृतियां निम्न है–

1. वित्त आयोग की सूचनाआं के संबंध में काफी ज्यादा स्तर तक निर्भरता सघं स्तरीय और राज्य स्तरीय प्रशासनिक तंत्र पर।
2. राष्ट्रीय वित्त आयोग के वित्त के संबंध में कुछ ज्यादा प्रवृति अन्तर को कम करने वाली और इसमें राज्य का पिछड़ापन एक महत्त्वपूर्ण आधार।
3. अनुदानों के संमंध में काफी ज्यादा स्तर तक एक महत्त्वपूर्ण कार्य नियोजन आयोग और वित्त आयोग दानों के द्वारा ही नई परियोजनाओं का ध्यान में रखकर।
4. राष्ट्रपति के द्वारा निरंतरता से ही वित्त आयोग का अतिरिक्त विषय दिया जाना।
5. वित्त आयोग को दिए जा रहे अतिरिक्त विषयों के बढ़ने की एक प्रवृति।
6. सामान्यतयाः वित्त आयोग को राज्यों की ऋण स्थिति के विषयों को दिया जाना।

21.6 अब तक गठित वित्त आयोग

अब तक चौदह वित्त आयोगों का सरकार द्वारा गठन किया जा चुका है। जिसमें से तेरह वित्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट सरकार को सौपा दी है, जिन्हें लागू भी किया जा चुका है। चौदहवें वित्त आयोग का गठन अभी हाल ही में रिजर्व बैंक के पूर्व गर्वनर वाई0वी0 रेड्डी की अध्यक्षता में किया गया है। जिसे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी है।

- नवम्बर 1951 में राष्ट्रपति ने श्री के0सी0 नियोगी की अध्यक्षता में प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की। आयोग ने दिसम्बर 1952 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।
- जून सन् 1956 में श्री के0 सन्थानम की अध्यक्षता में दूसरे वित्त आयोग की नियुक्ति की गई। इसकी रिपोर्ट नवम्बर 1957 में प्रस्तुत की गई।
- दिसम्बर 1960में श्री ए0 के चन्द्रा की अध्यक्षता में तीसरे वित्त आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग ने दिसम्बर 1961 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी।
- पाँच मई, 1964 को डॉ0 पी0वी0 राजमन्नार की अध्याक्षता में चौथे वित्त आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग ने अगस्त 1965 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।
- सन् 1968 में श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में पाँचवे वित्त आयोग का गठन किया गया। जिसने नवम्बर 15,1968 को अन्तिम रिपोर्ट एवं 1969 में अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की।

भारत में वित्त आयोग

वित्त आयोग	नियुक्ति वर्ष	समीक्षा काल	प्रतिवेदन वर्ष	अध्यक्ष का नाम
पहला	1951	1952–57	1951	श्री के0 सी नियोगी
दूसरा	1956	1957–62	1957	श्री के0 संस्थानम
तीसरा	1960	1962–66	1961	श्री एस0 के0 चन्दा
चौथा	1964	1966–69	1965	श्री पी0ही0राजमन्नार
पाचवाँ	1968	1969–74	1969	श्री महावीर त्यागी
छठा	1972	1974–79	1973	श्री ब्रहानन्द रेड्डी
सातवाँ	1977	1979–83	1978	श्री जे0एम0 शेलट
आठवाँ	1982	1984–89	1984	श्री वाई0ही0 चौह्यण
नौवाँ	1987	1090–95	1990	श्री एन0के0पी0साल्वे
दसवाँ	1992	1995–2000	1993	श्री के0सी0 पन्त
ग्यारवाँ	1998	2000–05	2000	प्रो0ए0एम0 खुसरो
बारहवाँ	2002	2005–10	2004	डॉ0 सी0 रंगराजन
तेरहवाँ	2008	2010–15	2009	श्री विजय केलकर
चौदहवॉ	2013	2015–20		डॉ0वाई0वी0 रेड्डी

- छठे वित्त आयोग का गठन 28 जून 1972 को आन्ध्र प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री श्री ब्रह्मनन्द रेड्डी की अध्यक्षता में की गई। आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1972 में प्रस्तुत की। इसकी सिफारिशों को पाँचवी योजना में समायोजित किया गया।
- सातवें वित्त आयोग का गठन जून 1977 में न्यायाधीश जे0 एम0 शेलट की अध्यक्षता में किया गया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट अक्टूबर 1978 में प्रस्तुत की।
- आठवें वित्त आयोग का गठन जून 1982 में श्री यशवन्तराव चौहान की अध्यक्षता में किया गया। इसने 1983 में अन्तरिम एवं अप्रैल 1984 को अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की।
- नवें वित्त आयोग का गठन 17 जून 1987 को श्री एन0 पी0 के0 साल्वे की अध्यक्षता में किया गया। आयोग ने मार्च 1990 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुति की।
- दसवें वित्त आयोग का गठन 15 जून 1992 को श्री के0सी0 पंत की अध्यक्षता में किया गया। आयोग ने 30 नवम्बर 1993 तक अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी।
- ग्यारहवें वित्त आयोग का गठन 3 जुलाई 1998 को प्रो0ए0एम0 खुसरो की अध्यक्षता में किया गया। जिसने 7 जुलाई 2000 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी।
- बारहवाँ वित्त आयोग का गठन 28 अक्टूबर 2002 को रिजर्व बैक के पूर्व गर्वनर डॉ0 सी रंगराजन की अध्यक्षता में किया गया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट दिसम्बर 2004 में प्रस्तुत की।

- तेरहवाँ वित्त आयोग का गठन वर्ष 2008 को श्री विजय केलकर की अध्यक्षता में किया गया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट 2009 में प्रस्तुत की।
- वित्त आयोग का गठन जनवरी 2013 को रिजर्व बैक के पूर्व गर्वनर डॉ0वाई0वी0 रेड्डी की अध्यक्षता में किया गया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट अभी प्रस्तुत करनी है।

21.7 वित्त–आयोग की भूमिका

वित्त–आयोग के केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच आर्थिक सम्बन्धों को समझने के लिए कुछ बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रथम, इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि संविधान द्वारा वित्तीय साधनों का बटवारा केन्द्र के पक्ष में है। केन्द्र के पास आय प्राप्त करने के अनेक स्तोत्र हैं। द्वितीय, केन्द्र द्वारा नोट छापकर धन प्राप्त किया जा सकता है। तीसरे, केन्द्र देश और विदेश से बिना प्रतिबन्ध के ऋणों के रूप में धन प्राप्त करने में सक्षम है। इसके विपरीत, राज्यों की आय स्त्रोत सीमित हैं। आय का प्रमुख साधन विक्रय–कर है। संविधान द्वारा अनेक विकासशील कार्य, यथा–शिक्षा, सिंचाई, कृषि, स्वास्थ, परिवार–नियोजन ।

21.8 वित्त–आयोग की कार्य–प्रणाली

संवैधानिक सत्ता होने के कारण इसकी स्पष्ट कार्य–प्रणाली है। अभी तक विभिन्न वित्त–आयोगों द्वारा जो कार्यों का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया गया है, उससे विदित होता है कि वित्त–आयोग का स्तर दीवानी न्यायलय है जो अपनी कार्य–प्रक्रिया को स्वयं निर्धारित करता है। यह आयोग भारत सरकार और राज्य सरकारों के वित्तीय संसाधनों को नियमित, समन्वित तथा एकीकृत करने वाला महत्वपूर्ण संगठन है। आयोग मन्त्रियों पर निर्भर करता है। आयोग ने अपने प्रतिवेद नागरिकों तथा विशिष्ट संगठनों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर भी प्रस्तुत किये हैं। अपने प्रतिवेदन तैयार करने से पूर्व समस्त स्तरों पर पर्याप्त विचार–विमर्श किये जाने की प्रक्रिया का सहारा लिया जाता रहा है। वित्त–आयोग संविधानिक दृष्टि से एक परामर्शदात्री संस्था है जिसकी सिफारिशों को मानने के लिए सरकार बाध्य नहीं है। परन्तु, अब तक का इतिहास बताता है कि वित्त–आयोग की अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार करने की परम्परा का निर्वाह हुआ है।

21.9 वित्त आयोग की सिफारिशों का क्रियान्वयन

संघीय वित्त से सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण हेतु वित्त आयोग को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। वित्त आयोग केन्द्र तथा राज्यों की सरकारों के मध्य वित्तीय साझेदारी की जाँच–परख करता है। कार्योपरत यह अपनी संस्तुति को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करता है। और राष्ट्रपति अपनी टीका–टिप्पणी

के बाद इन प्रस्तावों को मूल रूप में संसद के समक्ष प्रस्तुत करता है। जो इसकी सिफारिशों को स्वीकार करने के सन्दर्भ में पूर्ण स्वच्छं है।

वित्त आयोग करों के विभाजन के अतिरिक्त उन सिद्धान्तों के सन्दर्भ में सिफारिश करता है, जिनके आधार पर राज्यों को सहायता अनुदान या विशेष अनुदान प्रदान किया जाता है। परन्तु संसद अलग से भी राज्यों को विशेष अनुदान के लिए कानून बना सकती है और यदि संसद कानून न बनाये तो उस काल में राष्ट्रपति वित्त आयोग की संस्तुति के आधार पर विभिन्न राज्यों को निश्चित मात्रा में अनुदान देने का आदेश दे सकता है।

वित्त आयोग की सिफारिशों के क्रियान्वयन का अध्ययन विभाजनशील कर एवं सहायक अनुदान के अन्तर्गत करते है। विभाजनशील करों में आय कर, केन्द्रीय उत्पाद कर और सम्पदा शुल्क के वितरण का अध्ययन कर रहे है।

21.9.1 आयकर के सन्दर्भ में वित्त आयोग की सिफारिशें

आयकर केन्द्र सरकार द्वारा लगाया एवं एकत्र किया जाने वाला कर है इससे प्राप्त राशि के वितरण केन्द्र एवं राज्य सरकारों के मध्य होता है। आयकर का विभाजन विभिन्न वित्त आयोग द्वारा एकत्र राशि तथा जनसंख्या के आधार पर किया जाता रहा है। जैसाकि की तालिका से स्पष्ट है कि आयकर में राज्यों की हिस्सेदारी में लगातार वृद्धि हुई है। प्रथम वित्त आयोग द्वारा आयकर में राज्यों का भाग जहाँ 55 प्रतिशत था वह द्वितीय द्वारा बढ़ाकर 60 प्रतिशत, तृतीय ने 66 प्रतिशत चतुर्थ ने 75 प्रतिशत पाँचवाँ ने 75 प्रतिशत, छठे ने पुन बढ़ाकर 80 प्रतिशत, सातवें से नवे तक 85 प्रतिशत, एवं दसवें ने घटाकर 77.5 प्रतिशात और ग्यारवे तथा बारहवें ने इसमें कमी के साथ वितरण में अन्य 4 कारको को शामिल किया।

आयकर के विभाजन के सन्दर्भ में वित्त आयोग की सिफारिशें

वित्त आयोग	आयकर में राज्यों का भाग	राज्यों में आयकर का वितरण	
		जनसंख्या के आधार पर	एकत्र की गई आयकर के आधार पर आधार एवं अन्य कारक
प्रथम	55	80	20
द्वितीय	60	90	10
तृतीय	66	80	20
चतुर्थ	75	80	20
पाँचवा	75	90	10
छठे	80	90	10
सातवें से नवे	85	90	10
दसवें	77.5	90	10

21.9.2 केन्द्रीय उत्पाद कर और सम्पदा शुल्क के सन्दर्भ में वित्त आयोग की सिफारिशें

प्रथम वित्त आयोग ने तीन वस्तुओं–तम्बाकू एवं उससे निर्मित वस्तु (सिगरेट, सिगार) तथा वनस्पति पदार्थ की शुद्व आय का 40 प्रतिशत राज्यों में बाटा जाय। जिसमें 40 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर एवं 60 प्रतिशत अन्य कारक (जैसे–पिछड़ापन) था। उपभोग के वितरण का आधार नहीं माना क्योंकि उसके ठीक ऑकड़े उपलब्ध नहीं थे।

द्वितीय वित्त आयोग ने तीन के बचाय अब 8 वस्तुओं के उत्पाद शुल्क की 25 प्रतिशत आय को राज्यों में बाँटा। राज्यों को वितरण का निर्धारण 90 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर तथा 109 प्रतिशत समायोजन के लिए प्रयोग किया जाए।

तीसरे वित्त आयोग ने 35 वस्तुओं के आय वितरण का प्रावधान किया, परन्तु शुद्ध आय के वितरण का भाग घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया। विभाजन में जनसंख्या का आधार 40 प्रतिशत रहा साथ ही अन्य विभाजन के कारकों में वृद्धि की गई।

वित्त आयोग द्वारा कुल संसाधन हस्तान्तरण कर के रूप में पहले वित्त आयोग से लेकर 12 वें तक हिस्सा औसतन 84 प्रतिशत आता है। कुल हस्तान्तरण में कर के रूप में हस्तान्तरण के रूप में छठें वित्त आयोग ने 73.9 प्रतिशत की संस्तुति की तो सातवें ने 92.3 प्रतिशत की की बात की। ग्यारहवें ने 86.5 प्रतिशत, बारहवें ने 81.1 प्रतिशत की संस्तुति की थी।

पहली बार 11 वें वित्त आयोग ने केन्द्र से राज्यों को होने वाले सम्पूर्ण राजस्व हस्तान्तरण की 37.5 की उच्चतम सीमा रखी जिसे 12 वें वित्त आयोग ने बढ़ाकर 38 प्रतिशत कर दिया था।

21.10 वित्त आयोग के संगठन और कार्यात्मकता में विभिन्न तरह की कमियां

वित्त आयोग के संगठन और कार्यात्मकता में विभिन्न तरह की कमियां निम्नवत है–

1. वित्त आयोग एक अस्थाई संस्था और यद्यपि इसको समय–समय पर लाया जाना लेकिन फिर भी वित्तीय विषयों के अध्ययन में इसकी निरंतरता में कमियां
2. कई ऐसी स्थियिां जहाँ कि राज्य वित्त आयोग की सिफारिशों का समयानुसार न आना और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय वित्त आयोग के द्वारा इन सिफारिशों को उपयुक्त रूप ध्यान में न रखा जा पाना।
3. कुछ कारणों की वजह से सरकार के द्वारा स्वविवेकाधिकार वाली अनुदानों का ज्यादा स्तर तक उपयोग किए जाने की वजह से वित्त आयोग की सिफारिश पर दी जा रही अनुदानों पर एक प्रतिकूल असर पड़ना।

4. वित्त आयोग के द्वारा ऐसा काई उपयुक्त अध्ययन या विश्लेषण प्रभावी स्तर तक सामने न आ पाना कि नई आधुनिकीकृत अर्थव्यवस्था में कर व्यवस्था में सुधार, करके नए स्रोत और उनका बंटवारा कैसे प्रभावी रूप से किया जाए।
5. सामान्यतः वित्त आयोगों के द्वारा वित्तीय विषयों में राज्यों के वित्तीय अनुशासन का प्रभावी रूप से ध्यान में न रखा जा पाना यद्यपि इस संबंध में 11 वें वित्त आयोग के द्वारा कुछ कदम उठाया जान जैसे कि निधि के संबंध में सुझाव।
6. कई ऐसी स्थितियां जहाँ वित्त आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति के संबंध में वित्तीय विषयों के विशेषज्ञता के विषयों को ध्यान में न रखा जा पाना।
7. नियोजन आयोग की ज्यादा स्तर तक वित्तीय वित्तीय विषयों में हस्तक्षेप की वजह से वित्त आयोग पर प्रभाव।
8. वित्त आयोग में ज्यादा स्तर तक कार्य करने की संस्कृति, सामान्य नौकरशाही की संस्कृति। वित्तीय विषयों की आधुनिक विशेषज्ञता वाली संस्कृति को इसमें न लाया जा पाना।
9. वित्त आयोग में नियुक्तियों के संबंध में विभिन्न तरह के राजनीतिक कारक।
10. एक तो वित्त आयोग के अध्ययनों में क्षेत्रीय वस्तुस्थिति को प्रभावी रूप से ध्यान में न रखा जा पाना और दूसरा वित्त और नियोजन को प्रभावी रूप से जोड़ने में भी कमियां।

21.11वित्त आयोग को बेहतर प्रभावी बनाने के संबंध में सुझाव

वित्त आयोग को बेहतर प्रभावी बनाने के संबंध में निम्न सुझाव है–

- वित्त आयोग को नियुकत करने के संबंध में तथा अतिरिक्त विषय देने के संबंध में राज्यों से सलाह मशविरा बेहतर प्रभावी रूप से किया जाए।
- राज्य वित्त आयोग की नियुक्तियाँ इस तरह से की जाएं ताकि उनके प्रतिवेदनों को राष्ट्रीय वित्त आयोग बेहतर रूप से ध्यान में रख सकें। साथ–साथ राज्य वित्त आयोग और राष्ट्रीय वित्त आयोग में प्रभावी संपर्क की आवश्यकता।
- संघ सरकार के द्वारा स्वविवेकाधिकार अनुदानों को विशेष स्थितियों तक कम करते हुए वित्त आयोग की सिफारिश पर अनुदानों को वरीयता दिया जाना।

21.12 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान चुके है कि भारतीय संविधान की धारा 280 के अन्तर्गत वित्त आयोग के गठन की व्यवस्था है। धारा 280 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद या

यदि आवश्यक हो तो इसके पहले, राष्ट्रपति वित्त आयोग का गठन करेंगे। जिसमें एक अध्यक्ष के अतिरिक्त 4 सदस्य होने चाहिए। केन्द्र और राज्यों में आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए वित्त–आयोग की स्थापना एक आनिवार्यता थी। वित्त–आयोग केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के वित्तीय संसाधनों को नियमित, समन्वित एवं एकीकृत करने का महत्वपूर्ण संगठन है। निस्सन्देह इस दिशा में आयोग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।73वें और 74वें संविधान संशोधन के द्वारा यह प्रावधान बनाया गया कि राष्ट्रीय वित्त आयोग राज्य वित्त आयोगों की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए यह सुझाव दे कि राज्य के संचित निधि को कैसे सुदृढ़ किया जाए ताकि ग्रामीण स्थानीय निकाय एवं शहरी स्थानीय सरकारों की वित्तीय स्थिति को बेहतर बनाया जाए।

अब तक चौदह वित्त आयोगों का सरकार द्वारा गठन किया जा चुका है। जिसमें से तेरह वित्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट सरकार को सौपा दी है, जिन्हें लागू भी किया जा चुका है। अभी तक विभिन्न वित्त–आयोगों द्वारा जो कार्यों का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया गया है, उससे विदित होता है कि वित्त–आयोग का स्तर दीवानी न्यायलय है जो अपनी कार्य–प्रक्रिया को स्वयं निर्धारित करता है। वित्त–आयोग संविधानिक दृष्टि से एक परामर्शदात्री संस्था है जिसकी सिफारिशों को मानने के लिए सरकार बाध्य नहीं है। परन्तु, अब तक का इतिहास बताता है कि वित्त–आयोग की अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार करने की परम्परा का निर्वाह हुआ है। वित्त आयोग करों के विभाजन के अतिरिक्त उन सिद्धान्तों के सन्दर्भ में सिफारिश करता है, जिनके आधार पर राज्यों को सहायता अनुदान या विशेष अनुदान प्रदान किया जाता है। परन्तु संसद अलग से भी राज्यों को विशेष अनुदान के लिए कानून बना सकती है और यदि संसद कानून न बनाये तो उस काल में राष्ट्रपति वित्त आयोग की संस्तुति के आधार पर विभिन्न राज्यों को निशचित मात्रा में अनुदान देने का आदेश दे सकता है। प्रथम वित्त आयोग द्वारा आयकर में राज्यों का भाग जहाँ 55 प्रतिशत था वह द्वितीय द्वारा बढ़ाकर 60 प्रतिशत, तृतीय ने 66 प्रतिशत चतुर्थ ने 75 प्रतिशत पाँचवाँ ने 75 प्रतिशत, छठे ने पुन बढ़ाकर 80 प्रतिशत, सातवें से नवे तक 85 प्रतिशत, एवं दसवें ने घटाकर 77.5 प्रतिशात और ग्यारवे तथा बारहवें ने इसमें कमी के साथ वितरण में अन्य 4 कारको को शामिल किया। वित्त आयोग द्वारा कुल संसाधन हस्तान्तरण कर के रूप में पहले वित्त आयोग से लेकर 12 वें तक हिस्सा औसतन 84 प्रतिशत आता है। कुल हस्तान्तरण में कर के रूप में हस्तान्तरण के रूप में छठें वित्त आयोग ने 73.9 प्रतिशत की संस्तुति की तो सातवें ने 92.3 प्रतिशत की की बात की। ग्यारहवें ने 86.5 प्रतिशत, बारहवें ने 81.1 प्रतिशत की संस्तुति की थी।पहली बार 11 वें वित्त आयोग ने केन्द्र से राज्यों को होने वाले सम्पूर्ण राजस्व हस्तान्तरण की 37.5 की उच्चतम सीमा रखी जिसे 12 वें वित्त आयोग ने बढ़ाकर 38 प्रतिशत कर दिया था।

21.13 शब्दवली

- **करारोपण** – अनिवार्य रूप से वसूले जाने वाले अंश दान के लिए अपनायी जाने वाली प्रक्रिया या प्रणाली।

- **कर प्रणाली** – विभिन्न प्रकार के करों को लगाने के लिए अपनायी जाने वाली तकनीकी।
- **सेवा लागत** – उपलब्ध कराने वाली सेवा के कारण उठायी गयी लागत।
- **कराघात** – कर को प्रारम्भिक रूप से वहन करने वाला।
- **कर–आपतन** – कर का अन्तिम रूप से पड़ने वाला भार।

21.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पंत, जे0सी0 (2007), ***राजस्व*** (Public Finance), लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
2. भाटिया एच0एल0 (2006), ***लोकवित्त*** (Public Finance), विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0, जंगपुरा, नई दिल्ली।
3. मिश्रा एवं पुरी (2011), ***भारतीय अर्थव्यवस्था***, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
4. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997), ***राजस्व***, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

21.15 सहायक / उपयोगी ग्रन्थ

- सिंघई, जी0 सी0, मिश्रा, जे0 पी0, ''अर्थशास्त्र'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स (2012), आगरा ।
- त्यागी, बी0 पी0, ''लोकवित्त'' जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी (2004), मेरठ ।
- डॉ. जे.पी. मिश्र : लोक वित्त एवं रोजगार सिद्धान्त विजडम बुक्स, वाराणसी।
- Basu Kaushik. *The Oxford companion to Economics in India*, Oxford University press (2007), New Delhi.

21.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अब तक के वित्त आयोग के कार्यकरण और संरचना की व्याख्या कीजिए?
2. वित्त आयोग के के सामने पैदा होने वाली कठिनाइयों की विवेचना कीजिए?
3. वित्त आयोग में कौन सी समस्याऐं उत्पन्न होती है? समझाइये।इनके निवारण हेतु कौन से उपाय किए जाते है?

इकाई 22 तेरहवें वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशें

इकाई संरचना

22.1 प्रस्तावना

22.2 उददेश्य

22.3 तेरहवें वित्त आयोग की स्थापना

22.4 तेरहवें वित्त आयोग के गठन के उद्देश्य

22.5 तेरहवें वित्त वित्त आयोग के कार्य

22.6 तेरहवें वित्त वित्त आयोग विचारार्थ विषय

22.7 तेरहवें वित्त वित्त आयोग सिफारिशें

22.8 सारांश

22.9 शब्दवली

22.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

22.11 सहायक/उपयोगी ग्रन्थ

22.12 निबन्धात्मक प्रश्न

22.1 प्रस्तावना

आप अभी तक की इकाइयों के अध्ययन से लोकवित्त के सैद्धान्तिक पहलू को भलीभाँति समझ गये होंगे। इस इकाई में हम तेरहवें वित्त आयोग की स्थापना , उद्देश्य एवं कार्यों का अवलोकन करने के साथ ही तेरहवें वित्त वित्त आयोग विचारार्थ विषय को विस्तृत रूप से जानेंगे।इसके पश्चात तेरहवें वित्त वित्त आयोग सिफारिशों को भी समझेंगे।

22.2 उददेश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि–

- इस इकाई में हम तेरहवें वित्त आयोग की स्थापना , उद्देश्य एवं कार्यों का अवलोकन करेंगे।
- तेरहवें वित्त वित्त आयोग विचारार्थ विषय को विस्तृत रूप से जानेंगे।
- इसके पश्चात तेरहवें वित्त वित्त आयोग सिफारिशेंको भी समझेंगे।

22.3 तेरहवें वित्त आयोग की स्थापना

तेरहवें वित्त आयोग की स्थापना राष्ट्रपति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत 13 नवम्बर, 2007 को 2010–15 की अवधि हेतु सिफारिशें प्रदान करने के लिये गयी थी। डॉ0 विजय केलकर को आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था।

22.4 तेरहवें वित्त आयोग के गठन के उद्देश्य

आयोग के गठन का उद्देश्य निम्नलिखित है–

(i) करों का निवल प्राप्तियों का केन्द्र और राज्यों के बीच वितरण, जिन्हें संविधान के अध्याय–I भाग XII के अन्तर्गत वितरण किया जायेगा अथवा वितरित किया जा सकता है, और ऐसी प्राप्तियों के सम्बन्ध में हिस्सों का राज्यों के बीच आवन्टन,

(ii) भारत के समेकित निधि से राज्यों के राजस्व के सहायता अनुदान सम्बन्धित करने वाला सिद्धान्त और राज्यों को भुगतान किये जाने वाली राशि, जिन्हें संविधान के अनुच्छेद, 275 के अन्तर्गत उनके राजस्वों के सहायता अनुदान के जरिये सम्बद्ध अनुच्छेद के खण्ड (1) उपबन्धों में विर्निदिष्ट प्रयोजनों से सहायता की आवश्यकता है।

(iii) राज्य वित्त आयोग द्वारा किये गये सिफारिशों के आधार पर राज्य में पंचायतों तथा नगर पालिकाओं से संसाधनों के बढ़ोत्तरी के लिये राज्य के समेकित तिथि को बढ़ाने हेतु वाँछित उपाय सुझाना।

22.5 तेरहवें वित्त वित्त आयोग के कार्य

वित्त आयोग के समग्र कार्य संविधान के अनुच्छेद 270, 275 और 280 में निर्धारित उपबन्धों का निष्पादन करना है। यह उपबन्धों चालू संभावित भावी वृहत आर्थिक और राजकोषीय परिदृश्यों को ध्यान में रखते हुये संघीय वित्त के सिद्धान्तों के अनुरूप होना चाहिए। जिसमें केन्द्र–राज्यों और स्थानीय निकामों की राजकोषीय स्थिरता और पर्याप्त साधन उपयोगिता हासिल हो सकें।
आयोग के मुख्य कार्यों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है–

आयोग का प्रथम अथवा मुख्य कार्य संघ और राज्य के बीच भारत के संविधान के अध्याय– I भाग XII के तहत उनमें विभाजित करने वाले करों के निबल आय, जिसे सामान्यतः ''विभाज्य फुल'' कहा जाता है के वितरण की सिफारिश करना है।

दूसरा कार्य ऐसी आय को राज्यों के बीच आवण्टन की सिफारिश करने का भी है। संविधान के अनुच्छेद 275 के तहत आयोग उन राज्यों को जिन्हें सहायता की आवश्यकता है, को सामान्य प्रयोजन के अनुदान कर अन्य विशिष्ट प्रयोजन के अनुदान प्रदान कर सकता है।

संविधान राज्य वित्त आयोग की सिफारिश को ध्यान में रखते हुए आयोग को कहा गया है कि विभिन्न राज्यों में पंचायतों नगर पालिकाओं के संसाधनों की पूर्ति के लिये अलग–अलग राज्यों की समेकित निधियों का समर्थन कर उपामों की सिफारिश करें।

22.6 तेरहवें वित्त वित्त आयोग विचारार्थ विषय

13 वें वित्त आयोग को यह कहा गया कि अपनी संस्तुति देते समय आयोग निम्नांकित बातों को ध्यान में रखेगा–

(a) कर तथा गैर–कर राजस्व का स्तर जो 2008–09 के अन्त में प्राप्त होगा, उसके आधार पर 1 अप्रैल 2010 से प्रारम्भ होने वाली आगामी पाँच वर्ष के लिये केन्द्र सरकार के संसाधनों का अनुमान लगाना।

(b) कर तथा गैर–कर राजस्व का स्तर जो 2008–09 के अन्त में प्राप्त होगा, उसके आधार पर 1 अप्रैल 2010 से प्रारम्भ होने वाली आगामी पाँच वर्ष के लिये राज्य सरकार के संसाधनों का अनुमान लगाना।

(c) राज्य तथा केन्द्रीय को ही जाने वाली बजेटरी सहायता, प्रशासन, रक्षा, आन्तरिक तथा सीमा सुरक्षा, ऋण सेवा तथा निश्चित रूप से किये जाने वाले व्यय तथा दायित्व को ध्यान में रखते हुए, केन्द्र सरकार की संसाधन सम्बन्धी माँग।

(d) संघ तथा राज्य सरकारों की प्राप्तियों तथा व्यय को संतुलित करने के उद्देश्य ही नहीं बल्कि पूँजी निवेश के लिये आधिक्य का सृजन करना।

(e) कर GDP अनुपात तथा कर–राज्य GDP अनुपात को बाटने का उपाय।

(f) 1 अप्रैल 2010 से लागू होने वाले प्रस्तावित GST के प्रभाव का अध्ययन जिसमें देश के विदेशी व्यापार पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन सम्मिलित है।

(g) पोषणीय विकास के सन्दर्भ में पारिस्थितीय, पर्यावरण तथा जलवायु के प्रबन्ध की आवश्यकता।

(h) उत्तम परिणाम की दृष्टि से सार्वजनिक व्यय की गुणवत्ता को उन्नत करने की आवश्यकता।

अपनी संस्तुतियाँ देते समय जहाँ जरूरत होगी, वहाँ आयोग 1971 जनगणना के ही अंकों को आधार रूप लेगा। नेशनल क्लेसिगिरी आकस्मिक फण्ड, क्लेसिमिटी रिलीफ फण्ड तथा आपदा प्रबन्धन अधिनियम, 2005 के तहत फण्ड की वर्तमान वित्तीय व्यवस्था की, यदि आयोग चाहे तो समीझा करना आयोग उस आधार को स्पष्ट करेगा जिसके आधार पर उसमें संघ और राज्यों की प्राप्तियों तथा व्यय के सम्बन्ध में अनुमान लगाना।

22.7 तेरहवें वित्त वित्त आयोग सिफारिशें

13 वें वित्त आयोग द्वारा की गयी सिफारिशें निम्नांकित है–

(1)FRBM के अनुसार 2009–10 केन्द्र राज्य संयुक्त ऋण जी0डी0पी0 अनुपात को 82.0 प्रतिशत तक लाना था, जबकि 12 वें वित्त आयोग ने यह लक्ष्य 75.0 प्रतिशत रखा था। 13 वें वित्त आयोग इस अनुपात को 2014–15 तक 68.0 प्रतिशत, तथा केन्द्र के सम्बन्ध में इस अनुपात को 45.0 प्रतिशत लाने का लक्ष्य निर्धारित किया है।

(2)राजस्व धारा– जी0डी0पी0 अनुपात को 2009–10 में प्रक्षेपित 4.8 प्रतिशत से 2014–15 राजस्व धारा को 0.5 प्रतिशत के राजस्व आधिक्य में परिवर्तित करना है। यद्यपि उसने यह संस्तुति किया कि इसे क्रमिक रूप से घटाकर 280 प्रतिशत तक लाना चाहिए।

(3)13 वें वित्त आयोग ने 12 वें वित्त आयोग की सीमा को बढ़ाकर 32.0 प्रतिशत कर दिया, पर 13 वें आयोग ने विक्री कर के बदले लगायी गयी अतिरिक्त उधार शुल्क के सम्बन्ध में निवल केन्द्र राजस्व में राज्यों का कोई हिस्सा देने की बात नहीं की हैं। और न ही टैम्स टाइल्स, तम्बाकू चिनी पर बिक्री या वैट लगाने की स्थिति में कर हस्तांतरण में राज्यों के हिस्सों को घटाने की बात की है जैसा कि 12 वें वित्तआयोग ने की थी। पर केंन्द्र द्वारा लगाये गये उपकर तथा अधिकार को विभाग्य योग्य संभरण में सम्मिलित किये जाने की राज्यों की माँग आयोग ने स्वीकार नहीं किया है।

(4)उल्लेखनीय है कि पहली बार 11 वें वित आयोग ने केंन्द्र से राज्यों को होने वाले सम्पूर्ण राजस्व हस्तातंरण की 37.5 प्रतिशत की उच्चतम सीमा निर्धारित की थी, जिसे 12 वें वित्तआयोग ने बढ़ाकर 38.0 प्रतिशत कर दी थी। 13 वें वित्तआयोग ने इस सीमा को बढ़ाकर 39.5 प्रतिशत कर दिया। अर्थात केंन्द्र के सफल राजस्व हस्तांतरण होगा। ऐसे राज्यों को जिनका कुल क्षेत्र के हिस्सा 21 प्रतिशत से कम है। उनके 21 प्रतिशत न्यूनतम हिस्सा देने की संस्तुति की है। यह राज्य गोवा, हरियाणा, हिमांचलप्रदेश, केरल, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड, पंजाब, सिक्किम, त्रिपुरा एवं उत्तराखण्ड।

12 वें वित्त आयोग द्वारा प्रमुख प्रति व्यक्ति आय दूरी कसौटी, जिसे प्रति व्यक्ति GSDP के आधार पर हैं।

13 वें वित्त आयोग ने ''कर देय क्षमता अन्तर या'' राजकोषीय क्षमता अन्तर'' को कसौटी के रूप में लिया है। वित्त आयोग ने 2004–2005 से 2006–07 के बीच तीन वर्षो की प्रति व्यक्ति जी0डी0पी0 के आधार पर प्रत्येक राज्य के लिए प्रति व्यक्ति GSDP ज्ञात किया है। इसके बाद कर GSDP अनुपात ज्ञात किया है। इस अनुपात को सभी राज्यों ''सामान्य वर्गीय'' तथा विशिष्ट वर्गीय राज्यों के लिए अलग–अलग व्यक्त किया है।

(5)वित्त आयोग ने यह स्वीकार किया है कि समता तथा कुशलता के निर्देशक सिद्धान्त है, जिनका अनुपालन सभी वित्त आयोग ने क्षैतिजीय हस्तान्तरण के संबंध में किया है, और 13 वें ने भी ऐसा ही किया है। अलग–अलग वित्त आयोगो ने क्षैतिज हस्तान्तरण के सम्बनन्ध में अनेक कसौटियाँ चुनी है, तथा अलग–अलग आयोगों इन कसौटियों चुनी है, तथा अलग–अलग आयोगो ने इन कसौटियों का अलग–अलग भार प्रदान किया है।

1971 के बार के नियुक्त सभी आयोगो ने बिना रूपवार के राज्यों की 1971 की जनसंख्या को अपनी गणना का आधार बनाया हैं। जैसे निर्देश उनकी नियुक्त की शर्त में दिया गया है। सब आयोगों ने जनसंख्या को एक कसौटी के रूप में चुना है। 13 वें वित्त आयोग ने निम्नांकित कसौटी चुनी है–

तालिका–1

क्रं0 सं0	कसौटी	भार (%)
1	राज्य जनसंख्या (1971)	25.0
2	राज्य क्षेत्रफल	10.0
3	राजकोषीय क्षमता दूरी	47.5
4	राजकोषीय अनुशासन	17.5

उल्लेखनीय है कि हस्तान्तरण फार्मूला में एवं कसौटी के रूप में ''राज्य क्षत्रफल'' को सबसे पहले 10 वें वित्त आयोग ने लागू किया, जिसके पीछे यह तर्क था कि राज्य का क्षेत्रफल जितना ही अधिक होगा नागरिक को एक निश्चित मानक सेवा उपलब्ध कराने की प्रशासनिक लागत उतनी ही अधिक होगी।

इस प्रकार से संकलित प्रतिव्यक्ति गुणा करके इसी कसौटी के आधार पर कुल हस्तातंरण में प्रत्येक राज्य का हिस्सा ज्ञात कर सकते है। जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। आयोग ने राजकोषीय क्षमता दूरी कसौटी को 47.5 प्रतिशत का भार प्रदान किया है।

राजकोषीय अनुशासन को कसौटी के रूप में सबसे पहले 11 वें वित्त आयोग ने चुना तथा 11 वें एवं 12 वें दोनों में इसे 7.5 प्रतिशत का भार दिया, जबकि 13 वें वित्त आयोग केवल राजकोषीय अनुशासन को ही लिया गया है, कर प्रयास को छोड़ दिया है, तथा इसके लिये 17.5 प्रतिशत का भार दिया है।

(6.)13 वें वित्त आयोग ने चार अनुदानों का उल्लेख किया है:–

(A) शिक्षा के सम्बन्ध में सामास्यीकरण ग्राष्ट के स्थान पर (6–14 वर्ष) के व्यापीकरण के लिये अनुदान।

(B) स्वभाव सामान्यीकरण ग्राम।

(C) सार्वजनिक व्ययों की गुणवत्ता सुधारने के लिये अनुदान।

(D) पोषीय विकास को दृष्टिगत रखते हुए पारिस्थितिक पर्यावरण तथा जलवायु प्रबन्ध के सम्बन्ध में अनुदान।

(7)केन्द्र सरकार के विभिन्न करों की निवल प्राप्तियों में से 32 प्रतिशत प्राप्तियाँ राज्यों को जाएंगी, इनमें से प्रत्येक राज्य के हिस्से का निर्धारण तालिका–1 में प्रदत्त भार के अनुसार किया जायेगा। इस आधार पर सेवा कर को छोड़कर अन्य करों की प्राप्तियों में राज्यों का हिस्सा तालिका–2 में दर्शाया गया है ।

तलिका 2: केन्द्र की निवल कर प्राप्तियों में राज्यों का पारस्परिक हिस्सा

(प्रतिशत में)

क्रम.	राज्य	सेवा कर को छोड़कर अन्य करों में राज्यों का सापेक्षिक हिस्सा	जम्बू–कश्मीर राज्य को छोड़कर अन्य 27 राज्यों का सेवा कर में सापेक्षिक हिस्सा
1	आंध्र प्रदेश	6.937	7.047
2	अरूणाचल प्रदेश	0.328	0.332
3	असम	3.628	3.685
4	बिहार	10.917	11.089
5	छत्तीसगढ़	2.470	2.509
6	गोवा	0.266	0.270
7	गुजरात	3.041	3.089
8	हरियाणा	1.048	1.064
9	हिमांचल प्रदेश	0.781	0.793
10	जम्मू और कश्मीर	1.551	शून्य
11	झारखण्ड	2.802	2.846
12	कर्नाटक	4.328	4.397
13	केरल	2.341	2.378
14	मध्य प्रदेश	7.120	7.232
15	महाराष्ट्र	5.199	5.281
16	मणिपुर	0.451	0.458
17	मेघालय	0.408	0.415
18	मिजोरम	0.269	0.273
19	नागालैण्ड	0.314	0.318
20	ओडिशा	4.799	4.855
21	पंजाब	1.389	1.411
22	राजस्थान	5.853	5.945
23	सिक्किम	0.239	0.243
24	तमिलनाडू	4.969	5.047
25	त्रिपुरा	0.511	0.519
26	उत्तर प्रदेश	19.677	19.987
27	उत्तराखण्ड	1.120	1.138
28	प. बंगाल	7.264	7.379
	सभी राज्य	100.000	100.000

ऐसे राज्य जिनका देश के कुल क्षेत्रफल में हिस्सा 2 प्रतिशत या उससे कम है उन्हें 2 प्रतिशत का न्यूनतम अंश समानुदेशित किया गया है ये राज्य हैं– गोवा, हरियाण, हिमांचल प्रदेश, केरल, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड, पंजाब, सिक्किम, त्रिपुरा तथा उत्तराखण्ड अन्य राज्यों के हिस्सों पर कोई ऊपरी सीमा नहीं है इस प्रकार तेरहवें वित्त आयोग ने राज्यों के व्यक्तिगत हिस्सें के निर्धारण हेतु मानदण्डों में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन किए है–

प्रथम राजकोषीय क्षमता अन्तर के लिए भार को 50.0 प्रतिशतांक से घटाकर 47.5 प्रतिशतांक कर दिया है, बारहवें वित्त आयोग द्वारा राजकोषीय क्षमता अन्तर के मापन हेतु प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद के आधार बनाया गया था।

तालिका 3 : राज्यों को आयोजना भिन्न राजस्व अनुदान

राज्य	अंतरण पश्च आयोजना भिन्न राजस्व अनुदान (रू. करोड़)
1. अरूणाचल प्रदेश	2516.2
2. हिमाचल प्रदेश	7888.8
3. जम्मू और कश्मीर	15936.3
4. मणिपुर	6056.6
5. मेघालय	2810.9
6. मिजोरम	3991.4
7. नागालैण्ड	8146.1
8. त्रिपुरा	4453.3
योग	51800.00
निष्पादन प्रोत्साहन पाने वाले राज्य	
1. असम	300.00
2. सिक्किम	200.00
3. उत्तराखण्ड	1000.00
योग	**1500.00**

इस प्रकार प्रतिपत्रित किए जाने पर प्रक्रिया विधि में राज्यों के बीच राजकोषीय क्षमता अन्तर का निर्धारण करने के अंतर्हिन रूप से सकल घरेलू उत्पाद के प्रति एक सकल औसत कर का अनुपात प्रयोज्य किया जाता है तेरहवें वित्त आयोग ने इसके बजाय कर क्षमता को मापने के लिए पृथक् औसतों की अनुशंसा की है एक सामान्य श्रेणी के राज्यों के लिए तथा दूसरी विशेष श्रेणी के राज्यों के लिए ऐसा किए जाने का औचित्य यह है कि दोनों श्रेणियों के बीच, सकल राज्य घरेलू उत्पाद के प्रति अनुपयुक्त सकल औसत (अंतर्हित रूप से) दोनों समूहों के बीच राजकोषीय अन्तर का सही प्रकार अभिग्रहण नहीं करता ऐसा दो कारणों से होता है–

1. सकल राज्य घरेलू उत्पाद का क्षेत्रक संघटन सभी राज्यों में एक जैसा नहीं है तथा प्रत्येक क्षेत्रक अपनी कर योग्यता में एक रूप नहीं है।
2. सकल राज्य घरेलू उत्पादन अनुमान वर्तमान में उपादान लागत पर उपलब्ध है तथा उसमें प्रेषण रूप में उपार्जित होने वाली आय शामिल नहीं है सकल राज्य घरेलू उत्पाद के प्रति कर का अनुप्रस्थ राज्य औसत अनुपात विशेष श्रेणी के राज्यों की तुलना में सामान्य श्रेणी के राज्यों में उच्चतर है। इसीलिए दोनों श्रेणीयों पर समूह विशिष्ट औसत अनुप्रयुक्त किए जाते है।

3. वर्तमान में जम्मू–कश्मीर राज्य में सेवा कर का उद्ग्रहण नहीं किया जाता इसलिए, सेवा कर की निबल प्राप्तियाँ इस राज्य को समानुदेशनीय नहीं हैं सेवा कर प्राप्तियों में शेष 27 राज्यों के हिस्से तालिका 2 के अनुसार निर्धारित किए गए हैं।

(8) राजस्व खाते पर राज्यों को समय अंतरणों पर निर्दिष्टात्मक सीमा केन्द्र की सकल राजस्व प्राप्तियों के 39.5 प्रतिशत पर नियत की जाए।
(9)मध्यावधिक राजकोषीय योजना एक आशय विवरण के बजाय प्रतिबद्धता का विवरण होना चाहिए।
(10)कर, व्यय, सरकारी निजी भागीदारी, देयताओं तथा प्राप्तियों एवं व्यय अनुमानों के अंतर्हित परिवर्तनों के व्योरों सहित बजट/एमएफटीपी के लिए नए प्रकटन विनिर्दिष्ट किए जाए।
(11)वित्तीय विनियम एवं बजट प्रबन्ध अधिनियम में उन प्रघातों के स्वरूप को निर्दिष्ट किया जाना आवश्यक है जिनके लिए उसके तहत् लक्ष्यों में ढ़ील दिया जाना आवश्यक होगा।
(12)ऐसी आशा की जाती है कि राज्य वर्ष 2011–12 तक अपने राजकोषीय सुधार मार्ग पर वापस आने में समर्थ हो जाएंगे इसलिए वे अपने–अपने एफआरबीएम अधिनियमों में यथानुसार संशोधन करें।
(13)राज्य सरकारें सामान्य निष्पादन अनुदान के लिए तथा विशेष क्षेत्र निष्पादन अनुदान के उसी दशा में पात्र होंगी जब वे स्थानीय अनुदानों के अर्थ में निहित निर्धारित शर्तों का पालन करती हैं। राज्य सरकारों को अनुदान का विवरण तालिका 4 में दिया है।

तालिका 4: तेरहवें वित्त आयोग की सिफारिशों से पंचाट अवधि (2010–15) में राज्यों को सहायता अनुदान (रू. करोड़ में)

क्रम.	मद		अनुशंसित धनराशि
1	स्थानिय निकाय		87519
2	आपदा राहत (जिसमें क्षमता निर्माण भी शामिल है)		26373
3	पश्च–अन्तरण आयोजना भिन्न राजस्व घाटा		51800
4	निष्पादन प्रोत्साहन		1500
5	प्राथमिकता शिक्षा		24068
6	पर्यावरण–		15000
	(a) वनों का संरक्षण	5000	
	(b) नवीनीकरण ऊर्जा	5000	
	(c) जल क्षेत्र प्रबन्धन	5000	
7	परिणामों में सुधार–		14446
	(a) शिशु मृत्यु दर में कमी लाना	5000	
	(b) न्याय प्रदान करने में कमी लाना	5000	
	(c) विशिष्ट पहचान संख्या (UID) जारी करने हेतु प्रोत्साहन	2986	
	(d) जिला नवाचार निधि	616	
	(e) राज्य तथा जिला स्तर पर सांख्यिकीय प्रणालियों में सुधार	616	
	(f) कर्मचारी तथा पेंशन आँकड़ा आधार	225	
8	सड़कों और पुलों का रखरखाव		19930
9	राज्य विशिष्ट		27945
10	वस्तु एवं सेवा कर मॉडल का कार्यान्वयन		50000
	जोड़		**318581**

(14)आठ राज्यों के लिए पंचाट अवधि (2010–15) में रू. 51,800 करोड़ का कुल आयोजना भिन्न राजस्व अनुदान अनुशासित किया गया है (तालिका–3) विशेष श्रेणी के तीन राज्यों, जो आयोजना भिन्न राजस्व घाटे की स्थिति से उबरे हैं, के लिए रू. 1,500 करोड़ का निष्पादन अनुदान अनुशंसित किया गया है

(15)वर्ष 2011–12 से 2014–15 के चार वर्षों के लिए सड़कों व पुलों के अनुरक्षण अनुदान हेतु रू. 19,930 करोड़ की राशि की अनुशंसा

(16)प्रारम्भिक शिक्षा के लिए अनुदान राशि रू. 24,068 करोड़ की अनुशंसा

(17)राज्य विशिष्ट आवश्यकताओं के लिए रू. 27,945 करोड़ के अनुदान की अनुशंसा

(18)वन, अक्षय ऊर्जा तथा जल क्षेत्र प्रबन्धन अनुदानों के रूप में रू. 5,000 करोड़ अनुदान की अनुशंसा

(19)राज्यों की सहायता अनुदान के रूप में पंचाट अवधि के लिए रू. 3,18,581 करोड़ की कुल राशि अनुशंसित की गई हैं।

तलिका 5:तेरहवें वित्त आयोग की संस्तुतियों पर राज्यों को 2010–15 की अवधि में हस्तान्तरित की जाने वाली धनराशि (रू. करोड़ में)

क्र.	राज्य	केन्द्रीय करों एवं शुल्कों में हिस्सा	सहायता अनुदान	कुल अन्तरण
1	आंध्र प्रदेश	100616.0	13532.3	114148.3
2	अरूणाचल प्रदेश	4755.6	4348.2	9103.8
3	असम	526260.6	5212.1	57832.7
4	बिहार	158341.2	14602.8	172944.1
5	छत्तीसगढ़	35825.2	6175.5	42000.7
6	गोवा	3857.8	516.2	4374.0
7	गुजरात	44107.1	9682.9	53789.9
8	हरियाणा	15199.5	4270.8	19470.3
9	हिमांचल प्रदेश	11327.3	10364.4	21691.6
10	जम्मू और कश्मीर	20182.7	20255.9	40438.7
11	झारखण्ड	40640.3	7238.4	47878.6
12	कर्नाटक	62774.9	11601.4	74376.3
13	केरल	33954.3	6311.5	40325.8
14	मध्य प्रदेश	103268.9	13324.5	116593.4
15	महाराष्ट्र	75406.9	16302.8	91709.8
16	मणिपुर	6541.2	7026.3	13567.5
17	मेघालय	5918.5	3923.9	9842.4
18	मिजोरम	3901.3	4904.0	8805.3
19	नागालैण्ड	4552.2	9191.3	13744.2
20	ओडिशा	69316.1	9658.8	78974.9
21	पंजाब	20146.4	5540.3	25686.6
22	राजस्थान	84892.2	12949.8	97842.0
23	सिक्किम	3466.8	1058.8	4525.7
24	तमिलनाडू	72070.4	11365.9	83437.7
25	त्रिपुरा	7411.5	5716.1	13127.6
26	उत्तर प्रदेश	285397.1	26742.9	312140.0
27	उत्तराखण्ड	16245.1	4063.0	20308.1
28	प. बंगाल	105358.6	12638.7	117997.2
		1448096.0	**258581.0**	**1706676.0**

(20)**स्थानीय निकास तथा 13 वाँ वित्त आयोग** ग्राम पंचायतों तथा स्थानीय नगरीय निकायों के सम्बन्ध में बँटवारे के लिये आयोग ने जो कसौटी दी है– वह इस प्रकार है–

क्रं0 सं0	कसौटी	भार (%)	
		ग्राम पंचायत	नगर निकाय
1	जनसंख्या	50.0	50.0
2	क्षेत्रफल	10.0	10.0
3	उच्चतम प्रति व्यक्ति आय से दूरी	10.0	10.0
4	वितरण का सूचकांक	15.0	15.0
5	कुल जनसंख्या में (SC,ST अनुपात)	10.0	————————
6	वित्त आयोग ग्राण प्रयोग सूचकांक	5.0	5.0
कुल	————	100.0	100-0

इस तरह तेरहवें वित्त आयोग की सिफारिशों से 2010–11 से 2014–15 की पाँच वर्षों की अवधि में राज्यों को केंन्द्रीय करों एवं शुल्कों के हिस्से के रूप में कुल रू. 14,48,096 करोड़ तथा सहायता अनुदान के रूप में रू. 2,58,581.0 करोड़ अर्थात् कुल रू. 17,06,677.0 करोड़ प्राप्त होंगे तेरहवें वित्त आयोग ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि यदि किसी राज्य को केंन्द्रीय करों एवं शुल्कों में छोटी–सी धनराशि प्राप्त हो रही है, किन्तु पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक क्षेत्रक शिक्षा एवं स्वास्थ के विकास तथा सड़कों आदि के अनुसरण से जुड़ी आवश्यकताएं अधिक हैं तो उसे अनुदान सहायता के रूप में अधिक धनराशि प्राप्त हो जाए जैसे कि पूर्वोत्तर के राज्य तथा जम्मू–कश्मीर तेरहवें वित्त आयोग की सिफारिशों से महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडू, कर्नाटक, हरियाणा तथा पंजाब जैसे विकसित राज्यों को अपेक्षाकृत कम धन राशि प्राप्त हो सकी है, जबकि उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश, ओडिशा तथा राजस्थान जैसे पिछड़े राज्य अधिक धनराशि प्राप्त करने में सफल रहे हैं।

तेरहवें वित्त आयोग की इस बात की सराहना की जानी चाहिए कि उसने केन्द्र एवं राज्य सरकारों को अपने राजस्व घाटों सहित सकल राजकोषीय घाटों में कमी लाने के लिए विशिष्ट उपाय अपनाने का एक रोडमैप तैयार किया है साथ ही इस बात पर भी बल दिया है कि राज्यों की कर राजस्व अर्जन की सम्भाव्यता के पूर्ण उपयोग द्वारा ऋण लेने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा सके

तेरहवें वित्त आयोग ने भारतीय लोकतंत्र में पंचायती राज संस्थाओं तथा स्थानीय निकायों के महत्व को समझते हुए उनके विकास हेतु पाँच वर्षों की अवधि के लिए रू. 87519 करोड़ अनतरिक्त किए जाने की सिफारिश की है

तेरहवें वित्त आयोग ने पर्यावरण संरक्षण से विभिन्न मुद्दो, प्राथमिक शिक्षा के विस्तार, शिशु मृत्यु दर में कमी लाने, जल संभरण परियोजनाओं, आपदाओं से जूझने, नागरिकों को विशिष्ट पहचान संख्या आवंटित करने जैसे लोक महत्व के मुद्दों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया तथा इनसे सम्बन्धित राज्यों की छोटी–से–छोटी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए धनराशियाँ आवंटित की पुलिस व्यवस्था में सुधार

तथा पुलिस बलों को आधुनिकरण तथा न्याय वितरण व्यवस्था में सुधार लाने जैसे मुद्दे भी आयोग की प्राथमिकता में रहे हैं

राष्ट्रीय राजमार्गों के निर्माण एवं विकास हेतु केन्द्र सरकार राष्ट्रीय राजमार्ग विकास प्राधिकरण के माध्यम से तथा सार्वजनिक निजी सहभागिता से संशाधन मुहैया करा रही है, लेकिन राज्यों का सड़क तंत्र जर्जर हालत में है अनेक प्रान्तीय मार्गों पर पुराने तथा जर्जर पुलों की मरम्मत और नए पुलों के निर्माण की आवश्यकता है तेरहवें वित्त आयोग ने इस तथ्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए सड़कों एवं पुलों के अनुरक्षण हेतु रू. 19,930 करोड़ दिये जाने की सिफारिश की है

कुल मिलाकर तेरहवें वित्त आयोग की सिफारिशें इतनी अधिक संतुलित एवं परिमार्जित हैं कि किसी भी राज्य केंन्द्र में सत्तासी कांग्रेस तथा उसके सहयोगी दलों द्वारा शासित अथवा विपक्षी दलों द्वार शासित की ओर से विरोध का कोई स्वर नहीं उठा है संघीय वित्त की सफलता की इससे बड़ी कसौटी और क्या हो सकती है?

22.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ गये होंगे कि तेरहवें वित्त आयोग की स्थापना राष्ट्रपति द्वारा संविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत 13 नवम्बर, 2007 को 2010–15 की अवधि हेतु सिफारिशें प्रदान करने के लिये गयी थी। डॉ0 विजय केलकर को आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। आयोग के गठन का उद्देश्य करों का निवल प्राप्तियों का केन्द्र और राज्यों के बीच वितरण किस प्रकार किया जा सकता है, और ऐसी प्राप्तियों के सम्बन्ध में हिस्सों का राज्यों के बीच आवन्टन कैसे हो राज्यों के राजस्व के सहायता अनुदान सम्बन्धित करने वाला सिद्धान्त और राज्यों को भुगतान किये जाने वाली राशि के आबंडन का आधार,राज्य वित्त आयोग द्वारा किये गये सिफारिशों के आधार पर राज्य में पंचायतों तथा नगर पालिकाओं से संसाधनों के बढ़ोत्तरी के लिये राज्य के समेकित तिथि को बढ़ाने हेतु वाँछित उपाय सुझाना।

अपनी संस्तुतियाँ देते समय जहाँ जरूरत होगी, वहाँ आयोग 1971 जनगणना के ही अंकों को आधार रूप लेगा। नेशनल क्लेसिगिरी आकस्मिक फण्ड, क्लेसिमिटी रिलीफ फण्ड तथा आपदा प्रबन्धन अधिनियम, 2005 के तहत फण्ड की वर्तमान वित्तीय व्यवस्था की, यदि आयोग चाहे तो समीझा करना आयोग उस आधार को स्पष्ट करेगा जिसके आधार पर उसमें संघ और राज्यों की प्राप्तियों तथा व्यय के सम्बन्ध में अनुमान लगाना। आयोग ने राजकोषीय क्षमता दूरी कसौटी को 47.5 प्रतिशत का भार प्रदान किया है। राजकोषीय अनुशासन को कसौटी के रूप में सबसे पहले 11 वें वित्त आयोग ने चुना तथा 11 वें एवं 12 वें दोनों में इसे 7.5 प्रतिशत का भार दिया, जबकि 13 वें वित्त आयोग केवल राजकोषीय अनुशासन को ही लिया गया है, कर प्रयास को छोड़ दिया है, तथा इसके लिये 17.5 प्रतिशत का भार दिया है। केन्द्र सरकार के विभिन्न करों की निवल प्राप्तियों में से 32 प्रतिशत प्राप्तियाँ राज्यों को जाएंगी। आठ राज्यों के लिए पंचाट अवधि (2010–15) में रू. 51,800 करोड़ का कुल आयोजना भिन्न राजस्व अनुदान अनुशासित किया गया है विशेष श्रेणी के तीन राज्यों, जो आयोजना भिन्न राजस्व घाटे की स्थिति से उबरे हैं, के लिए रू. 1,500 करोड़ का निष्पादन अनुदान अनुशंसित किया गया है। इस तरह तेरहवें वित्त आयोग की सिफारिशों से 2010–11 से 2014–15 की पाँच वर्षों की अवधि में राज्यों को केंन्द्रीय करों एवं शुल्कों के हिस्से के रूप में कुल रू. 14,48,096 करोड़ तथा सहायता अनुदान के रूप में रू. 2,58,581.0 करोड़ अर्थात् कुल रू. 17,06,677.0 करोड़ प्राप्त होंगे तेरहवें वित्त आयोग ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि यदि किसी राज्य को केंन्द्रीय करों एवं शुल्कों में छोटी–सी धनराशि प्राप्त हो रही है, किन्तु पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक क्षेत्रक शिक्षा एवं स्वास्थ के विकास तथा सड़कों आदि के अनुसरण से जुड़ी आवश्यकताएं अधिक हैं तो उसे अनुदान सहायता के रूप में अधिक धनराशि प्राप्त हो जाए जैसे कि पूर्वोत्तर के राज्य तथा जम्मू–कश्मीर तेरहवें वित्त आयोग की सिफारिशों से महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडू, कर्नाटक, हरियाणा तथा पंजाब जैसे विकसित

राज्यों को अपेक्षाकृत कम धन राशि प्राप्त हो सकी है, जबकि उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश, ओडिशा तथा राजस्थान जैसे पिछड़े राज्य अधिक धनराशि प्राप्त करने में सफल रहे हैं। कुल मिलाकर तेरहवें वित्त आयोग की सिफारिशें इतनी अधिक संतुलित एवं परिमार्जित हैं कि किसी भी राज्य केंन्द्र में सत्तासी कांग्रेस तथा उसके सहयोगी दलों द्वारा शासित अथवा विपक्षी दलों द्वार शासित की ओर से विरोध का कोई स्वर नहीं उठा है संघीय वित्त की सफलता की इससे बड़ी कसौटी और क्या हो सकती है।

22.9 शब्दवली

1. अन्तरण – विवर्तित करना, दूसरे पर भार डालना।
2. कर देयता – कर देने की क्षमता।
3. अनुदान– आर्थिक सहायता जिसके बदले कुछ लिया नहीं जाता।

22.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) सिंह एस.के. ''लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
(2) पन्त जे.सी. ''लोक अर्थशास्त्र'' लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
(3) त्यागी बी.पी. ''लोक वित्त'' जय प्रकाश नाथ एवं कम्पनी, मेरठ।

22.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

(1) मिश्रा जे.पी. ''लोकवित्त एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार'' साहित्य भवन पब्लिकेशनस।
(2) भाटिया एच.एल. – लोकवित्त, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि.
(3) Report of The Twelfth Finance Commission.

22.12 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 1- संघीय वित्त ढाचे में कौन सी समस्याऐं उत्पन्न होती है? समझाइये।इनके निवारण हेतु तेरहवें वित्त आयोग कौन से उपाय किए जाते है?

प्रश्न 2. तेरहवें वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशों की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 3. तेरहवें वित्त आयोग पर एक निबन्ध लिखिए।

इकाई–23 भारत में कर आधार (प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर)एवं गैरकर आय

इकाई संरचना

23.1 प्रस्तावना

23.2 उद्देश्य

23.3 केन्द्र सरकार की राजस्व प्राप्तियाँ

23.3.1 केन्द्र सरकार का कर राजस्व

23.3.1(A) भारत में केन्द्र सरकार के प्रत्यक्ष कर

23.3.1(B) भारत में केन्द्र सरकार के परोक्ष कर

23.3.2 केन्द्र सरकार का गैर कर राजस्व

23.4 राजस्व प्राप्तियों में तेज वृद्धि के कारण

23.5 सारांश

23.6 शब्दावली

23.7. अभ्यास प्रश्न/उत्तर

23.8 निबन्धात्मक प्रश्न

23.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

23.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

23.1 प्रस्तावना

आप अभी तक की इकाइयों के अध्ययन से लोकवित्त के सैद्धान्तिक पहलू को भलीभाँति समझ गये होंगे। इस इकाई में हम लोक वित्त के सन्दर्भ में केन्द्र सरकार की राजस्व प्राप्तियों की चर्चा करेंगे। राजस्व प्राप्तियों के प्रमुख स्रोत कर एवं गैर कर राजस्व हैं। करों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष स्रोतों की संरचना तथा उनसे प्राप्तियों का विश्लेषण किया जायेगा। केन्द्र सरकार के मुख्य कर राजस्व हैं – आयकर, निगम कर, उपहार कर, पूँजी लाभ पर कर, धन कर, लाभांश पर कर और व्यय कर। गैर कर राजस्व प्राप्तियों के प्रमुख स्रोत हैं आर्थिक सेवायें, सार्वजनिक उद्यमों से आय तथा ब्याज प्राप्तियाँ। राजस्व प्राप्तियों में तेजी से वृद्धि हुई है इसके कारणों की इकाई के अन्त में व्याख्या दी जायेगी।

23.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि–

1. इस इकाई में हम भारतीय अर्थ व्यवस्था के सन्दर्भ में केन्द्र सरकार की राजस्व प्राप्तियों का अवलोकन करेंगे।
2. केन्द्र सरकार के कर राजस्व के अन्तर्गत प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों से प्राप्तियों को विस्तृत रूप से जानेंगे।
3. केन्द सरकार के गैर कर राजस्व के स्रोतों को भी संक्षेप में देखेंगे।
4. इसके पश्चात केन्द्र की राजस्व प्राप्तियों में तेज वृद्धि के कारणों को भी समझेंगे।

23.3 केन्द्र सरकार की राजस्व प्राप्तियाँ

सरकार की राजस्व प्राप्तियों के दो प्रमुख स्रोत हैं – (क) कर राजस्व जिसमें हम प्रत्यक्ष कर राजस्व तथा परोक्ष कर राजस्व को रखते हैं। करारोपण के अन्तर्गत हम प्रमुख रूप से आयकर, निगम कर, संघीय उत्पाद शुल्क, सीमा शुल्क तथा सेवाकर को रखते हैं तथा (ख) गैर कर राजस्व। गैर कर राजस्व प्राप्तियों के अन्तर्गत हम ब्याज प्राप्तियाँ, सार्वजनिक उद्यमों, रेलवे, पोस्ट, आर0बी0आई0 से लाभांश, राजकोषीय सेवाओं, आर्थिक सेवाओं, सामान्य सेवाओं आदि से प्राप्तियाँ रखते हैं। नब्बे के दशक में तथा उसके बाद राजस्व प्राप्तियों – दोनों ही कर प्राप्तियों तथा गैर कर प्राप्तियों तथा कर उत्प्लवता में तेजी से वृद्धि हुयी है। विभिन्न वर्षों में केन्द्र सरकार की कृल राजस्व प्राप्तियां इस प्रकार रही–

करोड़ रूपये

1990–91	54995.42
2008–09	558988.59
2009–10	610022.27
2010–11	783833.00
2011–12	789892.00

23.3.1 केन्द्र सरकार का कर राजस्व

देश के विकास के लिए सरकार को वित्त की व्यवस्था करनी पड़ती है। यह वित्त उसे कई स्रोतों से प्राप्त हो सकता है और उसमें से एक मुख्य स्रोत है कर के द्वारा अर्जित आय। कर एक प्रकार का अनिवार्य भुगतान है जो उस व्यक्ति को अनिवार्य रूप से सरकार को देना पड़ता है जो कर आधार से सम्बन्धित होता है। कर के बदले में करदाता को आवश्यक रूप

से कोई लाभ नहीं होता है। कर आधार से आशय उससे है जिसको आधार बनाकर कर लगाया जाता है।

भारत सरकार की आय का भी एक मुख्य स्रोत कर व्यवस्था है। भारतीय कर व्यवस्था काफी विस्तृत, जटिल एवं विकसित है। एक संधीय राज्य होने के कारण भारत में केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच करों के क्षेत्राधिकार का स्पष्ट रूप से विभाजन किया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि न तो करों के प्रशासन या प्रबन्धन में पुनरावृत्ति हो और न ही एक कर का प्रतियोगितापूर्ण रूप से शोषण हो। सरकार करों को आर्थिक नीति के विविध उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करती है। विविध करों के मिश्रण या संरचना को हम कर ढांचा कहते हैं। राजस्व के गतिशीलन तथा व्यय योग्य आय या क्रय शक्ति के नियमन के सम्बन्ध में सभी कर प्रायः एक ही स्वभाव के होते हैं पर वितरणात्मक प्रभाव की दृष्टि से उनमें भिन्नता पायी जाती है। कुछ कर ऐसे होते हैं जिनका वितरणात्मक पहलू अधिक प्रबल होता है तो उनका राजस्व गतिशीलन पहलू कमजोर होता है पर कुछ ऐसे कर हो सकते हैं जिनका राजस्व गतिशीलन पहलू तो मजबूत हो पर वितरणात्मक पहलू कमजोर हो। सरकार विविध प्रकार के करों के बीच समन्वय स्थापित करके कर ढांचा का निर्माण करती है।

केन्द्र सरकार की करारोपण से प्राप्तियाँ

					(करोड़ रूपया)
	1990–91	2008–09	2009–10	2010–11	2011–12 (बजट)
कर राजस्व	43041.7	465970	474217.6	776963	922401
(i) प्रत्यक्ष कर	6908.77	338905.8	363956	438500	525151
(ii) परोक्ष कर	38132.9	289043.2	277123.3	338463	397250

जी.डी.पी. की वृद्धि दर में वृद्धि के साथ कर ढाँचे के विवेकीकरण तथा सुधार कर आधार में विस्तार तथा नये करों के लागू करने जैसे फ्रिंज बेन फिट टैक्स, सेवा कर, कर की उच्चतम दर में कमी, उत्तम कर प्रशासन आदि के कारण केन्द्र सरकार के कर राजस्व में ऊँची वृद्धि दर, विशेष रूप से 2004–05 के बाद, देखी गयी है। कर उत्प्लवता में भी वृद्धि देखी गयी है।

जी0डी0पी0 % रूप में केन्द्र सरकार की कर आय

	प्रत्यक्ष कर	परोक्ष कर	कुल कर राजस्व
2003-04	3.81	5.42	9.23
2007-08	6.61	5.95	12.56
2008-09	6.55	5.25	11.80
2009-10	6.32	4.63	10.95
2010-11	-	-	9.9
2011-12	-	-	10.38

दी गयी सारिणी से स्पष्ट है कि 1990–91 के बाद कर राजस्व से प्राप्तियों की निरपेक्ष मात्रा में स्पष्ट वृद्धि हुयी है। करारोपण से प्राप्ति 1990–91 में 43041.7 करोड़ रूपया थी जो बढ़कर 2011–12 में 922401 करोड़ रूपये हो जाने की उम्मीद थी। नीचे दी गयी सारिणी में केन्द्र सरकार की कर आय तथा जी0डी0पी0 अनुपात प्रदर्शित किया गया है–

उल्लेखनीय है कि कर जी0डी0पी0 अनुपात 1990–91 में 10.1% था जो 2003–04 में 9.23% होकर 2011–12 में अनुमानतः 10.38% होगा। सकल कर जी0डी0पी0 अनुपात जो 2003–04 में 9.23% था, चार वर्षों की अवधि में बढ़कर 2007–08 में 12.56% हो गया। कर राजस्व के सम्बन्ध में यह जो सुधार की स्थिति देखी गयी वह प्रत्यक्ष करों में, विशेष रूप से निगम कर के सम्बन्ध में कर उत्प्लवता अधिक सुधार के कारण हुआ, जो भारतीय निगम क्षेत्र की लाभदेयता में वृद्धि के कारण हुआ। वास्तविकता तो यह है कि परोक्षकर जी0डी0पी0 अनुपात तो 2008–09 तक तो 5 से 6% के बीच स्थिर रहा जिसके बाद इसमें गिरावट देखी गयी।

13वें वित्त आयोग के अनुसार 'प्रत्यक्ष करों' की प्राप्तियों में ऊँची वृद्धि के फलस्वरूप केन्द्र सरकार की सकल कर राजस्व प्राप्तियों की संरचना में भी परिवर्तन हुआ है। लोक वित्त के इतिहास में पहली बार 2007–08 में प्रत्यक्ष करों से वसूली परोक्ष करों की वसूली से अधिक हुयी, 2007–08 में कुल कर राजस्व में प्रत्यक्ष कर का प्रतिशत 52.6 था जो कि 2008–09 में 56.3% रहा। 1990–91 में इसका प्रतिशत केवल 19 था।

केन्द्र सरकार अपना राजस्व, करों तथा गैर–करों स्रोतों से प्राप्त करती है। इसमें से कर राजस्व केन्द्र सरकार का मुख्य आय का स्रोत है। कर राजस्व दो प्रकार का होता हैः–

(i) प्रत्यक्ष कर राजस्व (Direct Tax Revenue)

(ii) अप्रत्यक्ष कर राजस्व (Indirect Tax Revenue)

23.3.1(A) भारत में केन्द्र सरकार के प्रत्यक्ष कर

प्रत्यक्ष कर उस कर को कहते हैं जो कि उसी व्यक्ति द्वारा अदा किया जाता है जिस पर कि वह कानूनी रूप से लगाया जाता है। प्रत्यक्ष कर का अन्तरण नहीं किया जा सकता अर्थात् इसकी अदायगी को अन्य किसी व्यक्ति पर टाला नहीं जा सकता है। प्रत्यक्ष करों की स्थिति में कराघात (Impact) अथवा तात्कालिक द्रव्य भार (Immediate Money Burden) और कर भार अथवा करापात (Incidence) अथवा अन्तिम द्रव भार (Ultimate Money Burden) एक ही व्यक्ति पर पड़ते हैं।

भारत में केन्द्र सरकार को निम्नलितखत प्रत्यक्ष करों द्वारा राजस्व प्राप्त होता हैः–

1. आयकर (Income Tax)
2. निगम कर (Corporation Tax)
3. उपहार कर (Gift Tax)
4. पूँजी लाभ पर कर (Tax on Capital Gains)
5. धन कर (Wealth Tax)
6. लाभांश पर कर (Tax on Distributed Profits)
7. व्यय कर (Expenditure Tax)

(1) आय कर

भारत में आय कर सर्वप्रथम 1860 से 1873 तक लागू रहा तथा 1886 में दुबारा लागू होने के पश्चात् अब यह देश के कर ढाँचे का एक मुख्य अंग है। भारत में सभी व्यक्तिगत, अविभाज्य हिन्दू परिवार, गैर–पंजीकृत फर्म तथा अन्य सभी व्यक्तियों के संघों की कुल आय पर लगाया जाता है। भारत में कृषि से प्राप्त आय पर कर नहीं लगाया जाता है, केवल गैर–कृषिगत आय पर ही कर लगाया जाता है।

आयकर की सामान्य विशेषताएं

(1) करदाताओं का वर्गीकरण

प्रशासनिक सुविधाओं हेतु करदाताओं को निम्न छः भागों में बांटा गया हैः–

(i) व्यक्तिगत
(ii) अविभाज्य हिन्दू परिवार
(iii) सार्वजनिक एवं निजी कम्पनियाँ
(iv) स्थानीय संस्थाएँ
(v) हिस्सेदार फर्म
(vi) व्यक्तियों का संघ

(2) आयकर का वर्गीकरण

भारत में आय को छः वर्गों में बांटा गया है, जो इस प्रकार हैः–

(i) वेतन
(ii) प्रतिभूतियों पर ब्याज
(iii) सम्पत्ति से आय
(iv) व्यापार से प्राप्तियाँ एवं लाभ
(v) अन्य स्रोतों से प्राप्त आय (लाभांश सहित)
(vi) पूँजी प्राप्तियाँ

(3) आय की धारणा

कर–योग्य आय के लिए उसकी प्राप्ति में कुछ न कुछ नियमितता होनी चाहिए। एक साल में प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण द्रव्य आय को कुल आय (Gross Income) कहते हैं। निवल आय (Net Income) उस आय को कहते हैं जो कि व्यापारिक व्यय, मूल्य ह्रास (Depreciation) व्यय और व्यावसायिक हानियों को कुल आय में से निकालने के बाद शेष बचती है। निवल आय पर ही आयकर लगाया जाता है।

(4) आयकर विवरण भरना अनिवार्य है

भारत के आयकर अधिनियम की धारा 139 (Section 139) के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति एवं कम्पनी को अपना आयकर विवरण पत्र भरना आवश्यक है, चाहे उसकी आय आयकर के दायरे में आती हो या नहीं।

(5) आयकर पर अधिभार

करदाता की कर–देय आय पर जो कर आता है, उस पर अधिभार (Surcharge) लगता है। अधिभार से जो आय प्राप्त होती है, वह केवल केन्द्र सरकार को प्राप्त होती है इसे राज्य सरकारों के बीच बांटा नहीं जाता है।

(6) आयकर पर उपकर

आयकर पर उपकर (Cess) भी केन्द्रीय सरकार लगाती है जिसका वह किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए करती है। वर्ष 2010–11 के बजट में वित्त मंत्री ने आयकर 3 प्रतिशत का उपकर लागू किया है।

केन्द्र सरकार का आयकर से प्राप्त राजस्व

केन्द्र सरकार के कर राजस्व में आयकर का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्ष 1990–91 में आयकर से केन्द्र सरकार को 5,371 करोड़ का राजस्व प्राप्त हुआ जो वर्ष 2012–13 में बढ़कर 1,89,866 करोड़ रूपये हो गया है।

प्रत्यक्ष कर– व्यक्तिगत आयकर– केन्द्रीय बजट 2012–13 में वित्त मंत्री ने व्यक्तिगत आयकर में दो प्रमुख परिवर्तन किए हैं– (i) सामान्य कर दाता के सम्बन्ध में या यूं कहिए कि वरिष्ठ नागरिक तथा अति विशिष्ट नागरिक की श्रेणी को छोड़कर सभी कर दाताओं के लिए कर मुक्त सीमा का 180000 से बढ़कर 2 लाख करना। इस प्रकार पिछली बजट में 190000 रूपये कर मुक्त आय के साथ महिलाओं की विशिष्ट श्रेणी अर्थहीन होगी।

(ii) कर स्लैब दरें (10%, 20% तथा 30%) अपरिवर्तित, उच्चतम कर दर 30% के सम्बन्ध में आय सीमा 8 लाख से बढ़कर 10 लाख रूपये की गयी।

इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों के बाद आयकर ढांचा इस प्रकार है–

करदाता श्रेणी	करमुक्त आय	10% कर	20% कर	30% कर
सामान्य कर दाता	200000	200001 से 500000	500001 से 1000000	10 लाख रूपये से ऊपर
वरिष्ठ नागरिक (60 वर्ष से अधिक)	250000	250001 से 500000	500001 से 1000000	10 लाख रूपये से ऊपर
अधिक वरिष्ठ (80 वर्ष से ऊपर)	500000	–	500001 से 1000000	10 लाख रूपये से ऊपर

व्यक्तिगत कर के सम्बन्ध में बजट में दी गयी कुछ अन्य व्यवस्थायें इस प्रकार हैं–

(i) ऐसे वरिष्ठ नागरिकों को जिनको किसी व्यापार या व्यवसाय से आय नहीं प्राप्त होती है उन्हें अग्रिम कर भुगतान करना नहीं होगा पर उन्हें वार्षिक रिटर्न दाखिल करने के पहले कर देय होगा।

(ii) बचत बैंक खाते से 1 वर्ष में अर्जित 10000 रूपये तक अर्जित ब्याज कर मुक्त होगा।

(iii) मेडीक्लेम बीमा प्रीमियम 15000 रूपया तक कर मुक्त होगा, इसी सीमा के भीतर स्वास्थ्य परीक्षण के सम्बन्ध में 5000 रूपये तक व्यय करदाता के या उसके परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध में कर मुक्त होगा।

(iv) मकान सम्पत्ति के विक्रय से प्राप्त पूंजीलाभ पर कर देय नहीं होगा यदि यह लाभ अर्ह कम्पनियों के इक्विटी शेयर में निवेशित हो जाये।

(v) 80सी के अन्तर्गत इन्फ्रास्ट्रक्चर बांड के सम्बन्ध में 20000 रूपये का निवेश 2012–13 के बाद छूट के लिए अनुमन्य नहीं होगा।

(vi) सुपुर्दगी आधारित इक्विटी सौदों पर STT की दर 0.125% से घटाकर 0.1% कर दी गयी है। इसके कारण सेकेण्ड्री बाजार में शेयरों के क्रय–विक्रय की लागत में कमी होगी, फलस्वरूप पूंजीबाजार को बल मिलेगा।

(vii) ऐसी नयी पालिसीज़ के सम्बन्ध में जिनकी प्रीमियम की मात्रा बीमित राशि के 10% से अधिक हो तब तक यह 20% थी तो प्रीमियम या परिपक्वता पर प्राप्ति राशि पर अब तक अनुमन्य कर छूट अब नहीं प्राप्त होगी। जीवन बीमा व्यापार को यह हतोत्साहित करेगा।

(viii) अचल सम्पत्ति का विक्रेता, शहरी क्षेत्रों में यदि प्राप्ति 500000 रूपये तथा ग्रामीण क्षेत्र में 200000 रूपये से अधिक हो तो, विक्रय मूल्य का 1% सरकारी खजाने में अनिवार्यतः जमा करेगा।

(ix) ज्वेलरी या बुलियन के क्रय के सम्बन्ध में मूल्य का 1% स्रोत पर ही क्रेता से वसूल किया जायेगा यदि क्रय का मूल्य 200000 रूपये से अधिक।

(x) ऐसा व्यक्ति जिसकी आय 10 लाख रूपये से कम है, राजीव गांधी इक्विटी सेविंग स्कीम में 50000 रूपया प्रत्यक्ष रूप से निवेश करके निवेशित राशि के 50% तक कर छूट प्राप्त कर सकता है।

(xi) वित्त मंत्री द्वारा कुछ व्यवहारों के सम्बन्ध में कर अधिकारी को सूचना देने की अनिवार्यता जैसे (i) अचल सम्पत्ति का हस्तान्तरण, यदि इसका मूल्य ग्रामीण क्षेत्र में 200000 रूपया तथा शहरी क्षेत्र में 5 लाख रूपये से अधिक हो (ii) विदेशों में धारित सम्पत्ति के सम्बन्ध में अनिवार्य रूप से खुलासा (iii) 2 लाख रूपये से अधिक की नकद क्रय की गयी ज्वेलरी के सम्बन्ध में खुलासा (vi) कोयला, लिगनाइट या आइरन ओर में व्यापार (v) अविवेचित ऋण या मुद्रा (vi) असूचीबद्ध कम्पनियों के सम्बन्ध में उचित बाजार कीमत से अधिक प्रीमियम, सम्पत्तिकर (Wealth tax) के दायरे के विस्तार तथा ब्लैकमनी के ऊपर अंकुश लगाने के सम्बन्ध में उठाये गये कदम के रूप में लिया जा सकता है।

निगम कर (Corporation Tax)

1960–61 के पूर्व कम्पनियों पर उनके लाभ पर जो कर लगता था, उन्हें सुपर टैक्स कहते थे। 1960–61 में इसे समाप्त कर दिया गया, उसके स्थान पर कम्पनियों के निबल लाभ पर जो कर लगाया गया उसे निगम कर कहते हैं। भारत में निगम कर का निर्देशन आयकर अधिनियम (Income Tax Act) और वित्त अधिनियम (Finance Act) के द्वारा होता है।

कम्पनियों के निगम कर निर्धारण के लिए कुल लाभ में से ब्याज, मजदूरी एवं मूल्य ह्रास (Depreciation) के लागतों को निकालने के बा निबल लाभ (Net Profit) जो कि किसी कर–निर्धारण वर्ष में कम्पनियों द्वारा कमाया जाता है उस पर निगम कर लगाया जाता है। निवल लाभों का शेष भाग शेयर होल्डरों में बांट दिया जाता है। शेयर होल्डरों द्वारा इस प्रकार अर्जित की गई आय पर लाभांश कर (Dividend Tax) तथा अधिकर लगाये जाते हैं।

भारत में कम्पनियों को करारोपण के दृष्टिकोण से आकार, स्वामित्व तथा देशी और विदेशी होने के आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है।

1990–91 के पूर्व कम्पनियों पर निगम कर की दरें काफी ऊँची थी। 1991 से निगम कर की दरों को कम किया गया है जिसका मुख्य उद्देश्य है भारत में आर्थिक विकास दर को बढ़ावा देना एवं विदेशी विनिवेश को बढ़ावा देना। जहाँ 1985–86 के बजट प्रस्ताव में घरेलू कम्पनियों पर निगम कर की दर 50 प्रतिशत थी उसे 1997–98 के बजट में घटा कर 40 प्रतिशत किया गया और 2005–06 के बजट में इसे घटा कर 30 प्रतिशत किया गया। 2008–09 में इस सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

इसके विपरीत विदेशी कम्पनियों पर लगाये जाने वाले निगम कर की दर जो कि 1985–86 बजट में 65 प्रतिशत थी उसे 1997–98 बजट में घटाकर 48 प्रतिशत कर दिया गया। वर्ष 2002–03 में विदेशी कम्पनियों पर निगम कर को घटा कर 40 प्रतिशत कर दिया गया और वर्ष 2008–09 में इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

केन्द्रीय बजट 2012–13 में वित्त मंत्री ने निगम कर की दर में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया है पर वित्त मंत्री ने इनकी सस्ते फण्ड तक पहुंच तथा अनेक क्षेत्रों में अधिक निवेश को प्रवर्तित करने के सम्बन्ध में अनेक उपाय किए हैं जिनके परिणामस्वरूप कारपोरेट टैक्स की प्रभावी दर में निश्चित रूप से कमी आयेगी, यह प्रभावी दर पिछली बजट में 24% लगभग थी जबकि वास्तविक दर 30% थी।

(क)निगम क्षेत्र को कुछ कठिनाई में गुजर रहे क्षेत्रों के सम्बन्ध में, जैसे पावर, उड्डयन, सड़क तथा पुल, उरर्वक, बांध तथा वहनीय हाउसिंग, वित्त मंत्री ने यह व्यवस्था दी है कि इनके सम्बन्ध में विदेशी उधारी (ECB) पर ब्याज पर कर की दर को तीन वर्षों तक 15% से घटाकर 5% कर दिया गया है।

(ख)कृषि क्षेत्र में विकास के लिए कृषि विस्तार सेवाओ पर किए गये व्यय के सम्बन्ध में 150% की भारित कटौती।

(ग)पावर सेक्टर में नयी इकाइयों के खोलने की तिथि को मार्च 31, 2013 तक बनाये रखा गया है जिस पर 10 वर्ष तक 100% कटौती प्राप्त होगी। पावर जेनरेशन कम्पनियों द्वारा नयी सम्पत्तियों के क्रय पर 20% के अतिरिक्त ह्रास की अनुमति।

(घ)SME के लिए आडिट की अनिवार्यता की सीमा को 60 लाख रूपये से बढ़ाकर 1 करोड़ रूपया करना।

(ड.)एसटीटी की दर को 125% से घटाकर 0.1% करना।

(च)विदेशी कम्पनियों द्वारा अपनी विदेशी सहायक कम्पनियों से प्राप्त लाभांश पर प्रभावी दर 16.22% से कर की व्यवस्था। वैसे इस पर 30% कर देय होता पर अब कर की दर 15% ही होगी।

अब तक व्यवस्था के अनुसार ट्रांसफर प्राइज़िंग सीमा के अन्तर्गत केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार ही आते थे पर अब दो सम्बन्धित पार्टीज़ के बीच कुछ घरेलू व्यवहार भी ट्रांसफर प्राइज़िंग व्यवस्था के अन्तर्गत आयेंगे।

न्यूनतम वैकल्पिक कर (Minimum Alternate Tax)

1996–97 में न्यूनतम वैकल्पिक कर को कम्पनियों पर लागू किया गया क्योंकि बहुत सी कम्पनियाँ शून्य टैक्स दे रही थीं। इस प्रावधान के अन्तर्गत यदि सभी छूटों और रियायतों से लाभान्वित होने के उपरान्त किसी कम्पनी की कर देय लाभ आय उसकी लेखा लाभ आय के 30 प्रतिशत से नीचे चली जाय तो ऐसी स्थिति में उस कम्पनी की कर देय लाभ आय को उसकी लेखा लाभ आय के 30 प्रतिशत के बराबर मानते हुए कम्पनी की कर देयता निर्धारित की जाएगी। केन्द्रीय बजट 2010–11 के अनुसार इस कर की दर 15 प्रतिशत से बढ़ाकर 18 प्रतिशत कर दिया गया है जिसे 2011–12 के बजट में बढ़ाकर 18.5 प्रतिशत कर दिया गया है। वित्त मंत्री ने 2012–13 के केन्द्रीय बजट में मैट के दायरे को विस्तृत कर दिया है। अब मैट की व्यवस्था केवल कम्पनियों के सम्बन्ध में लागू नहीं होगी बल्कि सभी व्यापारिक इकाइयों (साझेदारी फर्म, एकल व्यापारी व्यक्तियों के संगठनों आदि) पर लागू होगी जो लाभ से जुड़ी कटौती का दावा करते हैं। इनके सम्बन्ध में MAT तभी लागू होगा यदि समायोजित लाभ 20 लाख रूपये से अकि हो।

2013–14 बजट में निगम करारोपण के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं:–

(क)विनिर्माण में लगी ऐसी कम्पनियों को जो 01–04–2013 से 31–03–2015 के बीच प्लाट तथा मशीनरी में 100 करोड़ रूपये से अधिक निवेश करेगी, 15 प्रतिशत की दर से विनियोग भत्ता देना होगा।

(ख)किसी भारतीय कम्पनी द्वारा अपनी सहायक विदेशी कम्पनी से प्राप्त लाभांश के ऊपर लाभांश कर की 15 प्रतिशत की किफायती दर से लागू होगी।

निगम कर से प्राप्त आय

केन्द्र सरकार को प्राप्त निगम कर से आय जो वर्ष 2009–2010 में 2,44,630 करोड़ रूपये थी वह वर्ष 2012–13 में बढ़कर 3,73,227 करोड़ रूपये हो गयी है।

उपहार कर (Gift Tax)

उपहार कर को अप्रैल 1958 में अस्तिकर, व्ययकर एवं सम्पत्तिकर के पूरक के रूप में लागू किया गया। उपहार कर का मुख्य उद्देश्य इन तीनों करों से बचने की प्रवृत्ति को रोका जा सके। यह कर दानी (Donor) पर लगता है न कि उपहार प्राप्तकर्ता पर। यह कर दाता द्वारा पिछले कर निर्धारण वर्ष में दिये गये सभी उपहारों के मूल्य पर लगाया जाता है। उपहार कर में प्रदान की जाने वाली छूटें अथवा कर माफी इस प्रकार हैं:– केन्द्र व राज्य सरकारों, स्थानीय सत्ताओं, पुण्यार्थ तथा धर्मार्थ संस्थाओं को दिये जाने वाले उपहार, विवाह के अवसर पर स्त्री आश्रितों को दिये जाने वाले उपहार, किन्तु प्रत्येक स्थिति में 10,000 रूपये तक।

1985–86 के बजट में कर मुक्ति सीमा को 5,000 से बढ़ाकर 20,000 कर दिया गया। उपहार कर 30 प्रतिशत की दर से सभी उपहार देय राशि पर लगेगा।

1998–99 में वित्त मंत्री ने उपहार कर को समाप्त कर दिया। वर्ष 2002–03 से यह व्यवस्था की गयी है कि यदि बिना किसी प्रतिफल के सगे–सम्बन्धी द्वारा दिये गये उपहार या किसी अन्य द्वारा किसी अवसर पर दिये गये उपहार जिसकी कीमत 50,000 रूपये तक हो तो उसे उपहार प्राप्तकर्ता की आय में जोड़ दिया जायेगा। इस प्रकार अब उपहार, उपहार कर के अन्तर्गत नहीं बल्कि आयकर के अन्तर्गत आता है। 2009–10 बजट के अनुसार किसी गैर सगे सम्बन्धी से प्राप्त 50,000 रूपये से अधिक का उपहार, चाहे नकद में हो या किसी अन्य रूप में हो, उपहार प्राप्तकर्ता की आय में जोड़ा जायेगा।

पूँजी लाभ पर कर

पूँजी लाभ, आय का ही एक रूप माना जाता है, परन्तु इस पर करारोपण का ढांचा थोड़ा भिन्न होता है।

किसी सम्पत्ति के विक्रय मूल्य और क्रय मूल्य के अन्तर को पूँजीगत लाभ कहा जाता है। यह लाभ सम्पत्ति के मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण उत्पन्न होता है। यह प्राप्तकर्ता की कर–देय क्षमता में वृद्धि कर देता है। कोई प्रतिभूति शेयर, डिवेन्चर या मकान या अन्य कोई सम्पत्ति जब अपनी क्रय, लागत या निर्माण लागत से अधिक पर बिकती है तो इस प्रकार होने वाले लाभ को पूँजी लाभ कहते हैं। यदि कोई प्रतिभूति जैसे शेयर अपने क्रय के वर्ष के भीतर बिकती है तो इस पर होने वाले लाभ को अल्पकालीन पूँजी लाभ कहते हैं और इस पर जो कर लगता है उसे पूँजी लाभ कर कहते हैं।

पूँजीगत लाभ कर उन निवल लाभों पर लगाया जाता है जो कि किसी के क्रय मूल्य के मुकाबले विक्रय मूल्य से प्राप्त होता है। पूँजीगत लाभों का एक सबसे महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि पूँजीगत लाभ एक अनियमित अथवा असामान्य रूप से प्राप्त होने वाला लाभ होता है जो व्यक्ति के सामान्य व्यवसाय के अलावा प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ– यदि कोई मकान बेचने वाला व्यापारी मकान बेचता है और लाभ कमाता है तो यह पूँजीगत लाभ नहीं है क्योंकि मकानों को बेचना उसका व्यवसाय है और यह लाभ उसकी सामान्य आय है पर यदि कोई और व्यक्ति जैसे डाक्टर, शिक्षक मकान बेचता है और उससे लाभ कमाता है तो वह उसकी सामान्य आय का स्रोत नहीं है बल्कि यह पूँजीगत लाभ है।

1992–93 के बजट में पूँजीगत लाभों से होने वाली आय में से प्रथम 15,000 रूपये को कर मुक्त रखा गया। शेष लाभ पर 20 प्रतिशत कर देना होगा। इसे 1999–2000 बजट में घटा कर 10 प्रतिशत कर दिया गया।

यदि लाभ एक लाख रूपये से अधिक है तो करदाता को अपने कर का 12 प्रतिशत अधिकर (Surcharge) और देना होगा। वर्ष 2010–11 के बजट के अनुसार पूँजी लाभ कर की दर 15 प्रतिशत होगी एवं वर्ष 2011–12 में भी यही दर बनी रहेगी।

लाभांश पर कर (Tax on Distributed Profit)

भारत में आयकर अधिनियम की धारा 115–0 के तहत घरेलू कम्पनी द्वारा वितरित या भुगतान की गई लाभांश पर कर लगाया जाता है। कम्पनियों की कुल आय पर आयकर के अतिरिक्त उनकी उस आय पर भी आयकर लगाया जाता है जो हिस्सेदारों में बांटी जाती है। वितरित लाभांश पर 10 प्रतिशत की दर से आयकर लगाया जाता है। कम्पनियों द्वारा दिया जाने वाले लाभांश पर कर का आरोपण वितरण से पूर्व ही किया जाता है और लाभांश प्राप्त करने वाले व्यक्ति की राशि को कर मुक्त रखा जाता है।

बजट 2002–03 में नया प्रस्ताव रखा गया जिसके अनुसार वितरण से पूर्व लगने वाले कर को समाप्त कर दिया गया और नया कर लाभांश प्राप्त करने वाले पर लगाया जायेगा। इस नये कर को निवेशकों की कुल आय में लाभांश जोड़कर लगाया जायेगा। किन्तु 2003–04 के बजट में फिर से कम्पनियों द्वारा दिये जाने वाले लाभांश पर कर का अरोपण वितरण से पूर्व किया जायेगा। 2013–14 बजट के अनुसार लाभांश पर 10 प्रतिशत का अधिभार लगाया जायेगा।

धन कर (Wealth Tax)

यह कर सम्पत्तियों पूँजी या धन के निवल मूल्य पर वार्षिक रूप से लगने वाला कर है। इस कर को भारत में 1957 से लागू किया गया है। भारत में धन कर निम्नलिखित पर लागू होता है:–

(i)व्यक्तियों पर

(ii)अविभाजित हिन्दू परिवारों पर

(iii)कम्पनियों के निवल धन पर

धन कर आरोही प्रकृति का कर है। वर्ष 1979 तक न्यूनतम छूट की सीमा व्यक्तियों के मामले में 1 लाख रूपये, हिन्दू अविभाजित परिवारों के लिए 2 लाख रूपये और कम्पनियों की स्थिति में 5 लाख रूपये थी। 15 लाख एवं इससे अधिक के मूल्य की सम्पत्तियों पर धन कर 5 प्रतिशत था। 1985–86 के बजट में धन की न्यूनतम सीमा 1 लाख से बढ़ाकर 2.5 लाख कर दी गयी। इसके अलावा धन कर की करों में भी संशोधन किया गया। 2,50,001 रूपये से 10,00,000 रूपये के धन पर 1/2 प्रतिशत का कर लगाया गया। 10,00,000 से 20,00,000 रूपये पर 1 प्रतिशत का कर एवं 20,00,000 रूपये के ऊपर 2 प्रतिशत का कर लगाया गया। वर्ष 1993–94 के बजट प्रस्तावों में रहने का एक घर और उसके हिस्सों को धन कर से मुक्त रखा गया। इसके अलावा सभी प्रकार की प्रतिभूतियों जैसे बैंक जमाएं, दीर्घकालीन जमांए, शेयर्स, बॉण्ड्स एवं डिबेन्चर्स आदि पर से धन कर हटा दिया गया है।

केन्द्र सरकार की धन कर से प्राप्त आय वर्ष 2000–2001 में 132 करोड़ रूपये थी जो वर्ष 2008–09 में बढ़कर 325 करोड़ रूपये हो गयी।

धन कर अब भी बना हुआ है। 30 लाख रूपये से अधिक धन पर लगेगा, पर धन की 30 लाख रूपये से अधिक की सीमा निर्धारित करते समय उत्पादक कम्पनियों जैसे बैंक जमा आदि को सम्मिलित नहीं किया जाता। केन्द्रीय बजट 2009–10 से इसकी सीमा 15 लाख रूपया को बढ़ाकर 30 लाख रूपया कर दिया गया है।

व्यय कर (Expenditure Tax)

व्यय कर लोगों द्वारा किये गये उपभोग व्यय (Consumption Expenditure) की धनराशि पर लगाया जाता है। व्यय–कर को 1957 में भारत में वित्त मंत्री श्री टी0टी0 कृष्णामाचारी ने लागू किया था। इस कर को 1962 में समाप्त कर दिया गया था। 1964 में व्यय–कर को पुनः लागू किया गया पर इस बार 1957 की तुलना में कर–दर कम थी। करों की दरें खण्ड पद्धति (Slab System) के आधार पर निश्चित की गयी। 1966 में इस कर को फिर से समाप्त कर दिया गया।

व्यय–कर को 1 नवम्बर 1987 में फिर लागू किया गया। इस बार इस कर को होटलों के कमरे और रहने की उन जगहों पर लागू किया गया जिनका किराया प्रतिदिन, प्रति व्यक्ति 400 रूपये था। यह कर 10 प्रतिशत की दर से उन खर्चों पर लगाया गया जो रहने, खाने–पीने तथा अन्य सेवाओं पर होता है। बजट 2002–03 में यह कर केवल कमरे के किराये पर लगाया गया जिसका किराया प्रतिदिन 3000 रूपये या इससे अधिक था। इस कर को अब समाप्त कर दिया गया है।

23.3.1(B) भारत में केन्द्र सरकार के परोक्ष कर

परोक्ष कर

परोक्ष कर वह कर होता है जो कि उस व्यक्ति द्वारा अदा नहीं किया जाता जिस पर वह लगाया जाता है बल्कि किसी समझौते के अधीन आंशिक रूप से अथवा पूर्णतया अन्य किसी व्यक्ति द्वारा अदा किया जाता है। परोक्ष करों की स्थिति में कराघात तथा करभार भिन्न–भिन्न व्यक्तियों पर पड़ता है। परोक्ष कर केन्द्र सरकार के राजस्व में सबसे प्रमुख स्रोत है। ऐसी उम्मीद की जाती है कि केन्द्र सरकार को 2013–14 में 65003 करोड़ रूपये का राजस्व परोक्ष करों से प्राप्त होगा।

केन्द्र सरकार के परोक्ष कर

(i)सीमा शुल्क (Custom Duties)

(ii)उत्पाद शुल्क (Excise Duties)

(iii)सेवा कर (Service Tax)

(i)सीमा शुल्क (Custom Duties)

सीमा शुल्क ऐसे शुल्क या कर हैं जो देश से आयातित वस्तुओं (Import) एवं निर्यातित (Export) वस्तुओं पर लगाया जाता है। सीमा शुल्क या तो मूल्यानुसार लगाये जाते हैं या वस्तुओं की मात्रा या वजन के आधार पर लगाये जाते हैं। जब ये शुल्क वस्तुओं की मात्रा या वजन के आधार पर लगाये जाते हैं तो इसे विशिष्ट शुल्क कहते हैं और जब ये शुल्क मूल्यों के आधार पर लगाये जाते हैं तो इन्हें यथामूल्य (Advalorm) कहते हैं।

सीमा शुल्क दो प्रकार के होते हैं, जो इस प्रकार हैं:–

(i) आयात शुल्क (Import Duty)

(ii) निर्यात शुल्क (Export Duty)

(i)आयात शुल्क (Import Duty)

आयात शुल्क उन वस्तुओं पर लगाया जाता है जो देश की सीमाओं के अन्दर विदेशों से आती है। भारत में आयात शुल्क भारतीय टैरिफ अधिनियम 1934 की पहली और दूसरी अनुसूची में दी गयी दरों के अनुसार लगाये जाते हैं जिनमें समय–समय पर परिवर्तन किया जाता रहता है। आयात शुल्क की दरें विभिन्न अनुसूचियों में रखी गयी है जिससे विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के साथ अलग–अलग व्यवहार किया जा सके।

(ii)निर्यात शुल्क (Export Duty)

निर्यात शुल्क उन वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जो देश की सीमाओं से बाहर विदेशों में जाती हैं। ये शुल्क समय–समय पर विभिन्न वस्तुओं पर लगाये जाते रहे हैं। वर्तमान समय में निर्यात शुल्क न केवल भारतीय सरकार की आय का महत्वपूर्ण स्रोत है बल्कि इसका उपयोग आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए भी किया जाता है निर्यात शुल्क संरक्षण के उद्देश्यों से भी लगाया जाता है, एवं इसका उपयोग देशी कीमतों को स्थिर रखने के लिए भी किया जाता है।

सीमा शुल्क में परिवर्तन करते हुए वित्त मंत्री ने 2008–09 में सीमा शुल्क की उच्चतम दर को गैर कृषि उत्पादों के लिए 15 पतिशत से घटाकर 10 प्रतिशत कर दिया। यही दर 2012–13 में बनी हुई है।

सीमा शुल्क से राजस्व

सरकार ने सीमा शुल्कों से 2009–10 में 82,324 करोड़ रूपये का राजस्व प्राप्त किया जो लगातार बढ़ता रहा है और वर्ष 2012–13 में सीमा शुल्क से प्राप्त राजस्व 186694 करोड़ रूपये हो गया।

सीमा शुल्क का कुल कर राजस्व में अगर हिस्सेदारी प्रतिशत के रूप में देखा जाये तो लगातार बढ़ रहा है। जहाँ वर्ष 2010–11 में सीमा शुल्क का कुल कर राजस्व में हिस्सेदारी 15.4 प्रतिशत थी वह वर्ष 2012–13 में बढ़कर 17.3 प्रतिशत हो गई है।

(ii)उत्पाद शुल्क (Excise Duties)

केन्द्र सरकार उत्पाद शुल्क उन वस्तुओं पर लगाती है जो देश के भीतर उत्पादित होती है। कुछ मादक वस्तुओं जैसे शराब, तम्बाकू तथा गाँजा के उत्पादन पर उत्पाद शुल्क राज्य सरकारों द्वारा लगाया जाता है न कि केन्द्र सरकार द्वारा।

भारतीय सरकार उत्पाद शुल्क के दर को लगाते समय इस बात पर ध्यान देती है कि यह उत्पादन को हतोत्साहित न करे बल्कि उसे प्रोत्साहित करे। उदाहरण के रूप में खादी एवं हथकरघे से बने कपड़े को उत्पाद शुल्क से मुक्त कर दिया गया है जिससे यह बड़े पैमाने की सूती मिलों के माल से प्रतियोगिता कर सके। जो वस्तुएं समाज में अपेक्षाकृत निर्धन वर्गों द्वारा उपभोग की जाती है उन पर नीची दरों से उत्पाद शुल्क लगाया जाता है।

कुछ वर्षों में उत्पाद शुल्क को इतना विस्तृत कर दिया गया है कि शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जिस पर उत्पाद शुल्क न लगता हो। जिन वस्तुओं पर जेनरल इक्साइज एण्ड साल्ट एक्ट 1944 के तहत् उत्पाद शुल्क लगाया जाता है, उसे बेसिक एक्साइज कहते हैं।

उत्पाद शुल्कों से प्राप्त राजस्व

केन्द्रीय सरकार का उत्पाद शुल्कों से प्राप्त आय जो वर्ष 2000–2001 में 68,526 करोड़ रूपये थी वह बढ़ कर वर्ष 2005–2006 में 1,11,226 करोड़ रूपये हुई और वर्ष 2012–13 में यह और बढ़ कर 1,93,694 करोड़ रूपये हो गयी है। इन आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि केन्द्र सरकार की आय के सभी मदों में इस मद से प्राप्त आय का महत्वपूर्ण स्थान है।

2012–13 के बजट में उत्पाद शुल्क की चर्चा करते हुए वित्त मंत्री ने कहा कि 2008–09 में ग्लोबल आर्थिक संकट के सन्दर्भ में गैर पेट्रोलियम वस्तुओं के सम्बन्ध में उत्पाद शुल्क की दर को 14% से क्रमिक रूप से घटाकर 8% किया गया था, जिसे 2011–12 में 10% कर दिया गया, इसे अब बढ़ाकर 12% कर दिया गया है। जबकि मेरिट रेट को 5% से बढ़ाकर 6% तथा लोअर मेरिट रेट को 1% से बढ़ाकर 2% कर दिया गया है। पर कोयला उर्वरक, मोबाइल फोन, बहुमूल्य पत्थर, ज्वेलरी के सम्बन्ध में 1% का लोअर रेट बना रहेगा। बड़ी कारों के सम्बन्ध में बेसिक ड्यूटी को 22% से बढ़ाकर 24% तथा ऐसी कारों के सम्बन्ध में जिसमें ड्यूटी 22% + 15000 रूपया थी, उसे बढ़ाकर 27% कर दिया गया था। वित्त मंत्री ने केन्द्रीय बजट 2012–13 में कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को जो संकट की स्थिति से गुजर रहे थे, उन्हें सीमा शुल्क तथा उत्पाद शुल्क सम्बन्धी कुछ रियायतें दी जिससे उनके निवेश की मात्रा में वृद्धि हो।

(iii)सेवा कर (Service Tax)

सेवाकर केन्द्रीय कर राजस्व का एक महत्वपूर्ण कर है। कर आधार को और विस्तृत करने के लिए चैलैया समिति की सिफारिशों के आधार पर सेवाकर को 1994–95 के बजट में शुरू

किया गया। इस वर्ष तीन सेवाओं जैसे टेलीफोन, सामान्य बीमा तथा स्टाक ब्रोकर्स पर 5 प्रतिशत की दर पर सेवाकर लगाया गया। वर्ष 1996–97 के बजट में पेजिंग, कुरियर तथा विज्ञापन सेवाओं को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया।

प्रत्येक बजट में करारोपित सेवाओं का दायरा बढ़ता गया और वर्ष 2011–12 में 119 सेवाओं पर कर लगाया गया। वर्ष 2012–13 के बजट में 17 सेवाओं को चिन्हित किया गया जिन पर सेवा कर नहीं लगेगा बाकी सभी सेवाओं पर सेवा कर लगता है। वर्ष 2013–14 के बजट में इन 17 सेवाओं में 2 और सेवाओं को जोड़ दिया गया, जिन पर सेवा कर लागू नहीं होगा। वर्तमान में सेवाकर का दर 12 प्रतिशत है।

सेवाकर संघ सूची में आता है। भारतीय संविधान के 88वें संशोधन के अनुसार सेवाओं पर कर भारत सरकार द्वारा लगाये जायेंगे तथा पार्लियामेन्ट द्वारा पारित कानून के अन्तर्गत भारत सरकार तथा राज्यों के बीच बांटे जायेंगे।

सेवाकर से राजस्व

वर्तमान में कुल राजस्व में इसकी हिस्सेदारी 115 प्रतिशत से अधिक है। वर्ष 2000–01 में सेवाकर से प्राप्त राजस्व 2,614 करोड़ था जो वर्ष 2013–14 के बजट में बढ़कर 1,80,141 करोड़ रूपये हो गया है।

सेवा करारोपण से प्राप्त राजस्व की सेवाओं के जी0डी0पी0 में योगदान के अनुपात को दृष्टि में रखते हुए, उससे प्राप्त राजस्व को बढ़ाने के लिए कर आधार को और अधिक बढ़ाने को दृष्टि में रखते हुए 2012–13 में वित्त मंत्री ने सेवाओं के करारोपण के सम्बन्ध में सर्वथा नया दृष्टिकोण रखा। इसके सम्बन्ध में तीन तथ्य उल्लेखनीय हैं:–

(i) निगेटिव या प्रतिबन्धात्मक सूची में शामिल 17 सेवाओं को छोड़कर सभी सेवाओं को कर के दायरे में रखने का प्रस्ताव किया।

(ii) सेवाकर की दर 2012–13 में 10% से बढ़ाकर 12% कर दी गयी है।

(iii) 2012–13 सेवाकर से प्रत्याशित राजस्व प्राप्ति 124000 करोड़ रूपये होगी जबकि 2011–12 में इससे बजट की गयी आय 95000 करोड़ रूपया (संशोधित अनुमान 71016 करोड़ रूपया) थी। इस प्रकार सेवाओं से 18660 करोड़ रूपये अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

प्रतिबन्धात्मक सूची में 17 सेवायें शामिल हैं जिसे अन्तर्राष्ट्रीय कार्य प्रणालियों, मानकों तथा अपनी सामाजिक आर्थिक आवश्यकताओं संघीय ढांचों के स्वरूप आदि को दृष्टि में रखते हुए तैयार किया गया है।

निगेटिव सूची में आने वाली प्रमुख सेवायें इस प्रकार हैं:–

फाइनेन्स बिल 2012–13 के 66D में सेवाओं की निगेटिव लिस्ट दी गयी है जो इस प्रकार है:–

(i) सरकार या एक स्थानीय अधिकारी द्वारा की गयी सेवायें जो निजी क्षेत्र से प्रतिस्पर्धा करती हैं (बिल में गिनायी गयी 4 सेवाओं को छोड़कर)।

(ii) रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया द्वारा दी गयी सेवायें।

(iii) भारत में स्थित विदेशी राजनयिक मिशन द्वारा की गयी सेवायें।

(iv) कृषि से सम्बन्धित कुछ सेवायें जैसे कृषि उत्पादन क्रिया से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित सेवायें, कृषि श्रमिक की पूर्ति से सम्बन्धित सेवायें, एग्रोमशीन या संयंत्रों के प्रयोग से प्राप्त किराया, कृषि विस्तार सेवायें आदि।

(v) वस्तुओं की ट्रेडिंग।

(vi) वस्तुओं के विनिर्माण या उत्पादन से सम्बन्धित प्रक्रिया।

(vii) रेडियो अथवा टेलीविजन में विज्ञापन छोड़कर अन्य विज्ञापन के लिए जगह या समय बेचना।

(viii) टोल टैक्स के भुगतान के बाद किसी सड़क या पुल तक पहुंच के द्वारा सेवा।

(ix) बाजी लगाना, जुआ तथा लाटरी।

(x) किसी मनोरंजन देने वाली जगह या सुविधा में प्रविष्टि।

(xi) किसी बिजली वितरक सेवा उपयोगी संस्था द्वारा बिजली के ट्रान्समिशन या वितरण सम्बन्धी सेवा।

(xii) निम्नांकित सेवायें (क) प्रीस्कूल शिक्षा तथा हायर सेकेण्ड्री स्कूल
(ख) व्यावसायिक शिक्षण पाठ्यक्रम के भाग के रूप में शिक्षा।
(ग) कानून द्वारा मान्यता प्राप्त कोई क्वालीफिकेशन प्राप्त करने से सम्बन्धी सेवा।

(xiii) आवास के लिए प्रयुक्त आवासीय भवन को किराया पर प्रयोग में लाना।

(xiv) ब्याज या बट्टा पर जमा या उधार देने सम्बन्धी सेवा तथा विदेशी करेन्सी के विनिमय से जुड़ी सेवा।

(xv) यात्रियों के ट्रान्सपोर्टेशन से सम्बन्धित सेवायें।

(xvi) (क) वस्तुओं के ट्रान्सपोर्टेशन से सम्बन्धित सेवा, जो सड़क के रास्ते से हो, पर किसी यातायात एजेन्सी या कोरियर द्वारा की गयी सेवा इसमें सम्मिलित नहीं होगी।
(ख)एयर क्राफ्ट या जलमार्ग से ट्रान्सपोर्टेशन।

(xvii) अन्तिम संस्कार, गाड़ने या जलाने या मृतक के ट्रान्सपोर्टेशन से सम्बन्धित सेवा।

पर बजट के बाद इस सूची को और बढ़ाकर 38 कर दिया गया है। इस समय कुल 119 सेवायें कर दायरे में हैं।

वित्त मंत्री ने प्रतिबन्धात्मक सूची के अतिरिक्त कुछ अन्य सेवाओं की भी बात की जिन्हें सेवाकर में छूट प्राप्त है। इनमें हेल्थ केयर, धर्मार्थ सेवायें, स्वतंत्र पत्रकारों, खेल हस्तियों द्वारा मुहैया कराने वाली सेवायें शामिल हैं। वित्त मंत्री ने फिल्म उद्योग को भी सिनेमोटोग्राफिक फिल्मों की रिकार्डिंग से सम्बद्ध कापीराइट पर कर छूट की व्यवस्था की है। जीवन बीमा के पहले वर्ष के प्रीमियम पर 3% तथा बाद के वर्षों में प्रीमियम पर 1.5% की दर से कर लगाने की बात कहीं। देश में घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय यात्रा के लिए विमान यात्रा पर 12% की दर से मूल्यानुसार कर लगेगा। पर इकानॉमी श्रेणी में यात्रा करने पर 60% छूट मिलेगी।

23.3.2 केन्द्र सरकार का गैर कर (Non-Tax) राजस्व

केन्द्रीय सरकार के कर भिन्न राजस्व में निम्नलिखित मदें शामिल हैं:–

(क) ब्याज प्राप्तियाँ

(i) राज्य तथा संघीय क्षेत्रों को दिये गये ऋणों से प्राप्त ब्याज

(ii) रेलवे तथा टेलीकम्यूनिकेशन से ब्याज प्राप्ति

(iii) सार्वजनिक उद्यमों, पोर्ट ट्रस्ट, सहकारी समितियों तथा सरकारी कर्मचारियों से प्राप्त ब्याज।

(ख) लाभ तथा लाभांश

(i) RBI से लाभ,

(ii) राष्ट्रीयकृत बैंक, LIC, GIC, IDBI तथा सार्वजनिक उद्यमों से प्राप्त आय।

(ग) अन्य गैर कर प्राप्तियाँ

(i) राजकोषीय सेवाओं से प्राप्ति जैसे आर्थिक अपराधों के लिए जुर्माना तथा मिन्ट से आय या सिनोरेज।

(ii) अन्य सामान्य सेवाओं से प्राप्तियाँ जैसे संघ लोक सेवाओं आयोग, राज्यों को दी गयी पुलिस बल, फार्म बेचने से आय, अंकेक्षण फीस, पासपोर्ट, वीसा आदि से आय।

(iii) सामाजिक तथा सामुदायिक सेवाओं से आय जैसे आकाशवाणी तथा दूरदर्शन की व्यापारिक सेवाओं से आय, म्यूजियम आदि से प्रवेश शुल्क, अस्पताल आदि से आय।

(iv) आर्थिक सेवाओं से आय जैसे पशुपालन, डेयरी, मत्स्य पालन, यातायात तथा संवहन पर्यटन, सड़क, पुल, पोर्ट, आयात तथा निर्यात लाइसेन्स फीस एवं विदेशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से प्राप्त अनुदान।

केन्द्र सरकार की गैर कर राजस्व प्राप्तियां जो 1990–91 में 11948.27 करोड़ रूपये थी। 2005–06 में 77738.75 करोड़ रूपये, 2008–09 में 93018.59 करोड़ रूपये, 2009–10 में 135805.7 करोड़ रूपये तथा 2010–11 में 220148 करोड़ रूपये हो गयी। 2009–10 के दौरान गैर कर राजस्व प्राप्तियों के कुछ प्रमुख स्रोत थे–

आर्थिक सेवायें (53229 करोड़ रूपया) सार्वजनिक उद्यमों से आय (52743.52 करोड़ रूपये जो 1990–91 में 1066.31 करोड़ रूपये था) ब्याज प्राप्तियां 19176.55 करोड़ रूपया।

23.4 राजस्व प्राप्तियों में तेज वृद्धि के कारण

इधर हाल के वर्षों में भारत में केन्द्र सरकार की राजस्व प्राप्तियों में तेजी से वृद्धि हुयी, यह वृद्धि राजस्व प्राप्तियों की निरपेक्ष मात्रा में तथा साथ ही डी0जी0पी0 के अनुपात के रूप में वृद्धि देखी गयी है। इसके सम्बन्ध में निम्नांकित कारणों को रेखांकित किया जा सकता है–

(i)राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय उत्पाद में ऊँची वृद्धि दर– राष्ट्रीय आय या राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के आधार को प्रभावित करती है, इसीलिए जैसा आप बजट अनुमान में पाते हैं, सभी प्रकार के करों से अनुमानित प्राप्तियों का आकलन राष्ट्रीय आय की मात्रा के आधार पर किया जाता है। दसवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान अर्थव्यवस्था की विकास दर 9% के आस–पास रही जिसके परिणामस्वरूप कुल राजस्व प्राप्तियां जो 1990–91 में 54995 करोड़ रूपया थी बढ़कर 2011–12 में 789892 करोड़ रूपया हो गयी।

(ii)कर आधार में विस्तार– कर ढांचे में कुछ नये करों के समाविष्ट होने के कारण कर आधार विस्तृत हुआ है तथा कर से राजस्व प्राप्तियों में वृद्धि हुयी है। इस दृष्टि में दो करों का उल्लेख आवश्यक है – फ्रिन्ज बेनफिट टैक्स तथा सेवा कर। 13वाँ वित्त आयोग यह स्वीकार करता है कि 'फ्रिन्ज बेनफिट टैक्स' के लागू होने के कारण विशेष रूप से 2004–05 के बाद केन्द्र सरकार की राजस्व प्राप्ति में वृद्धि हुयी है। 1994–95 में शुरू किए गये सेवा करारोपण के कारण सरकार की परोक्ष करों से प्राप्ति में बहुत अधिक वृद्धि हुई है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सेवाकरों से केन्द्र सरकार को 2010–11 में 69400 करोड़ रूपये की प्राप्ति हुयी जबकि 2011–12 में इसका अनुमानतः प्राप्ति 82000 करोड़ रूपये की है।

सेवाकर का कुल राजस्व में हिस्सा जो 2003–04 में 3.1% था 2008–09 में 10.4% तथा 2010–11 तथा 2011–12 में 8.8% रहा।

(iii) करों की उच्चतम दर में कमी– ऐसा माना जाता है कि जैसा आर्ट लैफर ने लैफर वक्र के माध्यम से प्रतिपादित किया कि कर की नीची दर पर कर से मिलने वाला राजस्व अधिक होगा। कर की दर में कमी के कारण कर अपवंचन में कमी होगी क्योंकि ऊँची कर दर पर कर अपवंचन अधिक लाभ देने वाला होगा तथा कर वसूली में वृद्धि होगी। इतना ही नहीं कर की नीची दर के कारण अर्थव्यवस्था में विनियोग तथा उत्पादन बढ़ेगा जिसके कारण कर की नीची दर के बावजूद भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रकार के करों से राजस्व प्राप्तियों में वृद्धि होगी। उल्लेखनीय है कि 1990–91 आय कर तथा निगम कर तथा साथ ही सीमा शुल्क तथा उत्पादन शुल्क की सीमान्त दरों में सरकार ने बहुत अधिक कमी लायी है।

(iv) टैक्स कम्प्लायेन्स (कर दायित्व को पूरा करने) में सुधार– 13वें वित्त आयोग ने यह स्पष्ट किया कि कर राजस्व की उत्प्लवता में जो इधर हाल के वर्षों में वृद्धि हुयी वह बहुत अधिक सीमा तक टैक्स काम्प्लायेन्स में समुन्नती के कारण हुआ है जो TIN (टैक्स इनफार्मेशन नेटवर्क) के लागू करने तथा इसके NSDL द्वारा क्रियान्वयन के कारण हुआ है। 2004 में जब TIN शुरू हुआ तब से टैक्स कत्प्लायेन्स में वृद्धि हुयी फलस्वरूप राजस्व में वृद्धि हुयी है।

(v)कर प्रणाली में सुधार तथा इसका विवेकीकरण– दोनों ही प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर प्रणाली में सुधार, कर ढांचे के विवेकीकरण तथा सरलीकरण, करदाता मैत्री वातावरण के सृजन आदि के कारण कर लोच तथा कर उत्प्लवता में वृद्धि हुयी है। जिसके फलस्वरूप कर राजस्व में वृद्धि हुयी है।

(vi)गैर कर राजस्व में वृद्धि– ब्याज प्राप्तियां, सार्वजनिक उद्यमों जिनमें हम बैंकों को भी सम्मिलित करते हैं तथा आर्थिक सेवाओं से प्राप्तियाँ केन्द्र सरकार के गैर कर राजस्व के प्रमुख स्रोत हैं। पर इधर हाल के वर्षों में विशेष रूप से 2007–08 के बाद निरपेक्ष मात्रा तथा जी0डी0पी0 अनुपात के रूप में इसमें वृद्धि हुई है। गैर कर राजस्व में वृद्धि के तीन कारण प्रमुख रहे हैं– सार्वजनिक उद्यमों की कुशलता तथा लाभदेयता में वृद्धि, आर्थिक सेवाओं से प्राप्तियों में वृद्धि तथा 2जी तथा 3जी स्पेक्ट्रम से प्राप्ति।

23.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप समझ गये होंगे कि केन्द्र सरकार की राजस्व प्राप्तियां कर एवं गैर कर स्रोतों से अर्जित होती है। कर प्राप्तियां प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों के द्वारा होती है और उसके प्रकार की विस्तृत चर्चा की गई। लोक वित्त के इतिहास में पहली बार 2007–08 में प्रत्यक्ष करों से वसूली परोक्ष करों की वसूली से अधिक हुयी। 1990–91 से अब तक दोनों ही कर प्राप्तियों तथा गैर प्राप्तियों तथा कर उत्प्लवता में तेजी से वृद्धि हुयी है। इकाई के अन्त में हमने राजस्व प्राप्तियों में तेज वृद्धि के कारणों की पड़ताल की।

23.6 शब्दावली

1. प्रत्यक्ष कर – जिस पर कानूनी जिम्मेदारी हो कर देने की यदि वही कर का मौद्रिक भार वहन करे।

2. अप्रत्यक्ष कर – जिस पर कानूनी जिम्मेदारी हो कर देने की यदि वह उसके मौद्रिक भार को आंशिक या पूर्ण रूप से दूसरे पर डाल दे।
3. कर – लोगों द्वारा सरकार को दिया जाने वाला अनिवार्य अंशदान जिसके बदले में उसे प्रत्यक्ष लाभ नही मिलता।
4. उत्पाद शुल्क – देश के भीतर उत्पादित वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर।

23.7. अभ्यास प्रश्न / उत्तर

I-(1) निम्न में से कौन से मद से आर्थिक असमानता घटती है–

(अ) सम्पत्ति कर (ब) धन कर
(स) पूँजी कर (द) आयकर

(2) केन्द्र सरकार का परोक्ष कर है–

(अ) व्यय कर (ब) पूँजी लाभ कर
(स) आय कर (द) सीमा शुल्क

(3) केन्द्र सरकार का प्रत्यक्ष कर है–

(अ) उत्पाद शुल्क (ब) आयात शुल्क
(स) निगम कर (द) सेवा कर

II- रिक्त स्थान भरो–

(1) ब्याज प्राप्तियां ..... राजस्व प्राप्तियों के अन्तर्गत आता है।
(2) नब्बे के दशक के बाद से राजस्व प्राप्तियों तथा कर उत्प्लवता में ..... हुई है।
(3) विविध करों के मिश्रण या संरचना को ..... कहते हैं।
(4) प्रत्यक्ष कर का ..... नहीं किया जा सकता।
(5) भारत में आयकर सर्वप्रथम ..... में लागू हुआ।
(6) ..... आय पर आयकर लगाया जाता है।
(7) करदाता की कर देय आय पर जो कर लगाया जाता है उसे ..... कहते हैं।
(8) किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए केन्द्र सरकार आयकर पर ..... लगाती है।
(9) उपहार अब उपहार कर के अन्तर्गत नहीं ..... के अन्तर्गत आता है।
(10) धन कर को भारत में ..... लागू किया गया।
(11) जब सीमा शुल्क वस्तुओं की मात्रा या वजन के आधार पर लगाये जाते हैं तो उसे ..... कर कहते हैं।
(12) सीमा शुल्क दो प्रकार के होते हैं ..... शुल्क एवं ..... शुल्क।

उत्तरः

I (1) द (2) द(3) स

II (1) गैर कर (2)तेज वृद्धि (3)कर ढांचा (4)अन्तरण(5) 1860(6)निबल(7)अधिभार (8)उपकर(9)आयकर(10)1957 (11)विशिष्ट(12) आयात, निर्यात

23.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय कर प्रणाली की मुख्य विशेषताओं पर एक व्याख्यात्मक नोट लिखें।
2. आयकर व्यवस्था पर समीक्षात्मक टिप्पणी करें।

3. निगम कर से आप क्या समझते हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसकी व्याख्या कीजिए।
4. सेवा कर किसे कहते हैं? भारत में सेवा कर की स्थिति का वर्णन करें।
5. सीमा शुल्क क्या है? भारतीय कर राजस्व में सीमा करों का महत्व एवं स्थिति बताइये।
6. राजस्व प्राप्तियों में तेज वृद्धि के कारणों की व्याख्या कीजिए।

23.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लाल एस एन एवं एस के लाल ''लोकवित्त तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार'' (2013) शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
2. त्यागी बी पी ''लोकवित्त'' (2014) जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।
3. भाटिया एच एल ''लोकवित्त'' विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा0 लि0।

23.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सिंह एस के ''लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त'' (2013) साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. पन्त जे सी ''लोक अर्थशास्त्र'' लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
3. Economic Surveys: various issues.

इकाई–24 राज्य और स्थानीय निकाय की आय के स्रोत

इकाई संरचना

24.1 प्रस्तावना

24.2 उद्देश्य

24.3 राज्यों की आय के साधन

24.3.1 कर आय

24.3.2 गैर कर आय के साधन

24.4 स्थानीय निकाय के आय के स्रोत

24.4.1 नगर पालिकाओं के आय के स्रोत

24.4.2 नगर निगम के आय के स्रोत

24.4.3 ग्राम पंचायतों के वित्त के साधन

24.4.4 पंचायत समितियों के वित्त

24.4.5 जिला परिषद के वित्त

24.5 बारहवाँ वित्त आयोग एवं स्थानीय संस्थाएं

24.6 सारांश

24.7 शब्दावली

24.8 अभ्यास प्रश्न / उत्तर

24.9 निबन्धात्मक प्रश्न

24.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

24.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

24.1 प्रस्तावना

इस इकाई के पहले आप ने केन्द्र सरकार की आय के स्रोत जिसमें कर एवं गैर कर राजस्व सम्मिलित थे, का अध्ययन किया। इस इकाई में हम राज्यों और स्थानीय निकायों के आय के स्रोतों के बारे में जानेंगे क्योंकि भारत में संघीय वित्त व्यवस्था है जिसमें केन्द्रीय सरकार की वित्त व्यवस्था के साथ ही राज्यों की वित्त व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। केन्द्र सरकार की भाँति, राज्य सरकारों के बजटों को पूँजी तथा राजस्व खातों में बांटा जाता है। पूँजी खाते में उन मदों को लिया जाता है जिनसे सरकार वित्तीय परिसम्पत्तियों तथा देनदारियों का लेन–देन करती हैं तथा राजस्व खाता सामान्य प्रशासनिक गतिविधियों को दिखाता है। राज्य सरकारों के पास आय के अनेक साधन है, किन्तु वे संघ सरकार के समान लोचपूर्ण नहीं हैं इसलिए राज्यों को आय के लिए संघ सरकार पर भी निर्भर रहना पड़ता है। राज्यों के आय के साधनों को दो भागों में बांटा जा सकता हैः–

(1) कर राजस्व और

(2) गैर कर राजस्व

इस इकाई में हम स्थानीय वित्त के साधनों का भी विवेचन करेंगे। कुछ आवयकताएं स्थानीय प्रकृति की होती हैं जिनकी पूर्ति सामान्यता स्थानीय स्वशासन द्वारा होती है और उसके संचालन के लिए वित्त की सक्षम व्यवस्था होना जरूरी है इसलिए स्थानीय सरकारों को कुछ कर तथा आय के कुछ अन्य साधन सौंपे जाते हैं।

24.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि–

(1)इस इकाई में हम राज्य सरकारों के आय के स्रोतों की विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।

(2)इसके उपरान्त हम स्थानीय सरकारों के वित्त साधनों की भी चर्चा करेंगे।

24.3 राज्यों की आय के साधन

इसे हम दो भागों में विभक्त करेंगे– कर राजस्व तथा गैर कर राजस्व।

(1)कर राजस्व– भारतीय संविधान के अन्तर्गत कुछ कर राज्य सरकारें लगायेंगी, वसूल करेंगी तथा उनका उपयोग भी स्वयं करेंगी। इसके अन्तर्गत भू–राजस्व या मालगुजारी, कृषि आय पर कर, कृषि भूमि के सम्बन्ध में उत्तराधिकार कर तथा अस्ति कर, भूमि भवनों व खनिज अधिकारों पर कर तथा मद्य, अफीम, भारतीय भांग व मादक औषधियों तथा मादक पदार्थों के उत्पादन व विनिर्माण पर उत्पादन कर, मार्गों पर कर, बिजली पर कर, वाहनों, जानवरों अथवा नावों पर कर, समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर, मनोरंजन कर, विलासता की वस्तुओं पर कर, जिसमें बाजी तथा जुआ पर कर भी शामिल है, स्टाम्प शुल्क तथा रजिस्ट्रेशन फीस आदि।

(2)गैर कर राजस्व– इसमें प्रशासनिक प्राप्तियां, सार्वजनिक व्यवसायों से आय, वन, सिंचाई, बिजली, जल एवं स्थल परिवहन, उद्योग आदि से प्राप्त होने वाली आय मुख्य है।

24.3.1 कर आय

(1) भू–राजस्व– यह राज्य सरकारों की आय का एक परम्परांगत साधन है। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व इस साधन से राज्य सरकारें अपने आयों का लगभग 50% भाग प्राप्त करती थी। यह कर भू–स्वामियों को अपनी भूमि के अनुसार प्रति वर्ष देना पड़ता था। राज्य प्रशासक भूमि पर अधिक कर लगाने के इच्छुक नहीं रहे हैं, सन 1951–52 में भू राजस्व से

केवल 48 करोड़ रूपये प्राप्त हुए थे जबकि कृषि क्षेत्र का उत्पादन चालू कीमतों पर 4800 करोड़ रूपये था। देश के कुल उत्पादन के मूल्य का यह 10 प्रतिशत था। आगे चलकर भू राजस्व आय बढ़कर 110 करोड़ रूपये हो गई, जबकि कृषि क्षेत्र की आय 15000 करोड़ रूपये हो गयी। सन् 1971–72 में भू राजस्व से प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय 1 प्रतिशत से भी काफी कम थी। सन 1951 से 1971 के बीच कृषि उपज के मूल्य में 10200 करोड़ रूपये की अतिरिक्त वृद्धि हुई जिसमें से राज्य कुल 60 करोड़ रूपये की अतिरिक्त भूराजस्व के रूप में एकत्र कर पाये। भू राजस्व से प्राप्तियां तो बढ़ी हैं पर कुल करों से प्राप्त आय में भू राजस्व में प्रतिशत का प्रतिशत घटा है। भू–राजस्व में वृद्धि खासतौर से द्वितीय व तृतीय योजना अवधि में निम्नलिखित कारणों से हुई है–

(1) भू राजस्व में सीधी वृद्धि (2) अधिभार लगाना (3) स्थानीय निकायों द्वारा या उनके लिए भू रास्व पर उपकर लगाना (4) वाणिज्यिक फसलों पर कर (5) सिंचाई अथवा पान की दरों में वृद्धि (6) भू राजस्व के पुनर्निधारण तथा बिचौलियों की समाप्ति के कारण होने वाली वृद्धि आदि। अन्त में यह कहा जा सकता है कि कर के रूप में भू राजस्व का निर्धारण समुचित रूप से नहीं किया गया है। यह विभिन्न आकार के जोतों पर समान रूप से पड़ता है और अवरोही प्रभाव डालता है। यह बेलोच तथा अनुत्पादक प्रकृति का है और राज्यों की कुल कर आय में इसका अंशदान बहुत कम है।

(2) **कृषि आयकर**– भारत में कृषि आय कर सर्वप्रथम सन 1860 में लगाया गया था। उस समय यह सामान्य आयकर का ही एक भाग था, लेकिन कुछ समय के बाद कृषि आयकर हटा लिया गया। सन 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत कृषि आय कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया गया। परिणामतः सन 1944 में बंगाल में और सन 1947 में उड़ीसा में यह कर लगाया गया। बिहार भारत में सबसे पहला राज्य था जिसने कृषि आमदनियों पर कर लगाया क्योंकि वहां स्थायी बन्दोबस्त की प्रथा लागू थी और भू राजस्व से प्राप्त होने वाली आय कम तथा बेलोच थी। भारत में अधिकांश राज्यों में कृषि आयकर लागू कर दिया गया है किन्तु इसमें कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। कृषि धन तथा आय कराधान समिति के अनुसार ''केरल तथा असम राज्यों को ही ऐसा उल्लेखनीय अपवाद माना जा सकता है कि जहाँ तक कृषि आयकर का राजस्व जो कि अधिकांशतः बागानों की आय से प्राप्त होता है, भू राजस्व से अधिक है। कुछ अन्य राज्यों में भी कृषि आयकर सरकारी आय का प्रमुख स्रोत है जैसे कर्नाटक, तमिलनाडू और पश्चिम बंगाल। कृषि आयकर से होने वाली प्राप्ति का 90 प्रतिशत से भी अधिक भाग इन्हीं पाँच राज्यों से प्राप्त होता है। फसल उपकरों का अंशदान भी केवल कुछ ही राज्यों में उल्लेखनीय है और उनमें भी इसकी प्राप्तियों का बड़ा भाग गन्ने पर लगाये गये उपकरों से प्राप्त होता है।'' इसके अलावा कृषि आयकर की दरें काफी नीची रही है। सन 1951–52 में कृषि आयकर से 4.03 करोड़ रूपये आय प्राप्त हुई जो 2006–07 में 22 करोड़ रूपये और 2010–11 में 81 करोड़ रूपये हो गयी।

(3) **स्टाम्प शुल्क, न्यायालय फीस तथा रजिस्ट्रेशन**– राज्य सरकार स्टाम्प शुल्क दो प्रकार से लगाती है न्यायिक तथा गैर न्यायिक। न्यायिक स्टाम्प शुल्क सन 1870 के न्यायालय शुल्क अधिनियम के अन्तर्गत लगाये जाते हैं। इन शुल्कों को वे लोग देते हैं जिन्हें कानूनी अदालतों तथा सरकारी कार्यालयों से व्यवहार करना होता है। इसे न्यायालय शुल्क कहते हैं। गैर न्यायिक स्टाम्प शुल्कों का नियमन भारतीय स्टाम्प अधिनियम 1899 द्वारा किया जाता है।

विनियम पत्रों, चेक, उधार पत्र, प्रतिज्ञा–पत्र तथा रसीदों आदि पर लगने वाले स्टाम्प शुल्क केन्द्र की विधायी क्षमता के अन्तिर्गत आते हैं परन्तु उनकी प्राप्तियों का संग्रह राज्यों द्वारा किया जाता है और राज्यों द्वारा ही वे परस्पर बांट ली जाती है। अचल सम्पत्ति के सौदों के साथ–साथ अन्य मदों पर काम आने वाले स्टाम्प शुल्क राज्य सरकारों द्वारा लगाये जाते हैं। कुछ स्टाम्प शुल्कों की दरें निश्चित होती हैं जबकि कुछ अन्य दरें मूल्यवार होती हैं। तमिलनाडु जैसे कुछ राज्य अचल सम्पत्ति के हस्तांतरण पर लगने वाले स्टाम्प शुल्क का अधिभार भी लगाते हैं जिनका संग्रह राज्य द्वारा किया जाता है और फिर वे स्थानीय निकायों को सौंप दिये जाते हैं।

स्टाम्प शुल्क तथा रजिस्ट्रेशन से होने वाली सरकारी आय कई कारणों से अच्छी वृद्धि दिखा रहा है। ये कारण है बढ़ती हुई आर्थिक क्रियायें, कीमतों तथा भूमि के सौंदों का बढ़ता हुआ स्तर तथा भूमि सुधार। राज्यों ने समय–समय पर स्टाम्प शुल्कों की दरों में वृद्धि की है। ये कर सामर्थ्य सिद्धान्त की कसौटी पर खरे नहीं हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध करदाता की सामर्थ्य से नहीं होता है। स्टाम्प शुल्क तथा रजिस्ट्रेशन से राजस्व 1951–52 में 55.06 करोड़ रूपये था जो 2006–07 में 31680 करोड़ रूपये हो गया जो सन् 2010–11 में 46039 करोड़ रूपया अनुमानित था।

(4) राज्य उत्पादन शुल्क– भारतीय संविधान के अनुसार राज्यों को यह अधिकार दिया गया है कि राज्य में बनी हुई या पैदा की गई निम्न वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क तथा साथ ही भारत में कहीं अन्यत्र निर्मित या पैदा की गई इन्हीं वस्तुओं पर उतनी ही दर से या उससे नीची दर से प्रतिकर या जवाबी कर लगा सकते हैं–

(क) मानवीय उपभोग के लिए काम में आने वाली शराब

(ख) अफीम, भारतीय भांग व नशीली दवायें तथा नशीले पदार्थ (चिकित्सा एवं श्रृंगार सम्बन्धी सामग्रियों को छोड़कर जिनमें इन पदार्थों का प्रयोग हुआ हो)

ये कर एक तरह से प्रतिबंधात्मक उत्पादन शुल्क है जिसका मुख्य उद्देश्य मादक पेय पदार्थों व औषधियों के उपभोग को कम तथा नियमित करना है। ये कर राज्यों की आय के महत्वपूर्ण स्रोत साबित हुए हैं।

उत्पादन शुल्कों की मदों में शामिल हैं – आयात की गई शराब की बिक्री के लिए लाइसेंस फीस से होने वाली आय, ऐसी शराब को बोतलों में भरने या समान्तर क्रियाओं के लिए लाइसेंस फीस तथा भारत में बनी विदेशी शराब, देश में बनी स्प्रिट, किण्वित शराब (फरमेटेड लिकर्स), विक्रित की गई स्प्रिट तथा चिकित्सा के लिए काम में लाई जाने वाली शराब, मादक पदार्थ व औषधियां जैसे भांग, गांजा तथा अफीम। ये पदार्थ सरकारी मद्यशालाओं व कारखानों में निर्मित किये जाते हैं और यदि कोई व्यक्ति निजी क्षेत्रों में इन वस्तुओं का निर्माण करना चाहता है तो उसे इसके लिए लाइसेंस लेना होता है। गुजरात और तमिलनाडु को छोड़कर जहाँ कि पूर्ण मद्य निषेध लागू है, अधिकांश राज्यों में उत्पादन शुल्क राजस्व के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। कुछ राज्यों में उत्पादन शुल्क से प्राप्तियां भू–राजस्व की आय से अधिक हैं।

(5) बिक्री कर– भारत में सर्वप्रथम 1938 में मध्य प्रदेश द्वारा बिक्री कर लगाया गया। 1939 में मद्रास ने भी बिक्री कर लगाया और उसी के साथ अन्य प्रान्तों ने भी इसे अपनाया। वर्तमान समय में बिक्री कर राज्य सरकारों की आय का प्रमुख साधन है। संविधान के अनुसार

समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं की बिक्री पर बिक्री कर लगाने का पूर्ण अधिकार राज्य सरकारों का है। केन्द्रीय बिक्री कर कानून 1956 के अन्तर्गत अन्तर्राज्यीय व्यापार पर केन्द्र सरकार को कर लगाने का अधिकार है परन्तु राज्य के अन्तर्गत जिन वस्तुओं का व्यापार होता है उन वस्तुओं पर राज्य सरकार ही कर लगायेगी। केन्द्रीय बिक्री कर का प्रशासन संघ सरकार के उत्तरदायित्व पर राज्यों द्वारा किया जाता है और उसकी प्राप्तियां वही राज्य रख लेते हैं जो इनका संग्रह करते हैं। राजस्व के स्रोत के रूप में इस कर में लोचशीलता व तरलता के लक्षण पाये जाते हैं। 1951–52 में राज्य सरकारों की सामान्य बिक्री कर से आय केवल 54.40 करोड़ रूपये थी जो सन 2006–07 160932 करोड़ रूपये हो गयी जो 2010–11 में 264848 करोड़ रूपये अनुमानित थी। राज्य सरकारों की अपनी कर आगम में बिक्री कर का भाग लगभग 62 प्रतिशत है।

(6) **मोटर वाहन कर**– संविधान के अन्तर्गत राज्य सूची की प्रविष्टि 57 द्वारा वाहनों पर कर लगाने की व्यवस्था है चाहे वह यंत्रचालित हों या अन्य प्रकार के। भारत में सभी राज्य मोटर वाहन कर लगाते हैं यद्यपि सभी राज्यों में इसकी दरें भिन्न–भिन्न हैं। राज्य स्तर पर जो मोटर वाहन कर लगाये जाते हैं, वे तीन प्रकार के होते हैं– (अ) मोटर वाहन कर (ब) माल तथा यात्रियों पर कर और (स) स्थानीय कर जैसे चुंगी, पथ कर व पहिया कर। राज्यों ने मोटर वाहनों से सम्बन्धित इन तीनों ही प्रकार के करों का आश्रय अधिकाधिक मात्रा में लिया है। राजस्व का यह स्रोत राज्यों के लिए प्रलोभन का विषय रहा है। इसकी लोचशीलता अभी तक अच्छी रही है और इसे वसूलना भी सरल है। मोटर वाहन कर से राजस्व 1950–51 में 10.1 करोड़ रूपये था जो 2004–05 में 1109.13 करोड़ रूपये हो गया।

(7) **मनोरंजन कर**– मनोरंजन कर सर्वप्रथम बंगाल में सन 1922 में लगाया गया था। इसके तुरन्त बाद मुम्बई में लगाया गया। उत्तर प्रदेश में यह 1938–39 में लगाया गया। वर्तमान समय में यह भारत के सभी प्रदेशों में लगाया जाता है। यह कर सिनेमा, ड्रामा, कुश्ती, सरकस, स्पोर्ट्स आदि पर लगाया जाता है। यह प्रबन्धकों से वसूला जाता है पर वह उसे उपभोक्ता पर टाल कर वसूल लेता है। अतः इसका अन्तिम भार उपभोक्ता को वहन करना पड़ता है। चैरिटी शो से सम्बन्धित कार्यक्रमों को कर से मुक्त रखा जाता है। प्रत्येक राज्य में मनोरंजन कर से एकत्रित धनराशि स्थानीय निकायों को हस्तान्तरित कर दी जाती है। मनोरंजन कर से प्राप्त राजस्व सन 1950–51 में 6.4 करोड़ रूपये था जो सन 2006–07 में 899 करोड़ रूपये हो गया।

(8) **शहरी चल सम्पत्तियों पर कर**– जब भूमि का उपयोग गैर–कृषि कार्यों हेतु होता है, जैसे आवासीय भवन बनाने के लिए या कोई औद्योगिक संस्थान कायम करने के लिए, तो भूमि के मूल्य में असाधारण वृद्धि होने की वजह से अनुपार्जित लाभ प्राप्त होता है। ऐसा नये बसने वाले या बढ़ते हुए कस्बों और नगरों या उनके समीप के क्षेत्रों में देखा जाता है। भूमि के मूल्यों की बढ़ोत्तरी उस क्षेत्र की सरकार या स्थानीय निकायों के द्वारा किये जाने वाले व्यय के कारण होती है। इसलिए इन भूमियों पर लगाया जाने वाला कर भू–राजस्व से इतर होना चाहिए। राजस्व के स्रोत के रूप में इस कर में ऐसी क्षमता नहीं पायी गई कि वह राज्यों की बढ़ी हुई आवश्यकताओं को पूरा कर सके। शहरी स्थानीय निकायों के साधनों में वृद्धि के लिए बनाई गई मंत्रियों की समिति ने यह सुझाव दिया कि इन करों की प्राप्तियां स्थानीय

निकायों को दे देनी चाहिए। शहरी अचल सम्पत्ति पर कर से 1950–51 में 1.8 करोड़ रूपये जो 2006–07 में 100 करोड़ रूपये हो गये।

(9) **वृत्ति, व्यापार, आजीविका तथा रोजगार कर**– व्यापार या व्यवसाय कर का उल्लेख राज्य सूची की 60वीं प्रविष्टि में किया गया है और संविधान की धारा 276 के अन्तर्गत इसे वैध माना गया है क्योंकि यह आमदनियों पर लगने वाले कर से सम्बन्धित है। किसी भी राज्य या स्थानीय सत्ता द्वारा यह प्रति वर्ष अधिकतम 250 रूपया लगाया जा सकता है। यह एक ऐसा कर है जो सभी व्यवसायों पर, सभी रोजगारों तथा सभी व्यापारों पर लगाया जाता है। निर्धन लोगों के लिए छूट की व्यवस्था की गई है। क्योंकि यह अनुपार्जित आय वाले लोगों को करमुक्त रखता है इसलिए इसे न्यायोचित कहना कठिन है और यह राज्य के कोष का शक्तिशाली साधन नहीं है। इससे प्राप्त आय 1950–51 में 0.1 करोड़ रूपये थी जो 1980–81 में 62.02 करोड़ रूपये और 2006–07 में 2700 करोड़ रूपये हो गई।

(10) **मूल्य वर्धित कर (वैट)**– भारत में मूल्य वर्धित कर 1 अप्रैल 2005 से 22 राज्यों एवं 7 केन्द्र शासित प्रदेशों में लागू किया गया। इसके बाद जनवरी, 2007 में तमिलनाडु, पुडुचेरी में 1 अप्रैल 2007 तथा उत्तर प्रदेश में (अन्तिम राज्य) 1 जनवरी, 2008 से इसे लागू किया गया। लक्षद्वीप तथा अंडमान निकोबार द्वीपसमूह ऐसे संघशासित क्षेत्र हैं जहाँ बिक्री कर नहीं है इसलिए वैट की बात नहीं उठती। वैट लागू करने वाला पहला राज्य हरियाणा रहा तथा अन्तिम राज्य उत्तर प्रदेश रहा।

पूर्व में सीमित स्तरों पर भारत में वैट लागू करने का प्रयास किया गया। पर व्यापार स्तर पर राज्य स्तरीय वैट लागू करने के लिए असीम दास गुप्ता (वित्त मंत्री पश्चिम बंगाल) की अध्यक्षता में आयोजित अधिकार प्राप्त समिति की बैठक (18 जून 2004) में 1 अप्रैल 2005 से राज्य स्तर वैट लागू करने की व्यापक सहमति हुई। तद्नुसार सरकार के तर्क निम्न रूप में सामने आये कि–

- सभी राज्यों के लिए वैट दरों की समान सूची बनने से कर प्रणाली सरल एवं समरूप बन जाएगी तथा राज्यों में अलाभकारी कर स्पर्धा से बचा नहीं जा सकेगा। जब आगत के ऊपर कर लगे तो कर के ऊपर कर लगेगा, वह संचयी रूप से लागत को बढ़ायेगा। इस संचयी प्रभाव को प्रपाती प्रभाव या (Snow balling) या कैस्केडिंग (Cascading) प्रभाव कहते हैं।
- निविष्टि कर क्रेडिट की व्यवस्था से कर के प्रपाती प्रभाव (Cascading) से बचने में सहायता मिलेगी।
- डीलरों द्वारा स्वकर निर्धारण की व्यवस्था में उत्पीड़न कम होगा एवं 5 लाख रूपये तक के कारोबार वाले छोटे व्यापारियों को वैट प्रावधानों से छूट मिलेगी।
- निर्यात के शून्य दर निर्धारण से भारतीय निर्यातों की प्रतिस्पर्धा में वृद्धि होगी।

वैट की दर के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें उल्लेखनीय हैं– (i) राज्य वैट की दो आधारभूत दरें (Basic rates) हैं– 4% तथा 12.5% 550 वस्तुएं 4% की दर पर तथा 270 वस्तुएं 12.5% दर के अन्तर्गत होंगी।

इसके अतिरिक्त एक कर मुक्त या शून्य वैट श्रेणी है तथा कुछ विशिष्ट वस्तुओं (10 वस्तुओं) की 1% की दर भी अलग श्रेणी है। आधारभूत आवश्यकताओं तथा कुछ स्थानीय वस्तुओं को शून्य कर श्रेणी में रखा गया है।

(ii) असंगठित क्षेत्र की प्राकृतिक या अप्रसंस्कृत (Unprocessed) 46 वस्तुओं के सम्बन्ध में जिनके ऊपर कर नहीं लगाया जा सकता तथा जिनका सामाजिक पहलू है, कोई वैट नहीं होगा।

(iii) स्वर्ण तथा चाँदी के आभूषण पर 1% का विशिष्ट वैट होगा।

4% की दर कुछ अन्य आवश्यक वस्तुओं पर लागू होगी। 12.5% की दर उन सभी वस्तुओं पर लागू होगी जो उक्त श्रेणी में नहीं आते। इसके अतिरिक्त 20% निचली स्तर की दर (Floor rate of tax) की अलग श्रेणी है पर इनमें आने वाली वस्तुएं वैटेबुल नहीं हैं (जिनके सम्बन्ध में कर–जमा) नहीं प्राप्त होगा इसमें आने वाली वस्तुएं हैं– मोटर स्प्रिट, पेट्रोल, डीजल, ऐविएशन टर्बाइन फ्यूल, शराब।

'निर्यात' को शून्य दर श्रेणी में रखा गया है, इसके सम्बन्ध में आगत पर जमा की सुविधा भी उपलब्ध होगी।

राज्यों, व्यापारियों एवं उपभोक्ता वर्ग की चिन्ताओं को ध्यान में रखते हुए सरकार ने राज्य स्तरीय वैट पर एक श्वेत–पत्र भी प्रकाशित किया। असाधारण उदारता का परिचय देते हुए राज्यों के कर राजस्व हानि को युक्तियुक्त तरीके से पूरा करने का वादा केन्द्र सरकार द्वारा किया गया है। साथ ही वैट से छूट प्राप्त कारोबार की सीमा को 5 लाख रूपये से बढ़ाकर 50 लाख रूपये कर दिया गया है। कर दरों में परिवर्तन के भी मिले जुले परिणाम संभावित हैं। पर इन सभी कदमों के बावजूद यदि वैट का विरोध किया जा रहा है तो उसके पीछे आशंका का मनोविज्ञान और कुछ समूहों के निहित व्यक्तिगत तथा राजनैतिक स्वार्थ दिखते हैं।

व्यापारिक वर्गों ने अपने विरोध के लिए तर्क दिए हैं कि इससे आर्थिक प्रतिक्रियाओं में अनावश्यक नौकरशाही का हस्तक्षेप और इंस्पेक्टर राज शुरू होगा जिससे उनका शोषण होगा। ध्यातव्य है कि प्रस्तावित कर प्रणाली में बिक्री कर आयुक्त (यदि चाहे) 8 वर्षों के भीतर किसी भी केस को फिर से खोल सकता है और किसी भी कमी के पाये जाने पर दण्डित कर सकता है। दूसरे प्रत्येक व्यापारी को केवल एक बीजक रखना पड़ेगा। अपने कारोबार के लिए उसे अपना वैट पंजीयन करवाना पड़ेगा। प्रत्येक कारोबार लेनदेन में वैट नम्बर का प्रयोग अनिवार्य होगा। व्यापारी वर्ग का कहना है कि यह प्रक्रिया जटिल, श्रमसाध्य और खर्चीली होने के साथ–साथ सामान्य कारोबारी की समझ से बाहर होगी जिससे व्यापार कर विपरीत असर पड़ेगा।

तीसरी आपत्ति वैट में कर दरों के सामान्यतः उच्च होने और इससे मूल्य वृद्धि की आशंका से सम्बद्ध है फिर एक बात और है कि जब कुछ वस्तुओं को केन्द्रीय उत्पाद शुल्क के अन्तर्गत करारोपित किया जा रहा है तो समूचे राज्यों में वैट लागू किया जाना कहाँ तर्क संगत है।

24.3.2 गैर कर आय के साधन

राज्यों के गैर–कर आय के साधनों के अन्तर्गत सार्वजनिक निर्माण, शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य, सार्वजनिक उपक्रम, यातायात, परिवहन, ब्याज, लॉटरी आदि को शामिल किया जाता है।

(1) **ब्याज**– राज्य सरकारें अपने विभागीय एवं गैर विभागीय उपक्रमों, स्थानीय सरकारों तथा कृषकों को प्रदान किये गये ऋणों से ब्याज प्राप्त करती हैं।

(2) **लाभांश**– राज्य सरकारें कुछ उपक्रमों में अंश पूँजी के रूप में भी धन का विनियोग करती हैं, जिनसे उन्हें लाभांश प्राप्त होता है।

(3) **आर्थिक सेवाएं**– इन सेवाओं में वन, उद्योग, सहकारिता, खनिजों पर अधिकार शुल्क, बहुउद्देश्यीय नदी घाटी योजनाओं, कृषि सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण, शक्ति परियोजनाओं, सड़क एवं जल यातायात तथा डेयरी विकास इत्यादि से प्राप्त आयों को शामिल किया जाता है।

(4) **सामान्य सेवाएं**– सामान्य सेवाओं की आय में न्याय, पुलिस और जेल विभाग तथा लॉटरी की आय को शामिल किया जाता है।

(5) **अनुदान एवं अन्य प्राप्ति**– राज्य सरकारें वित्त आयोग की सिफारिश के आधार पर केन्द्रीय सरकार से अनुदान प्राप्त करती हैं। कुछ विशेष योजनाओं और संकटों के लिए भी केन्द्र सरकार अनुदान देती हैं।

भारत में राज्यों को केन्द्र से तीन रास्तों से हस्तान्तरण होता है:–

I- वित्त आयोग द्वारा–

(i) विभाजन योग्य कर सम्भरण से राज्यों को संवैधानिक हस्तान्तरण।

(ii) अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत वित्त आयोग द्वारा अनुमोदित अनुदान।

II- योजना आयोग द्वारा– योजना आयोग राज्यों को होने वाले कुल संसाधन हस्तान्तरण का 30–35 प्रतिशत संसाधन हस्तान्तरण करता है। यह दो रास्तों से होता है:–

(1) **सामान्य केन्द्रीय सहायता**– यह एक मुश्त राज्यों को दे दी जाती है जिसे राज्य अपने विवेकाधीन से व्यय करते हैं।

(2) **केन्द्र समर्थित स्कीम**– कुछ स्कीम के लिए केन्द्र 100 प्रतिशत, या आंशिक 90:10, 75:25 समर्थन देती है। राज्य सरकारें इसे ज्यादा पसन्द नहीं करती क्योंकि इनके संसाधनों के प्रयोग में स्वतंत्रता अवरोधित होती है।

24.4 स्थानीय निकाय के आय के स्रोत

नगर पालिकाओं के आय के मुख्य स्रोत हैं– कराधान, राज्य सरकारों से मिलने वाले सहायक अनुदान, राज्य सरकारों द्वारा लगाये तथा एकत्र किये जाने वाले करों में हिस्से तथा नगर पालिका के उद्यमों से प्राप्त होने वाली गैर कर आय।

24.4.1 नगर पालिकाओं के आय के स्रोत

नगर पालिकाओं द्वारा लगाये जाने वाले कर–

(1) सम्पत्ति पर करः खाली भूमि सहित भवन व भूमि पर कर, सामान्य दर तथा सेवा कर, सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर।

(2) वस्तुओं पर करः चुंगी तथा सीमा कर।

(3) व्यक्ति करः पेशे, व्यापार, रोजगार पर कर, सम्पत्ति पर कर, यात्री कर तथा तीर्थ कर।

(4) वाहनों तथा पशुओं पर कर।

(5) थियेटर, प्रदर्शन या तमाशा कर।

कराधान जाँच आयोग के अनुसार नगर पालिकाओं की आय में जो वृद्धि है वह महत्वपूर्ण नागरिक सेवाओं पर किये जाने वाले खर्च की वृद्धि के सन्दर्भ में अपर्याप्त है। नगर पालिकाओं की औसत आय तथा व्यय में विभिन्न राज्यों में भारत अन्तर पाये जाते हैं। साधनों की कमी के कारण नगर पालिकाएं अपनी अनिवार्य सेवाओं तक को करने में समर्थ नहीं हैं।

नगर पालिकाओं के गैर कर राजस्व के मुख्य स्रोत हैं:–

(1) नगर पालिकाओं की सम्पत्ति से प्राप्त लगान
(2) नगर पालिकाओं द्वारा प्रदत्त सेवाओं से प्राप्त आय
(3) नगर पालिकाओं के विनियोग से प्राप्त ब्याज
(4) लाइसेंस फीस
(5) जुर्माना
(6) सरकार से प्राप्त अनुदान
(7) ऋण

24.4.2 नगर निगम के आय के स्रोत

नगर निगमों की कर लगाने की शक्तियाँ राज्य–राज्य में और निगम–निगम में भिन्न हैं। साथ ही कर लगाने के तरीके में भी अन्तर पाया जाता है, उदाहरण मुम्बई नगर निगम जिन करों को लगा सकती है वे हैं सम्पत्ति कर, सेवाकर, नगर शुल्क, वाहनों एवं पशुओं पर कर, थियेटर कर, शिक्षा उप कर तथा एक लघु कर जिसे कुत्ता कर कहा जाता है। मद्रास नगर निगम सम्पत्ति कर, वृत्ति, व्यापार, आजीविका व रोजगार कर, कम्पनियों पर कर, उपभोग, प्रयोग या बिक्री के लिए नगर में लाये जाने वाले काष्ठ पर कर, सम्पत्ति के हस्तांतरण पर कर, पशुओं तथा गाड़ियों पर कर और विज्ञापनों पर कर। नगर निगमों के लिए यह संभव नहीं होता कि वह अपने पास उपलब्ध वित्तीय साधनों से नगरीकरण की बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था कर सकें।

24.4.3 ग्राम पंचायतों के वित्त के साधन

कर, फीस तथा अन्य चार्ज, गैर कर स्रोत तथा राज्य सरकार तथा अन्य स्रोतों से अनुदान। सभी राज्यों में ग्राम पंचायतों को कुछ करों को लगाने की शक्ति प्रदान की गई है हालाँकि राज्य–राज्य के बीच इससे सम्बन्धित काफी अन्तर है। पंचायतों की आय के मुख्य स्रोत है सम्पत्ति कर, भू–राजस्व या लगान पर उपकर, वाहनों पर कर तथा व्यवसाय कर। ये कर सामान्यतया अनिवार्य ही होते हैं। पंचायतों के कुछ ऐसे अन्य करों व शुल्कों को भी लगाने का अधिकार दे दिया जाता है जैसे कि चुंगी, दुकानों पर कर, विश्राम गृहों पर कर, रोशनी शुल्क, जल शुल्क आदि। किन्तु ये कर वहीं लगाये जाते हैं जहाँ इनसे सम्बन्धित सेवाएं ग्राम पंचायतों द्वारा उपलब्ध करायी जा रही हैं। कुछ पंचायतों को सड़क के किनारे स्थित पेड़, तालाब, आदि की काफी रकम प्राप्त होती है। खासकर उन पंचायतों में जिन्हें भूमि प्रबन्ध का काम सौंपा गया है। प्रत्येक राज्य में ऐसे विधान है कि परती जमीन, पार्क, तालाब, बाजार आदि का प्रबन्ध पंचायतों को सौंप दिया जाये। पंचायतों को किन–किन सम्पत्तियों के प्रबन्ध का अधिकार दिया जायेगा इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में अन्तर पाया जाता है।

केरल की पंचायतों को मवेशी, तालाब, बाजार तथा बूचड़खाना के प्रबन्ध का अधिकार दिया गया है और इन स्रोतों से पर्याप्त आय प्राप्त होती है। कर्नाटक में कुछ पंचायतों को

कम्पोस्ट बनाने के अधिकार प्राप्त हैं जिससे उन्हें काफी आय प्राप्त होती है। राजस्थान को कर की अपेक्षा गैर कर से अधिक आय प्राप्त होती है।

अनुदान– प्रत्येक राज्य में पंचायतों की आय का मुख्य स्रोत राज्य सरकार से प्राप्त अनुदान है। कुल आय में इसका हिस्सा 2 से लेकर 90 प्रतिशत का है। भू–राजस्व, मनोरंजन कर, सेस आदि के हिस्से के रूप में अनुदान प्राप्त होते हैं। निम्न अनुदान उपयोग में हैं:–

(1) भू–राजस्व के अंश के रूप में
(2) स्टाम्प ड्यूटी के अंश के रूप में
(3) मनोरंजन कर में हिस्सा
(4) समानता अनुदान
(5) बराबरी अनुदान– तमिलनाडु में भवन कर राजस्व के बराबर यह अनुदान दिया जाता है। इस अनुदान का उद्देश्य है कि पंचायत ऊँची दर पर इस कर को लगायें।
(6) राजस्थान में उपर्युक्त किसी विधि का अनुशरण नहीं किया जाता बल्कि प्रत्येक पंचायत को 20 पैसे प्रति व्यक्ति के अनुसार 400 रूपये की अधिकतम राशि के अन्तर्गत सामान्य अनुदान दिया जाता है।
(7) कुछ राज्यों में अनुदान की ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत पंचायत मंत्री के सम्पूर्ण या आंशिक वेतन के बराबर अनुदान दिया जाता है।

24.4.4 पंचायत समितियों के वित्त

पंचायत समितियों को जो धन प्राप्त होता है उनके स्रोत हैं, ब्लाक के बजट से प्राप्त निधियाँ, राज्य सरकार एजेन्सी के कार्य के रूप में जो विशिष्ट कार्यक्रम कार्यान्वयन के लिए पंचायत समिति को सौंपती है उनके लिए निर्धारित धन, भू–राजस्व व मालगुजारी में हिस्सा तथा राज्य सरकार द्वारा दिये जाने वाले अनुदान। इनके अलावा कुछ राज्यों में पंचायत समितियों को कुछ करों को लगाने के भी अधिकार प्राप्त हैं जैसे गुजरात में पंचायत समिति कुछ सीमाओं के अधीन वे सभी कर लगा सकती हैं जिन्हें लगाने का अधिकार ग्राम पंचायत को होता है। उत्तर प्रदेश में समिति के आय के महत्वपूर्ण स्रोत हैं – अनुदान तथा सामुदायित विकास कार्यक्रमों से अंशदान। इसके अलावा समिति विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिए राज्य सरकार से ऋण भी ले सकती है।

समिति की आय के कुछ कर इतर स्रोत है– दलालों पर लाइसेंस शुल्क, वाहनों पर मार्ग कर, बाजार व मेलों में बेचे जाने वाले पशुओं पर कर, दुकानदारों से बाजार शुल्क, कृषि व औद्योगिक प्रदर्शनी शुल्क, समिति की सम्पत्ति के उपयोग पर शुल्क।

24.4.5 जिला परिषद के वित्त

जिला परिषदों की आय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं:–

(1) हैसियत कर तथा सम्पत्ति व अन्य ऐसे कर जिनहें राज्य सरकार परिषद को लागू करने के लिए अधिकृत करे।
(2) राज्य सरकारों से मिलने वाले अनुदान।
(3) मार्ग कर तथा शुल्क आदि जो जिला परिषद द्वारा लागू किये जायें।
(4) सम्पत्ति से आय तथा राज्य सरकार से मिलने वाले कर्ज।
(5) स्थानीय निकाय के निर्माण कार्यों से सम्बन्धि एवं केन्द्र द्वारा प्रेरित योजना व कार्यक्रमों के लिए अनुदान।

(6) राज्य की गैर योजना सहायता।
(7) मेले तथा प्रदर्शनियों से आय।
(8) भूमि पर कर

24.5 बारहवाँ वित्त आयोग एवं स्थानीय संस्थाएं

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति में सुधार के लिए बारहवें वित्त आयोग ने कई सेमिनार तथा अध्ययन का आयोजन किया। इसी सिलसिले में हैदराबाद के राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान (NIRD) ने ग्रामीण संस्थाओं के वित्त में सुधार लाने के निम्न सुझाव दिएः–

- पंचायतों को कुछ प्रमुख करों को लगाना चाहिए तथा गैर–कर राजस्व के दोहन को अनिवार्य कर देना चाहिए। राज्य सरकारों को ऐसी लेवी (Levies) की दर को निश्चित करना चाहिए।
- पंचायतों के लिए एक न्यूनतम राजस्व वसूली को अनिवार्य बना देना चाहिए।
- इस न्यूनतम सीमा से अधिक राजस्व वसूली करने वाली संस्थाओं को प्रेरणादायक अनुदान देना चाहिए।
- प्रयोक्ता चार्ज (User Charge) को अनिवार्य लेवी बना दिया जाय।
- ग्राम पंचायतों की सभी कामन सम्पत्ति की पहचान होनी चाहिए तथा उससे राजस्व प्राप्त करना चाहिए।
- सभी कर योग्य भूमि तथा सम्पत्ति का मूल्यांकन राज्य सरकारों के पंचायत सेल द्वारा होना चाहिए, न कि पंचायत द्वारा।
- कृषि जोत पर कर/सेस/अधिभार लगाने की शक्ति पंचायत समिति या जिला परिषद को होनी चाहिए।
- राज्य से पंचायत को राजस्व के आबंटन/हस्तान्तरण को वैधानिक बना देना चाहिए।
- सहायता अनुदान के सम्बन्ध में राज्य सरकारों को अपनी वचनबद्धता पर कायम रहना चाहिए पंचायत को दिए जाने वाले सभी असंबद्ध अनुदान को वैधानिक रूप से प्रदान करना चाहिए।
- निष्पादन आडिट (Audit) व्यवस्था को अपनाना चाहिए।

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति में सुधार के लिए TFC ने निम्न सुझाव दियेः–

- NIRD ने पंचायतों के साधनों में सुधार के लिए जो अच्छे सुझाव दिए उन्हें राज्य सरकारों को स्वीकार करना चाहिए।
- स्थानीय संस्थाओं के संसाधनों का अनुमान करते समय राज्य वित्त आयोग को राजस्व और व्यय की गणना में आदर्श (Normative) दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।
- पंचायती राज संस्थाओं को जल आपूर्ति तथा स्वच्छता के कार्य को स्वयं करें तथा अनुदान का उपयोग मरम्मत/नवीकरण तथा आफिस एवं प्रबन्धन कार्य के लिए करें।
- स्थानीय संस्थाओं को इनके वित्त के सम्बन्ध में सूचना एकत्र करने के लिए राशि उपलब्ध कराना चाहिए।

24.6 सारांश

इस इकाई में हमने राज्यों एवं शहरी और ग्रामीण निकायों के आय के स्रोतों के बारे में जाना। राज्यों की कर आय के मुख्य स्रोत भू–राजस्व, स्टाम्प शुल्क, न्यायालय फीस और रजिस्ट्रेशन, राज्य उत्पादन शुल्क और बिक्री कर हैं तथा गैर कर आय, ब्याज, लाभांश, आर्थिक सेवाओं, सामानय सेवाओं तथा अनुदान एवं अन्य प्राप्तियों से मिलते हैं। इन आय के स्रोतों की लोच संघ के आय के स्रोतों की लोच से कम रहती है जबकि राज्यों पर व्यय का भार अधिक है इसलिए इस कमी को पूरा करने के लिए केन्द्र से राज्यों को संघीय करों में हिस्सा तथा योजना आयोग एवं वित्त आयोग द्वारा अनुदान दिया जाता है। स्थानीय जरूरतों के लिए स्थानीय निकायों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है किन्तु उनके आय के साधन भी बहुत सीमित है इसी वजह से राज्यों एवं केन्द्र द्वारा वित्त आयोग एवं योजना आयोग से स्थानीय निकायों को मदद मिलती है।

24.7 शब्दावली

(1) अनुपार्जित आय– लाभांश और ब्याज जैसी आय जिनका उपार्जन प्रत्यक्ष रूप से श्रम प्रदान करके नहीं होता है।

(2) लाभांश– लाभ जो कि अंशधारियों में बांटा जाता है।

(3) बजट– यह आयोजित व्यय तथा अनुमानित प्राप्ति का एक लेखा है, जो सामान्यतः एक वर्ष के लिए होता है।

24.8 अभ्यास प्रश्न / उत्तर

I-(1) निम्न में से कौन सा कर राज्य सरकार लगाती है–

(अ) धन कर (ब) निगम कर

(स) मनोरंजन कर (द) आयकर

(2) भारत में राज्य किस मद से अधिकतम राजस्व प्राप्त करते हैं–

(अ) बिक्री कर (ब) भू–राजस्व

(स) कृषि आय कर (द) राज्य उत्पाद कर

(3) भारत में किस राज्य ने सबसे पहले बिक्री कर लगाया था–

(अ) केरल (ब) उत्तर प्रदेश

(स) मध्य प्रदेश (द) उत्तरांचल

(4) पंचायत, नगर पालिका, नगर निगम इत्यादि स्थानीय संस्थायें शासन का

(अ) प्रजातांत्रिक केन्द्रीकरण करती है।

(ब) प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण करती है।

(स) शासन का न तो केन्द्रीकरण न विकेन्द्रीकरण

(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(5) भू–राजस्व पर उपकर कौन लगाता है–

(अ) ग्राम पंचायत (ब) जिला परिषद

(स) केन्द्र सरकार (द) नगर निगम

II- रिक्त स्थान भरो–

(1) वित्त आयोग द्वारा अनुमोदित अनुदान अनुच्छेद ..... के अन्तर्गत दिया जाता है।

(2) तीर्थ कर ..... द्वारा लगाया जाता है।

(3) प्रत्येक राज्य में मनोरंजन कर द्वारा एकत्रित राशि ..... को हस्तान्तरित कर दी जाती है।

(4) बंगाल में कृषि आयकर ..... में लगाया गया।

(5) जो लोग कानूनी अदालतों तथा सरकारी कार्यालयों से व्यवहार करते हैं, उन्हें ..... देना पड़ता है।

(6) गैर न्यायिक स्टाम्प शुल्कों का नियमन भारतीय स्टाम्प अधिनियम ..... द्वारा किया जाता है।

(7) मानवीय उपभोग के लिए काम में आने वाली शराब पर ..... लगाया जाता है।

उत्तर

I- (1) (स)मनोरंजन कर(2)(अ)बिक्री कर(3)(स)मध्य प्रदेश(4)(ब)प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण करती है।(5)(अ) ग्राम पंचायत

II- (1) 275(2)नगर पालिका(3)स्थानीय निकाय(4) 1944(5) न्यायालय शुल्क

(6) 1899(7) राज्य उत्पादन शुल्क

24.9 निबन्धात्मक प्रश्न

(1) भारत में राज्य सरकारों की आय के प्रमुख साधन कौन–कौन से हैं?

(2) राज्य उत्पादन शुल्क पर टिप्पणी लिखिए।

(3) भारत के नगरीय स्थानीय संस्थाओं की आय के प्रमुख स्रोतों की व्याख्या कीजिए।

(4) भारत के ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं की आय के स्रोतों को बताइये।

(5) राज्य बिक्री कर की विवेचना कीजिए।

24.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) सिंह एस.के. ''लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

(2) पन्त जे.सी. ''लोक अर्थशास्त्र'' लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

(3) त्यागी बी.पी. ''लोक वित्त'' जय प्रकाश नाथ एवं कम्पनी, मेरठ।

24.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

(1) मिश्रा जे.पी. ''लोकवित्त एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार'' साहित्य भवन पब्लिकेशनस।

(2) भाटिया एच.एल. – लोकवित्त, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि.

(3) Report of The Twelfth Finance Commission.

इकाई 25 संघीय बजट का विश्लेषण एवं सुधार
(Analysis and Improvement of Federal Budget)

इकाई संरचना

25.1 प्रस्तावना

25.2 उद्देश्य

25.3 बजट से तात्पर्य

25.4 बजट की आवश्यकता एवं महत्व

25.5 अच्छे बजट की विशेषतायें

25.6 बजट के प्रकार

25.7 केन्दीय बजट के प्रमुख दस्तावेज

25.8 बजट का निर्माण

25.9 बजट के अवयव

25.10 केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कोष

25.11 स्वतंत्रतोपरान्त केन्द्रीय बजट की मुख्य बातें

25.12 बजट सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण तथ्य

25.13 बजट सम्बन्धी समस्यायें एवं सुधार हेतु सुझाव

25.14सारांश

25.15 पारिभाषिक शब्दावली

25.16 अभ्यास प्रश्न

25.17 उपयोगी पाठ्य सामग्री

25.1 प्रस्तावना (Introduction)

अब तक आप सातवें खण्ड 'भारतीय कर प्रणाली' के इकाई 23 में 'भारत में कर आधार (प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर एवं गैर कर आय)' तथा इकाई 24 में 'राज्य और स्थानीय निकाय की आय के स्रोत' पढ़ चुके होंगे। साथ ही खण्ड 6 के अन्तर्गत संघीय वित्त से सम्बन्धित 'संघीय वित्त के सिद्धान्त एवं समस्यायें', 'संघीय वित्त का विभाजन एवं कार्यकरण', 'वित्त आयोग संरचना एवं कार्यकरण' तथा 13वें वित्त आयोग की प्रमुख सिफारिशों से अवगत हो चुके होंगे। जिसके अन्तर्गत संघीय वित्त से सम्बन्धित अनेक तथ्यों से अवगत होने के साथ–साथ भारतीय कर प्रणाली से सम्बन्धित विभिन्न कर–आधारों एवं राज्य तथा स्थानीय आय स्रोतों को जान चुके होगें।

इस इकाई 25 के अन्तर्गत संघीय बजट का विश्लेषण एवं उसमें सुधार सम्बन्धी तथ्यों से अवगत होंगे। इसमें मुख्य रूप से इकाई के उद्देश्यों, बजट से तात्पर्य , बजट की आवश्यकता एवं महत्व, अच्छे बजट की विशेषतायें, बजट के प्रकार, केन्द्रीय बजट के प्रमुख दस्तावेज, बजट निर्माण, भारतीय बजट प्रणाली के अन्तर्गत बजट निर्माण, बजट निर्माण प्रक्रिया से सम्बन्धित पाँचों चरणों– बजट की रूपरेखा, दस्तावेज, स्वीकृति, क्रियान्वयन तथा लेखांकन को स्पष्ट करते हुए बजट के अवयवों के अन्तर्गत राजस्व एवं पूँजीगत प्राप्तियों एवं व्ययों को समझते हुए केन्द्र तथा राज्य सरकार के कोषों को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् स्वतंत्रतोपरांत बजट प्रस्तुत करने वाले प्रधान मंत्रियों एवं वित्तमंत्रियों को चार्ट द्वारा बताकर योजनाकाल में बजट नीति की सामान्य समीक्षा के साथ–साथ सम्बन्धित प्रधान मंत्रियों के केन्द्रीय नीतियों को बताया गया है। साथ ही संघीय बजट में सुधार सम्बन्धी प्रक्रिया में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों हेतु राष्ट्रीय आयोगों– आर.एस. सरकारिया एवं एम.एम. पूँछी के प्रयोगों तथा वित्त आयोगों एवं कर प्रावधानों में हुए बदलावों की चर्चा करते हुए सुझाव दिये गये हैं।

25.2 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं –

1.बजट, बजट की आवश्यकता, महत्व, विशेषताओं तथा प्रकारों को समझना।
2.भारतीय बजट प्रणाली को समझना।
3.बजट निर्माण प्रणाली से अवगत होना।
4.बजट के विभिन्न अवयवों– राजस्व, एवं पूँजीगत प्राप्तियों तथा व्ययों को समझना।
5.स्वतंत्रतोपरांत बजट नीति का अध्ययन करना।
6.संघीय बजट सम्बन्धी सुधारों से अवगत होना।
7.बजट में सुधार हेतु सुझाव देना।

25.3 बजट से तात्पर्य (Concept Of Budget)

सामान्यतया बजट आय व व्यय का एक वार्षिक विवरण है। इसमें व्ययों को करने के लिए विभिन्न साधनों व पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। भारतीय संविधान के अनुसार यह वार्षिक लेखा लोकसभा व राज्यसभा के सम्मुख प्रस्तुत करना होता है। इस लेखे पर बहस के लिए पर्याप्त समय दिया जाता है। पक्ष तथा विपक्ष के सभी सदस्य बहस में भाग लेते हैं। हमारे देश

के बजट में गत वर्ष की वास्तविक राशि, चालू वर्ष की वास्तविक राशि, चालू वर्ष के संशोधित अनुमान तथा अगले वर्ष के अनुमान प्रस्तुत किये जाते हैं। वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से आरम्भ होकर अगले वर्ष में 31 मार्च को समाप्त हो जाता है। सरकार संसद के समक्ष 'पूरक माँगें' रखती है। अनुमानित बजट में उल्लिखित धनराशि से अधिक खर्च हो जाने की स्थिति में सरकार संसद में संशोधित बजट अनुमान प्रस्तुत कर उसकी स्वीकृति प्राप्त करती है। कभी–कभी तो संशोधत अनुमान और वास्तविक रूप में व्यय हुई धनराशि में भी अन्तर रह जाता है अर्थात् वास्तविक रूप में अधिक धनराशि खर्च हो जाती है, तब संसद ही इस वास्तविक खर्चे को भी स्वीकृति प्रदान करती है। इस तरह बजट सरकार की राजस्व नीति का एक व्यवहारिक रूप है। हमारे यहाँ बजट सामान्य तौर पर आगामी वित्तीय वर्ष हेतु माँगे पास कराकर आवश्यक सरकारी खर्चे हेतु व्यवस्था सुनिश्चित कर ली जाती है और पूर्ण वार्षिक बजट कुछ माह बाद उपयुक्त समय पर प्रस्तुत किया जाता है।

भारत में बजट प्रस्तुतीकरण का सम्बन्ध 3 वर्षों के आँकड़ों से होता है। बजट सरकार के वार्षिक आय–व्यय का ब्यौरा होने के साथ–साथ सरकार की आर्थिक नीतियों का प्रतिबिम्ब, देश की अर्थनीति एवं आर्थिक स्वास्थ्य का एक आइना, सरकारी दीर्घकालीन आर्थिक नीति की लघुकालीन अभिव्यक्ति, सरकार के आर्थिक प्रशासन का एक प्रभावशाली उपकरण, आर्थिक नीति का दर्शन, वर्षभर के आर्थिक क्रियाकलापों का दिशा निर्धारक एवं व्यवस्थित रूपाकार आदि शब्दों से भी जाना जाता है। कर राजस्व में निगम कर, आयकर, दानकर, सीमा शुल्क आदि तथा कर भिन्न राजस्व में ब्याज प्राप्तियाँ, विभागीय या सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त लाभांश, लाभ, विदेशी अनुदान आदि सम्मिलित होते हैं। पूँजीगत प्राप्तियों में ऋणों की वसूली, बाजार ऋण, ट्रेजरी बिल के माध्यम से रिजर्व बैंक से प्राप्त ऋण, विदेशों से प्राप्त ऋण, राज्यों से ऋण की वापसी आदि की प्राप्तियाँ सम्मिलित रहती हैं।

व्यवहारिक अर्थों में बजट एक ऐसा सरकारी विवरण–पत्र है जिसमें सरकार की गत वर्ष की आय–व्यय की स्थिति, चालू वर्ष में सरकारी आय–व्यय के संशोधित आकलन, आगामी वर्ष के लिए आय–व्यय के अनुमानित आँकड़े तथा आगामी वर्ष के आर्थिक–सामाजिक कार्यक्रम एवं आय–व्यय के घटाने–बढ़ाने के लिए प्रस्तावों का विवरण दिया होता है। हमारे संविधान में प्रतिवर्ष बजट को संसद से पास कराने की व्यवस्था निर्धारित करके सरकारी मशीनरी द्वारा वर्ष भर में किए जाने वाले किसी भी व्यय के लिए संसद की अनुमति अनिवार्य है अर्थात् सरकार द्वारा वर्ष में किए जाने वाले खर्चे पर संसद के नियन्त्रण को सर्वोच्चता प्रदान की गई है। कई बार सरकार को बजट में निर्धारित राशि के अतिरिक्त भी धनराशि व्यय करनी पड़ती है।

बजट के खर्चों में योजनागत और गैर–योजनागत दोनों मदों का सम्मिलित किया जाता है। योजनागत व्यय से तात्पर्य केन्द्रीय योजना पर होने वाले व्यय से होता है। इसे राजस्व व्यय तथा पूँजीगत व्यय में विभाजित किया जाता है। गैर–योजना व्यय सरकार द्वारा नियमित दायित्वों के निर्वहन पर किया जाने वाला व्यय होता है। इसे भी राजस्व व्यय तथा पूँजीगत व्यय नामक दो मदों में विभाजित किया जाता है। गैर–योजना राजस्व व्यय के अन्तर्गत ब्याज, सब्सिडी, किसानों को ऋण, सामाजिक, आर्थिक सेवाएं, राज्यों को अनुदान, विदेशों को अनुदान, पेंशन, रक्षा राजस्व पर किया जाने वाला व्यय होता है तथा गैर–योजना पूँजीगत व्यय में रक्षा

पूँजी, सरकारी उद्यमों को ऋण, राज्य सरकारों को उधार, केन्द्र–शासित प्रदेशों का व्यय तथा गैर योजना व्यय को जोड़कर या फिर राजस्व व्यय तथा पूँजीगत व्यय को जोड़कर निकाला जा सकता है।

25.4 बजट की आवश्यकता एवं महत्व (Necessity and Importance of Budget)

बजट किसी भी देश या प्रदेश की अर्थव्यवस्था एवं आर्थिक नीति का परिचायक होता है। इससे वहाँ की अर्थिक स्थिति और आगामी वर्ष में सम्भावित आर्थिक उन्नति का अनुमान लगाया जा सकता है। बजट के माध्यम से संसद/विधानसभायें कार्यपालिका के कार्य पर अंकुश रखते हुए देश की अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण करती हैं। बजट की आवश्यकता एवं महत्व को निम्न रूप में स्पष्ट किया जा सकता हैः

1.बजट के माध्यम से सरकारें अपने आय–व्यय को वैधानिक रूप से कार्यान्वित करती हैं।
2.बजट सकारी व्ययों की वैधानिक सीमायें निर्धारित करता है।
3.बजट सरकारों के आय–व्यय की क्रियाओं का निर्देशन करता है।
4.बजट में लोक कल्याणकारी नीतियों एवं सामाजिक दायित्वों का स्पष्ट उल्लेख होने से सरकार की जन–नीतियों का ज्ञान होता है।
5.बजट द्वारा विभिन्न वर्गों के बीच सामाजिक आर्थिक असंतुलन कम करने का प्रयास किया जाता है।
6.बजट द्वारा प्रगतिशील करारोपण के माध्यम से न केवल आर्थिक विषमता को कम किया जाता है बल्कि विकास कार्यक्रम हेतु अधिक धन भी इकट्ठा किया जाता है।
7.बजट द्वारा निर्बल वर्गों के विकास हेतु आवश्यक सुविधायें एवं सहायता प्रदान की जाती है।
8.बजट द्वारा कीमतों को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है। इसी क्रम में 'अतिरिक्त का निर्यात' तथा 'कम का आयात' किया जाता है।
9.बजट द्वारा वित्तीय असन्तुलनों को कम करने का प्रयास किया जाता है।
10.बजट में गरीबी दूर करने, सामाजिक विषमता कम करने तथा रोजगार अन्य कार्यक्रमों हेतु अतिरिक्त धन की व्यवस्था की जाती है।
11.बजट में व्यापार संतुलन को बनाये रखने का प्रयास किया जाता है।

25.5 अच्छे बजट की विशेषतायें (Characteristics of Good Budget)

यद्यपि कि बजट से सभी लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नहीं है। परन्तु सामान्य रूप में एक अच्छे व सन्तुलित बजट की निम्न विशेषतायें होनी चाहिएः

1. सरकारी आय–व्यय में संतुलन होना चाहिए।
2. उद्योग तथा कृषि क्षेत्रों में उच्च विकास दर बनाते हुए समग्र विकास दर ऊँचा बनाना चाहिए।
3. अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों से वित्तीय असन्तुलन कम करना चाहिए।

4. रूपये को महत्वपूर्ण बनाये रखने हेतु पूर्ण परिवर्तनशीलता की नीति का परित्याग करना चाहिए।
5. निर्यात वृद्धि तथा अपव्ययी आयात को कम करने की नीति पर बल दिया जाना चाहिए।
6. रोजगार वृद्धि हेतु उचित एवं व्यवहारिक प्रावधानों को लागू करना चाहिए।
7. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अनिवार्य क्षेत्र में ही महत्व मिलना चाहिए।
8. विलासिता की वस्तुओं पर करों को नहीं घटाना चाहिए।
9. सामान्य उपयोग वस्तुओं पर करों की दरें घटनी चाहिए।
10. आयकर की दरों के साथ–साथ अन्य करों को भी युक्ति–संगत बनाना चाहिए।
11. बजट घाटा कम से कम करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

25.6 बजट के प्रकार (Types of Budget)

अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप के बदलते आयामों, उद्देश्यों व परिस्थितियों आदि के फलस्वरूप बजट की प्रक्रिया और स्वरूपों में समय–समय पर परिवर्तन किये जाते रहे हैं। मुख्य रूप में प्रचलन में आये बजट के विभिन्न स्वरूपों का विवरण निम्नवत् हैः

25.6.1 पारम्परिक अथवा आम बजट :– 'पारम्परिक' बजट को आम बजट का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। इस प्रकार के बजट का मुख्य उद्देश्य विधायिका का कार्यपालिका पर वित्तीय नियंत्रण स्थापित करना रहा है। इसके अनुसार बजट में मुख्यतः वेतन, मजदूरी, यात्रा, मशीनें तथा उपकरण आदि के रूप में किए जाने वाले व्यय तथा विभिन्न मदों में होने वाली आय को प्रस्तुत किया जाता रहा है। इसमें किस क्षेत्र में कितना धन व्यय करना है उसी का उल्लेख होता था, किन्तु इस व्यय के खर्च से क्या–क्या परिणाम प्राप्त करने हैं, उनका ब्यौरा नहीं दिया जाता था। इस प्रकार के बजट का मुख्य उद्देश्य सरकारी खर्चों पर नियन्त्रण करना है न कि तीव्र गति से विकास तथा विकास कार्यों को महत्व देना। इसलिए कालान्तर में पारम्परिक बजट पद्धति स्वतंत्र भारत की समस्याओं को सुलझाने तथा इसकी महत्वाकांक्षाओं को प्राप्त करने में असमर्थ रही है। यही कारण है कि भारत में पिछले कुछ वर्षों से निष्पादन बजट की आवश्यकता तथा महत्ता को स्वीकार किया गया है तथा इसे परम्परागत बजट के पूरक के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है।

25.6.2 निष्पादन बजटः– 'निष्पादन बजट' को उपलब्धि बजट या कार्यपूर्ति बजट भी कहा जाता है। अतः कार्य के परिणामों या निष्पादन को आधार बनाकर निर्मित होने वाला बजट निष्पादन बजट कहलाता है। निष्पादन बजट से अभिप्राय उस प्रविधि से है जो सरकारी कार्यवाही को कार्यों, कार्यक्रमों तथा क्रिया–कलापों के रूप में प्रस्तुत करती है। इसमें उपलब्धि के साधनों से बल हटाकर स्वयं उपलब्धियों पर बल दिया जाता है। इसका मुख्य केन्द्र बिन्दु वे उद्देश्य हैं जिनको सरकार पूरा करना चाहती है। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रस्तावित कार्यक्रमों की लागत को प्रत्येक कार्यक्रम के अधीन संख्यात्मक आँकड़े जो कार्यक्रम कार्यान्वयन और उपलब्धियों का मापन करते हैं, निर्धारित किये जाते हैं। निष्पादन बजट को

एक व्यापक कार्यवाही का दस्तावेज भी कहा जाता है जो कार्यक्रमों, परियोजनाओं तथा कार्यकलापों के लिए तथा भौतिक पहलुओं से घनिष्ठता के साथ प्रारम्भ होता है।

निष्पादन बजट का प्रारम्भ सर्वप्रथम 1951 में अमेरिका में हुआ। धीरे–धीरे अन्य देशों ने भी प्रयोग किया। वर्तमान भारत में यही प्रणाली प्रचलित है। निष्पादन बजट के सम्बन्ध में प्रशासनिक सुधार आयोग का मानना है कि निष्पादन बजट सरकारी प्रचलन के कार्यों, कार्यक्रमों, क्रियाओं तथा परियोजनाओं को पेश करने की एक कार्यविधि है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में संक्षेप में कहा जा सकता है कि निष्पादन बजट मूलतः लक्ष्योन्मुखी तथा उद्देश्यपरक प्रणाली पर आधारित है। जिसमें केवल संगठनात्मक आय–व्यय का हिसाब ही नहीं, बल्कि प्राप्त हुए निष्कर्षों या कार्य निष्पादन को मूल्यांकन का आधार बनाया जाता है।

25.6.3 जीरोबेस बजट या सूर्यास्त बजट प्रणाली – बजट में पाये जाने वाले निरन्तर घाटा तथा निष्पादन बजट प्रणाली के क्रियान्वयन को सही रूप देने हेतु व्ययों में कटौती तथा घाटे पर अंकुश लगाने के लिए जीरोबेस बजट प्रणाली को उचित माना गया। इस प्रणाली के जनक अमेरिका के टेक्सास इन्स्ट्रूमेण्ट के बजट निदेशक पीटर ए. पायर (1970) माने जाते हैं। इस बजट का प्रथम प्रयोग 1973 में जार्जिया प्रान्त के गवर्नर जिमी कार्टर ने किया तथा बाद में राष्ट्रपति बनने के बाद 1979 में अपने राष्ट्रीय बजट में भी अपनाये। इस प्रणाली को सूर्यास्त बजट प्रणाली (सनसेट बजट सिस्टम) भी कहा जाता है जिसका अर्थ यह है कि वित्तीय वर्ष के सूर्यास्त से पूर्व प्रत्येक विभाग को एक शून्य आधारीय बजट प्रस्तुत करना होता है, जिसमें उसके प्रत्येक क्रियाकलाप व उपलब्धियों का लेखा–जोखा रहता है।

भारत में जीरोबेस बजटिंग की प्रक्रिया की शुरूआत सरकारी क्षेत्र के एक प्रमुख शोध संगठन 'काउन्सिल ऑफ साइन्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' (CSIR) द्वारा की गई। केन्द्र सरकार के सभी मन्त्रालयों तथा विभागों में लागू करने के उद्देश्य से केन्द्र सरकार द्वारा इसे बजट 1987–88 से लागू करने का निर्णय लिया गया। केन्द्र सरकार के इस निर्णय के अनुक्रम में वित्त मन्त्रालय के अधीन व्यय विभाग ने केन्द्र सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों एवं विभागों में जीरोबेस बजटिंग लागू करने के लिए विस्तृत मार्गदर्शक नियम बनाने हेतु वित्तिय सलाहकारों की एक समिति नियुक्त की। इस समिति द्वारा तैयार दिशा–निर्देशों के आधार पर वर्ष 1987–88 का बजट बनाते समय केन्द्र सरकार के सभी विभागों द्वारा जीरोबेस पद्धति पर बजट बनाने का प्रयास किया गया। इस वर्ष जीरोबेस बजटिंग के आधार पर कुछ सुरक्षा संस्थानों, सरकारी प्रिन्टिग प्रेस, कुछ आर्डिनेन्स कारखानों, खाद्य एवं रसद विभाग, इस्पात विभाग, दूरसंचार विभाग, इण्डियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज, हिन्दुस्तान टेलीप्रिंटर्स, विदेश संचार निगम तथा सरप्लस एवं डिस्पोजल विभाग के आकार और क्रियाओं में भारी कटौती करने का निर्णय लिया गया। इस प्रणाली की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए इसके बाद के वर्षों में भी इसको प्रयोग में लाने पर जोर दिया जाता रहा है।

केन्द्र सरकार के अतिरिक्त विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा भी बढ़ते सरकारी खर्चों और अनुपयोगी होती जा रही अनेक स्कीमों और कार्यक्रमों पर होने वाले भारी– भरकम व्ययों को कम करने के उद्देश्य से इसको प्रयोग में लाना प्रारम्भ किया गया है। सरकारों द्वारा जीरेबेस

बजटिंग को वर्ष 1987–88 से ही लागू करने का फैसला किया गया। मध्य प्रदेश और राजस्थान सरकारों द्वारा जीरोबेस बजटिंग प्रणाली को वर्ष 1995–96 में सख्ती से सभी विभागों में लागू करने का निर्णय लिया गया। आज लगभग सभी राज्य सरकारों द्वारा पूर्णरूपेण न सही तो आंशिक रूप से इसे लागू किया जा रहा है तथा इस बात पर बल दिया जा रहा है कि इसे यथासम्भव अधिक से अधिक विभागों और कार्यकलापों अथवा कार्यक्रमों में प्रभावी रूप से लागू किया जाए। सम्भवतया ऐसा किया जाना आज की आर्थिक परिस्थितियों के कारण उनकी मजबूरी भी होती जा रही है।

25.6.4 आउटकम बजट – इस बजट के अन्तर्गत एक वित्तीय वर्ष के लिए किसी मन्त्रालय अथवा विभाग को आवन्टित किये गए बजट में अनुश्रवण तथा मूल्यांकन किए जा सकने वाले भौतिक लक्ष्यों का निर्धारण इस उद्देश्य से किया जाता है, ताकि बजट के क्रियान्वयन की गुणवत्ता को परखा जाना सम्भव हो सके। केन्द्र सरकार द्वारा बजट की इस नयी पद्धति की शुरूआत की घोषणा वर्ष 2005–2006 के बजट में की गयी और देश के संसदीय इतिहास में पहली बार 25 अगस्त, 2005 को आउटकम बजट वित्त मन्त्री द्वारा संसद में प्रस्तुत किया गया। 'आउटकम बजट' की शुरूआत से विकास के प्रमुख कार्यक्रमों में प्रगति की गति के बारे में समय से समुचित जानकारी प्राप्त करने की सम्भावनाएं बढ़ी हैं। इसी कारण से आउटकम बजट को एक नयी प्रविधि के रूप में सामान्य बजट की तरह से अधिक उपयोगी पाये जाने की सम्भावनाएं भी व्यक्त की गई हैं। 'आउटकम बजट' सामान्य बजट की तुलना में एक कठिन प्रक्रिया है जिसमें वित्तीय प्रावधानों को परिणामों के सन्दर्भ में देखा जाना होता है। यह प्रक्रिया कई चरणों से गुजर कर पूर्ण की जाती है। जिसमें एक निश्चित अवधि में सम्भावित परिणामों को अनुश्रवण योग्य तथा मापने योग्य परिणामों में बदलने हेतु विशेष तरीके से परिभाषित किया जाना होता है तथा प्राप्त होने वाले लाभों के इकाई मूल्य का प्रमापीकरण भी करना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त इसमें पिछले परिणामों के आधार पर बेंच मार्किंग करने के अतिरिक्त परिणामों की गुणवत्ता और अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्डों का भी ध्यान रखना अनिवार्य है। इस प्रक्रिया से 'आउटकम बजट' में कार्य सम्पादन हेतु किसी भी स्तर पर देर करने या रूकावट पैदा करने के स्थान पर निर्धारित धनराशि को सही समय और सही मात्रा और सही गुणवत्ता में पहुँचाने को सुनिश्चित करना होता है, ताकि निर्धारित धनराशि का उपयुक्तम उपयोग सम्भव हो सके।

आउटकम बजट परफार्मेंस बजट का ही विस्तृत रूप है। ऐसे बजट से ही यह स्पष्ट रूप से पता चल सकेगा कि आउटकम बजट में निर्धारित किये गये लक्ष्यों को कहाँ तक प्राप्त करना सम्भव हो सका है। आशा की जानी चाहिए कि आउटकम बजट के माध्यम से अब जनता भी विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन, गति और स्तर से रूबरू हो सकेगी।

25.6.5 **जेण्उर बजटिंग–** महिला अधिकारिता और सशक्तिकरण की दिशा में देश में महिला अधिकारिता और महिला सशक्तिकरण की दिशा में बजट के योगदान को स्वीकार करते हुए केन्द्र सरकार द्वारा जेण्डर बजटिंग की शुरूआत भी की गयी है। जेण्डर बजटिंग के माध्यम से सरकार द्वारा महिलाओं के विकास, कल्याण और सशक्तिकरण से सम्बन्धित योजनाओं और

कार्यक्रमों के लिए प्रतिवर्ष बजट में एक निर्धारित राशि की व्यवस्था सुनिश्चित करने के प्रावधान किए जाते हैं।

विशेष रूप से महिला आधारित कार्यों मुख्यतः पानी की समस्या, शिशु स्वास्थ्य समस्या, घरेलू समस्या हेतु विशेष महिला अदालतों का गठन, स्वावलम्बन हेतु महिला रोजगार एवं कल्याण सम्बन्धित अनेक कार्यों का सम्पादन किया जाता है। भारत में इस तरह की अनेक योजनाएं संचालित हैं परन्तु इस बात पर विशेष बल होना चाहिए जिससे ऐसी योजनाएं व्यवहारिक उपयोगी तथा परिणामोन्मुखी हो जिससे निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।

25.7 केन्दीय बजट के प्रमुख दस्तावेज (Important Documents of Central Budget)

सामान्यतया केन्द्रीय 'बजट' में निम्नांकित सात दस्तावेज शामिल होते हैं :

1.वित्त मन्त्री का भाषण – यह दस्तावेज दो भागों में बँटा होता है– पहले भाग में सामान्य आर्थिक परिदृश्य तथा दूसरे भाग में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर प्रस्ताव तथा सरकार की आर्थिक नीतियों का विवरण होता है।
2. वार्षिक वित्तीय कथन – इस दस्तावेज में आगामी वित्तीय वर्ष के लिए अनुमानित सरकारी आय और व्यय पर विस्तृत टिप्पणियाँ दी जाती हैं।
3. बजट का सार– इस दस्तावेज में पूरे बजट का सारांश सक्षिप्त आँकड़ों और ग्राफों के रूप में दिया जाता है। विभिन्न राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों से केन्द्र सरकार को प्राप्त होने वाली धनराशि तथा उन्हें दी जाने वाली धनराशि का विवरण भी बजट सार में दिया जाता है।
4. वित्त विधेयक– इस दस्तावेज में सरकार द्वारा प्रस्तावित कर प्रस्तावों का विवरण दिया होता है।
5. बजट प्राप्तियाँ– इसमें आगामी वर्ष में सरकार को प्राप्त होने वाल अनुमानित राजस्व, पूँजी प्राप्तियाँ तथा घरेलू और विदेशी ऋण का विवरण दिया जाता है।
6. बजट व्यय– इस दस्तावेज में आगामी वर्ष में सरकार द्वारा व्यय की जाने वाली धनराशि, विभिन्न मन्त्रालयों और विभागों पर आयोजनागत और गैर आयोजनागत मदों के अन्तर्गत व्यय की जाने वाली धनराशि का विवरण दिया जाता है।
7. अनुदान की मांग– इसमें विभिन्न मंत्रालयों की अपनी निजी माँगों के साथ–साथ समस्त अनुदानों की माँगों का सारांश दिया जाता है।

25.8 बजट का निर्माण (Preparation of The Budget)

बजट निर्माण एक अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल आर्थिक प्रक्रिया है, जिसमें विभिन्न मन्त्रालयों, विभागों और कई प्रमुख संस्थाओं का योगदान रहता है। हमारे यहाँ वित्तीय वर्ष की अवधि जिसके लिए बजट बनाया जाता है, प्रत्येक वर्ष 1 अप्रैल से 31 मार्च तक की रहती है।

भारत में बजट को कार्यकारिणी सभा द्वारा बनाया जाता है। बजट तैयार करने के पूर्व विभिन्न विभागों को एक नोट भेजा जाता है जिसमें विभागों के अध्यक्षों से यह अनुरोध किया जाता है कि वे अपने–अपने विभाग के आय और व्ययों के लेखों का अनुमान लगाकर वित्त–मन्त्रालय को भेजें। वित्त–मन्त्रालय अगस्त तक विभिन्न मन्त्रालयों को एक अनुमान फॉर्म भेज देता है। इस अनुमान फॉर्म को भरकर अन्य मन्त्रालय वित्त–मन्त्रालय के पास अक्टूबर के

प्रथम सप्ताह तक भेज देते हैं। अनुमान फॉर्म को दो भागों में विभाजित किया जाता है– प्रथम भाग में वर्तमान आय तथा व्यय से सम्बन्धित अनुमान होते हैं, जबकि दूसरे भाग में आने वाले वर्ष के आय–व्यय सम्बन्धी अनुमान होते हैं। इस प्रकार प्रथम भाग का सम्बन्ध वर्तमान से तथा दूसरे भाग का सम्बन्ध भविष्य से होता है। पहले भाग में आय और व्यय अलग–अलग दिखाये जाते हैं, जिनके मुख्य शीर्षक निम्नवत् हैं:

(i) पिछले वर्ष की वार्षिक आय तथा व्यय,

(ii) चालू वर्ष के आय तथा व्यय सम्बन्धी स्वीकृती अनुमान,

(iii) चालू वर्ष तथा पिछले वर्ष के वास्तविक आय–व्यय सम्बन्धी आँकड़े,

(iv) भावी वर्ष के बजट अनुमान तथा

(v) चालू वर्ष के दुहराये हुए आय–व्यय अनुमान।

25.8.1 बजट निर्माण में सावधानियाँ (Precaution For Budgetory Procedure) – बजट बनाने से पूर्व निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

1. संकट काल को छोड़कर सामान्य काल में बजट संतुलित होना चाहिए।
2. बजट में सभी प्रकार की आयों को सम्मिलित करनी चाहिए। बजट का आधार नकद होना चाहिए।
3. बजट के आय–व्यय अनुमान काल्पनिक न होकर वास्तविकता के आस–पास होना चाहिए।
4. बजट में समाप्ति के नियम को आधार मानकर जिस वर्ष के लिए व्यय की राशि स्वीकृत होती है। उस राशि को उसी वर्ष व्यय किया जाना चाहिए। यही व्यवस्था उत्तम व्यवस्था है और भारत में इसी व्यवस्था को लागू किया गया है।

25.8.2 बजट निर्माण प्रकिया (Budgetary Procedure) – बजट बनाने के पूर्व उपर्युक्त बातों को ध्यान मे रखा जाना चाहिए।इसके बाद बजट बनाने की प्रक्रिया शुरू करनी चाहिए। भारतवर्ष के सन्दर्भ में बजट की प्रक्रिया को पाँच चरणों में बाँटा जा सकता है :

25.8.2.1 बजट का प्राक्कलन या रूपरेखा– बजट निर्माण की प्रक्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम वित्त मन्त्रालय द्वारा प्रशासनिक मन्त्रालयों, योजना आयोग तथा नियंत्रक महालेखा परीक्षक के सहयोग से बजट की रूपरेखा तैयार की जाती है। इसमें प्रशासकीय मन्त्रालय अपने अधीनस्थ कार्यालयों से प्राप्त विवरण के आधार पर वित्त मन्त्रालय को प्रशासकीय आवश्यकताओं की जानकारी प्रदान करते हैं। योजना आयोग योजनाओं की प्राथमिकता के बारे में परामर्श देता है तथा नियन्त्रक महालेखा परीक्षक 'बजट का प्राक्कलन' तैयार करने हेतु वित्त मन्त्रालय को लेखा कौशल उपलब्ध कराता है। इस प्रकार पहले चरण में व्ययों के अनुमान तैयार किए जाते हैं जिसके लिए वित्त मन्त्रालय द्वारा जुलाई/अगस्त में विभिन्न मन्त्रालयों एवं विभागों को एक प्रारूप प्रेषित किया जाता है। इस प्रपत्र में विनियोग के शीर्षक तथा उपशीर्षक, गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय, वर्तमान वर्ष की स्वीकृत अनुमान, वर्तमान वर्ष के संशोधित अनुमान, आगामी वर्ष के बजट प्राक्कलन के अतिरिक्त आय–व्यय में हुई कमी/बढ़ोत्तरी के कॉलम

होते हैं। इस प्रपत्र को भरकर विभिन्न विभाग अपने प्रशासकीय मन्त्रालय को भेजते हैं, जो उन्हे संशोधित करके नवम्बर के मध्य तक वित्त मन्त्रालय को प्रेषित करते हैं। इस प्रपत्र की एक प्रति सभी सम्बन्धित विभाग, महालेखा परीक्षक के पास भी विचारार्थ भेजते हैं जो अपनी टिप्पणी के साथ इसे वित्त मन्त्रालय तथा प्रशासकीय मन्त्रालय के पास भेजता है। प्रशासकीय मन्त्रालयों द्वारा बजट के अनुमानों का सूक्ष्म परीक्षण सरकारी नीतियों के सन्दर्भ में किया जाता है, जबकि वित्त मन्त्रालय द्वारा इसका परीक्षण मितव्ययिता के उद्देश्य से किया जाता है। व्यय के अनुमानों के परीक्षण के दौरान योजना आयोग से भी परामर्श लिया जाता है।

इस प्रकार व्ययों के अनुमान तैयार हो जाने के बाद वित्त मन्त्रालय द्वारा सरकारी आय अथवा राजस्व के अनुमान तैयार किये जाते हैं। इस हेतु वित्त मन्त्रालय द्वारा आयकर विभाग, सीमा शुल्क विभाग तथा केन्द्रीय उत्पादन कर विभाग से विगत वर्ष में संग्रह की गई धनराशि के आँकड़ों के आधार पर आगामी वित्तीय वर्ष के लिए सम्भावित आय का अनुमान लगाया जाता है जिसके आधार पर आगामी वर्ष में करों की दरों का पुनर्निधारण करने हेतु प्रस्ताव तैयार किया जाता है।

25.8.2.2 बजट का दस्तावेज – बजट का दस्तावेज तैयार करने हेतु वित्त मन्त्रालय द्वारा समस्त विभागों की माँगो को एकत्रित करके तथा वित्तीय नीति सम्बन्धी मामलों में सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद में निर्णय लेकर दो अलग–अलग भागों में आय और व्यय का विवरण तैयार किया जाता है, जो बजट दस्तावेज कहलाता है। वित्त मन्त्री द्वारा इस दस्तावेज को सामान्यतया फरवरी के अन्तिम कार्य दिवस में लोक सभा मे प्रस्तुत किया जाता है और इसके बाद वित्त मन्त्री द्वारा बजट भाषण दिया जाता है जिसमें जनता, राजनेता, कर्मचारी तथा व्यापारी वर्ग आदि सभी लोग बड़ी उत्सुकता रखते हैं। भारत में संघीय शासन व्यवस्था होने के कारण राज्यों व केन्द्र के अलग–अलग बजट होते हैं। 1911 के बाद भारत में रेलवे बजट को अलग से प्रस्तुत किया जाने लगा है।

25.8.2.3 बजट की स्वीकृति – बजट के बन जाने के बाद उसे राज्य सभा व लोकसभा के द्वारा पारित कराया जाता है। बजट पर संसद में चर्चा करायी जाती है। इस हेतु लोक सभा के कार्य संचालन नियम संख्या 207 (1) (2) में बजट प्रस्तुतीकरण के बाद की जाने वाली सामान्य चर्चा के दिशा–निर्देश उल्लिखित हैं। इसमें प्रावधान यह है कि संसद सम्पूर्ण बजट के बारे में विचार–विमर्श कर सकती है, लेकिन वाद–विवाद के मध्य न तो कोई प्रस्ताव पेश किया जा सकता है और न ही सदन में बजट पर मतदान कराया जा सकता है। लोक सभा में अलग–अलग मन्त्रालयों के लिए क्रमवार अनुदान माँगों को पेश किया जाता है। हमारा आम बजट 109 माँगों में विभाजित रहता है जिसमें 103 माँगे लोक व्यय से सम्बन्धित हैं तथा 6 माँगे सुरक्षा व्यय से सम्बन्धित होती हैं।

बजट जब तक स्वीकृत नहीं हो जाता है तब तक वह प्रभावी नहीं माना जाता है। लोकसभा द्वारा बजट का पारित होना अनिवार्य है। संसद के सामने वित्तमंत्री के द्वारा बजट का लेखा प्रस्तुत किया जाता है। बजट प्रस्तुत करते समय वह अपना बजट– भाषण भी देता है,

जिसमें पूरे वर्ष की आर्थिक नीति की समीक्षा होती है। बजट– भाषण में नये करों व नये व्ययों का विवरण दिया जाता है और ऐसा करने का उद्धेश्य भी स्पष्ट किया जाता है। बजट घाटा अथवा बचत के भी हो सकते हैं। अतः वित्तमन्त्री को इस बात पर प्रकाश डालना होता है कि उसने ऐसा बजट क्यों बनाया ? इस प्रकार के बजट की क्या आवश्यकता पड़ गयी और इससे सामान्य जनता को क्या लाभ होने वाला है, आदि। इन सभी बातों को स्पष्टीकरण बजट– भाषण में दिया जाता है। वित्त– मन्त्री द्वारा सदन में जो भाषण सुनाया जाता है, उसकी छपी हुई एक–एक प्रति सदस्यों में वितरित की जाती है।

जब वित्त–मन्त्री अपना पूरा भाषण पढ़ देते हैं तब उस भाषण पर बहस के लिए अलग से दिन निश्चित कर दिया जाता है। बजट पर बहस का दिन निश्चित कर लेने के बाद फिर उस पर पक्ष–विपक्ष के सदस्यों के द्वारा सामान्य रूप से चर्चा की जाती है। कुछ मदें होती हैं जिन पर पक्ष अथवा विपक्ष के सदस्य समान रूप से उसकी आलोचना या उसका सराहना कर सकते हैं। बजट पर सामान्य बहस हो जाने के बाद विभिन्न विभागों के मन्त्री अपने–अपने विभागों के लिए अनुदानों की माँग करते हैं और इन पर अलग–अगल बहसें होती हैं।

व्यय की कुछ मदें ऐसी होती है जिनके लिए संचित कोष से प्रत्यक्ष माँग की जाती है। इन मदों पर सदस्यों को मतदान करने का अधिकार नहीं होता है, परन्तु इन मदों पर चर्चा हो सकती है। इस चर्चा का लाभ यह होता है कि सरकार को यह पता लग जाता है कि बजट के प्रति सदस्यों की क्या धारणा है। नियम बनाने वाली सभा के सदस्यों को सरकार के प्रत्येक खर्चे पर अपनी राय प्रकट करने का अधिकार नहीं है।

अनुदान माँगों पर विचार होते समय विपक्षी सदस्यों को बजट की आलोचना का पूरा अवसर मिलता है और उनके द्वारा अनेक प्रकार की कटौतियों के प्रस्ताव सदन के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं। कटौती का उद्देश्य मितव्ययता होता है। इस स्थिति को वित्तमन्त्री के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। वह यह बताता है कि अमुक–अमुक मद में अमुक–अमुक कारणों से कटौती नहीं हो सकती हैं, या हो भी सकती है। यदि वित्तमन्त्री के स्पष्टीकरण से सदस्य सन्तुष्ट न हों तो वे उस पर मतदान करा सकते हैं। यदि कटौती का प्रस्ताव पारित नहीं होता, तो इसका अभिप्राय सरकार के प्रति अविश्वास का मत हो सकता है। परन्तु ऐसी दशा में सरकार अपने पद से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य नहीं है। यदि कटौतियों के सम्बन्ध में वित्तमन्त्री का स्पष्टीकरण सदस्यों को सन्तुष्ट कर देता है तो वे कटौती का प्रस्ताव वापस ले लेते हैं और मतदान नहीं होता।

अनुदान माँगों पर विचार– विमर्श की अवधि 26 दिन की होती है। इसमें विनियोजन विधेयक पास करवाया जाता है, जिससे सरकार को सरकारी कोष से धन खर्च करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसके बावजूद व्यय की प्रतिपूर्ति हेतु– वित्तीय साधनों की प्राप्ति कर प्रस्तावों द्वारा ही सम्भव होती है, जिसके लिए वित्त विधेयक को प्रस्तुत किया जाता है। वित्त विधेयक में करों की दरों में संशोधन सम्बन्धी प्रस्ताव होते हैं। विनियोजन विधेयक तथा वित्त विधेयक दोनों सदनों–लोक सभा एवं राज्य सभा के लिए प्रेषित किया जाता है जिसके बाद राष्ट्रपति के

हस्ताक्षरोपरान्त ही विधेयक कानून बन जाता है। इसी तरह राज्यों का बजट विधान सभाओं तथा विधान परिषदों से पास कराया जाता है और जब माँगों पर वोंटिग समाप्त हो जाती है तब केन्द्र में राष्ट्रपति और राज्यों में राज्यपाल की स्वीकृति ली जाती है। इन लोगों को यह भी अधिकार होता है कि जिन लोगों की मदों को विधानसभा ने स्वीकृत नहीं किया है उनके लिए भी स्वीकृति दे दें। यदि वे चाहें तो बजट को पुनः विचार के लिए विधानसभा को भेज सकते हैं तथा पुनः स्वीकृति ली जाती है।

25.8.2.4 बजट का क्रियान्यवन – सामान्यतया जब बजट की माँगों पर बहस समाप्त हो जाती है तब एक विनिमय बिल रखा जाता है जिसका मुख्य उद्देश्य पारित की गयी माँगों को कानूनी रूप प्रदान करना तथा संचित कोष में से धन निकालने का अधिकार प्राप्त करना होता है। भारतवर्ष में करों से प्राप्त होने वाली आय को संचित कोष में जमा किया जाता है और बाद में इस राशि को धीरे–धीरे निकाला जाता है। विनियोग बिल के पारित हो जाने पर संसद द्वारा पारित की गयी माँगों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, वे माँगे स्थायी रूप ले लेती हैं। विनियोग बिल के पारित हो जाने पर केन्द्रीय आय बोर्ड को आय एकत्र करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस बोर्ड में विभिन्न विभाग आय को प्राप्त करके कोषागार में जमा करा देते हैं और बाद में इस राशि का उपयोग होने लगता है।

बजट के पास हो जाने के बाद कार्यकारिणी सभा इस बात पर नजर रखती है कि बजट में व्यय के लिए जो राशि स्वीकृत की गयी है उस राशि को व्यय किया जा रहा है अथवा नहीं। इस लेखे की जाँच करने के लिए एक 'राजकीय हिसाब समिति' होती है जो इसकी जाँच करती है। बजट के पास हो जाने पर उसकी सूचना विभिन्न विभागों द्वारा भेज दी जाती है। इसके बाद कोई भी अधिकारी स्वीकृत राशि को तब तक व्यय नहीं कर सकता है जब कि वह ऐसा करने के लिए अपने से उच्च अधिकारियों की स्वीकृति न ले लेता हो। इस तरह बजट के सही क्रियान्वयन हेतु यह ध्यान दिया जाता है कि बजट के क्रियान्वयन से सम्बन्धित सरकारी तन्त्र पूर्ण निष्ठा और कुशलता से कार्य करने के लिए प्रेरित हो।

बजट के कार्यान्वयन में सामान्यतया पाँच प्रक्रियाएं सम्मिलित रहती हैं, यथा – (1) वित्तीय स्रोतों का एकत्रीकरण (2) वित्तीय संसाधनों का संरक्षण, (3) वित्तीय संसाधनों का वितरण, (4) सरकारी आय–व्यय का लेखा, (5) लेखांकन। बजट के क्रियान्वयन में लेखांकन का विशेष महत्व होता है। इसी वजह से 'नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक' के अधीन लेखा एवं अंकेक्षण विभाग की अलग से स्थापना की गई है, जो सभी प्रकार के सरकारी लेन–देन के ब्यौरेवार वर्गीकरण तथा मासिक एवं वार्षिक संकलन आदि के लिए उत्तरदायी होता है। प्रत्येक राज्य में इसके अधीन एक महालेखाकार का कार्यालय स्थापित किया गया है। वित्तीय कोषों का लेखांकन चार स्तरों पर सम्पादित होता है – (1) प्रारम्भिक लेखों की पूर्ति उपकोषागार स्तर पर होती है। जहाँ सभी प्रकार का लेन–देन होता है। (2) दूसरे चरण में शीर्षकों के अनुसार सभी प्रकार के लेन–देन का वर्गीकरण किया जाता है। (3) तीसरे चरण में लेखाधिकारियों द्वारा लेखों

का मासिक संकलन किया जाता है और (4) चौथे चरण में भारत के महालेखा परीक्षक द्वारा वार्षिक संकलन किया जाता है।

25.8.2.5 वित्तीय कोषों का लेखांकन एवं लेखा परीक्षण – सामान्यतया सभी सरकारी विभागों द्वारा प्रतिमाह के हिसाब महालेखाकार के कार्यालय प्रेषित किए जाते हैं। यहाँ पर इन्हें आय–व्यय के लिए निर्धारित विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है और फिर इन लेखों का नियमित रूप से लेखाधिकारियों द्वारा अंकेक्षण किया जाता है। अंकेक्षण के बाद महालेखा परीक्षक द्वारा इन लेखों का वार्षिक संकलन मुख्य चार शीर्षकों यथा – (1) राजस्व खाता, (2) पूँजीगत खाता, (3) ऋण खाता तथा (4) दूरस्थ प्राप्तियों में किया जाता है, जो बजट–सत्र के समय संसद के समक्ष प्रस्तुए किए जाते हैं और इस प्रकार बजट का अन्तिम चरण पूर्ण होकर बजट सम्बन्धी प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है।

25.9 बजट के अवयव (Factors of Budget)

बजट के दो अवयव– पहला सार्वजनिक आय तथा दूसरा सार्वजनिक व्यय होते हैं। किसी भी प्रकार के बजट का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है – सरकार को एक वित्तीय वर्ष में प्राप्त होने वाली आय, जिसे हम सार्वजनिक आय कहते हैं तथा उसी वित्तीय वर्ष में होने वाले व्यय का अनुमान – जिसे हम सार्वजनिक व्यय कहते हैं।

जिसका विवरण निम्न रूप में दिया जा सकता है :

(1) सार्वजनिक आय – बजट में सार्वजनिक आय को दो भागों में बाँटा जा सकता है– (अ) राजस्व प्राप्तियाँ, (ब) पूँजीगत प्राप्तियाँ

(अ) राजस्व प्राप्तियाँ – इसके अन्तर्गत उस आय को रखा जाता है, जिसका सम्बन्ध उसी वित्तीय वर्ष से होता है इसे चालू खाता के नाम से भी जाना जाता है। **इस खाते में आय के उन स्रोतों को शामिल किया जाता है जिनके बदले में कोई भुगतान नहीं करना होता है,** जैसे – करों द्वारा प्राप्त आय, सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा अर्जित लाभ, सरकारी उधारों पर प्राप्त ब्याज तथा गैर–कर आय। ऐसे राजस्व प्राप्तियों से सरकार की देयताओं में किसी भी प्रकार से बृद्धि नहीं होती। इसके अन्तर्गत निम्न आते हैं :

(i) कर आय – करों द्वारा प्राप्त होने वाली आय दो प्रकार के स्रोतों से प्राप्त होती है – (क) प्रत्यक्ष करों से प्राप्त आय तथा (ख) अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त आय।

(क) प्रत्यक्ष कर – केन्द्र सरकार आय–कर (व्यक्तियों, अविभाजित हिन्दू परिवारों तथा संस्थाओं की आय पर), निगम–कर (कम्पनियों की आय पर कर), धन–कर, एस्टेट कर, उपहार–कर, व्यय–कर तथा ब्याज–कर प्राप्त करती है, जबकि **राज्य सरकारें –** होटल, भू–राजस्व, कृषि आय, व्यवसाय, गैर–शहरी अचल सम्पत्तियों एवं बेरोजगारों पर कर प्राप्त करती है।

(ख) अप्रत्यक्ष कर – अप्रत्यक्ष करों के रूप में केन्द्र सरकार सीमा शुल्क, केन्द्रीय उत्पाद शुल्क, केन्द्रीय बिक्री–कर, तथा सेवा–कर प्राप्त करती है, जबकि राज्य सरकारें बिक्री–कर/व्यापार–कर, डीजल/पेट्रोल पर बिक्री–कर, स्टाम्प एवं पंजीयन शुल्क, राज्य उत्पाद शुल्क, वाहनों पर कर, वस्तुओं एवं यात्रियों पर परिवहन कर, विद्युत पर कर एवं शुल्क, गन्ने की खरीद पर शुल्क तथा उपकर, प्रवेश कर, विज्ञापन कर, शिक्षा उपकर, कच्चे जूट पर कर एवं सट्टेबाजी पर कर प्राप्त करती है।

(ii) लाभ एवं लाभांश – केन्द्र सरकार स्वयं कई प्रकार की औद्योगिक तथा वित्तीय संस्थाओं और सेवाओं का संचालन करती है, यथा – तेल तथा प्राकृतिक गैस निगम (ONGC), स्टील अथॉरिटी आफ इण्डिया लिमिटेड (SAIL), राज्य व्यापार निगम (STC), खनिज तथा धातु व्यापार निगम (MMTC), राष्ट्रीयकृत बैंक, जीवन बीमा निगम आदि। सरकार को इनसे प्रतिवर्ष लाभ तथा लाभांश प्राप्त होता है।

(iii) **ब्याज आय** – कई बार केन्द्र (भारत सरकार) के द्वारा राज्य सरकारों, अन्य संस्थाओं तथा विदेशी सरकारों को उधार दिया जाता है जिस पर केन्द्र सरकार को वार्षिक ब्याज के रूप में आय मिलती है।

(iv) **करेत्तर या गैर कर आय** – सरकार द्वारा प्रदत्त सेवाओं, यथा – डाकतार सेवाएं, रेडियो तथा TV के विज्ञापन आदि पर शुल्क प्राप्त होता है, जिसे हम करेत्तर आय कहते हैं।

करेत्तर आय में मुख्यतः केन्द्र सरकार अपने सार्वजनिक प्रतिष्ठानों – रेलवे, डाक अन्य से प्राप्त निवल अंशदानों को प्राप्त करती है। इसके साथ–साथ व्याज प्राप्तियाँ, राजकोषीय सेवाओं, सामान्य सेवाओं, सामाजिक एवं सामुदायिक सेवाओं, आर्थिक सेवाओं तथा वाह्य सहायताओं को भी करेत्तर आय में सम्मिलित किया जाता है।

राज्य सरकारों द्वारा उनके वाणिज्यिक उपक्रमों से प्राप्त निवल अंशदान, सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त लाभांश तथा आय, दिये गये उधारों से प्राप्त ब्याज, सामाजिक एवं सामुदायिक सेवाओं से प्राप्त आय तथा आर्थिक सेवाओं से प्राप्त आय को करेत्तर आयों में सम्मिलित किया जाता है।

(ब) पूँजीगत प्राप्तियाँ :– पूँजीगत प्राप्तियों को पूँजी खाता (Capital Account) भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत आय के उन समस्त स्त्रोतों को रखा जाता है, जिसके बदले में भविष्य में भुगतान करना, आवश्यक होता है। यद्यपि कि यह भुगतान उसी वर्ष में न होकर आगामी वित्तीय वर्ष में किये जाते हैं। इस प्रकार राजस्व प्राप्तियों की प्रकृति जहाँ अल्पकालीक किस्म की होती है, वहीं पूँजीगत प्राप्तियों की प्रकृति दीर्घकालीक किस्म की होती है। पूँजीगत खाते के प्रमुख स्त्रोत हैं – निवल घरेलू ऋण, निवल विदेशी ऋण, ऋण वापसी तथा लोक लेखा प्राप्तियाँ।

राज्य सरकारों के पूँजीगत प्राप्तियों में निवल बाजारी ऋण, केन्द्र से प्राप्त ऋण, अन्य निवल ऋण, निवल राज्य भविष्य निधियाँ तथा विविध पूँजीगत प्राप्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

2. सार्वजनिक व्यय – सार्वजनिक आय की भाँति सार्वजनिक व्यय को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है : (अ) राजस्व व्यय तथा (ब) पूँजीगत व्यय।

(अ) राजस्व व्यय – सरकार के बजट में सर्वप्रथम राजस्व व्यय या चालू व्यय को विकासात्मक व्यय तथा गैर विकासात्मक व्यय के रूप में विभाजित किया जा सकता है।

विकासात्मक व्यय में सामाजिक एवं सामुदायिक सेवायें (शिक्षा, कला एवं संस्कृति, वैज्ञानिक अनुसंधान एवं सेवायें, चिकित्सा, स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, आवास, रोजगार, सूचना एवं प्रचार अन्य); सामान्य आर्थिक सेवायें (विदेश व्यापार एवं निर्यात सम्बर्धन, सहकारिता अन्य); कृषि एवं सहायक सेवायें; उद्योग एवं खनिज; रासायनिक उर्वरक सब्सिडी; विद्युत, सिंचाई एवं बाढ़ नियंत्रण; परिवहन एवं संचार; लोक निर्माण; राज्यों एवं केन्द्रशासित क्षेत्रों को अनुदान तथा राज्यों का सांविधिक अनुदान आदि सम्मिलित है।

गैर विकासात्मक व्यय के अन्तर्गत मुख्यतः सरकारी सेवाओं (प्रतिरक्षा, प्रशासकीय, आर्थिक तथा सामाजिक) पर होने वाला व्यय, सरकारी सब्सिडी, ब्याज अदायगी, सरकारी अनुदान सम्मिलित हैं।

(ब) पूँजीगत व्यय – पूँजीगत खाते व्यय में सरकार उन व्ययों को सम्मिलित करती है, जिनमें व्यय तो चालू वर्ष में किया जाता है, किन्तु उसका प्रभाव सामाजिक कल्याण में चालू वर्ष के साथ–साथ आगामी वर्षों में भी होता रहता है। उदाहरण के लिये किसी चिकित्सालय अथवा विद्यालय की स्थापना से वर्तमान में भवन, वाहन, सर्जरी के सामान पर किया गया व्यय आगामी वर्षों में भी लाभ प्रदान करता रहेगा। इस कारण इन पर होने वाला व्यय पूँजी खाते में सम्मिलित किया जाता है, जबकि डॉक्टर, शिक्षक, दवा अन्य पर किया जाने वाले मासिक व्यय चालू खाते का व्यय माना जाता है।

25.10 केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कोष (Central and State Governments Funds)

केन्द्र तथा राज्य सरकारों के कोषों को निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। चालू वित्तीय वर्ष में होने वाले व्यय के अनुमान लगाये जाते हैं। जिसको चालू व्यय (राजस्व व्यय) तथा खाता व्यय (पूँजीगत व्यय) में बांटा जाता है।

1. **संचित कोष (Consolidated Fund)** – इसके अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा प्राप्त सभी आय उनके द्वारा स्थापित संचित कोषों में जमा किया जाता है। इसमें कर तथा करेत्तर आयों, ऋण प्राप्तियों अन्य सभी आयों को सम्मिलित किया जाता है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों के सभी व्यय भी उनके द्वारा स्थापित संचित कोषों से ही किये जाते हैं। इस कोष से संविधान में निर्दिष्ट कुछ व्ययों को छोड़कर (जैसे सर्वोच्च न्यायालय के

न्यायाधीशों, नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक आदि के वेतन भुगतान अन्य शेष व्यय हेतु केन्द्र सरकार संसद से तथा राज्य सरकारें राज्य संचित कोष से व्यय हेतु विधान सभाओं से अनुमोदन प्राप्त करती हैं।

2. **आकस्मिक कोष (Contigency Fund)** – इस कोष से ऐसे आकस्मिक व्ययों को पूरा किया जाता है, जिनकी तत्काल आवश्यकता होती है। ऐसे व्ययों को तत्काल संसद अथवा विधान सभाओं द्वारा स्वीकृत कराना संभव नहीं होता, जिनको व्यय के बाद संसद/राज्य विधान सभाओं से स्वीकृति करा लिया जाता है। इस कोष का कोई भी अंश व्यय हो जाने के बाद सदन की अनुमति से संचित कोष से भरपाई की जाती है।

3. **लोक खाता (Public Account)** – इस खाते में एकत्रित धनराशि सरकार की नहीं होती। इस खाते में लघु बचतों, जमाओं और भविष्य निधि के रूप में प्राप्त सरकारी जमाओं में से किसी भी प्रकार के भुगतान हेतु सरकार को लोक सभा/राज्य विधान सभाओं से अनुमति की आवश्यकता नहीं होती।

25.11 स्वतंत्रतोपरान्त केन्द्रीय बजट की मुख्य बातें (Some Important Facts of Central Budget after Independence)

(अ) सन् 1947 से 2012–13 के बीच केन्द्रीय बजट प्रस्तुत करने वाले वित्त एवं प्रधान मंत्रियों को निम्न तालिका 25.1 में देख सकते हैं। स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार की बजट नीति में अभूतपूर्व परिवर्तन आये। राष्ट्रीय सरकार ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बजटों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। उसके मुख्य उद्देश्य देश में बेरोजगारी को दूर करना, आय की असमानता को कम करना तथा लोक–कल्याणकारी कार्यों का संचालन करना था। इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पंचवर्षीय योजनाओं को लागू किया गया। इस प्रकार समय–समय पर भारत सरकार ने बजट–नीति में नये–नये मोड़ देने प्रारम्भ कर दिये।

तालिका 25.1बजट प्रस्तुत करने वाले विभिन्न वित्त मन्त्री एवं प्रधानमन्त्री

क्र.स0	अवधि	वित्त मंत्री	प्रधानमंत्री
1.	947–49	आर0के0 षणमुखम् शेट्टी	जवाहर लाल नेहरू
2.	1949–51	जॉन मथाई	जवाहर लाल नेहरू
3.	1951–57	सी0डी0 देशमुख	जवाहर लाल नेहरू
4.	1957–58	टी0टी0 कृष्णामचारी	जवाहर लाल नेहरू
5.	1958–59	जवाहरलाल नेहरू	जवाहर लाल नेहरू
6.	1959–64	मोरारजी देसाई	जवाहर लाल नेहरू
7.	1966–67	टी0टी0 कृष्णामचारी	लाल बहादुर शास्त्री
8.	1966–67	सचिन्द्र चौधरी	इन्दिरा गांधी
9.	1967–70	मोरारजी देसाई	इन्दिरा गांधी
10.	1970–71	इन्दिरा गांधी	इन्दिरा गांधी
11.	1971–75	वाई0बी0 चाह्वाण	इन्दिरा गांधी
12.	1975–77	सी0 सुब्रह्ण्यम	इन्दिरा गांधी

13.	1977–78	एच0एम0 पटेल	मोरारजी देसाई
14.	1979–80	चरण सिंह	चरण सिंह
15.	1980–82	आर0 वेंकटरमन	इन्दिरा गांधी
16.	1982–85	प्रणव मुखर्जी	इन्दिरा गांधी
17.	1985–87	वी0पी0 सिंह	राजीव गांधी
18.	1987–88	राजीव गांधी	राजीव गांधी
19.	1988–89	एन0डी0 तिवारी	राजीव गांधी
20.	1989–90	एस0बी0 चाह्वाण	राजीव गांधी
21.	1990–91	मधु दण्डवते	विश्वनाथ प्रताप सिंह
22.	1991–92	यशवन्त सिन्हा	चन्द्रशेखर
23.	1992–96	मनमोहन सिंह	पी0वी0 नरसिम्हाराव
24.	1996–98	पी0 चिदम्बरम्	एच0डी0 देवगौड़ा
			इन्द्रकुमार गुजराल
25.	1998–2003	यशवन्त सिन्हा	अटल बिहारी वाजपेई
26.	2003–04	जसवन्त सिंह	अटल बिहारी वाजपेई
27.	2004–09	पी. चिदम्बरम	मनमोहन सिंह
28.	2009–10	मनमोहन सिंह (अंतरिम बजट)	मनमोहन सिंह
29.	2009–10	प्रणव मुखर्जी मुख्य बजट	मनमोहन सिंह
30.	2010–11	प्रणव मुखर्जी	मनमोहन सिंह
31.	2011–12	प्रणव मुखर्जी	मनमोहन सिंह
32.	2012–13	प्रणव मुखर्जी	मनमोहन सिंह

स्वतन्त्रता के बाद देश स्वतंत्र व्यापार की नीति को समाप्त कर दिया गया। संविधान के अनुसार एक ऐसा कार्यक्रम प्रस्तुत करने की सोची गयी, जिसमें आर्थिक विकेन्द्रीकरण को महत्व मिले। देश के आर्थिक विकास के लिए ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाने लगे। उत्पादन के साधनों का मितव्ययतापूर्वक उपयोग करने तथा सार्वजनिक उपक्रमों को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक प्रयत्न किये जाने लगे। व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामूहिक व सामाजिक हित को अधिक महत्व दिया जाने लगा। बचत करने की इच्छा व योग्यता को प्रोत्साहित करने के लिए नये–नये उपाय किये जाने लगे। प्रशुल्क नीति में बड़े भारी परिवर्तनों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। रोजगार प्रदान करना सरकार का मुख्य उद्देश्य बन गया। लोगों का आर्थिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए राहत के कार्यों को भी प्रमुख स्थान दिया जाने लगा। कुल मिलाकर लोक–कल्याणकारी राज्य की कल्पना को साकार करना ही सरकार का मुख्य उद्देश्य था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने भारत के लिए 'प्रजातान्त्रिक समाजवादी समाज' की नीति को तन, मन, धन से स्वीकार किया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए देश की राजकोषीय व बजट–नीति का महत्वपूर्ण स्थान हो गया।

स्वतन्त्रता के बाद भारत को विरासत में अभावों के अतिरिक्त और कुछ हासिल नहीं हुआ था। भले ही उसे राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी, परन्तु अब उसे आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना था। अतः स्वतन्त्र होते ही भारत में शरणार्थी समस्या, युद्ध, खाद्य–समस्या,

बेकारी, बीमारी जैसी भयंकर समस्याओं से लड़ने के लिए नये–नये कार्यक्रम बनाये जाने लगे। अंग्रेज मुद्रा–प्रसार के बीज बो गये थे, सरकार को उस पर नियन्त्रण लगाना था। आयातों को कम करने तथा निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए नये–नये उपाय अपनाने थे। प्रशासनिक व सैन्य–बल पर लगातार व्यय बढ़ रहा था। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय, कराधान, सार्वजनिक ऋण, वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था आदि में अनेकानेक परिवर्तन करने पड़े और उसी के अनुरूप बजटों का निर्माण होने लगा।

(ब) योजना–काल में बजट–नीति (Budgetary Policy During Plans) – भारत में 1951 में पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारम्भ किया गया था। अब भारत के सामने एक नये कार्यक्रम को अपनाने की चुनौती आ खड़ी हुई थी। उसके व्यय–भार बढ़ने प्रारम्भ हो गये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजकोषीय नीति का महत्वपूर्ण स्थान हो गया। योजना–काल में भारत सरकार के राजस्व पूँजीगत खातों में आय–व्यय बढ़ने लगा। पाँचवी योजना तक राजस्व खाते के आय और व्यय में लगभग आठ गुना वृद्धि हो चुकी थी। समाजवादी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए महत्वपूर्ण सेवाओं पर बड़े पैमाने पर व्यय किया जाने लगा। बार–बार के युद्धों के कारण प्रतिरक्षा–व्यय में वृद्धि होने लगी। दूसरी ओर, नागरिक प्रशासन में भी व्यय–भार बढ़ने लगा। जिस प्रकार संघ सरकार के व्ययों में वृद्धि होने लगी उसी प्रकार राज्य सरकारों के व्ययों में भी वृद्धि होने लगी, क्योंकि राज्य सरकारों को भी अपने–अपने क्षेत्रों में अनेक प्रकार के कार्यक्रमों को अपनाना था। राज्यों के आय के साधन बेलोच थे, जबकि उनका व्यय लोचदार। परिणामस्वरूप राज्यों की केन्द्र के प्रति निर्भरता लगातार बढ़ती गयी और केन्द्र के द्वारा राज्यों को दिया जाने वाला अनुदान भी बढ़ता गया। वित्त आयोगों द्वारा राज्यों के आर्थिक हितों की रक्षा करने के सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये गये जाने लगे जिन्हें केन्द्रीय सरकार को स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार केन्द्र का व्यय–भार और अधिक बढ़ गया। यदि केन्द्रीय सरकार वित्त आयोगों की सिफारिशों को स्वीकार न करती तो राज्यों व केन्द्र के बीच मनमुटाव होता रहता। यदि हम आज से 56 वर्ष पूर्व के भारतीय बजटों का अध्ययन करें तो आज की तुलना में हम पायेंगे कि बजटों की नीति पूर्णतया बदल चुकी है और भविष्य में भारतीय बजट का स्वरूप कैसा होगा, यह कहा नहीं जा सकता है। 1991 की आर्थिक नीतियों में परिवर्तन के साथ–साथ बजटों में परितर्वन आना स्वाभाविक है।

भारत सरकार की अब तक की बजट–नीति में मिश्रित प्रभाव देखने को मिले हैं। भारत की बजट–नीति आर्थिक विकास के लिए साधनों को गतिशील बनाने की दृष्टि से अनुकूल रही है, भले ही इसके स्फीतिक प्रभाव भी देखने में आये हैं। इसके अतिरिक्त, आय की असमानता व मूल्यों में निरन्तर वृद्धि जारी रही, फिर भी सरकार का यह प्रयन्त रहा कि देश में एकाधिकार तथा आर्थिक केन्द्रीकरण कम से कम हो। आय की असमानता को दूर करने के लिए ऊँची आय वालों पर ऊँची दर के करारोपण किया जाने लगा। अनार्जित आय के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार की नीति अपनायी जाने लगी। बड़े पैमाने पर व्यय करने के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में रोजगार के अवसर सुलभ कराये जाने लगे। ग्रामीण क्षेत्रों में भी छिपी बेरोजगारी दूर होने लगी। इतने पर भी जनसंख्या की वृद्धि के कारण बेरोजगारी की समस्या ज्यों की त्यों

बनी हुई है। फिर भी प्रत्येक बजट में ऐसा प्रयास किया जा रहा है कि हम उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही बेरोजगारी की समस्या का हल कर सकें और आर्थिक विकास के कार्यक्रम को भी तेजी से लागू करें।

जैसा कि तालिका 25.1 से स्पष्ट है कि अलग–अलग पार्टियों की सरकारें देश की आवश्यकता तथा अपने चुनावी घोषणाओं के अनुरूप समय–समय पर बजट नीतियों में परिवर्तन करती रही हैं। पंडित जवाहर लाल नेहरू का बजट 'प्रजातांत्रिक समाजवादी समाज' की स्थापना था, तो लाल बहादुर शास्त्री जी का बजट कृषि पर बल देना था। इन्दिरा गॉधी जी का बजट समाजवादी था, तो मोरारजी का बजट व्यापार को प्रोत्साहन करने वाला था। चरण सिंह जी का बजट कृषि को प्रोत्साहित करने वाला था, तो राजीव गांधी जी का बजट नई तकनीक की तरफ प्रेरित था। विश्वनाथ प्रताप सिंह का बजट सामान्य माना जाता है, जबकि चन्द्रशेखर जी का बजट समाजवादी माना जाता है। यच.डी. देवगौड़ा का बजट कृषि विकास आधारित था तो बाजपेई जी का बजट समन्वयवादी था जबकि मनमोहन जी का बजट नई आर्थिक नीतियों वाला माना जाता है। जिसके अन्तर्गत क्रमशः समाजवादी नीतियों का परित्याग करते हुए उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण की दिशा में तेजी से बढ़ना था।यद्यपि कि 1991 में वित्तमंत्री के रूप में पुष्पित पल्लवित मनमोहन सिंह जी का LPG बजट 2013 में बढ़ती महंगाई, रूपये की घटती क्रय शक्ति, निर्यात–आयात की बढ़ती खाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, घाटे की स्थिति अन्य बिगड़ती हुई ऐसी परिस्थिति बना चुकी है, जहाँ भारतीय अर्थव्यवस्था की दशा 1991 की स्थिति जैसी ही खराब मानी जा रही है।

25.12 बजट सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण तथ्य (Some Ipartant Facts of the Budget)

बजट सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को निम्न रूप में लिखा जा सकता है :

1.स्वतंत्र भारत का पहला बजट 26 नवम्बर, 1947 को, पहले वित्त मंत्री आर.के. षणमुखम् शेट्टी द्वारा पेश किया गया था, यह बजट 15 अगस्त, 1947 से 31 मार्च, 1948 तक की साढ़े सात माह की अवधि के लिए था।

2.जॉन मथाई को वर्ष 1950 में गणतंत्र भारत का पहला केन्द्रीय बजट पेश करने का गौरव हासिल हुआ।

3. गैर हिन्दी भाषी होने के बावजूद सी.डी. देशमुख ने वित्त मंत्री रहते हुए 1955–1956 का बजट पेश करने से पहले इस बात को सुनिश्चित किया था कि बजट के सभी दस्तावेज हिन्दी में भी छपे इससे पूर्व ये सिर्फ अंग्रेजी में ही छपते थे।

4.देश में चार प्रधानमंत्री ऐसे हुए हैं, जो वित्त मंत्री पद पर भी काम कर चुके हैं, मोरारजी देसाई, चौधरी चरण सिंह, विश्वनाथ प्रताप सिंह और मनमोहन सिंह।

5.प्रधानमंत्री पद पर रहते हुए जवाहरलाल नेहरू, इंदिरा गांधी और मनमोहन सिंह के पास वित्त मंत्री पद भी रहा।

6.जवाहरलाल नेहरू ने वर्ष 1958–59 का बजट पेश किया और उस बजट को पेश करते हुए उन्होंने घोषणा की थी, अगले साल से बजट 28 फरवरी के दिन ही पेश किया जाएगा

7.भारत में सबसे ज्यादा बजट पेश करने वाले वित्त मंत्री मोरारजी देसाई थे, उन्होने कुल दस बजट पेश किए, जबकि पी. चिदम्बरम ने आठ बजट पेश किए।

8.जॉन मथाई भारत के तीसरे वित्त मंत्री बने, उन्होंने संसद में 1949–50 व 1950–51 के दो बजट पेश किए।

9.वित्त मंत्रालय का भार प्रधानमंत्री के पास होने के बावजूद भी विदेशी मामलों के मंत्री प्रणव मुखर्जी ने वर्ष 2009–10 का अन्तरिम बजट पेश किया।

10.हेमवती नन्दन बहुगुणा, के.सी. नियोगी और मनमोहन सिंह वित्त मंत्री रहने के बावजूद भी बजट पेश नहीं कर पाए।

11.वित्त मंत्री के रूप में वर्ष 1991 में डॉ. मनमोहन सिंह ने देश में आर्थिक उदारीकरण की नीति लागू करने की घोषणा की।

12.अंग्रेजों ने भारत के लिए जब बजट पेश करना शुरू किया तो उसके लिए शाम के पाँच बजे का समय रखा गया था, लेकिन 1999 में राजग सरकार के वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा ने बजट पेश करने का समय दिन के 11 बजे कर दिया।

13.25 फरवरी, 1992 में भारत में पहली बार रेल बजट और 29 फरवरी, 1992 को सामान्य बजट का टेलीविजन पर प्रसारण शुरू हुआ था।

14.केन्द्र तथा राज्यों के बीच वितरित होने वाले राशियों एवं अनुदानों पर क्रमशः विवाद बढ़ते गये।

15.केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर सर्वप्रथम 1983 में गठित राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति आर. यस. सरकारिया के रिपोर्ट का 1988 से लागू होना।

16.केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर दूसरा 2007 में गठित राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति एम.एम. पुंछी की रिपोर्ट एवं उस पर निर्णय लिया जाना।

25.13 बजट सम्बन्धी समस्यायें एवं सुधार हेतु सुझाव (Related Problems of the Budget and Suggestions for Improvements)

बजट सम्बन्धी कुछ मुख्य समस्याओं तथा सुधारों हेतु सुझावों को निम्न प्रकार लिखा जा सकता है :

1.बजट निर्माण एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। इसमें सभी मंत्रालयों को अपना–अपना बजट बनाना होता है। बजट बनाते समय महालेखापरीक्षक की टिप्पड़ी तथा प्रशासकीय सूक्ष्म परीक्षणों एवं योजना आयोग तथा अन्य सम्बन्धित विभागों की टिप्पड़ियॉ अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं। जिनका व्यवहारिक समाधन देते हुए बजट बनाना चाहिये।

2.केन्द्र तथा राज्य सरकारें बजट के आर्थिक पक्ष को कम महत्व देते हुए सामान्यतया लोक लुभावन तथा चुनावी बजट बनाती रहती हैं। जिसमें अनावश्यक अपव्यय होता है, जिससे राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक विकास–दर में गिरावट आती है। इस हेतु राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक स्तर पर अर्थव्यवस्था की वास्तविक बृद्धि का ध्यान रखा जाना चाहिये।

3.ऐसी राज्य सरकारें जहाँ केन्द्र के अतिरिक्त अन्य पार्टी की सरकारें हैं, सामान्यतया केन्द्र पर सौतेलेपन का आरोप लगाती रहती हैं। उनका कथन है कि केन्द्र अपने पिछलग्गू तथा समर्थित पार्टियों की सरकारों को अपेक्षाकृत विशेष महत्व देकर अपने विरोधी राज्य सरकारों के उचित माँगों को भी नकारती है। जिससे बजट का सही वितरण नहीं हो पाता तथा विकास दर बाधित होता है। ऐसे समय केन्द्र तथा राज्य सरकारों दोनों को अपने–अपने विवाद को कम करते हुए संवैधानिक दायित्वों का निर्वहन करते हुए राष्ट्रीय तथा प्रादैशिक विकास को लक्ष्यों को पूरा करना चाहिये।

4.कभी–कभी वोट राजनीति के चक्कर में बजट का प्रारूप विकास के मूल उद्देश्य से भटक जाता है। ऐसे समय बजट से समाज में संतुलन स्थापित करने के साथ–साथ भावी तथा वर्तमान विकास की दशा तथा दिशा सही होनी चाहिये।

5.व्यापक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य तथा अधिक आय को प्राप्त करने हेतु प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों का आकलन व्यवहारिक होना चाहिये। राज्य सरकारों को अपने दायित्वों के निर्वहन हेतु स्वयम् संसाधनों का क्षेत्र तथा संग्रह बढ़ाकर केन्द्र की पराश्रयता को कम करना चाहिये।

6.केन्द्र तथा राज्य सरकारों को अपने उपक्रमों को लाभदायक बनाने हेतु सामान्य व्यापारिक नियमों का पालन करना चाहिये जिससे उसके उपक्रम सफेद हाथी न बन जायें।

7.विदेशी मुद्रा का सही प्रयोग कर अतिरिक्त विकास स्त्रोतों का निर्माण कर विकास की गति सही करना चाहिये। इस हेतु अपव्यय रोकने हेतु ठोस कदम उठाना चाहिये।

8.विकासात्मक लक्ष्य प्राप्त करने हेतु विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा पत्रकारिता को अपने–अपने दायित्वों का सही पालन करते हुए बजट से सम्बन्धित समस्याओं का समुचित तथा शीघ्र समाधान ढूढ़ना चाहिये।

9.प्रतिरक्षा व्यय, प्रशासनिक व्यय, आर्थिक एवं सामाजिक सेवा सम्बन्धी व्ययों में उचित समंजन होना चाहिये जिससे अर्थव्यवस्था को व्यापक आयाम मिल सके।

10.ब्याज अदायगी, अनुदान, सब्सिडी का क्षेत्र व्यापक एवं व्यवहारिक होना चाहिये। कथनी करनी में समानता लाकर सरकारों को जन विश्वास बढ़ाना चाहिये। इस हेतु बजट लोगों की आकांक्षाओं के अनुकूल तथा विकासात्मक होना चाहिए।

11.बजट की प्रतिबद्धता केन्द्र एवं राज्य सरकारों में वित्तीय अनुशासन बनाये रखना है। इस हेतु राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबन्धन अधिनियम 2003 (Fiscal Responsibility and Budget Management Act – FRBM Act 2003) के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर राजस्व घाटा शून्य किया जाना चाहिये तथा अधिक्य प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। इसका लक्ष्य 2008–09 तक राजस्व घाटा शून्य करना था।

यद्यपि कि मंदी से निपटने के लिए सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के परिप्रेक्ष्य में केन्द्र ने राज्य सरकारों को राजकोषीय घाटे की सीमा में कुछ छूट प्रदान की है, राजकोषीय नियामक एवं बजट प्रबन्धन अधिनियम (FRBM Act) के तहत् चालू वित्तीय वर्ष 2008–09 में राज्यों को अपना राजकोषीय घाटा उनके सकल राज्य घरेलू उत्पाद (GSDP) का अधिकतम 3 प्रतिशत तक ही रखने की अनुमति थी, बाद में यह सीमा वित्तीय वर्ष 2008–09 में सकल राज्य घरेलू उत्पाद के 3.5 प्रतिशत तक ही कर दी गई थी, किन्तु अगले वित्तीय वर्ष 2009–10 में उन्हें यह घाटा 3 प्रतिशत तक ही लाना था, परन्तु यह सब कुछ अभी तक भी नहीं हो पाया है।

वित्तीय समेकन (Fiscal Consolidation) हेतु 13वें वित्त आयोग द्वारा प्रस्तुत रूपरेखा के तहत राज्यों से 2014–15 तक हर हालत में राजस्व घाटा समाप्त करने तथा राजकोषीय घाटे को अपने सकल घरेलू उत्पाद (GSDP) का 3% तक लाने की अपेक्षा वर्ष 2011–12 के बजट में की गई है, इस दौरान राज्यों का संयुक्त ऋण GDP के 24.3 प्रतिशत का लक्ष्य भी प्राप्त करना है, किन्तु अभी तक यह लक्ष्य प्राप्त नहीं किए जा सके हैं।

12.वस्तुतः आम बजट ऐसा होना चाहिये जिसमें 'निष्पादन या कार्यपूर्ति' की जिम्मेदारी हो, घाटा कम से कम हो जिससे वह 'जीरोबेस बजट' के करीब हो तथा जिसका 'आउटकम या परिणाम' उचित हो, 'महिला सशक्तिकरण' को बल मिले। दूसरे शब्दों में ऐसा बजट होना चाहिए जो बजट घाटा रहित होकर, अपने निर्धारित कार्यों का उचित निष्पादन करते हुए शून्य सरप्लस के नियमों का पालन कर विकास के प्रतिबद्ध रहे तथा समाज की असमानता कम कर सके।

दुर्भाग्य से भारत का बजट उपर्युक्त नियमों पर खरा नहीं रहा। समान्यतया सरकार की चुनावी तथा लोक लुभावन बजटों से विकास की गति बाधित रही। रही सही कसर कार्यपालिका की लालफीता शाही तथा भ्रष्टाचार, न्यायपालिका की समय–अप्रतिबद्धता तथा पत्रकारिता की जनभावना के प्रति गैरजिम्मेदारी ने भी बजट के मार्ग में अनेक रूकावटें डाली हैं। सभी को अपनी जिम्मेदारी पूरी करनी होगी तभी आदर्श बजट का सपना साकार हो सकेगा।

25.14 सारांश (Conclusion)

जैसा कि आप देख चुके हैं कि इस इकाई 25 में संघीय बजट से सम्बन्धित अनेक बातों को समझने का प्रयास किया गया है। इकाई का प्रारम्भ प्रस्तावना से प्रारम्भ कर इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए बजट के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। बजट सरकार का संवैधानिक दायित्व है, जिसके अन्तर्गत वह अपने प्राप्तियों तथा व्ययों का विवरण देता है। बजट की आवश्यकता तथा महत्व की व्याख्या कर विधायिका की कार्यपालिका पर नियंत्रण स्थापित की जाती है। तत्पश्चात् अच्छे बजट की विशेषतायें बताते हुए बजट को तद्नुरूप बनाते हुए आम बजट को निष्पादन, परिणाम परक, शून्य सरप्लस वाला होने के साथ–साथ महिला सशक्तिकरण को प्रेरित करने वाला भी होना चाहिये। इस प्रकार बजट के प्रकारों की चर्चा की गयी है। केन्द्रीय बजट के प्रमुख दस्तावेजों–वित्त मंत्री का भाषण, वार्षिक वित्तीय कथन, बजट का सार, वित्तीय विधेयक, बजट प्राप्तियों, बजट व्यय तथा अनुदानों की माँगों को स्पष्ट करते हुए बजट निर्माण एवं बजट प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। मुख्य रूप से बजट निर्माण की प्रक्रिया के अन्तर्गत बजट की रूपरेखा, दस्तावेज, संसद की स्वीकृति, क्रियान्वयन तथा लेखांकन एवं लेखा परीक्षणों की व्यापक चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् बजट के सभी प्रमुख अवयवों सार्वजनिक आय तथा सार्वजनिक व्यय के विभिन्न स्त्रोंतों (राजस्व एवं

पूंजीगत) को समझते हुए केन्द्र तथा राज्य सरकारों के संचित, आकस्मिक तथा लोक कोषों की चर्चा के साथ स्वतंत्रतोपरान्त भारतीय बजट के केन्द्रीय बजट की मुख्य बातों की व्यापक चर्चा की गयी है। बजट सम्बन्धी महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करते हुए बजट सम्बन्धी समस्याओं एवं उनके समाधानों की चर्चा कर विषय को व्यवहारिक, ग्राह्य तथा उपयोगी बनाया गया है।

25.15 पारिभाषिक शब्दावली

1. वित्त विधेयक– नए करों को लागू करने, पुराने करों में घटत–बढ़त या उन्हें यथावत रखने के बारे में सरकारी प्रस्ताव वित्त विधेयक कहलाता है, संविधान के अनुच्छेद 110 के अनुसार वित्त विधेयक एक धन विधेयक है।
2. समेकित कोष – कर तथा ऋण आदि के द्वारा सरकार जो धन प्राप्त करती है, वह समेकित कोष कहलाता है, सरकार अपना सम्पूर्ण व्यय भी इसी कोष से करती है, संसद की स्वीकृति के बिना इस निधि में से कोई भी रकम नहीं निकाली जा सकती है।
3. आकस्मिक कोष – अप्रत्याशित और आकस्मिक खर्च के लिए संसद से सरकार यह आकस्मिक कोष स्वीकार कराती है, जिस पर प्रतिवर्ष संसद की अलग स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। रकम की निकासी के लिए बाद में संसद की स्वीकृति प्राप्त कर ली जाती है और खर्च की गई धनराशि निधि में वापस डाल दी जाती है।
4. राजस्व बजट – इसमें कर तथा शुल्क आदि से प्राप्त होने वाली सरकारी आमदनी शामिल होती है। दूसरी तरफ इनके संग्रह पर किए जाने वाला व्यय भी राजस्व बजट में शामिल होता है।
5. जनलेखा – करों से प्राप्त आमदनी के अतिरिक्त सरकार के पास कुछ ऐसी धनराशि भी होती है, जिसकी वह मालिक नहीं, केवल ट्रस्टी होती है और जिसे वह निर्धारित समय पर नियमानुसार ब्याज के साथ लौटा देती है। चूँकि यह धन देर सवेर सरकार को सम्बन्धित पक्षों को लौटाना पड़ता है, इसलिए इस पर भी संसद की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती।
6. पूँजीगत बजट – इसमें सरकार द्वारा प्राप्त किया गया ऋण, उस पर किया गया खर्च तथा सरकारी परिसम्पत्तियों से होने वाली आय तथा व्यय शामिल होते हैं।
7. विनियोग विधेयक – संसद द्वारा स्वीकृत बजट में से आवश्यक धनराशि निकालने के लिए जो विधेयक पेश किया जाता है, उसे विनियोग विधेयक कहते हैं।
8. अनुदान माँग – बजट में अलग–अलग विभागों की अपने विकास और कार्य संचालन पर व्यय किए जाने वाली माँग को अनुदान माँग कहते हैं। बजट पर बहस के दौरान यह माँग प्रायः सम्बन्धित विभाग के मंत्री द्वारा ही प्रस्तुत की जाती है और वही बहस का जबाब भी देते हैं।
9. कटौती प्रस्ताव – संसद सदस्यों द्वारा बजट में दिखलाए गए खर्च को कम करने के लिए जो प्रस्ताव पेश किए जाते हैं, उन्हें कटौती प्रस्ताव कहते हैं। इन प्रस्तावों का असली उद्देश्य बजट के उस भाग पर विस्तार से बहस करना होता है। यदि कोई कटौती प्रस्ताव सरकार की इच्छा के विपरीत पारित हो जाए तो उसका अर्थ सरकार के विरूद्ध अविश्वास माना जाता है।
10. लेखानुदान – पिछला बजट 31 मार्च को समाप्त हो जाता है। इसके बाद उसे नहीं बढ़ाया जा सकता। इसलिए पहली अप्रैल को सरकार को अपने खर्च के लिए नए बजट की आवश्यकता होती है, परन्तु नया बजट प्रायः पहली अप्रैल से पूर्व पारित नहीं हो पाता, इसलिए संसद अस्थायी रूप से सरकार को व्यय के लिए अग्रिम धनराशि देती है।

11. पूरक बजट – यदि कभी बजट में स्वीकृत धनराशि 31 मार्च से पहले ही समाप्त हो जाती है, तो उस स्थिति में सरकार संसद के सम्मुख पूरक बजट प्रस्तुत करती है, जिसमें शेष समय के लिए अतिरिक्त धन की माँग की जाती है।
12. वित्तीय घाटा – वित्तीय घाटा खजाने की सबसे सच्ची तस्वीर है, इसमें बजट घाटे के साथ–साथ सरकार की शुद्ध उधारी को भी जोड़कर देखा जाता है।
13. Current Account - चालू खाता
14. Capital Account - पूँजी खाता
15. FRBM Act – Fiscal Responsibility and Budget Management Act. राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबन्धन अधिनियम
16. GSDP – Gross State Domestic Product - सकल राज्य घरेलू उत्पाद
17. Fiscal Consolidation वित्तीय समेकन

25.16 अभ्यास प्रश्न

1. आप बजट से क्या समझते हैं ? बजट की आवश्यकता एवं महत्व को स्पष्ट कीजिये।
2. आप बजट से क्या समझते हैं ? बजट के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।
3. बजट निर्माण से क्या समझते हैं ? बजट निर्माण प्रक्रिया को समझाइये।
4. बजट से क्या समझते हैं ? बजट के अवयवों का वर्णन कीजिए।
5. स्वतंत्रतोपरान्त केन्द्रीय बजट नीति की व्याख्या कीजिये।
6. बजट की समस्याओं की चर्चा करते हुए सुधार हेतु उपाय सुझायें।
7. निम्न पर टिप्पड़ी लिखें :

अ. बजट की आवश्यकता तथा महत्व
ब. अच्छे बजट की विशेषतायें स.निष्पादन बजट
द. शून्य बजट प्रणाली य.जेण्डर बजट
र. केन्द्रीय बजट के प्रमुख दस्तावेज ल.पूँजीगत प्राप्तियाँ
व. राजस्व व्यय श.संचित कोष ष.आकस्मिक कोष

25.17 उपयोगी पाठ्य सामग्री

- H.M Groves: Viewpoints on Public Finance
- R.N Tripathy: Public Finance in Underdeveloped Countries
- R. Goode: Government Finance in Developing Economics
- R. W. Houghton (ed): Public Finance
- Musgrave and Musgrave: Public Finance in Theory and Practice
- डॉ. एस. के. सिंहः लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- डॉ. जे.सी. पन्त एवं प्रो. चन्द्रशेखर जोशीः लोक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा
- डॉ. एस.के. सिंह एवं डॉ. जे.पी. मिश्र :राजस्व एवं रोजगार के सिद्धान्त, साहित्य भवन आगरा
- प्रो. एस.एन. लाल एवं एस.के. लालः लोक वित्त, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद
- डॉ. जे.पी. मिश्र : लोक वित्त एवं रोजगार सिद्धान्त विजडम बुक्स, वाराणसी

इकाई 26 घाटे की वित्त व्यवस्था एवं घाटे का मौद्रीकरण और राजकोषीय क्षेत्र में सुधार(Defict Financing, Manetization of Deficit and Reforms in Fiscal Sector)

इकाई संरचना

26.1 प्रस्तावना

26.2 उद्देश्य

26.3 घाटे की वित्त से तात्पर्य

26.4 भारत में बजटीय घाटे की अवधारणाएं

26.5 भारत में सरकारी घाटों के आकलन के सूत्र

26.6 भारत में घाटे की वित्त– व्यवस्था का उदेृश्य

26.7 भारतवर्ष में हीनार्थ प्रबन्धन का मूल्यांकन

26.8 भारत में घाटे की वित्त– व्यवस्था का उदेृश्य

26.9 भारत में हीनार्थ प्रबन्ध के बुरे प्रभाव को राकने के उपाय

26.10 राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबन्धन अधिनियम

26.11 घाटे का मौद्रीकरण या मौद्रीकृत घाटा

26.12 भारत में राजकोषीय क्षेत्र में सुधार

26.13 सारांश

26.14 पारिभाषिक शब्दावली

26.15 अभ्यास प्रश्न

26.16 उपयोगी पाठ्य सामग्री

26.1 प्रस्तावना (Introduction)

अभी तक आपने खण्ड 7 में, भारतीय कर प्रणाली के अन्तर्गत इकाई 23 में भारत में कर आधार (प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर एवं गैर कर आय); इकाई 24 में राज्य और स्थानीय आय के स्त्रोत; इकाई 25 में संघीय बजट का विश्लेषण एवं सुधार देखा है। इस इकाई 26 में सरकार की विभिन्न प्राप्तियों तथा व्ययों के अन्तर को पूरा करने हेतु हीनार्थ प्रबंन्धन अथवा घाटे की वित्त व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेगें।

जैसा कि आप जानते है कि बढ़ते लोक कल्याणकारी जिम्मेदारियों तथा इसके बढ़ते हुए व्ययों को पूरा कर पाना सरकारों के लिए बहुत मुश्किल हो रहा है। विशेष रूप से विकासशील राष्ट्रों में अनेक जटिल समस्याये हैं। आय के स्त्रोत सीमित हैं तथा लक्ष्य अनेक हैं। जनतांत्रिक सरकारों की स्थापना तथा जनकल्याणकारी कार्यों का अंतहीन लक्ष्य सरकार की प्राप्तियों से पूरा हो सकना संम्भव नहीं है। विदेशी सरकारें या तो ऋण देने में अनाकानी करती हैं अथवा ऋण के साथ अनेक शर्तें थोपती हैं। ऐसे समय आन्तरिक स्त्रोत में रूप में हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा अतिरिक्त मुद्रा का सृजन करके तत्कालीन समस्याओं से निदान पाया जाता है।

इस इकाई में भारत के सन्दर्भ में परिभाषित अनेक बातों को समावेश किया गया है। विशेष रूप से घाटे की वित्त व्यवस्था से तात्पर्य, अमेरिकन एवं भारतीय दृष्टिकोण, बजटीय घाटे की विभिन्न अवधारणाओं, भारतीय बजट का सार, घाटे की वित्त व्यवस्था के उद्देश्यों, भारत में हीनार्थ प्रबंधन का मूल्यांकन, घाटे की वित्त का प्रभाव, हीनार्थ प्रबंधन रोकने के उपाय, राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम, मौद्रीकृत घाटा, राजकोषीय क्षेत्र में सुधारों की चर्चा करते हुए सारांश दिया गया है, जिसके अन्तर्गत भारतीय हीनार्थ प्रबंधन से सम्बन्धित अनेक तथ्यों को समझा जा सकता है।

26.2 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के मुख्य उद्देश्य निम्न है :

- घाटे की वित्त व्यवस्था को समझना।
- भारतीय अर्थ व्यवस्था में घाटे की अवधारणा का ज्ञान ।
- बजटीय घाटे की विभिन्न अवधारणाओं का बोध करना।
- घाटे सम्बन्धी अनेक सूत्रों का ज्ञान।
- घाटे के उद्देश्यों को जानना।
- भारत में हीनार्थ प्रबंधन का मूल्याकन करना।
- घाटे की वित्त व्यवस्था के विभिन्न प्रकारों का ज्ञान।
- हीनार्थ प्रबंधन के प्रभाव को रोकने के उपाय।
- FRBM Act 2003 का ज्ञान प्राप्त करना।
- मौद्रीकृत घाटा का ज्ञान।

26.3 घाटे की वित्त से तात्पर्य (Concept of Deficit Finance)

साधारण बोलचाल की भाषा में 'घाटे की वित्त व्यवस्था' का अर्थ है सरकार की आय की तुलना में व्यय का अधिक होना। ऐसे समय सरकार अपने बजट में उत्पन्न होने वाले घाटे को पूरा करने हेतु जो व्यवस्था देती है, उसे हीनार्थ प्रबंधन अथवा घाटे की वित्त व्यवस्था कहते हैं। सामान्यता ऐसे घाटे तीन प्रकार से पूरा किये जाते हैं :

(क) आन्तरिक ऋण,

(ख) वाह्य या विदेशी ऋण,

(ग) नई मुद्रा जारी कर या छापकर।

आय एवं व्यय के मध्य उत्पन्न खाई (Gap) का पूरा करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में हीनार्थ प्रबंधन की निम्न दो विचारधारा देखने को मिलती है :

26.3.1 अमेरिकन दृष्टिकोण (American Concept) – अमेरिकी दृष्टिकोण से सम्बन्धित अधिकांश पश्चिमी देशों में जब कभी सरकारी व्यय उसकी आय से अधिक हो जाती है तब सरकार अतिरिक्त व्यय को पूरा करने हेतु अपने बैंकों अथवा जनता अथवा दोनों से ऋण लेकर अपने घाटे की पूर्ति करता है और इस व्यवस्था को घाटे की वित्त व्यवस्था अथवा हीनार्थ प्रबंधन कहा जाता है। इस तरह अधिकांश पश्चिमी देश ऋणों की व्यवस्था को घाटे की वित्त व्यवस्था मानते हैं। इनका मानना है कि ऋणों से व्यक्ति अथवा बैंकों की निष्क्रिय मनी सक्रिय होकर उपयोग में आ जाने से व्यय की बढ़ी मात्रा को पूरा कर लिया जाता है। परन्तु भारत में सार्वजनिक ऋणों से पूरे किये जाने वाले व्यय को घाटे की वित्त व्यवस्था नहीं माना जाता है।

26.3.2. भारतीय दृष्टिकोण (Indian Concept)– भारत में जब सरकार की कुल आय (राजस्व खाते+ पूंजीगत खाते की आय), इसके कुल व्यय से कम होती है तो इस कमी को पूरा करने के लिए सरकार रिजर्व बैंक में जमा अपने नगद कोषों से धन निकालती है अथवा रिजर्व बैंक तथा व्यापारिक बैंकों से ऋण प्राप्त करती है अथवा नये नोट छापती है तो इसे हीनाथ प्रबंधन कहते हैं। इन सभी उपायों से चलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है।

दूसरे शब्दों में, भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था का आशय केवल उस व्यय से लगाया जाता है जो सरकार की चालू आय तथा गैर–बैंकिंग उधार से अधिक मात्रा में होता है। यहाँ जनता से जो उधार लिया जाता है उसे घाटे की परिधि से बाहर रखा जाता है। क्योंकि ऐसा माना जाता है कि इससे कुल राष्ट्रीय व्यय में वृद्धि नहीं होती। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब सरकारी उधार लोगों की बचतों से प्राप्त हो जाये। जबकि सदैव ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। यही नहीं जब सरकार उधार लेती तब उसे यह ज्ञात नहीं रहता की वह जो ऋण व्यक्तियों से प्राप्त कर रही है उस ऋण को व्यक्ति कहाँ से दे रहे हैं।

भारत के सन्दर्भ में घाटे की वित्त व्यवस्था की कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं :

डा0 वी0के0 आर0वी0 राव (V.K.R.V. Rao) के अनुसार, '' जब सरकार जान बुझकर किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु अपनी आय से अधिक व्यय करे और इस घाटे की पूर्ति किसी भी ऐसी विधि से करे जिससे देश में मुद्रा की मात्रा बढ़े तो उसे घाटे की वित्त व्यवस्था ही कहना चाहिये।

डा0 आर0जी0 कुलकर्णी के अनुसार, ''हीनार्थ प्रबंधन वाक्यांश का प्रयोग सार्वजनिक आय एवं सार्वजनिक व्यय के बीच जानबूझकर उत्पन्न किये गये अन्तर की वित्त व्यवस्था को सूचित करने हेतु किया जाता है''।

भारतीय योजना आयोग के अनुसार, ''घाटे की वित्त व्यवस्था शब्द बजट के घाटे द्वारा कुल राष्ट्रीय व्यय में प्रत्यक्ष वृद्धि को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है, यह घाटे चाहे आय खाते से सम्बन्धित हो अथवा पूंजी खाते से। ऐसी नीति अपनाने का सार यही होता है कि सरकार अपनी उस आय से अधिक मात्रा में व्यय करती है जो उसे कारारोपण, सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त आय, जनता से प्राप्त ऋण, जमा एवं कोष तथा अन्य मदों से प्राप्त होती है। सरकार इस घाटे की पूर्ति या तो अपने संचित शेषों को प्रयोग में लाकर करती हैं अथवा बैंको से उधार लेकर (मुख्यतः देश के केन्द्रीय बैंक से) और इस प्रकार मुद्रा का सृजन करके करती है''।

26.4 भारत में बजटीय घाटे की अवधारणाएं (Concepts of Budgetary Deficits in India)

सम्प्रति सरकारें अर्थ व्यवस्था से सम्बन्धित सरकारी कार्यों को सम्पादित करने के क्रम में सार्वजनिक व्यय करती हैं तथा इस व्यय को पूरा करने के लिए विभिन्न स्त्रोतों से धन प्राप्त करती हैं जिन्हें सार्वजनिक प्राप्तियाँ कहा जाता है। सार्वजनिक घाटा वस्तुतः सार्वजनिक व्ययों तथा सार्वजनिक प्राप्तियों के अन्तर से सम्बन्धित ळें

सार्वजनिक व्ययों एवं सार्वजनिक प्राप्तियों से सम्बन्धित वित्तीय व्यवहार को निम्न चार्ट 26.1 द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।

चार्ट 26.1 सार्वजनिक बजट (Public Budget)

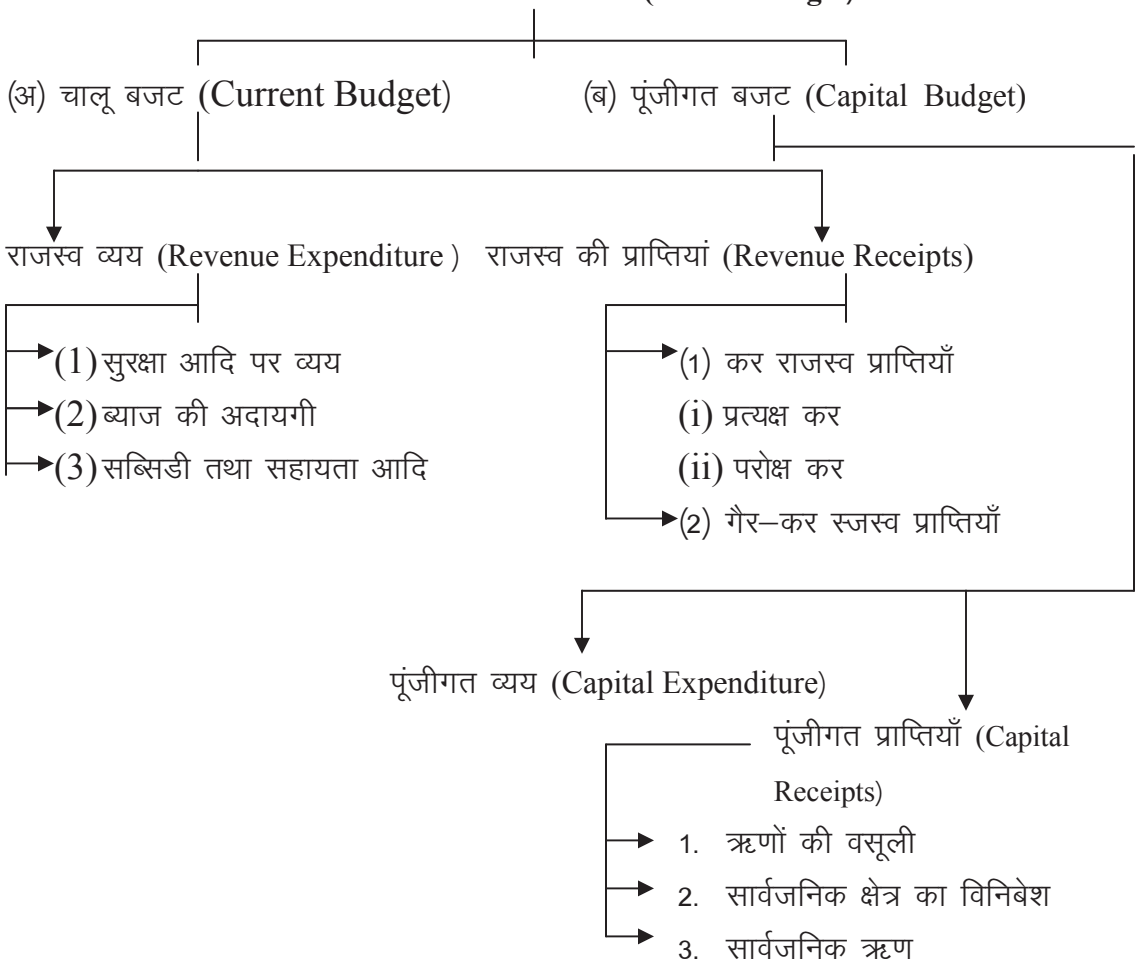

उपर प्रदर्शित किये गये चार्ट में स्पष्ट है कि, सार्वजनिक वित्तीय व्यवहारों को दो भागों में बाटा जा सकता है :–

1. **चालू वित्तीय व्यवहार**
2. **पूंजीगत स्वभाव का व्यवहार**

चालू बजट को ही राजस्व बजट कहा जाता है। राजस्व बजट के दो भाग होते हैं– राजस्व व्यय तथा राजस्व आय। राजस्व बजट को जिस खाते में प्रदर्शित किया जाता है उसे राजस्व खाता कहा जाता है। भारत में चालू व्ययों अर्थात राजस्व व्यय के अन्तर्गत मुख्य रूप से सुरक्षा, ब्याज की अदायगी तथा सब्सिडी आदि को सम्मिलित किया जाता है। राजस्व प्राप्तियों को भी दो भागों (कर राजस्व तथा गैर– कर राजस्व) में विभाजित किया जाता है। कर राजस्व के अन्तर्गत प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों को रखा जाता है। पूंजीगत बजट को भी इसी तरह दो भागों में बांटा जा सकता है – पूंजीगत व्यय तथा पूंजीगत प्राप्तियाँ। पूंजीगत व्यय के अन्तर्गत उन व्ययों को सम्मिलित किया जाता है जो निवेश अथवा पूँजी निर्माण से सम्बन्धित होते हैं जबकि पूंजीगत प्राप्तियों में इन

प्राप्तियों को सम्मिलित करते है जो पूंजी स्वभाव की होती है। भारत में पूंजीगत प्राप्तियों के अन्तर्गत सार्वजनिक ऋणों, व्याज की वसूली तथा सार्वजनिक उद्यमों, आदि की विक्री से प्राप्त विनिवेश आदि को सम्मिलित किया जाता है। इस तरह पूंजीगत व्यय तथा पूंजीगत प्राप्तियों को जिस खाते में प्रदर्शित किया जाता है उसे पूंजी खाता (Capital Account) अथवा पूंजी बजट (Capital Budget) कहते है।

इस तरह, राजस्व खाता तथा पूंजी खाता मिलकर सरकार के आय–व्यय से सम्बन्धित समस्त वित्तीय व्यवहार को प्रदर्शित करते हैं। सार्वजनिक घाटा, वास्तव में इन्हीं दोनों खातों में प्रदर्शित शेष (Balance) से सम्बन्धित होता है। राजस्व घाटा एवं राजस्व आधिक्य को उपयुक्त विवेचना के आधार पर निम्नवत् व्यक्त किया जा सकता हैः

(i)राजस्व घाटा (Revenue Deficit)– यदि कुल राजस्व व्यय की मात्रा ($\sum R_E$) कुल राजस्व प्राप्तियों ($\sum E_R$) से अधिक हो जाता है अर्थात् $\sum R_E > \sum R_R$ तब यह आधिक्य राजस्व घाटे को प्रदर्शित करता है। अर्थात् राजस्व घाटा $(R_D)=\sum R_E-\sum R_R$, यहाँ R_E=Revenue Expenditure है। इस तरह राजस्व घाटा, राजस्व व्यय तथा राजस्व प्राप्तियों का अन्तर होता है।

राजस्व आधिक्य (Revenue Surplus)– यदि कुल राजस्व व्यय की मात्रा ($\sum R_E$) कुल राजस्व प्राप्तियों ($\sum R_R$) से कम अर्थात् $\sum R_R > \sum R_E$ हैं तब इसे राजस्व आधिक्य कहा जायेगा। अर्थात राजस्व आधिक्य $(R_S)=\sum R_R-\sum R_E$ यहाँ R_S Revenue Surplus है।

इसी तरह, पूंजीगत व्यय (C_E) तथा पूंजीगत प्राप्तियों (C_R) के आधार पर पूंजी खाते के घाटे को प्रदर्शित किया जा सकता है। यदि कुल पूंजीगत व्यय ($\sum C_E$) की तुलना में कुल पूंजीगत प्राप्तियाँ ($\sum C_R$) कम होती है अर्थात $\sum C_E > \sum C_R$ तब इसे पूंजी खाते का घाटा कहा जायेगा अर्थात पूंजीगत घाटा पूंजीगत व्यय तथा पूंजीगत प्राप्तियों का अन्तर होता है। इस तरह पूंजी खाते का घाटा. $C_D=\sum C_E-\sum C_R$

(ii) **बजेटरी शेष** (Budgetary Balance)– राजस्व खाते के शेष तथा पूंजी खाते के शेष को जोड़कर बजेटरी शेष प्राप्त किया जा सकता है। अन्य शब्दों में,

बजेटरी शेष = राजस्व खाते का शेष + पूंजी खाते का शेष
= (कुल राजस्व प्राप्ति – कुल राजस्व व्यय) + (कुल पूंजीगत प्राप्ति– कुल पूंजीगत व्यय)
= (कुल प्राप्तियां– कुल व्यय)
= (कुछ राजस्व प्राप्तियां + कुल पूंजीगत प्राप्तियां)– (कुल राजस्व व्यय+ कुल पूंजीगत व्यय)
= $(\sum R_R+\sum C_R) – (\sum R_E+\sum C_E)$

उल्लेखनीय है कि बजेटरी शेष, धनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों हो सकता है। धनात्मक बजेटरी शेष बजट आधिक्य का तथा ऋणात्मक बजेटरी शेष बजेटरी घाटे को प्रदर्शित करेगा।

इस तरह, बजट का घाटा कुल प्राप्तियां तथा कुल व्यय (राजस्व तथा पूंजी दोनों) का अन्तर है। बजेटरी घाटे की आपूर्ति सरकार रिजर्व बैंक से नकद निकासी अथवा तदर्थ कोषागार बिलों (अत्यन्त ही अल्पकालीन प्रतिभूतियां सामान्यतया 90 दिन की) के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करके करती हैं। इस तरह,

बजेटरी घाटा = रिजर्व बैंक से नकद निकासी + 90 दिनों के कोषागार बिलों में वृद्धि $\triangle TB)$

(iii) **राजकोषीय घाटा–** (Fiscal Deficit- FD)– राजकोषीय घाटा, बजट घाटे की एक वृहत् संकल्पना है। यह धारणा केन्द्रीय सरकार की ऋणग्रस्तता पर राजकोषीय क्रियाओं के प्रभाव को प्रतिबिम्बित करती है। वास्तव में, राजकोषीय घाटा वह समग्र घाटा है जो सरकार की समग्र वित्तीय

आय (समग्र प्राप्तियां नहीं, क्योंकि समग्र प्राप्तियों में सार्वजनिक ऋण को सम्मिलित किया जाता है जो आय नहीं है। सरकार के ऊपर आय को वापस करने का दायित्व नहीं रहता जबकि सरकार को ऋण वापस करना होता है) सम्बन्धी व्यवहारों तथा समग्र व्यय सम्बन्धी क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। अन्य शब्दों में, समग्र व्यय का आधिक्य ही राजकोषीय घाटा होता है। इसका गणितीय रूप निम्न है:

समग्र व्यय = (कुल राजस्व व्यय+ कुल पूंजीगत व्यय)

$= (\sum R_R + \sum C_E)$

समग्र आय = (कुल राजस्व आय + कुल पूंजीगत आय)

$= (\sum R_R + \sum C_E)$

(यहां पूंजीगत आय में सार्वजनिक ऋण शामिल नहीं है)

चूंकि, समग्र पूंजीगत प्राप्ति $\sum C_R$=कुल पूंजीगत आय $(\sum C_Y)$ + सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व अतः समग्र आय = कुल राजस्व आय + कुल पूंजीगत प्राप्ति–सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व या समग्र आय $=\sum R_R + \sum C_R$–सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व।

इसी तरह राजकीय घाटा (F.D.) = समग्र व्यय – समग्र आय

या, F.D. = $(\sum R_E + \sum C_E)$- $(\sum R_R + \sum C_R)$ सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व)

या, F.D. = $(\sum R_E + \sum C_E)$- $\sum R_R - \sum C_R$ – सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व

या, F.D. – सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व = $(\sum R_R + \sum C_E)$- $(\sum R_R + \sum C_R)$ या,

F.D. – सावर्जनकि ऋण तथा अन्य दायित्व = बजेटरी घाटा

या, राजकोषीय घाटा (F.D.) - बजटेरी घाटा = सार्वजनिक ऋण तथा अन्य दायित्व

इस तरह, राजकोषीय घाटा, सार्वजनिक ऋण में शुद्ध वृद्धि को प्रदर्शित करता है। यह सरकार की प्राप्तियों तथा व्ययों के मध्य अन्तराल प्रदर्शित करने के साथ– साथ इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि किसी चालू वर्ष में सरकार द्वारा लिए जाने वाले सार्वजनिक ऋण की मात्रा कितनी रहेगी। इस तरह, राजकोषीय घाटा अर्थव्यवस्था में संसाधन अन्तराल (resource gap) भी प्रदर्शित करता है।

(iv) **प्राथमिक अथवा मूल घाटा** (Primary Deficit)– राजकोषीय घाटे में से सरकार के ब्याज के भुगतानों को निकाल देने पर प्राथमिक घाटा प्राप्त होता है। अन्य शब्दों में, प्राथमिक घाटा वह राजकोषीय घाटा है जिसमें से ब्याज अदायगियाँ घटा दी गयी हैं। घाटे की यह संकल्पना, जिसे गैर– ब्याज घाटे के रूप में जाना जाता है, सरकारी बजट की विवेकसम्मत नीति (discretionary Policy) के प्रभाव को मापने के काम आती है। इसका उपयोग सरकारी घाटों के औचित्य के मूल्यांकन के लिए भी किया जा सकता है।

सार्वजनिक ऋणों पर किया गया ब्याज का भुगतान विगत वर्षों में हुए घाटे के परिणामस्वरूप होता है, उसका सरकार के वर्तमान व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अतः यदि सार्वजनिक क्षेत्र के व्यवहार के कारण उत्पन्न घाटे का आकलन करना हो तो ब्याज के रूप में किए गए सम्पूर्ण भुगतान को घटाना होगा। सार्वजनिक क्षेत्र की ऋण आवश्यकता (Public Sectot Borrowing Requirement- PSBR) में से जब हम कुल ब्याज के भुगतान को घटा देते हैं तब प्राथमिक घाटा प्राप्त हो जाता है।

प्राथमिक घाटे की कोई एक सर्वसम्मत संकल्पना नहीं है। सामान्यतया जिस राजकोषीय घाटे की संकल्पना का उपयोग किया जाता है उसमें व्यय के खाते में निबल उधार (Net Lending) शामिल रहते हैं। ऐसे राजकोषीय घाटे को सकल राजकोषीय घाटा (Gross Fiscal Deficit) कहा जाता है।

सकल राजकोषीय घाटे (GFD) में से प्राथमिक घाटा निकालने के सम्बन्ध में कोई एक धारणा नहीं है। एक धारणा के अनुसार GFD में से सरकार के ब्याज भुगतानों को निकल देने पर प्राथमिक घाटा प्राप्त होता है। दूसरी धारणा के अनुसार GFD में से निबल ब्याज भुगतान को निकाल देने पर प्राप्त होता है। कुल ब्याज भुगतान में से ब्याज प्राप्ति को घटा देने पर निवल ब्याज भुगतान प्राप्त होता है। जिस राजकोषीय घाटे में सरकार का निवल उधार शामिल नहीं रहता उसे निबल राजकोषीय घाटा (Net Fiscal Deficit) कहा जाता है। निबल सरकार द्वारा दिए गए उधार तथा अग्रिम एवं उधार की वसूली का अन्तर होता हैं। जब निवल राजकोषीय घाटा में से निवल ब्याज भुगतान को घटा दिया जाता है तब निवल प्राथमिक घाटा प्राप्त होता है।

26.5 भारत में सरकारी घाटों के आकलन के सूत्र (Formual For the Measurements of Government Deficit in India)

इसे हम सारणी 26.1 में देख सकते हैं:

1.	बजटीय घाटा	=	कुल प्राप्तियाँ– कुल व्यय
	(Budgetary Deficit)	=	(राजस्व प्राप्तियाँ + पूँजीगत प्राप्तियाँ) – (आयोजना भिन्न व्यय + आयोजना व्यय)
		=	[(कर राजस्व + कर भिन्न राजस्व) + (ऋणों की वसूली + अन्य प्राप्तियां+ उधार और अन्य देयताएँ)] – [(राजस्व खाते पर आयोजना भिन्न व्यय + पूँजी खाते पर आयोजना भिन्न व्यय) + (राजस्व खाते पर आयोजना व्यय + पूँजी खाते पर आयोजना व्यय)]
2.	राजस्व घाटा	=	राजस्व प्राप्तियाँ– राजस्व व्यय
	(Revenue Deficit)	=	(कर राजस्व + कर भिन्न राजस्व)– (राजस्व खाते भिन्न व्यय + राजस्व खाते पर आयोजना व्यय)
3.	राजकोषीय घाटा	=	बजटीय घाटा + उधार और अन्य देयताएँ
	(Fiscal Deficit)	=	(राजस्व प्राप्तियाँ + ऋणों की वसूली + अन्य प्राप्तियाँ)–(कुल व्यय)
		=	(कर राजस्व + कर भिन्न राजस्व + ऋणों की वसूली + अन्य प्राप्तियाँ) (आयोजना भिन्न व्यय + आयोजना व्यय)
		=	(कर राजस्व + कर भिन्न राजस्व + ऋणों की वसूली+ अन्य प्राप्तियाँ) – (राजस्व खाते पर आयोजना भिन्न व्यय + पूँजी खाते पर आयोजना भिन्न व्यय + राजस्व खाते पर आयोजना व्यय + पूँजी खाते पर आयोजना व्यय)
		=	(कर राजस्व + कर भिन्न राजस्व + ऋणों की वसूली + अन्य प्राप्तियाँ) – (राजस्व खाते पर आयोजना भिन्न व्यय + पूँजी खाते पर आयोजना भिन्न व्यय + राजस्व खाते पर आयोजना व्यय + पूँजी खाते पर आयोजना व्यय)
4.	प्राथमिक घाटा	=	राजकोषीय घाटा – ब्याज की अदायगियाँ
	(Primary Deficit)	=	(कर राजस्व + कर भिन्न राजस्व + ऋणों की वसूली + अन्य प्राप्तियाँ) – (राजस्व खाते पर आयोजना भिन्न

व्यय + पूँजी खाते पर आयोजना भिन्न व्यय + राजस्व खाते पर आयोजना व्यय + पूँजी खाते पर आयोजना व्यय + ब्याज की अदायगी)

5. मौद्रिकृत घाटा = केन्द्र सरकार के लिए भारतीय रिर्जव बैंक की निबल साख (Net RBI Credit) में होने वाली वृद्धि

(Monetised Deficit) = भारतीय रिजर्व बैंक के बकाया ट्रेजरी बिलों (Holding of Treasury Bills of RBI) की शुद्ध वृद्धि + सरकार की बाजार उधार में रिजर्व बैंक का योगदान

उपर्युक्त सारणी 26.1 के सूत्रों को स्पष्ट करने के लिय केन्द्रीय सरकार के बजट 2012–13 का उदाहरण सारणी 26.2 से प्रस्तुत किया जा सकता है जिससे विभिन्न प्रकार के घाटों को समझाना सरल होगा।

सारणी 26.2भारत के 2012–13 केन्द्रीय बजट का सार(रू0 करोड़ रूपए में)

	2010–11 वास्तविक (Actuals)	2011–12 बजट अनुमान (Budget Estimates)	2011–12 संशोधित अनुमान (Revised Estimates)	2012–13 बजट अनुमान (Budget Estimates)
1. राजस्व प्राप्तियाँ (Revenue Receipts)	**788471**	**789892**	**766989**	**935685**
2. कर राजस्व (केन्द्र को निवल) (Tax Revenue)	569869	664457	642252	771071
3. कर– भिन्न राजस्व (Non- Tax Revenue)	218602	125435	124737	164614
4. पूँजी प्राप्तियाँ (Capital Receipts) (5+6+7)$)	**408857** 12240	**467837** 15020	**551730** 14258	**555241** 11650
5. ऋणों की वसूली	22846	40000	15493	30000
6. अन्य प्राप्तियाँ	373591	412817	521980	513590
7. उधार और अन्य देयताएं	**1197328**	**1257729**	**1318720**	**1490925**
8. कुल प्राप्तियाँ (1+4)	**818299**	**816182**	**892116**	**969900**
9. आयोजना– भिन्न व्यय	726491	733558	815740	865596
10. राजस्व खाते पर जिसमें से	234022	267986	275618	319759
11. ब्याज भुगतान	91808	82624	76376	104304
12. पूँजी खाते पर	**379029**	**441547**	**426604**	**521025**
13. आयोजना व्यय	314232	363604	346201	420513
14. राजस्व खाते पर	64797	77943	80404	100512
15. पूँजी खाते पर	**1197328**	**1257729**	**1318720**	**1490925**
16. कुल व्यय (9+13)	1040723	1097162	1161940	1286109
17. राजस्व व्यय (10+14)	87487	146353	137505	164672
18. जिसमें पूँजी परिसम्पत्तियों के सृजन हेतु अनुदान	156605	160567	156780	204816
19. पूँजी व्यय (12+15)	**252252**	**307270**	**394951**	**350424**
20. राजस्व घाटा (17–1)	(3.3)	(3.4)	(4.4)	(3.4)
21. प्रभावी राजस्व घाटा (20–18)	**164765** (2.1)	**160417** (1.8)	**257446** (2.9)	**185752** (1.8)
22. राजकीय घाटा(16– (1+5+6)	**373591** (4.9)	**412817** (4.6)	**521980** (5.9)	**513590** (5.1)
23. प्राथमिक घाटा (22–11)	**139569** (1.8)	**144831** (1.6)	**246362** (2.8)	**193831** (1.9)

इस तालिका में वर्ष 2010–11 के वास्तविक आँकड़े अनंतिम हैं।

टिप्पणी : सीएसओ द्वारा जारी 2011–12 के अग्रिम अनुमानों (रू0 8912179 करोड़) की तुलना में 14 % की वृद्धि मानते हुए 2012–13 के बजट अनुमान में जीडीपी बढ़कर रू0 10159884 करोड़ होने का पूर्वानुमान है।

सारणी 26.2 से स्पष्ट है कि रू0 14,90,925 करोड़ के प्रस्तावित व्यय की आपूर्ति के लिये रू0 9,35,685 करोड़ राजस्व प्राप्तियों से व शेष रू0 5,55,241 करोड़ पूंजीगत प्राप्तियों के रूप प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है। राजस्व प्राप्तियों में (7,71,071) कर राजस्व व शेष रू0 1,64,614 करोड़ गैर कर राजस्व के रूप में सरकार को प्राप्त होता होंगे।

उक्त सारणी से स्पष्ट है कि रू0 5,55,241 करोड़ की पूँजीगत प्राप्तियाँ में रू0 11,650 करोड़ ऋणों की वसूली से, रू0 5,13,590 करोड़ उधारियों से तथा रू0 30,000 करोड़ सार्वजनिक उपक्रमों में विनिवेश से प्राप्त करने का सरकार का इरादा है। प्राप्तियों एवं व्ययों के इन अनुमानों के चलते 2012–13 में सरकार का राजस्व घाटा रू0 3,50,425 करोड़ रहने का अनुमान बजट में लगाया गया है। यह सकल घरेलू उत्पाद (GDP) 2012–13 में राजकोषीय घाटा रू0 5,13,5900 करोड़ बजट में अनुमानित है। जो सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का 5.1 प्रतिशत होगा। इस तरह उक्त सारणियों 26.1 से गणितीय सूत्रों तथा 26.2 से 2012–13 के केन्द्रीय बजट अनुमानों को समझा जा सकता है।

26.6 भारत में घाटे की वित्त– व्यवस्था का उदृेश्य (Objectives of Deficit Financing in India)

वस्तुतः भारत में योजनाओं के भारी व्यय को पूरा करने तथा इनकी सफलता के लिए घाटे की वित्त–व्यवस्था को अपनाया गया, जो कि पूर्णतया सत्य है, तथा यही इसका उद्देश्य भी है। योजना के व्यय की मात्रा इतनी अधिक होती है कि उसकी पूर्ति केवल कराधान से नहीं की जा सकती है और न ही जनता से उधार लेकर की जा सकती है। साधनों की कमी को अंशतः विदेशी सहायता या ऋणों से दूर किया जा सकता है, परन्तु यह विकल्प भी हमारे उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता है। इसीलिए घाटे के बजटों को अपनाया जाता है। योजनाओं में उत्पादन तथा रोजगार के लक्ष्य प्रारम्भ में ही निर्धारित कर दिये जाते हैं। जब ये लक्ष्य उन खर्चो के द्वारा पूरे नहीं होते जिनकी वित्त–व्यवस्था कराधान तथा उधार द्वारा की जाती है, तब उनके लिए अतिरिक्त साधन ढूँढ़ने होते हैं। घाटे की वित व्यवस्था हेतु सोच–समझकर निर्णय करते हैं। घाटे की अर्थव्यवस्था तो मात्र एक उपाय है जो सरकार की ओर से साधनों के स्थानान्तरण में सहायता प्रदान करती है। आर्थिक विकास के लिए जिन वास्तविक साधनों की आवश्यकता होती है वे सामग्री, साज– सज्जा, चातुर्य और श्रम के रूप में होते हैं। इन सब को हम मात्र नोट छापकर प्राप्त नहीं कर सकते हैं। घाटे की वित्त– व्यवस्था सरकार को धन अवश्य दे सकती है जिसका उपयोग साधनों की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है, परन्तु शर्त यह है कि वे साधन देश में ही उपलब्ध हो सकते हों। यदि एक सीमा से आगे इस व्यवस्था को लागू किया गया तो इनके परिणाम हानिकारक हो सकते हैं। कीमतों में ऐसी वृद्धि होगी जिसे रोकना मुश्किल होता है फलतः जनता का विश्वास अपनी मुद्रा से उठ जाता है। ऐसी दशा में इसके प्रभाव हानिकारक ही होंगे। अतः घाटे की वित्त–व्यवस्था को सोच– समझकर व नियन्त्रित रूप से ही अपनाया जाना चाहिए।

26.7 भारतवर्ष में हीनार्थ प्रबन्धन का मूल्यांकन (Evaluation of the Indian Deficit Financing)

भारत में हीनार्थ प्रबन्ध का सीधा सम्बन्ध मूल्य– स्तरों से जुड़ा है। प्रथम योजना को छोड़ कर शेष योजनाओं में हीनार्थ प्रबन्ध से मूल्य– स्तर में वृद्धि होती रही। हमारे देश में हीनार्थ प्रबन्ध की व्यवस्था विवादास्पद रही है। कुछ लोगों का कहना था कि योजनाओं की सफलता के लिए घाटे की वित्त– व्यवस्था की सहायता लेनी होगी, परन्तु दूसरा मत इसके विपरीत था। दूसरे मत के अनुसार प्रथम योजना के बाद घाटे की वित्त–व्यवस्था के कारण देश में मूल्य– स्तर लगातार बढ़ते गये और साख– नियन्त्रण के लिए अपनाये गये सभी प्रयोग विफल हो गये।

भारत में हीनार्थ प्रबन्ध के दुष्परिणाम सामने आये हैं। अर्थशास्त्रियों को कहना है कि देश में अब हीनार्थ प्रबन्ध की सीमा आ चुकी है, उसे अब और अधिक हीनार्थ प्रबन्ध नहीं करना चाहिए। परन्तु स्थिति सरकार के बूते के बाहर है, न चाहते हुए भी घाटे की वित्त– व्यवस्था को अपनाया जा रहा है। यदि अनायास घाटे की राशि में कटौती कर दी गयी तो इससे उपभोग, रोजगार व प्रभावोत्पादक माँग में कमी आयेगी। यदि सरकार सावधानी के साथ सही मात्रा में हीनार्थ प्रबन्ध की सहायता लेती है, तो इसके परिणाम बुरे नहीं होंगे। पूर्व प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने हीनार्थ प्रबन्ध को देश को देश के लिए अहितकर बताते हुए कहा था कि ''अच्छी योजना के लिए भी हीनार्थ

प्रबन्ध अवश्य ही संकट को जन्म देता है। ऐसा विगत वर्षो में हुआ''। हीनार्थ प्रबन्ध की व्यवस्था को रोकने के बारे में चाहे प्रधानमन्त्री वक्तव्य दें या वित्तमन्त्री, इसे रोकना सम्भव नहीं। यद्यपि कि हीनार्थ प्रबन्ध के साथ–साथ कुछ ऐसी प्रभावकारी अंकुश अवश्य लगाने चाहिए जो इसके दुष्परिणामों को रोक सके।

सारणी 26.3योजना काल में परिव्यय, हीनार्थ प्रबन्ध व राष्ट्रीय आय की स्थिति

योजना	वर्ष	योजना परिव्यय (करोड़ रू0 में)	योजनाकाल में राष्ट्रीय आय वृद्धि का लक्ष्य % में	वार्षिक लक्ष्य % में	वार्षिक प्राप्ति % में	हीनार्थ प्रबन्ध (करोड़ रू0 में)	हीनार्थ प्रबन्ध का %
प्रथम	1951–56	1,960	18.0	3.6	3.0	420	17
द्वितीय	1956–61	4,600	25.0	5.0	3.9	1,200	20
तृतीय	1961–66	8,630	25.0	5.0	2.5	8,630	13
वार्षिक	1966–69	6,665	–	–	–	686	10
चतुर्थ	1969–74	15,902	27.5	5.5	3.3	3,750	13
पंचम	1974–79	39,303	22.0	4.4	5.2	2,784	03
छठी	1980–85	97,500	26.0	5.2	5.2	5,000	05
सातवी	1985–90	1,80,000	25.0	5.0	5.8	14,000	7.8
आठवीं	1992–97	3,20,000	28.0	5.6	6.8	49,000	05
नवीं	1997–2002	8,59,000	32.5	6.5	–	–	–

नयी आर्थिक नीति के प्रारम्भ 1990–91 से भारत सरकार द्वारा किये गये हीनार्थ प्रबन्धन को निम्न है सारणी 26.4 में दिखाया गया।

सारणी 26.4केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों का घाटा (स0घ0उ0 का प्रतिशत)

वर्ष	केन्द्रीय सरकार			राज्य सरकारें		
	राजस्व घाटा	प्राथमिक घाटा	राजकीय घाटा	राजल घाटा	प्राथमिक घाटा	राजकीय घाटा
1990–91	3.3	2.8	6.6	0.9	1.8	3.3
1995–96	2.5	0.0	4.2	0.7	0.8	2.6
2000–01	4.0	0.9	5.6	2.6	1.8	4.3
2004–05	2.5	–0.1	4.0	1.3	0.7	3.4
2007–08	1.1	–0.9	2.5	–0.9	–0.5	1.5
2008–09	4.5	2.6	6.0	–0.2	0.6	2.4
2009–10	5.2	3.2	6.5	0.5	1.5	2.9
2010–11	3.3	1.8	4.9	0.3	0.9	2.7
2011–12 (संशोधित)	4.4	2.8	5.9	–0.2	–	2.2
2012–13 बजट	3.4	1.9	5.1	–	–	–
2013–14 लक्ष्य	2.8		4.5			
2014–15	2.0		3.9			

उक्त **सारणीयों 26.3 तथा 26.4**से स्पष्ट है कि अनेक प्रयासों के बावजूद लगभग प्रत्येक योजना वर्ष में घाटे की वित्त व्यवस्था भारी मात्रा में करनी पड़ी। यद्यपि कि 2004–05 तथा 2007–08 में घाटे की व्यवस्था में कमी देखी गयी है। राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबन्धन अधिनियम (FRBM Act) की व्यवस्था के बावजूद घाटे की वित्त व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण संभव नहीं हो सका है।

26.8 भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रभाव (Effect of Deficit Finance in India)

भारत में घाटे की वित्त–व्यवस्था का निम्न प्रभाव देख सकते हैं:

1. घाटे की वित्त–व्यवस्था से आर्थिक विकास में तेजी देखी गयी। प्रथम पंचवर्षीय योजना में विशेष रूप से दिखी।
2. घाटे की वित्त–व्यवस्था से निजी निवेश प्रोत्साहित हुए तथा नये–नये विनियोगकर्ता भी उत्पादन के क्षेत्र में प्रवेश पाने लगे।
3. घाटे की वित्त–व्यवस्था से हमारे देश में रोजगार का स्तर बढ़ा, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई तथा लोगों में बचत करने की योग्यता भी बढ़ी।
4. घाटे की वित्त–व्यवस्था का देश में स्फीतिजनक प्रभाव पड़ा तथा बैंकों के द्वारा अतिरिक्त साख का सृजन किया जाने लगा जिससे कीमतें बढ़ने लगी।
5. स्फीति का क्रम जारी रहा, उपभोग की प्रवृत्ति घटने लगी और उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ा।
6. घाटे की वित्त–व्यवस्था का प्रभाव धनी व अमीर दोनों पर समान रूप से पड़ा।

इस तरह घाटे की वित्त–व्यवस्था के अच्छे तथा बुरे दोनों प्रभाव देखने को मिले हैं। यदि इस व्यवस्था को नियंत्रित किया जा सका तो निःसन्देह इस व्यवस्था से अल्पविकसित देशों का कायाकल्प हो सकता है।

26.9 भारत में हीनार्थ प्रबन्ध के बुरे प्रभाव को राकने के उपाय (Steps to Check Bad Effect of Defict Finance in India)

भारत सरकार ने हीनार्थ प्रबन्ध को रोकने के निम्न उपाय अपनाये हैं :

i. साख पर कठोर नियन्त्रण,
ii. भौतिक नियन्त्रण,
iii. जनता में वितरण की पद्धति को प्रभावी बनाना,
iv. अनाज का बफर स्टॉक रखना ताकि मूल्य–स्तरों को बढ़ने से रोका जा सके,
v. उपभोग्य पदार्थों के सट्टा बाजार पर प्रतिबन्ध लगाना,
vi. साधनों को जुटाने में गैर–स्फीतिक उपायों पर बल, तथा
vii. राज्यों के ओवरड्रफ्टों पर नियन्त्रण।

यद्यपि कि भारत सरकार मुद्रा प्रसार व कीमत नियंत्रण पर प्रभावी अंकुश लगाती रही परन्तु फिर भी हम मुद्रा–प्रसार व कीमत–वृद्धि पर रोक न लगा सकें, स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही। इसका मुख्य कारण यह था कि हम अपने उत्पादन में वृद्धि न कर सके। जब तक उत्पादन में वृद्धि न होगी तब तक मूल्य–स्तर को रोकने के लिए अपनाये गये उपाय सफल नहीं हो सकते हैं।

यदि हमें अपने देश का आर्थिक विकास तेजी से करना है तो यह भी ध्यान में रखना होगा कि आर्थिक विकास कीमतों में स्थिरता के साथ होना चाहिए अन्यथा देश को विकास का लाभ नहीं मिल सकेगा। स्थिरता के साथ–साथ विकास के दो आवश्यक तत्व भी हैं:

(i) निवेश के लक्ष्यों के अनुरूप बचत में वृद्धि की जाये, जिससे कीमतों में वृद्धि न हो। ऐसा सरकारी आय बढ़ाकर किया जा सकता है। सरकारी आय में वृद्धि के लिए आवश्यक है कि सार्वजनिक उपक्रमों की दशा सुधरे जबकि वास्तव में सरकारी उपक्रमों को सुविधाएं देने के बाद भी वे निजी क्षेत्र की अपेक्षा घाटे में काम कर रहे हैं। अतः सार्वजनिक उपक्रमों की प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार किया जाय। उससे व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त किया जाय। योग्य तकनीकी विशेषज्ञों के हाथों में उनकी प्रशासन–व्यवस्था सौंपी जाय। साथ ही, इन उपक्रमों को राजनीति से दूर रखा जाय। इसके अतिरिक्त, कर–आय व राष्ट्रीय आय के अनुपात को भी बढ़ाया जाना चाहिए।

(ii) हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि निवेश की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाये और निवेश को विभिन्न मदों में इस प्रकार बाँटा जाय कि आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति उनकी माँग के अनुरूप हो। पिछड़े हुए क्षेत्रों में भी सार्वजनिक निवेश को बढ़ाया जाना चाहिए। यदि सरकार स्वयं निवेश करने

में समर्थ न हो तो वह पिछड़े हुए क्षेत्रों में निवेशकर्ताओं को निवेश के लिए आकर्षित करे। देश में विदेशी पूँजी को आमंन्त्रित किया जाय। यहाँ कुछ लोग यह भी कहते हैं कि ऐसा करने से देश में आर्थिक उपनिवेश स्थापित हो जायेगा, परन्तु उनका ऐसा कहना सत्य नहीं। आज की परिस्थितियाँ प्राचीन से भिन्न हैं। आज स्वयं भारतीय पूँजीपति विदेशों में विनियोग करते हैं लाभ कमाने के लिए न कि वहाँ राज्य करने के लिए। आज जब हमें ऋण–भार तथा मुद्रा–प्रसार के भार से दबते जा रहे हैं तो ऐसी दशा में देश की अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करना गलत नहीं है। विदेशी पूँजीपतियों को बिना शर्त नहीं, बल्कि सशर्त आमन्त्रित करना चाहिये। ऐसी दशा में विदेशी हस्तक्षेप की विशेष चिन्ता नहीं होगी।

हीनार्थ प्रबन्धन को कम करने की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कदम राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबन्धन अधिनियम को लाना है।

26.10 राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबन्धन अधिनियम (Fiscal Responsibility and Budget Management Act – FRBM Act- 2003)

1990 के दशक में नव परम्परावादी विचारधारा (Neo Classical Ideology) **के पुनर्उदय से संतुलित बजट को बिना किसी तर्क और औचित्य के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृति प्राप्त हो गई।** संतुलित बजट अपने आप में कोई सकारात्मक तत्व नहीं हैं। ताप्पर्य यह है कि हर स्थिति में बजट का संतुलित होना अच्छी बात नहीं होती, फिर भी नवपरम्रावादी अर्थशास्त्रियों ने यह मान लिया कि संतुलित बजट अपने आप में अच्छी चीज है। अनेक देशों में सरकारों ने स्वेच्छा संतुलित बजट की नीति को नहीं अपनाया है। इसलिए यह सुझाव दिया गया कि राजकोषीय संतुलन लाना सरकार का उत्तरदायित्व है। इस दिशा में उदारवादी आर्थिक विचारधारा के प्रभाव से भारत सरकार ने संतुलित बजट और घाटा नियंत्रण की नीति को अपनाया है, अमेरिका में इस दृष्टि से ग्राम रडमैन होलिंग्स अधिनियम (Gramm Rudman Holings Act) पास किया। इस अधिनियम के तहत अमेरिका में संतुलित बजट की नीति अपनायी गयी। इस कानून के अनुसार सरकार का वित्तीय घाटा शून्य होना चाहिए। विभिन्न देशों में जहाँ राजकोषीय उत्तरदायित्व सरकार पर डाला गया। वहाँ यदि स्वेच्छापूर्वक सरकार ने संतुलित बजट की नीति को नहीं अपनाया तो उसे कानूनी प्रावधान के द्वारा इस दिशा में कार्य करने के लिए विवश किया गया। भारत में राजकोषीय संतुलन स्वेच्छा से नहीं लागू किया गया। इसलिए इस देश में भी राजकोषीय उत्तरदायित्व और बजट प्रबन्ध की कानूनी व्यवस्था की गयी है। इसी क्रम में केन्द्र एवं राज्य सरकारों मे वित्तीय अनुशासन बनाए रखने के उद्देश्य से लाए गए फिसकल रेस्पॉसिबिलिटी एण्ड बजट मैनेजमेंट बिल को लोक सभा ने 7 मई, 2003 को पारित कर दिया तथा 5 जुलाई 2004 से अधिसूचित किया गया। इस विधेयक में राजस्व घाटे व राजकोषीय घाटे को चरणबद्ध तरीके से इस प्रकार कम करने की बात कही गई थी कि 2007–08 (जिसे 2004–05 के बजट के वर्ष में वर्ष 2008–09 किया गया) तक राजस्व घाटा शून्य किया जा सके। इसके पश्चात् इस खाते में आधिक्य प्राप्त करने का प्रयास किया जा सके।

इस विधेयक को मूलतः सन् 2000 में संसद में प्रस्तुत किया गया था, जहाँ इसे स्थायी संसदीय समिति को सन्दर्भित किया गया था। मूल विधेयक में यह प्रावधान किया गया था कि राजस्व घाटे में प्रतिवर्ष 0.5 प्रतिशत बिन्दु की कटौती करते हुए राजस्व घाटे को 2005–06 तक शून्य किया जाए, जबकि राजकोषीय घाटे को सकल घरेलू उत्पाद के 2 प्रतिशत तक लाया जाए। संसदीय समिति द्वारा सुझाए गए सुधारों के बाद विधेयक के प्रावधानों में कुछ ढील दी गई थी तथा उसी के अनुरूप अब राजस्व घाटे को 2008–09 तक शून्य करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। घाटे में प्रतिवर्ष कितनी कमी की जाए, इसके लिए कोई प्रावधान अब विधेयक में नहीं किया गया है।

26.10.1 FRBM Act 2003 के अन्तर्गत सरकार के अन्य दायित्व इस प्रकार थे –

(i) राजकोषीय घाटे में इतनी कमी लाना कि GDP का न्यूनतम 0.3 प्रतिशत हो, ताकि 2007–08 तक (जिसे बाद में 2008–09 कर दिया गया था) यह घटकर GDP का 3% रह जाए।

(ii) किसी एक वित्तीय वर्ष में सरकारी गारण्टी को GDP के 0.5 प्रतिशत तक सीमित करना।

(iii) अतिरिक्त देनदारियों को (मौजूदा विनिमय दर में विदेशी ऋण सहित) 2004–05 में GDP के 9% प्रतिशत, 2005–06 में 8% , 2006–07 में 7% तथा 2007–08 में 6% तक सीमित करना।

(iv) 1 अप्रैल, 2006 के बाद से RBI से सीधे उधार न लेना।

(v) संसद में आर्थिक बजट के साथ मैक्रो इकोनोमिक फ्रेमवर्क स्टेटमेन्ट, फिसकल पॉलिसी स्ट्रेटेजी स्टेटमेन्ट तथा मीडियन टर्म फिसकल पॉलिसी स्टेटमेन्ट पर बयान पेश करना।

(vi) 2006–07 से पहले अधिक राजकोषीय पारदर्शिता की ओर अग्रसर होना तथा राजस्व बकाया और गारण्टी तथा परिसम्पत्ति आदि विनिर्दिष्ट सूचना देना प्रारम्भ करना।

26.10.2 राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंध अधिनियम का मूल्यांकन (Appraisal of FRBM Legislation)

राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंध अधिनियम केन्द्रीय सरकार की ओर से एक ऐसा प्रयास है जिसके द्वारा वर्तमान सरकार विभिन्न भावी सरकारों को राजकोषीय अनुशासन बनाए रखने के लिए बाध्य कर सकती है। यद्यपि कि इस अधिनियम के पक्ष में आम सहमति है कि सरकार इसके द्वारा सरकार राजकोषीय अनुशासन को लागू करती रहेगी। परन्तु आम सहमति होने के बावजूद अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस अधिनियम की निम्नलिखित आलोचनाएं की हैं :

1. भारत में आम सहमति है कि राजस्व घाटे का शून्य तक लाना है। परन्तु इस विषय पर एकमत होने के बावजूद 1990 के दशक में विभिन्न केन्द्रीय सरकारें इस उद्देश्य को प्राप्त कर पाने में असफल रही। वस्तुतः सरकारों का राजस्व घाटा बढ़ता ही रहा। ब्याज भुगतानों, अर्थ–सहायता, प्रतिरक्षा व्यय तथा अन्य गैर–विकास कार्यों पर व्यय में तेज वृद्धि हुई। यदि सरकार पर राजस्व–घाटा कम करने की बाध्यता थोपी जाएगी तो वास्तविक खतरा यह है कि सरकार सामाजिक सेक्टर पर (खासतौर पर मूलभूत शिक्षा व शिक्षा पर) व्यय में भारी काटौती रहेगी। ऐसी स्थिति में यह आम जनता के लिए हानिकारक सिद्ध होगा।

2.1991 के बाद की सुधार–अवधि में जो एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति देखने में आयी है, वह है पूंजी व्यय में महत्वपूर्ण गिरावट। इस संबंध में मिहिर रक्षित कहते हैं कि राजकोषीय घाटे में कटौती करने के लिए सरकार पूंजीगत व्यय में निरंतर कटौती कर रही है, जिससे सार्वजनिक कल्याण में बाधा पड़ती है।

3.राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंध अधिनियम में विकास कार्यों के लिए पूंजीगत व्यय में कटौती का प्रावधान है। राजकोषीय घाटे के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इस अधिनियम में ऐसी व्यवस्था है जिससे केन्द्र सरकार के लिए सामाजिक न्याय और आर्थिक संवृद्धि पर बड़ी मात्रा में निवेश करना संभव नहीं हो पाता।

4. राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंध अधिनियम इस बात की व्याख्या नहीं करता कि नीति निर्धारकों द्वारा लोक व्यय के वित्तीयन की क्या व्यवस्था की जा रही है। ऐसी स्थिति में देश में लोक कल्याण पर होने वाले लोक व्यय का वित्तीयन किस प्रकार होगा यह सुनिश्चित नहीं है। सरकार की ओर से अनेक बजटों में विभिन्न प्रकार की अनावश्यक कर छूटें दी गई हैं। जिससे केन्द्र सरकार के पास वांछनीय वित्त का अभाव उत्पन्न हो रहा है। ऐसी स्थिति में लोक कल्याणकारी कार्यों पर व्यय के लिए उचित मात्रा में वित्तीय साधन नहीं जुटाए जा सकेंगे।

5. इस अधिनियम की निम्नलिखित मान्यताएं भी ठीक नहीं लगतीं :

i. कम राजकोषीय घाटे से निरंतर ऊंची दर पर संवृद्धि संभव होती है।

ii. राजकोषीय घाटे के अधिक होने का अर्थ यह है कि मुद्रा स्फीति को बढ़ावा मिलेगा।

iii. बड़े राजकोषीय घाटे से देश की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कमजोरी प्रकट होती है।
इन मान्यताओं की आलोचना करते हुए, प्रो. सी.पी. चन्द्रशेखर, प्रो. जयति घोष तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने इन्हें व्यवहारिक नहीं माना है।

26.11 घाटे का मौद्रीकरण या मौद्रीकृत घाटा (Monetisation of Deficit or Monetised Deficit)

सामान्यतया विकासशील देश अपने आय की तुलना में व्यय अधिक करते हैं। सरकार इस घाटे को पूरा करने के लिये या तो संग्रहीत राशि का उपयोग करती है या बैंकिंग व्यवस्था (प्रमुख रूप से केन्द्रीय बैंक) से ऋण लेती है या नये नोट छापती है, जिससे मुद्रा का सृजन होता है। भारतीय दृष्टिकोण से इसमें जनता से प्राप्त ऋण को सम्मिलित नहीं किया जाता। इन सभी का परिणाम अन्ततः देश की मुद्रा की बढ़ती मात्रा की उपलब्धता होती है।

मौद्रीकृत घाटे का सम्बन्ध घाटे की उस राशि से है जिसकी वित्तीय व्यवस्था नोट निर्गमन में द्वारा होती है। इसे ही घाटे का मौद्रीकरण भी कहते हैं। इसे निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है :

मौद्रिक घाटा = बजेटरी घाटा + सार्वजनिक ऋण के सम्बन्ध में RBI का योगदान
= एडहाक ट्रेजरी विल्स में वृद्धि + सार्वजनिक ऋण में RBI के योगदान में वृद्धि

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ट्रेजरी विलों का RBI के सार्वजनिक ऋण में योगदान के कारण मौद्रीकरण होगा। इस प्रकार एडहाक ट्रेजरी विल्स की समाप्ति के कारण प्रत्यक्ष मौद्रीकरण समाप्त होगा, पर मौद्रीकरण बना रह सकता है।

बजेटरी घाटा की आपूर्ति, चूंकि एडहाक ट्रेजरी विल्स के निर्गमन द्वारा होगी, इसलिये बजेटरी घाटा = मौद्रीकृत घाटा

परन्तु यदि बजेटरी घाटा शून्य हो तो मौद्रीकृत घाटा इस बात पर निर्भर करेगा कि सार्वजनिक ऋण में RBI की धारिता कितनी है।

26.11.1 आर्थोपाय अग्रिम (Ways and Means Advances) की व्यवस्था तथा घाटे की धारणा – 1 अप्रैल, 1997 में एडहाक ट्रेजरी विल्स प्रणाली को समाप्त करके उसके स्थान पर आर्थोपाय अग्रिम की व्यवस्था को लागू किया गया। इस नयी प्रणाली के अन्तर्गत सार्वजनिक व्ययों तथा सार्वजनिक प्राप्तियों के बीच अस्थायी कमी को दूर करने के लिए आर्थोपाय अग्रिम का सहारा लिया जायेगा जिसे रिजर्व बैंक द्वारा इस वर्ष में सरकार की उधारी के निबल योगदान में सम्मिलित नहीं किया जायेगा।

आर्थोपाय अग्रिम बजट घाटा के वित्तीयन स्त्रोत नहीं होते अतः इन्हें बजट अनुमान में सम्मिलित नहीं किया जाता।

आर्थोपाय की अग्रिम राशि पर सामान्यता चालू रीपो दर के बराबर ब्याज देय होगा तथा इससे ऊपर तथा बकाया राशि पर 2 प्रतिशत अतिरिक्त ब्याज देय होगा। इस सुविधा के लिये यह आवश्यक है कि वित्तीय वर्ष बन्द होने के करीब 30 जून पर प्रत्येक शुक्रवार को सरकार कम से कम 100 करोड रूपया तथा अन्य दिनों पर कम से कम 10 करोड़ रूपये का न्यूनतम शेष RBI के पास रखे।

आर्थोपाय अग्रिम राशि की कुल मात्रा तथा ब्याज दर सरकार तथा रिजर्व बैंक के पारस्परिक समझौते द्वारा तय होता है। इस सीमा से ऊपर की गयी निकासी अथवा भुगतान की अवशेष राशि उस वर्ष का अधिविकर्ष (Overdraft) या ऋण माना जायेगा। यद्यपि कि आर्थोपाय अग्रिम केन्द्र सरकार की देयता में बृद्धि नहीं करती तथा इसे राजकोषीय घाटे में सम्मिलित नहीं किया जाता परन्तु अर्थोपाय अग्रिम की वह राशि जिसका भुगतान RBI को नहीं हुआ हो या बकाया (Outstandig) हो राजकोषीय घाटा में जोड़ा जाता है। इस रूप में आर्थोपाय अग्रिम अन्ततः राजकोषीय घाटे को बढ़ाता है। बजट विवरण में अनुमानित राजकोषीय घाटा के अन्तर्गत अर्थोपाय

अग्रिम नहीं सम्मिलित किया जाता क्योंकि इसका पूर्वानुमान करना सम्भव नहीं। परन्तु बजट वर्ष में लिये गये अर्थोपाय अग्रिम का वह भाग जो सरकार RBI को वापस नहीं कर पाती तथा सरकार पर RBI का बकाया रह जाता है उसे सरकार की देयता मानी जाती है। जब भी बजट वाले वर्ष की संशोधित या वास्तविक राजकोषीय घाटा प्रदर्शित किया जाता है तो बकाया अवशेष राशि को उसमें सम्मिलित कर लिया जाता है।

इस नयी प्रक्रिया के कारण घाटे की अवधारणा को नयी दिशा मिली है। परम्परागत बजट घाटा जो एडहाक ट्रेजरी विल्स तथा नकद शेषों में निबल परिवर्तनों के द्वारा जाना जाता था, अब अर्थहीन तथा बेकार हो गया है। वर्तमान में सकल राजकोषीय घाटा ही बजट घाटे का प्रमुख मापक है। इसी अर्थोपाय अग्रिम के परिणाम स्वरूप सरकार के वित्तीय अनुशासन में वृद्धि होगी तथा RBI की मौद्रिक नीति सम्बन्धी स्वायत्तता बढ़ेगी। इसके पहले जहाँ वजेहरी घाटा अपने से स्वतः मौद्रिकृत (monetised) हो जाता था, अब ऐसा नहीं होगा। क्योंकि अर्थोपाय अग्रिम को रिजर्व बैंक द्वारा उस वर्ष में सरकार की उधारी के निबल योगदान में सम्मिलित नहीं किया गया, इसलिये अर्थोपाय अग्रिम की मात्रा चाहे जितनी हो, इससे राजकोषीय घाटा प्रभावित नहीं होगा। अर्थोपाय अग्रिम का वह भाग जिसका भुगतान सरकार द्वारा RBI को नहीं किया गया वह भाग सार्वजनिक ऋण में सम्मिलित होगा तथा इससे राजकोषीय घाटा प्रभावित होगा।

26.11.2 भारत में मुद्रा की पूर्ति एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा मुद्रा स्फीति का सम्बन्ध

वस्तुतः मुद्रा की पूर्ति, राष्ट्रीय आय तथा मुद्रा स्फीति के बीच का सम्बन्ध पूर्णतया गणितीय नहीं होता इस रूप में प्रतिष्ठित, अर्थशास्त्री इरविंग फिशर हों अपना नव मुद्रा वादी फ्रीडमैन हों किसी का भी सिद्धान्त पूर्णरूप से सटीक नहीं बैठता। भारत की दशाओं में कीन्स का मुद्रा और कीमतों का सिद्धान्त भी लागू नहीं होता। इस रूप में इनके बीच का सम्बन्ध काफी पेचिदा हैं। इसकी व्याख्या किसी भी एक सिद्धान्त के साँचे में करना उपयुक्त नहीं होगा। नीचे की सारणी 26. 5 में 1996 से 2011 के बीच की स्थिति को देख सकते हैं।

सारणी 26.5

मुद्रा की पूर्ति एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि और मुद्रा स्फीति

(1996–97 से 2010–11 तक)

	मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि (प्रतिशत)		निबल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि (प्रतिशत	मुद्रा स्फीति की वार्षिक दर
	(M_1)	**(M_2)**		
1996–97 से 2000–01	**12.06**	**17.00**	**6.1**	**5.1**
2001–02 से 2010–11	**15.21**	**16.96**	**7.5**	**5.6**

टिप्पणीः आँकड़े संवृद्धि दरों की सामान्य औसत दिखाते हैं।

स्त्रोत RBI , Handbook of Statistics on the Indian Economy, 2010-11 (Mumbai 2011). Table 232 and Govt. of India, Economic Survey 2011-12 (Delhi, 2012), Appendix Table 1.2 p A4.

उक्त अध्ययन से ज्ञात होता है कि मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन और सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तन के बीच का सम्बन्ध किसी ठोस गणितीय सम्बन्ध से नही जुड़ा है। यह केवल प्रवृति का सूचक है। सरल शब्दों में, मुद्रा पूर्ति स्फीति को बढ़ाती है परन्तु अनेक कारण भी इनके सम्बधों को प्रभावित करते हैं।

प्रो0 पी0डी0 ओझा के अनुसार ''मुद्रा स्फीति की दर में वृद्धि को विलम्ब के साथ भी मौद्रिक विस्तार की दर के साथ जोड़कर पूरी तरह स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इससे केवल इतना स्पष्ट होता है कि स्फीतिक प्रक्रिया में न तो केवल मौद्रिक प्रकृति के और न ही केन्सीयन प्रकृति के कारण सक्रिय होते हैं। संभवतः भारत की स्थिति में मुद्रा स्फीति केन्सीय और मौद्रिक

किस्मों का ही मिश्रण नहीं है, वह इससे कही ज्यादा जटिल किस्म की चीज है।'' इस तरह हम पाते हैं कि एक ओर मुद्रा की पूर्ति और उत्पादन तथा दूसरी ओर सामान्य कीमत स्तर के बीच कोई निश्चित और स्पष्ट सम्बन्ध नहीं होता। इसका कारण मुद्रा की पूर्ति में बृद्धि के अलावा न केवल माँग पक्ष की ओर विविध कारकों का दबाव रहा है, बल्कि पूर्ति पक्ष की और भी अनेक तत्वों का स्फीतिकारी कीमत वृद्धि में योगदान रहा है। आर्थिक सर्वेक्षण 1993–94 के अनुसार 1980 के दशक के अन्त की ओर तथा 1990 के दशक के प्रारम्भ में मुद्रा–स्फीति की दर के बढ़ने का प्रमुख कारण राजकोषीय घाटा में बृद्धि का होना था। इस सम्बन्ध में मुद्रीकृत घाटे की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे रिजर्व मुद्रा में वृद्धि होती है। पिछले दस वर्षो में रिजर्व मुद्रा में 90 प्रतिशत वृद्धि का कारण मुद्रीकृत घाटा ही था जो छठी योजना में सकल घरेलू उत्पाद का 2.2 प्रतिशत, सातवीं योजना में 2.3 प्रतिशत तथा 1990–91 में 2.8 प्रतिशत था। राजकोषीय घाटा में कमी तथा अन्य उपायों द्वारा मुद्रा– स्फीति को नियन्त्रित किया जा सका। हाल के वर्षो में मुद्रास्फीति की दर में वृद्धि का प्रमुख कारण अन्तराष्ट्रीय बाजार में पेट्रोलियम पदार्थों की कीमतों में बृद्धि रहा है। कीमतों में कुल वृद्धि का 41.2 प्रतिशत योगदान इन्हीं का रहा है, जबकि विनिर्मित वस्तुओं का योगदान 31.9 प्रतिशत तथा प्राइमरी वस्तुओं नें 27.5 प्रतिशत योगदान किया। इस तरह घाटे का मौद्रीकरण निश्चित रूप से स्फीतिकारी होता है परन्तु इसकी गति तथा दिशा अनेक तत्वों से प्रभावित होती है।

26.12 भारत में राजकोषीय क्षेत्र में सुधार (Reforms in Fisecal Sector in India)

भारत में राजकोषीय सुधारों को दो समयों में बाँट सकते हैं; (1) 1991 के पूर्व की स्थिति तथा (2) 1991 के बाद की स्थिति।

(1) 1991 के पूर्व की स्थिति – केन्द्रीय तथा राज्यीय वित्त की प्रवृति का योजनाकरण के प्रारम्भ से ही अवलोकन करने पर देखा जा सकता है कि अर्थव्यवस्था के राजकोषीय सन्तुलन में लगातार ह्रास हुआ है तथा 1980 के दशक में असुन्तलन की स्थिति अत्यन्त बिगड़ गई। इस कारण जिस अर्थव्यवस्था में राजस्व बजट में अतिरेक होता था उसमें अब लगातार घाटा होने लगा। ऐसा 1982–83 से प्रारम्भ हुआ। 1975–76 में राजस्व अतिरेक राष्ट्रीय आय (GDP) का 2.5 प्रतिशत था। 1990–91 में राजस्व घाटा राष्ट्रीय आय का लगभग 3.6 प्रतिशत हो गया। राजस्व घाटे में बृद्धि की दर राजकोषीय घाटे में वृद्धि की दर से अधिक रही। 1982–83 से राजकोषीय क्षेत्र में राजस्व अतिरेक के स्थान पर राजस्व घाटा का परिणाम यह हुआ कि ऋण का सृजन न करने वाला वित्त पोषण बढती आन्तरिक ऋणग्रस्तता का स्रोत बन गया।

1982–83 के पूर्व राजस्व प्राप्ति से राजस्व व्यय की वित्त व्यवस्था के पश्चात अतिरेक हुआ करता था, जिसका उपयोग पूँजी व्यय के एक भाग में वित्त पोषण के लिए होता था, लेकिन राजस्व घाटा की स्थिति में पूंजी प्राप्ति के एक भाग का उपयोग राजस्व व्यय के वित्त पोषण के लिए किया जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि आन्तरिक ऋण के साथ–साथ ब्याज के भार में भी वृद्धि होने लगी। आज ब्याज भारतीय लोक व्यय का सबसे बड़ा तथा सबसे अधिक तेजी से बढ़ने वाला मद हो गया है। इसने बढ़ते घाटे, बढ़ते ऋण, बढ़ती ब्याज लागत तथा घाटे में और वृद्धि के एक सर्पिल मार्ग का सृजन किया है।

राजकोषीय स्थिति जो सम्पूर्ण अस्सी के दशक में दबाव में थी, 1991–92 के वित्तीय वर्ष में संकट की स्थिति में आ गयी। 1990 के खाड़ी संकट ने इस स्थिति को और बिगाड़ दिया। भुगतान शेष की समस्या जो 1990–91 में उपस्थिति हुई, जून 1991 में संकटकालीन स्थिति में पहुँच गयी। विदेशी विनिमय की कमी के कारण 1990–91 में आयात में कटौती की गयी। इससे औद्योगिक उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा तथा वह 1991–92 के प्रारम्भ में घटने लगा। 1990–91 में मुद्रा– स्फीति की दर तेजी से बढ़ने लगी। अगस्त 1991 में यह 16.7 प्रतिशत की चोटी के स्तर पर पहुंच गई। वास्तविक GDP की वृद्धि घटकर 2.5 प्रतिशत पर आ गयी।

जून 1991 तक भुगतान शेष से यह स्पष्ट हो गया कि आयात कटौती का उल्टा प्रभाव पड़ रहा है। विदेशियों को भारत के ऋण भुगतान करने की क्षमता पर सन्देह होने लगा। जून 1991 में जब नई सरकार बनी, उसे तेजी से कारगर कदम उठाना पड़ा। 1980 के दशक में चार पूर्वी एशियाई देशों– कोरिया, इण्डोनेशिया,मलेशिया तथा थाईलैण्ड– ने राजकोषीय नीति पर विशेष बल देते हुए ऐसे आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया आरम्भ की जिससे ये देश निर्धन देशों के स्थान पर एशियाई बाघ (Asian Tigers) कहलाने लगे तथा इनकी अर्थव्यवस्था बाघ अर्थव्यवस्था (Tiger Economy) के नाम से सम्बोधित की जाने लगी। 1990–91 में भारतीय समष्टि आर्थिक दशा इससे एक दशक के पूर्व में इन चारों पूर्वी एशियाई देशों की आर्थिक स्थिति से भिन्न नहीं थी। 1980 के दशक के अन्त तथा आते दशक के प्रारम्भ से बिगड़ती सार्वजनिक वित्त की स्थिति में कोई सुधार करने की कोशिश नहीं की गई। इससे भारतीय विदेशी चालू खाते का असन्तुलन तथा बाह्य ऋण की स्थिति अत्यन्त ही बिगड़ गई। खाड़ी युद्ध के कारण पेट्रोल की कीमत में वृद्धि तथा मध्य– पूर्व से श्रमिकों द्वारा भेजी गई मुद्रा में कमी ने आर्थिक संकट की दशा पैदा कर दी। 1991 में भारत अपने विदेशी दायित्व की अदायगी नहीं करने की स्थिति में आ गया। जून 1991 में नरसिम्हाराव के नेतृत्व में नई केन्द्रीय सरकार बनी। इस स्थिति को और बिगड़ने से बचाने के लिए तेजी से कदम उठाने की जरूरत थी तथा संकटकालीन उपाय करने थे। भारत सरकार ने जुलाई 1991 में भारतीय रिजर्व बैंक को 47 टन सोना बैंक ऑफ इंग्लैण्ड को भेजने की अनुमति दी जिससे $ 600 मिलियन प्राप्त किया जा सका। जुलाई 1991 में ही रूपए के विनिमय मूल्य में समायोजन किया गया। इससे यह स्पष्ट हो गया था कि बड़े सुधारों की जरूरत है तभी संकट का पूरी तरह सामना किया जा सकता है। नई सरकार ने राजकोषीय सुधारों पर आधारित समष्टि आर्थिक स्थिरीकरण के कार्यक्रम को अपनाया। औद्योगिक क्षेत्र को प्रतिस्पर्द्धात्मक बनाने के लिए व्यापार, औद्योगिक तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में संरचनात्मक सुधारों के कार्यक्रम अपनाए गए।

1991 के सुधार कार्यक्रम के निम्न चार प्रमुख अंग हैं :

(i) **राजकोषीय सुधार (Fiscal Correction)** - स्थिरीकरण (stabilization) प्रयत्न का प्रमुख अंग था राजकोषीय अनुशासन को फिर से स्थापित करना। मुद्रा–स्फीति तथा भुगतान शेष की समस्याओं की जड़ में विशाल बजटीय राजकोषीय घाटा था जो अनेक वर्षो से बना हुआ था।

(ii) व्यापार नीति में सुधार (Trade Policy Reforms) - इन सुधारों के द्वारा निर्यात को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया गया तथा विदेशी व्यापार से नियमन (regulation) तथा लाइसेन्स द्वारा नियन्त्रण को कम किया गया। रूपए के विनिमय मूल्य में 18 प्रतिशत का अवमूल्यन निर्यात प्रोत्साहन के लिए किया गया।

(iii) औद्योगिक नीति में सुधार (Industrial Policy Reforms) – 24 जुलाई, 1991 की नई औद्योगिक नीति में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए, जैसे– उद्योगों पर से नियन्त्रण हटाना ताकि हमारे उद्योग और अधिक कार्य सक्षम (efficient) तथा प्रतिस्पर्धात्मक बन सकें।

(iv) सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार (Pubic Sector Reforms) – सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक कार्य सक्षम बनाने के लिए कदम उठाए गए, जैसे संचालन में अधिक स्वायतता (autonomy) प्रदान करना।

तत्कालीन वित्त मन्त्री, डॉ, मनमोहन सिंह का कहना था कि '' भारत के पास जो प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधन हैं उनके आधार पर इसे विश्व अर्थव्यवस्था का शक्तिगृह (Power- house) होना चाहिए। हमारे सुधार कार्यक्रम इसी स्वप्न से प्रेरित हैं। उपर्युक्त सुधारों के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य हैं :

(अ) औद्योगिक उत्पादन की कार्यक्षमता तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्द्धा करने की क्षमता में वृद्धि।

(ब) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पहले की तुलना में अब अधिक मात्रा में विदेशी निवेश तथा विदेशी टेक्नोलॉजी का उपयोगः
(स)निवेश की उत्पादकता में वृद्धिः
(द)भारतीय वित्तीय क्षेत्र का तेजी से आधुनिकीकरण तथा
(य)सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य निष्पादन (performance) में सुधार।
इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए औद्योगिक नीति के नए प्रतिरूप को तैयार किया गया। 1991 की नई औद्योगिक नीति के माध्यम से, व्यापार में सुधार किए गए, नई विदेशी निवेश नीति को अपनाया गया, पूँजी बाजार में सुधार लाए गए। बैंकिग क्षेत्र में सुधार किया गया, बीमा क्षेत्र में सुधार हुआ तथा कर क्षेत्र की फिर से रचना की गई। इस तरह कर क्षेत्र में सुधार हेतु प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर प्रणाली में सुधार के साथ ही राजकोषीय दृढ़ीकरण की नीति भी अपनायी गयी।

राजकोषीय दृढ़ीकरण (Fiscal Consolidation) - राजकीय असन्तुलन में वृद्धि को देखते हुए मई 1991 में राजकोषीय घाटे कम करने की नीति के रूप में राजकोषीय शुद्धि (Fiscal Correction) तथा राजकोषीय सुदृढीकरण (Fiscal Consolidation) राजकोषीय सुधारों के प्रमुख उद्देश्य थे। इसके लिए राजस्व में वृद्धि तथा व्यय पर नियन्त्रण की नीति को अपनाया गया।

सारणी 26.6 : केन्द्रीय सरकार के घाटे
(चालू, बाजार कीमतों पर सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में)

वर्ष	रास्व घाटा	सकल राजकोषीय घाटा	मूलभूत घाटा
1980–81	1.4	5.7	3.9
1985–86	2.1	7.8	5.1
1986–87	2.5	8.4	5.4
1989–90	2.6	7.3	3.7
1990–91	3.3	7.8	4.1
1991–92	2.5	5.6	1.5
1992–93	2.5	5.3	1.2
1993–94	3.8	7.0	2.7
1994–95	3.1	5.7	1.3
1995–96	2.5	5.1	0.9
1996–97	2.4	4.8	–0.5
1997–98	3.0	5.8	1.5
1998–99	3.8	6.5	2.0
1999–2000	3.5	5.4	0.7
2000–01	4.1	5.7	0.9
2001–02	4.4	6.2	1.5
2002–03	4.4	5.9	1.1
2003–04	3.6	4.5	0.0
2004–05	2.4	3.9	0.0
2005–06	2.5	4.0	0.4
2006–07	1.9	3.3	–0.2
2007–08	1.1	2.5	–0.9
2008–09	4.5	6.0	2.6
2009–10	5.2	6.5	3.2
2010–11	3.3	4.9	1.8
2011–12	4.4	5.9	2.8

संशोधित संस्था– अनुमान (2011–12)
स्रोतः
(i) Reserve Bank of India, Handbook of Statistics on the Indian Economy 2008-09 (Mumbai, 2009) Table 243, P464 and
(ii) Union Budget. 2012-13 Business Standard, March 17, 2012 p.7

उपरोक्त सभी उपायों से केन्द्रीय सरकार का राजकीय घाटा 1990–91 में संकेत घरेलू उत्पाद के 7.8 प्रतिशत से घट कर 1991–92 में 5.6 प्रतिशत रह गया। 1992–93 में राजकोषीय घाटा 5.3 प्रतिशत था परन्तु 1993–94 में यह बढ़कर सकल घरेलू उत्पाद का 7.0 प्रतिशत हो गया। अन्ततः 2010–11 तथा 2011– 12 में अनुमानित राजस्व घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 3.3 तथा 4.4 हो गया। इसी तरह इन्हीं वर्षों का सकल राजकोषीय घाटा 4.9% तथा 2.8% होने का अनुमान है।

1991 की नीति की मुख्य बातें :

आर्थिक उदारीकरण के दृष्टिकोण के सांचे में भारत में 1990 के दशक में राजकोषीय नीति की विषय वस्तु को निश्चित रूप दिया गया है। इस विषय वस्तु पर मोटे तौर से सहमति है और इसे संक्षेप में निम्नलिखित ढंग से कहा जा सकता है :

1. कर ढाँचा और कर कानून व्यवस्थित ढंग से सरल बनाए जाने चाहिए।
2. प्रत्यक्ष करों की दरें विवेकी होनी चाहिए और इन करों की प्रशासनिक व्यवस्था अच्छी होनी चाहिए। ऐसा होने पर उन्हें ठीक से लगू कर पाना संभव होगा और इनमें राजस्व में वृद्धि होगी।
3. एक ऐसा कर– नीति–वातावरण तैयार करना जिसमें स्थिरता हो।
4. कराधान के साधन आवंटन और न्यायशीलता परिणामों का महत्व स्वीकार करना और उन्हें उचित महत्व देना।
5. अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन के लिए तदर्थ विवेकाधीन भौतिक नियंत्रणों की जगह गैर–विवकाधीन राजकोषीय एवं वित्तीय उपकरणों का प्रयोग करना।
6. कर प्रशासन में सुधार के प्रयास करना और मनमाने ढंग से करदाताओं को परेशान करने के लिए गुँजाइश न छोड़ना।
7. राजकोषीय एवं भौद्रिक नीति के बीच सम्बन्ध को महत्व देना ।
8. व्यय नियत्रंण की रीतियों को मजबूत बनाने के लिए उपाय करना।

26.13 सारांश (Conclusion)

इस इकाई 26 के उपरोक्त विश्लेषण में घाटे की वित्त व्यवस्था, घाटे का मौद्रीकरण और राजकोषीय क्षेत्र में सुधार को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके अन्तर्गत विषय का प्रस्तावना अध्ययन के उद्देश्यों के साथ घाटे की वित्त व्यवस्था के अमेरिकी तथा भारतीय दृष्टिकोण की व्याख्या की गयी है। इस हेतु प्रो0 वी0 के0 आर0 वी0 राव, प्रो0 आर0 जी0 कुलकर्णी तथा योजना आयोग की परिभाषाओं को भी स्पष्ट किया गया है। क्रमशः भारत में बजट घाटे की अवधारणाओं की वजह से सम्बन्धित चालू बजट, पूँजीगत बजट, राजस्व घाटा, बजेटरी शेष, राजकोषीय घाटा, प्राथमिक तथा मूल घाटा अन्य के गणितीय सूत्रों को देते हुए भारत में सरकारी घाटों के आकलन सम्बन्धी बजटीय घाटे, राजस्व घाटे, राजकोषीय घाटे, प्राथमिक घाटा, मौद्रीकृत घाटा अन्य के शाब्दिक अर्थ के साथ–साथ 2012–13 के केन्द्रीय बजट के सार को सारणी द्वारा समझा गया है।

पुनः क्रमशः भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था के उद्देश्यों, हीनार्थ प्रबन्धन का मूल्यांकन, घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रभाव, हीनार्थ प्रबन्धन के बुरे प्रभावों को रोकने के उपायों, राजकोषीय उत्तर दायित्व एवं बजट प्रबन्धन अधिनियम के साथ–साथ मौद्रीकृत घाटे के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् अर्थोपाय अग्रिम, भारत में मुद्रा की पूर्ति एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा मुद्रा स्फीति का सम्बन्ध बताते हुए भारत में राजकोषीय क्षेत्र में सुधार से सम्बन्धित 1991 के पूर्व तथा बाद की स्थिति को स्पष्ट करते हुए केन्द्रीय सरकार के घाटे को सारणी के द्वारा बताया गया

है। इस प्रकर इस इकाई के अन्तर्गत घाटे की वित्त व्यवस्था, घाटे का मौद्रीकरण तथा राजकोषीय क्षेत्र में सुधार सम्बन्धी बातों का समावेश किया गया है।

26.14 पारिभाषिक शब्दावली

1.	BB	-	Budgetary Balance
2.	BD	-	Budgetary Deficit
3.	FD	-	Fiscal Deficit
4.	PD	-	Primary Deficit
5.	PSBR	-	Public Sector Borrowing Requirement
6.	GFD	-	Gross Fiscal Deficit
7.	GDP	-	Gross Domestic Product
8.	M1	-	(Cp+DD) = Currency of People + Demond Deposit
9.	M3	-	M1 + Time Deposit + Desposit of Other Institutions
10.	FRBM Act 2003 – Fiscal Responsibility Budgetary Management Act 2003.		

26.15 अभ्यास प्रश्नः

1. घाटे की वित्त व्यवस्था से आप क्या समझते हैं ? भारतीय अवधारणा को समझाते हुए बजटीय घाटे की विभिन्न अवधारणयें बताइयें।
2. भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए हीनार्थ प्रवन्धन का मूल्यांकन कीजिये।
3. भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था के प्रभावों को उल्लेख करते हुए हीनार्थ प्रबन्धन के रोकने के उपाय बताये।
4. घाटे के मौद्रीकरण से क्या समझते है। भारत में मुद्रा की पूर्ति एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि तथा मुद्रा स्फीति के सम्बन्धों पर अपने विचार प्रस्तुत करें।
5. भारत में राजकोषीय क्षेत्र में सुधार से क्या समझते है। FRBM Act 2003 के बावत् अपने विचार स्पष्ट करें।
6. टिप्पणी लिखें।

अ. घाटे की वित्त व्यवस्था के विभिन्न दृष्टिकोण। ब. राजस्व व्यय।
स. राजस्व प्रतियों। द. पूँजीगत व्यय।
प. पूँजीगत प्राप्तियों। र. राजकोषीय घाटा।
ल. प्राथमिक अथवा मूल घाटा। व. हीनार्थ प्रबन्धन रोकने के उपाय।
श. FRBM Act 2013. ष. घाटे का मौद्रीकरण।

26.16 उपयोगी पाठ्य सामग्री

- डॉ. एस. के. सिंह : लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- डॉ. जे.सी. पन्त एवं प्रो. चन्द्रशेखर जोशी : लोक अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा
- डॉ. एस.के. सिंह एवं डॉ. जे.पी. मिश्र : राजस्व एवं रोजगार के सिद्धान्त, साहित्य भवन आगरा
- प्रो. एस.एन. लाल एवं एस.के. लाल : लोक वित्त, शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद
- डॉ. जे.पी. मिश्र : लोक वित्त एवं रोजगार सिद्धान्त विजडम बुक्स, वाराणसी